अभिनव

शिक्षण-शास्त्र

शिक्षण-शास्त्रके सुप्रसिद्ध आचार्य

साहित्याचार्य पण्डित सीताराम चतुर्वेदी

एम्. ए. (हिन्दी, संस्कृत, पालि, प्रत्न भारतीय इतिहास तथा संस्कृति),

बी. टी., एल. एल्. बी., प्रिंसिपल, टाउन डिग्री कौलेज

(बी. एड्., एम्. ए., बी. कौम.-समन्वित), बलिया।

— प्रकाशक —

हिन्दी साहित्य कुटीर,

वाराणसी

धन्वन्तरि त्रयोदशी, संवत् २०१४

प्रस्तावना

सन् १८५४ में जब चार्ल्स वुडने भारतीय शिक्षाका महापत्रक प्रस्तुत किया तभीसे अध्यापकोंके लिये प्रशिक्षण विद्यालय चलाए गए और शिक्षा-शास्त्रके सम्बन्धमें विचार-विमर्श होने लगा। हमारे देशमें प्राचीन ऋषियों और महर्षियोंने शिक्षाको मानवजीवनका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग मानकर राष्ट्रके प्रत्येक व्यक्तिके लिये शिक्षा अनिवार्य कर दी थी किन्तु शिक्षाका नियंत्रण किसी राजा या शासनके हाथमें कभी नहीं दिया गया। इसका सुपरिणाम यह हुआ कि हमारे देशके प्रसिद्ध तपोनिष्ठ महाविद्यासंपन्न त्यागी महापुरुषोंके यहाँ स्वभावतः विद्याके केन्द्र खुल गए और वे निश्शुल्क तथा निष्कपट भावसे अपने छात्रोंको भोजन और वस्त्र देकर उनके सभी संस्कार संपन्न करके उन्हें तेजस्वी तथा ब्रह्मचर्यसंयुक्त स्नातक बनाकर गृहस्थाश्रमके लिये भेजने लगे। इसीलिये हमारी वर्णाश्रम-व्यवस्थामें भारतीय समाज अत्यन्त सुख और समृद्धिके साथ सम्पन्न होता रहा और आजतक अपना अस्तित्व बनाए रख पाया।

योरपमें यद्यपि विभिन्न देशोंमें विभिन्न आचार्योंके अनुसार शिक्षाके सम्बन्धमें अनेक प्रयोग हुए और राजकीय नीति भी निर्धारित हुई किन्तु उसका कोई सुपरिणाम नहीं दिखाई पड़ा जिसका स्वभावतः फल यह हुआ कि एकके पश्चात् दूसरे आचार्योंने शिक्षाके सम्बन्धमें अपने-अपने नये प्रयोग प्रारंभ किए, जिनमेंसे अधिकांश स्वयं उन्हींके जीवनमें असफल हो गए किन्तु फिर भी कुछ ऐसे प्रयोग अवश्य हुए जिन्हें विश्वभरके शिक्षाशास्त्रियोंने व्यापक रूपसे स्वीकार कर लिया। इन प्रयोगोंमें सबसे अधिक महत्त्वकी बात है शिक्षाके साथ मनोविज्ञानका गँठबंधन। यद्यपि मनोविज्ञान अभीतक अपने प्रयोग कर ही रहा है और उसके परिणामोंके सम्बन्धमें अभीतक कुछ निश्चय कहा नहीं जा सका है फिर भी शिक्षाके क्षेत्रमें मनोविज्ञानका ही बोलबाला है। मनोविज्ञानका यह अतिप्रयोग यद्यपि सफलतापूर्वक शिक्षाक्षेत्रमें प्रविष्ट नहीं

हो पाया है फिर भी आजका प्रत्येक शिक्षा-शास्त्री मनोविज्ञानकी दुहाई अवश्य देता है।

यह नहीं समझना चाहिए कि मनोविज्ञानकी बात कोई नई चमत्कृति है। हमारे यहाँ प्राचीन आचार्योंने विशेषतः सांख्य, न्याय और योगमें मन और उसकी गतियोंके सम्बन्धमें विशेष रूपसे विचार किया है और अध्ययन करनेकी मनोवैज्ञानिक क्रिया, मनको एकाग्र करनेकी वृत्ति, बुद्धिके भेद, मनकी प्रकृति इन सबपर उपर्युक्त दर्शनोंमें अत्यन्त विस्तारसे सूक्ष्म विवेचन किया गया है। आयुर्वेदमें तो मन, मानसिक दोष, प्रज्ञापराध तथा मानसिक चिकित्साके सम्बन्धमें अत्यन्त विस्तारसे विवेचन किया गया है किन्तु यह अत्यन्त दुःखकी बात है कि भारतमें शिक्षाशास्त्रपर पुस्तक लिखनेवाले किसी भी व्यक्तिने भारतीय मानसशास्त्रका तनिक भी उपयोग करनेका कष्ट नहीं किया। संसार-भरकी शिक्षणशास्त्रकी पुस्तकोंमें पहली बार हमने भारतीय मानसशास्त्रकी दृष्टिसे शिक्षा व्यवस्थित करनेके सम्बन्धमें और शिक्षणशास्त्रके साथ उसका सामंजस्य स्थापित करनेके सम्बन्धमें सूक्ष्म विचार किया है।

आजकल प्रशिक्षण-विद्यालयोंमें शिक्षाके सिद्धान्तके नामपर साधारण मनोविज्ञानकी निरर्थक बातें बड़े विस्तारसे पढ़ाई जाती हैं किन्तु उनके प्रायोगिक पक्षके सम्बन्धमें उन सब ग्रन्थोंमें जो सामग्री होती है वह नहींके बराबर है। इधर मनोविश्लेषण-शास्त्रके नाम पर फ्रायड, युंग और एडलरने जो अनेक बेसिर-पैरकी कल्पनाएँ की हैं उनसे आजका अँगरेज़ी पठित समाज इतना आतंकित है कि वक्ता, लेखक और अध्यापक तीनों ही आँख मूँदकर उसे 'बाबा वाक्यं प्रमाणम्'के नामपर सत्य और शुद्ध समझकर निरंतर उसीका ही पारायण और उसीकी उद्धरणी करते हैं। ऐसी स्थितिमें यह अत्यन्त आवश्यक था कि उनका अज्ञानान्धकार दूर कर दिया जाय और शिक्षण-शास्त्रके सम्बन्धमें जो निरर्थक, आडंबरपूर्ण, दार्शनिक और सैद्धान्तिक आधार स्थापित किए जा रहे हैं, उनके बदले व्यावहारिक रूपसे शिक्षण-शास्त्रकी व्याख्या की जाय। इसी निमित्त यह अभिनव शिक्षणशास्त्र ग्रंथ लिखा गया

और यह प्रयत्न किया गया कि केवल प्रशिक्षण-विद्यालयोंमें अध्ययन करनेवाले शिष्याध्यापक ही नहीं वरन् शिक्षा-कार्यसे किसी न किसी प्रकारसे सम्बद्ध प्रत्येक व्यक्ति, अध्यापक, छात्र, अभिभावक, विद्यालय-निरीक्षक, शिक्षासंचालक, शिक्षामंत्री और लोकशिक्षाके क्षेत्रमें काम करनेवाले लोकसेवक सभी व्यापक रूपसे शिक्षाके व्यावहारिक पक्षका समुचित ज्ञान और परिचय प्राप्त कर लें और उसके अनुसार अपने देशकी शिक्षाकी उचित व्यवस्था कर सकें।

हमें विश्वास है कि भारतीय शिक्षा-संसारसे सम्बन्ध रखनेवाले सभी सज्जन इस ग्रंथसे समुचित लाभ उठावेंगे और यदि कोई ऐसी बात रह गई हो जिसका समावेश इस ग्रन्थमें अपेक्षित हो तो उसका निर्देश देकर हमें द्वितीय संस्करणमें उसका संस्कार करनेके निमित्त उचित परामर्श देकर अनुगृहीत करेंगे।

काशी
विजयादशमी
संवत् २०१४ वि०

सीताराम चतुर्वेदी

विषय-सूची

प्रथम खंड

भारतीय शिक्षा-पद्धति

विषय पृष्ठ-संख्या

विषय पृष्ठ-संख्या

द्वितीय खंड

योरोपीय शिक्षाका विकास

विषय पृष्ठ-संख्या

चतुर्थ खंड

विद्यालयकी व्यवस्था

विषय पृष्ठ-संख्या

विषय पृष्ठ-संख्या

विषय पृष्ठ-संख्या

पंचम खंड

षष्ठ खण्ड

अभिनव शिक्षण-शास्त्र

प्रथम खंड

भारतीय शिक्षाका इतिहास

भारतीय शिक्षा-पद्धति

१

आर्य-जीवनमें शिक्षाका स्थान

वैदिक युगमें ही आर्योंने यह सिद्धान्त समझ लिया था कि संसारका प्रत्येक प्राणी जैसा करता है वैसा ही उसे फल भोगना पड़ता है और वह फल उसे या तो इसी जन्ममें भोग लेना पड़ता है या उसे भोगनेके लिये उसे दूसरा जन्म धारण करना पड़ता है। आर्योंका यह भी निश्चित विश्वास था कि प्रत्येक व्यक्ति अपने सिरपर तीन ऋण लेकर उत्पन्न होता है—देवऋण, पितृऋण तथा ऋषिऋण। ईश्वरने मनुष्य तथा अन्य प्राणियोंको सुख, जीवन और सुविधा देनेके लिये जल, वायु, प्रकाश, वनस्पति, नदी, ताल, निर्झर, मेघ आदिकी सृष्टि की है। इस देव-ऋणसे उऋण होनेके लिये आर्योंने अन्न आदिका दान तथा यज्ञ करनेका विधान किया। माता-पिताने जो हमें यह शरीर दिया है इस पितृ-ऋणसे उऋण होनेके लिये यह विधान किया गया कि हम अच्छे कुल, गोत्र, शील और संस्कारकी कन्यासे विवाह करके उससे पुत्र उत्पन्न करें। हमारे जिन पूर्वज ऋषियोंने अपनी तपस्या, अपने अनुभव, प्रयोग तथा अध्ययनसे हमारे लिये ज्ञान संचित कर छोड़ा है उनके उस ऋषि-ऋणसे उऋण होनेके लिये यह विधान किया गया कि हम उस ज्ञानका अध्ययन करके उसका प्रचार करें अर्थात् विद्यादान या ब्रह्मदान करें।

तीन एषणाएँ और चार पुरुषार्थ

आर्योंने यह भी निष्कर्ष निकाला कि मनुष्यकी सम्पूर्ण लौकिक चेष्टाएँ या तो धन-सम्पत्ति प्राप्त करनेके लिये, या पुत्र प्राप्त करनेके लिये, या यश प्राप्त

करनेके लिये होती हैं। इन तीनों प्रवृत्तियों या इच्छाओंको उन्होंने क्रमशः वित्तैषणा, पुत्रैषणा और लोकैषणा कहा है। इन्हींको हम दूसरे शब्दोंमें अर्थप्रवृत्ति, काम-प्रवृत्ति और धर्म-प्रवृत्ति (या यशःप्रवृत्ति) कह सकते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी लोग हैं जो इस जीवनसे ऊबकर अलक्ष्य परमात्म-तत्त्वमें लीन हो जाना चाहते हैं। इसे हम मोक्षैषणा कह सकते हैं। इन्हीं चारों एषणाओंकी सिद्धिके लिये आर्योंने प्रत्येक मनुष्यके लिये यह निर्धारण किया कि सबको चार पुरुषार्थ सिद्ध करने चाहिएँ—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। यही मनुष्य-जीवनकी सफलता है। इसलिये पुरुषार्थ-साधन ही आर्योंकी जीवन-पद्धतिका लक्ष्य बन गया।

संस्कार और वर्णाश्रम-व्यवस्था

वैदिक आर्य लोग मानते थे कि मानव-जीवनकी पूर्णता आन्तरिक संस्कारसे होती है जो गर्भमें जीवके आनेके साथ-साथ प्रारम्भ हो जाता है। अतः, यहाँ इन दस संस्कारोंका विधान किया गया—

१. गर्भाधान, २. पुंसवन, ३. सीमन्तोन्नयन, ४. जातकर्म, ५. निष्क्रमण, ६. नामकरण, ७. अन्नप्राशन, ८, चूडाकरण, ९. उपनयन, और १०. विवाह। कुछ लोग समावर्त्तनको भी संस्कार मानते हैं किन्तु वह तो उपनयनका ही उत्तराङ्ग है।

वर्ण-व्यवस्था

जैसे सिर, हाथ, उदर, पैर आदि विभिन्न अंगोंसे शरीर बना हुआ है और ये सब अंग पूरे शरीरकी रक्षाके लिये निरन्तर सचेष्ट रहते हैं, उसी प्रकार आर्योंने पूरी सृष्टिको, सब प्रकारके जड़-चेतन पदार्थोंको उनके गुण (सत्त्व, रज, तम), कर्म (पिछले जन्मके) और स्वभावके अनुसार उन्हें चार भाग या वर्णोंमें विभक्त कर दिया। इसके अनुसार केवल मनुष्य ही चार वर्णके नहीं हुए वरन् पशु, वृक्ष, जल, भूमि, रत्न, काष्ठ, सब चार वर्णके हुए—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। यदि घोड़ेसे बोझ ढोनेका काम लिया जाय तो वह गधा नहीं कहला सकता और यदि गधे या खच्चरको टमटममें जोत दिया जाय तो वह घोड़ा नहीं कहला सकता। घोड़ेका घोड़ापन उसके

जन्म-संस्कारपर अवलम्बित है, भले ही वह गधेसे भी अधिक दुर्बल और अशक्त क्यों न हो गया हो। इसी प्रकार यदि किसी वर्णका पुरुष किसी दूसरे वर्णके योग्य काम करने लगे तो उससे उसका वर्ण नहीं बदल जाता क्योंकि पारम्परिक संस्कारके कारण उसकी जो मानसिक वृत्ति होती है, वही वर्ण-व्यवस्थामें प्रधान समझी जाती है, केवल बाह्य आचरण और व्यवसायसे उसमें अन्तर नहीं आ जाता।

कार्य-विभाजन

इस प्रकार गुण-कर्म-स्वभावके अनुसार बने हुए मानव-समाजकी चार मुख्य आवश्यकताएँ मान ली गईं—बौद्धिक, शारीरिक, आर्थिक और सेवात्मक और तदनुसार चार प्रकारके कार्योंके लिये चार वर्ण बन गए। इस प्रकार काम बँट जानेसे सब लोग अपनी जन्मजात रुचि, समर्थता और प्रवृत्तिके अनुसार पारस्परिक संघर्षके बिना, लोक-कल्याणके कार्योंमें संलग्न हो गए। जो लोग अनेक प्रकारके शिल्पों और कलाओंका पोषण करके समाजकी रक्षा कर रहे थे उनपर आर्योंने बुद्धिमत्तापूर्वक व्यर्थ पढनेका भार नहीं डाला क्योंकि यदि वे भी गुरुकुलोंमें जानेके लिये विवश किए जाते तो उनकी निकुलीनिका (कुल या घरकी व्यवसाय-कला) ठण्डी पड़ जाती। अतः, गुरुकुलमें पढ़नेकी अनिवार्यता केवल उन्हीं तीन वर्णोंके लिये रक्खी गई जिनका काम बिना गुरुकुलमें अध्ययन किए चल ही नहीं सकता था। शूद्रोंके लिये यह विधान किया गया कि वे अपने पिता या शिल्प-गुरुसे आवश्यक अध्ययन कर लें, जहाँ उन्हें शस्त्र, यान, सेतु तथा भवन-निर्माण आदि उच्चतम शिल्पोंकी भी शिक्षा प्राप्त हो जाती थी।

ब्राह्मणोंका काम था पढ़ना, पढ़ाना, यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान देना और दान लेना। क्षत्रियका काम था प्रजा, आश्रित तथा आर्तजनोंका रक्षण और पालन करना, दान देना, यज्ञ करना, पढ़ना तथा भोग-विलाससे दूर रहना। वैश्यका काम था ढोर पालना, दान देना, यज्ञ करना, पढ़ना, व्यापार करना, महाजनी करना और खेती करना। शूद्रका काम था निश्छल भावसे सब वर्णोंके कामकी वस्तुएँ बनाना, जुटाना और सेवा करना अर्थात् ब्राह्मणोंके

यज्ञके लिये कुण्ड, पात्र, खड़ाऊँ, दण्ड, कुटी आदि बनाना तथा मृगछाला आदि एकत्र करना; क्षत्रियोंके लिये रथ, यन्त्र, पुल, भवन, दुर्ग और अस्त्र-शस्त्र बनाना तथा वैश्योंके लिये हल, गाड़ी, रथ, रस्सी आदि बनाना। सेवाका तात्पर्य सात्त्विक सहयोग था; नौकरी करना या दूसरोंके घरके छोटे-मोटे काम-धन्धे करना नहीं। नौकरके लिये भृत्य या दास शब्द था। शूद्रके लिये कहीं भी 'दास' शब्दका प्रयोग नहीं किया गया, वरन् 'सेवक' शब्दका प्रयोग हुआ है जो अत्यन्त आदरणीय पदका बोधक था।

आश्रम-व्यवस्था

जिस प्रकार समाजको पूर्णाङ्ग व्यवस्थित करनेके लिये वर्ण-व्यवस्थाका विधान किया गया, वैसे ही मनुष्यके सामाजिक जीवनको पूर्ण संयत करनेके लिये आश्रम-व्यवस्था स्थापित की गई।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्षकी सिद्धके लिये ज्ञान भी आवश्यक है और बुद्धि भी। इसी कारण यह निर्देश किया गया कि सौ वर्षकी मानवीय परमायुके चौथाई अंशको विद्याध्ययनके लिये सुरक्षित कर दिया जाय अर्थात् पच्चीस वर्षकी अवस्थातक छात्र पढ़ते रहें। इस अध्ययनकी अवस्थाको अर्थात् उपनयनके पश्चात् जितेन्द्रिय होकर गुरु-गृहमें रहते हुए वेद और वेदाङ्ग पढ़नेको ब्रह्मचर्याश्रम कहते हैं। वहाँ ब्रह्मचारीका कर्तव्य था कि वह मन लगाकर गुरुके घरको ही अपना घर समझे, वेद पढ़े, अत्यन्त पवित्र तथा निरालस भावसे गुरुकी सेवा करे, दोनों समय सन्ध्या करे, सूर्यकी उपासना करे, गुरुजीका अभिवादन करे, गुरु खड़े हों तो खड़ा रहे, बैठें तो गुरुसे नीचे आसनपर बैठ जाय, सदा गुरुकी आज्ञा माने, गुरुकी आज्ञासे उनकी ओर मुँह करके मन लगाकर विद्या सीखे, उनकी आज्ञा लेकर ही भिक्षासे प्राप्त किया हुआ अन्न ग्रहण करे, गुरुके स्नान कर चुकनेपर स्नान करे, नित्य समिधा, जल, आरने (कंडे), कुशा, पत्तल आदि सामग्री प्रातः लाया करे और पढ़ाई पूरी कर चुकनेपर गुरुकी आज्ञा लेकर, गुरु-दक्षिणा देकर गृहस्थाश्रममें प्रवेश करे। ब्रह्मचर्याश्रम अवस्था पार करते ही प्रत्येक व्यक्तिके लिये विवाह करके, गृहस्थाश्रममें प्रविष्ट होकर, धर्म, अर्थ और कामकी सिद्धि करना

आवश्यक था। पच्चीस वर्षतक गृहस्थ-धर्मका निर्वाह करके, पचास वर्ष-तककी अवस्थामें अपने पुत्रोंको घरका भार सौंपकर लोग वानप्रस्थ आश्रम ग्रहण करके वनमें चले जाते थे और वहाँ शरीरको इस प्रकार साध लेते थे कि वह मोक्षकी सिद्धिके निमित्त तपस्या करनेको तैयार हो जाय। फिर पछत्तर वर्षकी अवस्था पार करते ही मनुष्य सांसारिक बन्धनोंसे पूर्णतः विरक्त होकर संन्यास ले लेता था, एवं जीवित ही मोक्ष प्राप्त कर लेता था।

ब्राह्मणको ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास चारों आश्रमोंका पालन करना पड़ता था। क्षत्रियों और वैश्योंको संन्यास नहीं लेना पड़ता था, केवल तीन ही आश्रमोंमें रहना पड़ता था। शूद्रके लिये केवल गृहस्थाश्रमका ही विधान था।

इस प्रकारके आश्रम-जीवनको व्यवस्थित रूपसे वहन करनेके निमित्त भारतीय ऋषियोंने शिक्षाकी ऐसी क्रमिक और पूर्ण व्यवस्था कर दी थी कि उस क्रमके अनुसार नियमित शिक्षा ग्रहण करनेवाला व्यक्ति निश्चित रूपसे समाजका ऐसा रत्न बनकर निकलता था जो अपना कल्याण तो करता ही था साथ ही अपने समाज, धर्म और राष्ट्रके अभ्युत्थानमें भी सक्रिय सहयोग देता था।

परा और अपरा विद्या

वैदिक युगमें केवल इहलौकिक समृद्धिके लिये ही शिक्षा नहीं दी जाती थी। उसका उद्देश्य था कि यह जीवन भी सुखमय बीते और साथ ही मनुष्य-जीवनका परम पुरुषार्थ मोक्ष भी सिद्ध हो। इसी आधारपर विद्या दो प्रकारकी मानी गई—अपरा और परा। अपरा विद्याके अन्तर्गत वे सब विद्याएँ, कलाएँ और ज्ञानवृत्तियाँ आती हैं जिनके द्वारा मनुष्य सब प्रकारकी इहलौकिक उन्नति कर सकता है। वेदोंकी विद्या, यज्ञ, कला, शिल्प आदि सांसारिक विद्याएँ तथा आजके सम्पूर्ण विज्ञान, शिल्प, साहित्य, इतिहास, अर्थशास्त्र आदिको अपरा विद्या ही समझना

चाहिए। परा विद्याका अर्थ अध्यात्मज्ञान या ब्रह्मज्ञान है, जिसके द्वारा मनुष्य परम तत्त्व प्राप्त करता है। उपनिषद् तथा वे सब शास्त्र परा विद्याके अन्तर्गत हैं जिनके अध्ययनसे मनुष्यके हृदयमें संसारसे विरक्ति हो और आत्मज्ञानका उदय हो। इसी परा विद्याको वास्तविक विद्या और अपरा विद्याको अविद्या कहा गया है। ईशोपनिषद्में बताया गया है—

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते॥
अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते य उ विद्यायां रताः॥

[जो लोग विद्या (अध्यात्मविद्या या परा विद्या) और अविद्या (भौतिक विद्या या अपरा विद्या) दोनोंको साथ-साथ जानते हैं, वे ही भौतिक विद्याके सहारे सुखपूर्वक इस मृत्युलोक (संसार)को पारकर अध्यात्म-विद्याके सहारे अमृत या मोक्ष प्राप्त करते हैं। जो लोग केवल अविद्या या भौतिक शास्त्रोंकी उपासना करते हैं, वे अन्धकारमें पड़े हुए हैं। किन्तु उनसे भी घने अंधकारमें वे लोग हैं जो संसारकी चिन्ता न करके केवल अध्यात्म-विद्यामें ही लीन रहते हैं।] इसीलिये हमारे यहाँ भोग और योग दोनोंका सामञ्जस्य ही शिक्षाका आधार बताया गया और तदनुसार शिक्षाका विधान भी बनाया गया।

२

शिक्षाकी व्यवस्था

हमारे यहाँ बालकका पहला विद्यापीठ माताका गर्भ माना जाता है। इसीलिये गर्भाधान, पुंसवन और सीमन्तोन्नयन संस्कारोंमें गर्भस्थ बालकके कल्याणके साथ-साथ उसके तेज, पराक्रम, ब्रह्मवर्चस्व तथा मेधा आदिके संवर्द्धनकी कामना की जाती है। उत्पन्न होनेके पश्चात् माता ही बालकका प्रथम गुरु होती है। उसे चाहिए कि नित्य समयसे उठने, प्रातः शौच करके सबको अभिवादन करने, बड़ोंके प्रति आदर दिखाने तथा उचित संस्कारके साथ उठने, बैठने, बोलनेका अभ्यास करा दे और इस शिष्टाचारकी शिक्षा दो या तीन वर्षतक देती रहे।

माताके पश्चात् बालकका दूसरा गुरु पिता होता है जिसका धर्म है कि पाँच वर्षकी अवस्थातक बालकमें सामाजिक तथा धार्मिक आचार-व्यवहार, पास-पड़ोसियोंके प्रति सद्भाव और आदर तथा अपने पैतृक व्यवसाय और कर्मका प्रारम्भिक संस्कार डाल दे जिससे बालकको सामाजिक जीवनमें सज्जनोचित व्यवहार करनेका तथा अपने पिताके व्यवसायका ऊपरी परिचय प्राप्त हो जाय। इसी अवस्थामें या तो पिता ही अक्षर-ज्ञान और अंक-ज्ञान करा दे अथवा बालकको चटशालामें भेज दे जहाँ वह अपने गुरुके प्रति आदर और साथियोंके प्रति स्नेह, सहयोग, सेवा तथा सद्भावनाका अभ्यास करता हुआ लिखना, पढ़ना गणित और भाषा सीखता चले।

विद्यारम्भ, अक्षर-स्वीकरण या अक्षरारम्भ संस्कार प्रायः पाँचवें वर्षमें किया जाता था, किन्तु कभी-कभी उपनयनके साथ भी कर दिया जाता था। इस संस्कारके लिये उत्तरायणमें किसी शुभ दिन बालकसे उसके कुल-देवता, इष्ट-देवता, सूत्रकार, सरस्वती और गणेशजीकी पूजा कराई जाती है। देवताओंकी पूजाके पश्चात् गुरु अर्थात् खण्डिकोपाध्याय (पाधाजी) को

पूजा की जाती थी। प्रायः इतना काम कुल-पुरोहित ही निपटा लेते थे। ये गुरुजी, चावल बिछाकर, बालकका हाथ पकड़कर, चावलके ऊपर सोने या चाँदीकी लेखनीसे 'श्रीगणेशाय नमः' से प्रारम्भ करके पूरी वर्णमाला लिखवा जाते थे और फिर शिक्षक तथा निमन्त्रित ब्राह्मणोंको यथाशक्ति दक्षिणा देकर संस्कार पूर्ण किया जाता था। विद्यारम्भकी यह प्रथा पौराणिक कालमें अधिक चली। जैनोंमें भी ऐसी ही प्रथा है, किन्तु वहाँ 'श्रीगणेशाय नमः'के बदले 'ॐ नमः सिद्धम्' लिखवाया जाता है। वैदिक कालमें तो इस संस्कारकी पूर्ति उपनयनमें ही हो जाती थी।

चटशाला (प्रारम्भिक पाठशाला)

जिस प्रकार आजकल राज्यकी ओरसे व्यवस्थित प्रारम्भिक पाठशालाएँ (प्राइमरी स्कूल) चलती हैं, उस प्रकारकी राज्य-चालित प्रारम्भिक पाठशालाएँ भारतमें नहीं थी, किन्तु जिन नगरों तथा गाँवोंमें उच्च वर्णोंके लोग (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) रहते थे उनमें पाधाजी (ब्राह्मण अध्यापक, जिसे पतञ्जलिने खंडिकोपाध्याय कहा है), चटशाला खोलकर तीनों वर्णोंके बालकोंको अक्षर-ज्ञान और संस्कार-ज्ञान कराते थे। ये चटशालाएँ खुले वायुमें, वृक्षोंके तले या वर्षा-धूपके समय मड़ैयोंमें लगती थीं।

इन चटशालाओंमें प्रारम्भमें वर्णमालाके वर्ण-क्रमसे सब अक्षर रटवा दिए जाते थे और उस अक्षरसे प्रारम्भ होनेवाले शब्दसे उसका सम्बन्ध जोड़ दिया जाता था जैसे—अ से अनार, आ से आम, इ से इमली आदि। तब धरतीपर बालू बिछाकर बालककी उँगली पकड़कर या हाथमें छोटी-सी पतली लकड़ी देकर बालूपर अक्षर लिखवाते चलते थे। आगे चलकर खड़ियासे लकड़ीकी पटरीपर लिखवाने लगते थे। इसके पश्चात् घुली हुई खड़िया या कालिखमें सरकण्डे या नरकुलका कलम डुबोकर काली या मुलतानी मिट्टी पुती हुई पटरीपर छात्र लिखता था या ताड़पत्रपर गोल नोकवाले लोहेके तकुएसे अध्यापक अक्षर बना देता था और छात्र नरकुलके कलमसे उसपर स्याही फेरता था। अन्तमें जब उसका लिखनेका अभ्यास पक्का हो जाता था तब वह या तो स्वयं पटरीपर लिखता था या बाँसके फरेटों और ताड़के

पत्तोंपर लोहेके कलमसे लिखकर उसपर कालिख या नागफनीकी पक्की फलीका लाल रस फेर देता था जिससे खुदे हुए अक्षर काले या लाल होकर चमक उठते थे। अलग अक्षरोंका अभ्यास करके वह संयुक्ताक्षरोंका अभ्यास करता था और तब क्रमशः शब्द और वाक्य लिखने लगता था। इन सब चटसालोंमें एक ही अध्यापक होता था जो अवसर और आवश्यकता पड़नेपर बड़ी कक्षाके अग्रणी (विशेष छात्र या मौनीटर) की सहायता भी ले लेता था। यह शिष्याध्यापक-प्रणाली छात्रोंमें विनय-स्थापनकी दृष्टिसे तथा आर्थिक दृष्टिसे अत्यन्त हितकर और उपयोगी सिद्ध हुई। इसीलिये डा० एण्ड्रू बेलने इंग्लैंडके वेल्स प्रदेशमें इसका सफलतापूर्वक प्रचार किया।

पाठशाला

चटशालाओं और टोलोंसे कुछ ऊँचे मानके विद्यालयोंको पाठशाला कहते थे जो वर्त्तमान हाइ स्कूलके समकक्ष होती थीं। कोई लब्धप्रतिष्ठ अध्यापक स्वयं अथवा किसी विद्या-प्रेमी शासककी प्रार्थना-पर सर्वसाधारणके बालकोंको उच्चतर शिक्षा देनेके लिये पाठशाला खोल लेता था जिसमें व्याकरण, धर्मशास्त्र, ज्यौतिष, दर्शन, वेद तथा आयुर्वेदके साथ साहित्य, अर्थशास्त्र, राजनीति तथा धनुर्वेद आदि विषय भी अध्यापककी योग्यताके अनुसार पढ़ाए जाते थे। जो आचार्य जिस विषयका विद्वान् होता था वह उसी या उन्हीं विषयोंको पढ़ाता था। ऐसे ही विभिन्न विद्याओं, शास्त्रों और कलाओंके विद्वानोंने एकत्र होकर काशी, तक्षशिला, उज्जयिनी, धार, नवद्वीप (नदिया) आदि स्थानोंको विद्या-केन्द्र बना दिया था जहाँ दूर-दूरसे छात्र आकर अनेक विद्वानोंसे अनेक विद्याएँ सीखते थे। ये पाठशालाएँ गुरुओंके घर ही लगती थीं और ये गुरु अपने शिष्योंको विद्याके साथ अन्न-वस्त्र भी देते थे। प्रारम्भकी ऐसी वैदिक पाठशालाओंमें विभिन्न शास्त्र (षड्दर्शन) और आयुर्वेद आदि विज्ञान सिखाए जाने लगे और फिर धीरे-धीरे पौरोहित्य, कर्मकांड (यज्ञ करानेकी विधि), व्याकरण, धर्मशास्त्र, स्मृति (धर्म-नीति) और ज्यौतिष भी पढ़ाया जाने लगा। श्रावणकी पूर्णिमासे

फाल्गुनकी पूर्णिमातक इनका वर्षसत्र चलता था। विनय इतना व्यापक था कि दंडका पूर्ण अभाव था।

राजसी विद्यालय

कभी कुछ विद्या-व्यसनी शासक किसी प्रतिष्ठित विद्वान्‌को बुलाकर राजपुत्रोंको शिक्षा दिलानेके लिये प्रासाद-विद्यालय भी खोल देते थे जैसे धृतराष्ट्रने अपने पुत्रों और भतीजोंको पढवानेके लिये द्रोणाचार्यको नियुक्त किया था। किन्तु इनमें भी प्रथा यही थी कि राजपुत्र शिष्य भी गुरुके पास ही जाकर पढ़ते थे, गुरु उनके घर जाकर नहीं पढ़ाता था। कहीं-कहीं राजपुरोहित ही राजगुरु होते थे जैसे वशिष्ठजी थे। वहाँ भी राजपुत्रको ही गुरुके घर जाकर पढना पड़ता था।

परिषद् या सावास विश्वविद्यालय

प्राचीन भारतमें विद्याकी सबसे महत्त्वपूर्ण संस्था परिषद् थी। ये परिषदें इने-गिने विशिष्ट विद्वानोंकी गोष्ठियाँ थीं जो समय-समयपर सामाजिक, धार्मिक तथा राजनीतिक समस्याओंपर विचार करके समय, नीति, धर्म और औचित्यके अनुसार व्यवस्था या निर्णय देती थीं और इनकी दी हुई व्यवस्था समान रूपसे राजा और प्रजा दोनोंको मान्य होती थी। जब भी कोई धार्मिक अथवा सामाजिक समस्या या अड़चन उपस्थित होती थी तभी परिषद्‌की बैठक हो जाती थी और विद्वान् लोग अपनी व्यवस्था दे देते थे। इन परिषदोंके सब सदस्य विशिष्ट विद्वान् अध्यापक ही होते थे जो धर्म, समाज और राजनीति सबपर शासन करते थे। धीरे-धीरे इन विशिष्ट विद्वानोंकी विद्वत्ता, निरीहता, आत्मत्याग और सुशीलतासे आकृष्ट होकर अनेक विद्वान् और छात्र इनके पास अध्ययन करने या शका-समाधान करने आने लगे और धीरे-धीरे इन परिषदोंने महागुरुकुलों या सावास विश्वविद्यालयों (रेज़िडेन्शल युनिवर्सिटीज़) का रूप धारण कर लिया।

इन परिषदोंमें प्राय इक्कीस ब्राह्मण सदस्य होते थे जो वेद, दर्शन, धर्मशास्त्र और नीतिके प्रकाण्ड पण्डित होते थे। किन्तु यह कोई बँधी

हुई संख्या नहीं थीं। आदर्श संख्या तो दस थी पर वह आवश्यकताके अनुसार घटकर चारतक आ गई थी। परिषद्के सदस्योंमेंसे चार तो सब वेदोंके ज्ञाता होते थे, शेष विभिन्न शास्त्रों तथा धर्मशास्त्रोंके पण्डित होते थे। कभी-कभी तो विभिन्न आश्रमों (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास) के प्रतिनिधि ही परिषद्के सदस्य होते थे और इस प्रकार विद्वानोंके साथ ब्रह्मचारी भी यह सम्मान प्राप्त करके अपने आश्रमकी समस्याओंपर अपना स्पष्ट मत देते थे। इस श्रेणीका विद्याकेन्द्र एक काशी और दूसरा गांधारकी राजधानी तक्षशिला नगर था जो वर्त्तमान रावलपिंडी नगरके पास समवस्थित था और अपने समयमें ब्राह्मण-विद्या या वैदिक विद्याका वैसा ही सर्वप्रमुख गढ़ था जैसा ज्यौतिषके लिये उज्जैन और बौद्ध शिक्षाके लिये नालन्दा।

गुरु

हमारे यहाँ गुरुको ब्रह्मा, विष्णु, महेश और साक्षात् परब्रह्म, ब्रह्मका दर्शन करानेवाला और अज्ञान नष्ट करनेवाला बताया गया है। उन दिनों गुरु बननेका अधिकार केवल ब्राह्मणोंको ही था, यहाँतक कि शस्त्रविद्या, युद्धविद्या तथा अर्थविद्या भी वे ही पढ़ाते थे। विश्वामित्र और परशुराम जैसे कुछ तपस्वियोंने ब्राह्मणत्व सिद्ध करके अध्यापन-कार्य अवश्य किया था अन्यथा सान्दीपनि तथा द्रोणाचार्य जैसे ब्राह्मण आचार्य ही धनुर्वेदकी भी शिक्षा भी देते थे। हाँ, इतनी छूट अवश्य थी कि जबतक ब्राह्मण शिक्षक न मिले तबतक क्षत्रिय गुरुसे भी विद्या प्राप्त की जा सकती थी और ब्रह्मज्ञान तो किसी भी वर्णके अधिकारीसे प्राप्त किया जा सकता था।

इन गुरुओंमें आगे चलकर दो भेद हो गए—एक शिक्षा-गुरु दूसरे दीक्षा-गुरु। जो गुरु केवल विभिन्न शास्त्र पढ़ाता था वह शिक्षा-गुरु कहलाता था और जो उपनयनके पश्चात् छात्रको अपने साथ रखकर उसे आचार-विचार भी सिखाता था वह दीक्षागुरु कहलाता था।

ये दीक्षागुरु अपने यहाँ पढ़नेवाले छात्रोंको रहनेके लिये स्थान भी देते थे और उनके भोजनकी भी व्यवस्था करते थे। यहींतक नहीं, यदि उनके शिष्य

किसी अन्य आचार्यसे कोई दूसरी विद्या पढ़ना चाहते तो उन्हें दूसरे गुरुसे भी पढ़नेकी सुविधा देते थे।

स्मृतियोंने चार प्रकारके शिक्षक माने हैं—कुलपति, आचार्य, गुरु और उपाध्याय। जो विद्वान् ब्रह्मर्षि एक साथ दस सहस्र मुनियों (विद्याका मनन करनेवाले ब्रह्मचारियों) को अन्न-वस्त्र देकर पढ़ाता था वह कुलपति कहलाता था। जो विद्वान् अपने छात्रोंको कल्प (यज्ञकी क्रिया), और रहस्य (उपनिषद्) के साथ वेद पढ़ाता था वह आचार्य कहलाता था। जो विद्वान् ब्राह्मण, मन्त्र और वेदांग पढाता था वह उपाध्याय कहलाता था और जो विद्वान् अपने छात्रोंको भोजन देकर वेद-वेदांग पढ़ाता था वह गुरु कहलाता था। उस समय यह विश्वास था कि विद्या-दानसे बढ़कर कोई दान नहीं है क्योंकि विद्या पढ़ानेसे एक जीवकी मुक्ति हो जाती है। इसीलिये कहा गया है कि 'सब दानोंमें विद्याका ही दान सर्वश्रेष्ठ है' क्योंकि विद्यासे अमृतत्व प्राप्त होता है और विद्या वही है जो जीवको मुक्त कर दे। इसीलिये अनेक त्यागी, निर्लोभी ब्राह्मण अत्यन्त यत्नपूर्वक, सब प्रकारकी तृष्णा त्यागकर, लोक-कल्याणकी कामनासे छात्रोंको विद्या पढ़ाते थे और उनके पुनीत चरित्रसे प्रभावित होकर लोग अपने बालक उनके पास पहुँचा आते थे।

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णोंके छात्रोंके लिये आवश्यक था कि मुंडन आदि संस्कारोंके उपरान्त यज्ञोपवीत या उपनयन नामक दूसरा जन्म होनेपर जितेन्द्रिय और नम्र होकर गुरुकुलमें वास करें। उपनयनका सीधा अर्थ है "पास ले जाना' अर्थात् गुरुके पास ले जाना। शूद्रोंको पंचम वेद (इतिहास, पुराण तथा नाट्य) सुनने-पढ़ने-देखनेका अधिकार था अतः उनके लिये न तो गुरुकुल जानेकी आवश्यकता थी न उपनयनकी।

गुरुकुल-आश्रम

गुरुकुल-आश्रम किसी नदी या विस्तृत स्वच्छ जलवाले सरोवरके पास, नगरके कोलाहलसे दूर किसी ऐसे वन या उपवनमें स्थापित किया जाता था जहाँ आश्रमकी गौओंके चरने, कुश और समिधा प्राप्त करने तथा विद्यार्थियोंके

निवास, अध्ययन, व्यायाम और धनुर्विद्याके अभ्यास आदिके लिये पर्याप्त स्थान तथा स्वच्छ जलवायु प्राप्त होता था।

प्रवेश

ब्राह्मणके पुत्रको गर्भसे आठवें वर्ष, क्षत्रियके पुत्रको गर्भसे ग्यारहवें वर्ष और वैश्यके पुत्रको गर्भसे बारहवें वर्ष गुरुकुल पहुँचा दिया जाता था। किन्तु यदि ब्राह्मण अपने पुत्रको ब्रह्मतेजसे युक्त बनाना चाहे तो पाँचवें वर्षमें, यदि क्षत्रिय अपने पुत्रको बलशाली बनाना चाहे तो छठे वर्षमें, यदि वैश्य अपने पुत्रको अत्यन्त धनी बनाना चाहे तो आठवें वर्षमें अपने पुत्रका उपनयन करे अर्थात् उसे गुरुके पास पहुँचा दे। यह संस्कार उपनयन या 'गुरुके पास पहुँचानेका सस्कार कहलाता था। गुरुकुलमें शुल्क नहीं लिया जाता था। बालकसे गुरु पूछते थे—'कस्य ब्रह्मचारी असि' (तुम किसके ब्रह्मचारी हो?)। वह कहता था—'भवत.' (आपका)। फिर उसका नाम पूछा जाता था और वह भर्ती कर लिया जाता था।

उपनयनकी विधि

उपनयनके समय आए हुए बालकका नाम पूछकर गुरु उसे दीक्षित कर लेते थे और वर्णके अनुसार उसे ओढ़नेको मृगछाला, धारण करनेको दण्ड, यज्ञोपवीत और मेखला देते थे।

ब्रह्मचारीको उपदेश

उपनयनके समय ब्रह्मचारीको ये उपदेश दिए जाते थे—

'धरतीपर सोओ। खाँड़ और नमकीन पदार्थ न खाओ। दण्ड और मृग-चर्म धारण करो। स्वयं गिरी हुई समिधा (पलाशकी लकड़ी) जंगलसे लाओ। सायं-प्रातः सन्ध्या-उपासना-हवन करो। गुरुकी सेवा करो। भोजनके लिये सायं-प्रातः दो बार गाँव-नगरमें जाकर अलग-अलग घरोंसे भिक्षा माँग कर लाओ। मधु-मांस कभी न खाओ। डुबकी लगाकर कभी न स्नान करो, किसी पात्रसे जल निकालकर नहाओ। कुशके आसनपर तकिया लगाकर न

बैठो। स्त्रियोंके बीच कभी न बैठो। कभी झूठ न बोलो। बिना दी हुई कोई वस्तु किसीसे न लो। यम (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह) और नियम (शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान) का पालन करो। पहननेके वस्त्रोंको बिना धोए न धारण करो। फटे-पुराने वस्त्र न पहनो। किसीकी बुराई न करो। बासी अन्न मिठाई और पान न खाओ। तेल, आँजन, जूता, छतरी और दर्पणका प्रयोग न करो।'

शिक्षामें शिष्टाचार

गुरुकुलमें पहुँचनेके पश्चात् शिष्यको पहले शिष्टाचारकी ही शिक्षा दी जाती थी। इस शिष्टाचारके अन्तर्गत उठना-बैठना, बातचीत करना, अभिवादन करना सहपाठियोंके साथ मृदु व्यवहार, अतिथिके साथ शिष्ट व्यवहार, गुरुपत्नीका आदर, गुरुपुत्रों तथा गुरुपुत्रियोंके प्रति भाई-बहनका-सा व्यवहार आदि कार्य थे। इस शिष्टाचारके साथ-साथ गुरुकुलकी परिपाटीके अनुसार नियमित नित्य कर्म, सन्ध्या-वन्दन, हवन, गुरु-शुश्रूषा तथा अपनेसे बड़े अन्तेवासी छात्रोंके प्रति आदर-भावकी प्रेरणासे छात्रोंका आचरण और स्वभाव व्यवस्थित होता चलता था।

पाठ्य-क्रम

प्रत्येक बालकको सांस्कारिक, नैतिक, शारीरिक, व्यावहारिक और व्यावसायिक शिक्षा दी जाती थी। सांस्कारिक शिक्षाके अन्तर्गत तीन वेद (ऋक्, यजुः और साम), वेदांग (शिक्षा, कल्प, निरुक्त, ज्योतिष, छन्द और व्याकरण), दर्शन (सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, पूर्व मीमांसा, उत्तर मीमांसा) तथा नीतिशास्त्र सभीको पढ़ना पड़ता था। अलग-अलग वर्णके छात्रोंके लिये वेद और उन वेदोंकी अलग-अलग शाखाओंके अध्ययनका विधान था। उसीके अनुसार सबको वेद और वेदांग पढ़ाए जाते थे। नैतिक शिक्षा कुछ तो उपदेशसे और कुछ पारस्परिक सेवा, स्नेह और सहयोगके वातावरणसे ही प्राप्त हो जाती थी जिसमें छात्र

यह सीखते थे कि स्वयं असुविधा और कष्ट झेलकर भी दूसरेको सुख पहुँचाना चाहिए और सहनशीलताका अभ्यास करना चाहिए। शारीरिक शिक्षाके लिये प्राणायाम और व्यायामका विधान था। क्षत्रिय बालकोंको धनुष-बाण, करवाल आदिके सञ्चालन तथा अश्वारोहणकी भी शिक्षा दी जाती थी। इसके अतिरिक्त जंगलसे लकड़ी लाना, नदीसे जल लाना, कुश, आरने और समिधा एकत्र करना आदि तो स्वतः अनेक प्रकारकी व्यायाम-क्रियाएँ थीं।

व्यावहारिक शिक्षाके निमित्त संध्याको सायं-हवनके पश्चात् सब अन्तेवासियोंको इतिहास, पुराण, धर्मशास्त्र, कथा-वार्त्ता, भौगोलिक वर्णन तथा नए समाचार सुना या बता दिए जाते थे जिससे छात्रोंका व्यावहारिक ज्ञान अभिनव बना रहता था। व्यावसायिक शिक्षा वर्णोंके अनुकूल दी जाती थी। ब्राह्मणोंको पौरोहित्य, दर्शन, कर्मकाण्ड आदि विषय पढ़ाए जाते थे। क्षत्रियको दण्ड-नीति, राजनीति, सैन्यशास्त्र, अर्थशास्त्र, धनुर्वेद आदि विषय पढ़ाए जाते थे और वैश्यको पशुपालन तथा कृषि-शास्त्र पढ़ाया जाता था। इन विषयोंके अतिरिक्त आयुर्वेद आदि विषय सीखनेकी स्वतन्त्रता सभीको थी। पच्चीस वर्षकी अवस्थातक तीनों वर्णोंकी विद्याएँ पूर्ण हो जाती थीं किन्तु ब्राह्मणोंको यह छूट थी कि वे चाहें तो जीवनभर विद्यार्जन कर सकते थे—'यावज्जीवमधीते विप्रः।'

दिनचर्या

ब्राह्ममुहूर्त्त (पौ फटनेसे पहले) में उठना, नित्यकर्म (शौच, स्नान, संध्या) से निवृत्त होकर आश्रमके लिये कुश, जल, समिधा लाना, आश्रम बुहारना, गौएँ दूहना, हवन करना, दूध पीकर गुरुजीके पास जाकर दाहिने हाथसे गुरुजीका दायाँ पैर और बाँएँ हाथसे बायाँ पैर छूकर झुककर उन्हें प्रणाम करना, चुपचाप बैठकर गुरुजीका पढ़ाया हुआ पाठ सुनना, पाठ पूर्ण हो जानेपर गुरुजीकी आज्ञासे शंका-समाधान करना, मध्याह्नमें पासके नगर या ग्राममें जाकर सिद्धान्न (पका हुआ शुद्ध अन्न) भिक्षामें लेना जिसमें कोई तामसी पदार्थ (प्याज, लहसुन, मांस, मदिरा आदि) न हो, भिक्षान्न लाकर

गुरुजीको देना, उनका दिया हुआ भक्ष्य लेकर मौन होकर भोजन करना, भोजनके पश्चात् विश्राम करके प्रातःकाल पढ़ा हुआ पाठ आपसमें बैठकर विचारना, सन्ध्याको व्यायाम करना, गौ चराना, आश्रम शुद्ध करना, कुश, लकड़ी, समिधा, फल और जल लाना, सायंकालकी नित्य क्रिया करना, शौच-सन्ध्यादिसे निवृत्त होकर गौ दूहना, हवन करना, भिक्षा माँग लाना और सायंकाल गुरुजीसे अथवा किसी अभ्यागत ऋषि-मुनि या साधु-विद्वान्से इतिहास-पुराणकी कथा-वार्त्ता सुनना, ज्ञानवृद्ध, तपोवृद्ध और वयोवृद्ध जनोंका सत्संग करना, एक पहर रात गए सो जाना और ब्राह्म मुहूर्त्तमें सोकर उठ जाना।

शिक्षण-विधि

प्रायः प्रश्नोत्तरी-प्रणालीसे ही प्रधानतः शिक्षा दी जाती थी अर्थात् पढ़ा चुकनेपर शिष्य प्रश्न करते थे और गुरुजी उत्तर देते थे। सब ज्ञान कंठस्थ कर लिया जाता था। शुद्ध उच्चारणका बड़ा महत्त्व था।

स्वयं अनुभवके लिये भी कभी-कभी छात्रोंको निर्देश कर दिया जाता था और गुरुके निर्देशानुसार छात्र अभ्यास करता हुआ ज्ञान प्राप्त करता चलता था। अधिकांश शिक्षा व्याख्या-प्रणाली-द्वारा गुरुमुखसे ही दी जाती थी। अर्थात् गुरु ही स्वयं कोई शास्त्र या विषय लेकर उसकी स्वयं व्याख्या करते थे और छात्र केवल मूक और मौन श्रोता बनकर बैठे रहते थे। पाठ समाप्त हो चुकनेपर छात्र प्रश्न करते थे। जिन विषयोंकी व्यावहारिक शिक्षा अपेक्षित होती थी उनके लिये प्रायोगिक शिक्षणकी भी व्यवस्था की जाती थी। हमारे यहाँ यह माना जाता था कि गुरुसे चौथाई ज्ञान मिलता है, दूसरा चौथाई स्वयं छात्र अपनी मेधासे पूरा करता है, तीसरा चौथाई वह साथियोंके साथ विचार करके सीखता है और शेष चौथाई अपने आप समय-समयपर पूरा होता चलता है—

आचार्यात्पादमाधत्ते पादं शिष्य स्वमेधया।
पादं सब्रह्मचारिभ्यः पादं कालक्रमेण तु॥

शिक्षण-पद्धतिमें इस बातपर विशेष ध्यान दिया जाता था कि अध्यापक या गुरु जो कुछ सिखावे या पढ़ावे उसे छात्र कण्ठ कर लें। इसीलिये पुस्तकोंके सहारे पढ़नेका क्रम ही बुरा समझा जाता था। शंका-समाधानकी प्रणालीसे यह अवसर ही नहीं रह पाता था कि छात्रके मनमें किसी प्रकारके ज्ञानके सम्बन्धमें कोई भी भ्रम बचा रह जाय। इस शिक्षणके साथ-साथ, पारस्परिक पाठ-विचार और मनन भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समझा जाता था।

मनन, शंका-समाधान और पारस्परिक विवेचनकी पूर्ण स्वतन्त्रता होते हुए भी अनावश्यक आलोचना, छिद्रान्वेषण, निरर्थक हठ-पूर्ण वाद-विवाद अथवा कुतर्कके लिये शिष्योंको कभी प्रोत्साहित नहीं किया जाता था क्योंकि शिक्षाका उद्देश्य ही था—जिज्ञासाको जागरित करना और विवेकका परिष्कार करना। यास्कने स्पष्ट रूपसे आज्ञा दी है कि जो शिष्य अपने गुरुमें दोष ढूँढ़े और अपने सहपाठियोंसे विद्वेष करे उसे शास्त्र कभी नहीं पढ़ाना चाहिए। स्मृतियोंमें ऐसे विद्यार्थियोंके लिये दण्ड और प्रायश्चित्तका विधान भी किया गया है।

पाठन-क्रम

उशनस् सूक्त (८१–८२) में बताया गया है कि व्यासजीने अपने शिष्य वैशम्पायन, सुमन्तु, पैल और जैमिनिको वेदकी शिक्षा देते हुए अपना पाठन-क्रम यह रक्खा था कि पहले वे पाठके विषयका परिचय दे देते थे, फिर उसकी व्याख्या करते थे, तदन्तर उसका उपसंहार होता था। इसीको क्रमशः पाठ, विधि और अर्थवाद कहते थे। उस समय व्याख्या और अर्थका बड़ा महत्त्व समझा जाता था। जो विद्यार्थी केवल विद्या कण्ठ कर लेते थे और उसका अर्थ नहीं जानते थे वे भारवाही पशु समझे जाते थे। दक्षस्मृतिमें भी वेदाध्ययनका क्रम पाँच प्रकारका बताया गया है— १. वेदोंका महत्त्व स्वीकार करना, २. ऊहापोह (तर्क-वितर्क करना), ३. अध्ययन, ४. सस्वर उच्चारण और ५. मनन। वाचस्पति मिश्रने दर्शनके अध्ययनका क्रम बताया है—१. अध्ययन (शब्द सुनना), २. शब्द (अर्थका बोध करना), ३. ऊह (तर्क-वितर्क), ४. सुहृत्प्राप्ति (मित्र

अथवा अध्यापक-द्वारा समर्थन) और ५. दान (प्रयोग) । 'किस प्रकार सोचना चाहिए' (हाउ टु थिंक) नामक अपनी पुस्तकमें ड्यूईने भी लगभग यही क्रम दिया है—१. प्रश्न और उसका स्थान, २. व्यंजना और निर्वचन तथा ३. प्रयोग। कामन्दकने विस्तारसे अध्ययनका ढंग यह बतलाया है—

> शुश्रूषा श्रवणञ्चैव ग्रहणं धारणं तथा।
> ऊहापोहार्थ - विज्ञानं तत्त्वज्ञानञ्च धीगुणाः ॥

[१. शुश्रूषा (सुननेकी इच्छा), २. श्रवण (सुनना), ३. ग्रहण (स्वीकार), ४. धारण, ५. ऊहापोह (तर्क-वितर्क), ६. अर्थ-विज्ञान (ठीक अर्थ समझना), और ७. तत्त्वज्ञान (यथार्थ-बोध) ही बुद्धिके गुण हैं।]

गुरु-वर्ग

आचार्य या गुरु तो सबसे ऊपरके वर्गके छात्रोंको ही पढ़ाते थे। ऊपरके छात्र अपनेसे नीचेके छात्रोंको पढाते थे और वे अपनेसे नीचेवालोंको। इस प्रकार वहाँ सब गुरु ही गुरु रहते थे और इस प्रकार वह सचमुच गुरुकुल बन जाता था क्योंकि केवल सबसे नीचेके वर्गमें ही छात्र रह जाते थे।

उपर्युक्त व्यवस्थासे यह भी लाभ होता था कि पूरे गुरुकुलमें व्यापक रूपसे विनय और शीलकी भावना व्याप्त रहती थी। प्रत्येक व्यक्ति अपनेको गुरु समझकर मर्यादाका पालन करता था और शिष्य समझकर अपने बड़ोंमें गुरु-भाव स्थापित करके शील और शिष्टाचारका व्यवहार करता था। यही कारण था कि दुःशीलता, अविनय, दुष्टता, मारपीट तथा कलह आदिकी घटनाएँ वहाँ सुननेको भी नहीं मिलती थीं।

गुरु और शिष्य

गुरुका कार्य केवल पढ़ाना भर नहीं था। उसका यह भी धर्म था कि वह छात्रोंके आचरणकी रक्षा करे, उनमें सदाचारकी भावना भरे, उनकी योग्यताके संवर्धनमें योग दे, उनके कौशल और उनकी प्रतिभाकी सराहना करके उनकी

सर्वांगीण अभिवृद्धिमें सहायता करे, वात्सल्य-भावसे उनकी देखरेख करे, उनके भोजन-वस्त्रका प्रबन्ध करे, छात्रोंके रोगी होनेपर उनकी सेवा करे, जब वे विद्या प्राप्त करने या शंका मिटाने आवें उसी समय उनकी शंकाका समाधान करे, उन्हें अपने घरका अपना बालक समझे अर्थात् उनमें शुद्ध पुत्रभाव स्थापित करे और यदि वे बुद्धि-कौशलमें अपनेसे बढ़ जायँ तो इसे अपना गौरव समझे अर्थात् यह इच्छा करे कि पुत्र या शिष्य हमसे आगे बढ़ जायँ—सर्वत्र जयमन्विच्छेत्पुत्राच्छिष्यात्पराजयः।

छात्र भी गुरुको पिता और देवता समझते थे। 'आचार्यदेवो भव' की उन्हें शिक्षा दी जाती थी। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ब्रह्मचारी सब समान भावसे रहते थे। उनमें छोटे-बड़े, राजा-रंक, धनी-निर्धनका कोई भेद नहीं होता था। गुरुके एक-एक वाक्यको छात्र अपने लिये अमृत-वाक्य समझता था, उनकी सेवा करनेमें वह सात्त्विक गौरव मानता था। वह सब प्रकारसे गुरुकी कृपा तथा आशीर्वाद प्राप्त करने और गुरुको प्रसन्न करनेके लिये सदा प्रयत्नशील रहता था। यही कारण था कि उस समयके सब छात्र एकसे एक बढ़कर सच्चरित्र, मेधावी, विद्वान् और तेजस्वी होकर निकलते थे। गुरुकुलके छात्र अपने गुरुओंके पैर दाबते थे, उनके बर्तन माँजते थे, उनके लिये जल लाते थे, उनके इंगितपर सब सेवा-कार्य करते थे, उनका आदर करते थे। वे सदा गुरुजीके पीछे रहते थे। गुरु यदि पास बुलाते तो बाईं ओर खड़े होकर उनकी बात सुनते। वे यदि हाथमें कुछ लेकर चलते तो शिष्य उनके हाथसे ले लेते अर्थात् जितने प्रकारसे भी हो सकता, वे सेवा करते और अपने सामने गुरुजीको किसी प्रकारका कष्ट या किसी प्रकारकी असुविधा नहीं होने देते थे। अध्ययनके समय वे गुरुके दोनों पैर धोकर, आचमन करके गुरुके सामने बैठकर अध्ययन करते थे।

अनध्याय

जिस प्रकारकी छुट्टी आजकल होती है वैसी कोई छुट्टी गुरुकुलमें नहीं होती थी। वहाँ विशेष अवसरोंपर अनध्याय होता था अर्थात् पढ़ाई बन्द कर दी जाती थी। किसी विशेष अतिथिके आ जानेपर, अष्टमी, चतुर्दशी,

प्रतिपद्, अमावास्या, पूर्णिमा तथा महाभरणीको पढ़ाई नहीं होती थी और यह माना जाता था कि—'अष्टमी गुरुहन्ता च शिष्यहन्ता चतुर्दशी।' [अष्टमीको पढ़ानेवाले गुरुकी मृत्यु हो जाती है और चतुर्दशीको पढ़नेवाले शिष्यकी।] इसके अतिरिक्त चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहण, संक्रान्ति, विशिष्ट पर्वोत्सव, राजाका अभिषेक, राजा या किसी विशिष्ट पुरुषका अवसान, अन्तेवासीका निधन अथवा अन्य ऐसे अवसरोंपर ही अनध्याय होता था। इसके अतिरिक्त वर्षा, बिजली, मेघगर्जन, भूकंप आदि प्राकृतिक उपद्रवोंपर भी अनध्याय होता था।

गुरुकुलमें ब्रह्मचारीका धर्म था कि "गुरुके बुलानेपर निकट जाकर उनसे वेदाध्ययन करे और मनमें मननपूर्वक वेदका अर्थ विचारे; मूँजकी मेखला, कृष्णाजिन, दण्ड, रुद्राक्षकी जपमाला, ब्रह्मसूत्र और कमण्डलु धारण करे; सिर न मलनेके कारण स्वयं बढ़ी हुई जटाएँ धारण करे, दन्तधावन करे, पहननेके वस्त्र न धुलावे, रंगीन आसनपर न बैठे, कुश धारण करे, स्नान, भोजन, हवन, जप और मलमूत्र-त्यागके समय मौन रहे, नख न काटे और बढ़े रहने दे। ब्रह्मचारी भूलकर भी कभी वीर्यपात न करे। यदि स्वप्नावस्थामें असावधानतावश कभी आप-ही-आप वीर्यपात हो भी जाय तो जलमें स्नान करके प्राणायामपूर्वक गायत्री मन्त्रका जप करे; पवित्र और एकाग्र होकर प्रातःकाल और सायंकाल दोनों संध्याओंमें मौन होकर गायत्री जपता हुआ, अग्नि, सूर्य, आचार्य, गौ, ब्राह्मण, गुरु, बड़े-बूढ़े और देवताओंकी उपासना एवं सन्ध्या-वन्दन करे; आचार्यको साक्षात् ईश्वर-रूप समझे, साधारण मनुष्य मानकर गुरुकी उपेक्षा या अपमान न करे और न उनको किसी बात या व्यवहारका बुरा न माने क्योंकि गुरु सर्वदेवमय हैं; सायंकाल और प्रातःकाल जो कुछ भिक्षा मिले एवं और भी जो कुछ मिले वह सब लाकर गुरुके आगे धर दे और गुरुके भोजन कर चुकनेपर, गुरुकी आज्ञा पाकर संयत भावसे उसमेंसे आप भी भोजन करे; नम्रतापूर्वक हाथ जोड़कर गुरुके निकट ही रहकर सब समय गुरुकी सेवा करे; गुरु चलें तो आप पीछे-पीछे चले, गुरु सोवें तभी सोवे, गुरु लेटें तो आप पास बैठकर पैर दबाता रहे।

जबतक पढ़ना समाप्त न हो तबतक अस्खलित ब्रह्मचर्य-व्रत पालता हुआ पूर्णतः भोग-त्याग-पूर्वक गुरुकुलमें रहे; यदि महर्लोक, जन-लोक, तपःलोक, अथवा जहाँ सब वेद मूर्तिमान् होकर रहते हैं उस ब्रह्मलोकमें जानेकी इच्छा हो तो बृहद्व्रत (नैष्ठिक ब्रह्मचर्य) धारण करके अपना तन गुरुको अर्पण कर दे अर्थात् जबतक जीवित रहे तबतक गुरुकी सेवामें रहकर अधिकाधिक अध्ययन करे और ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करे। ब्रह्मतेज-सम्पन्न, निष्पाप बाल ब्रह्मचारीको चाहिए कि अग्नि, गुरु, आत्मा और सब प्राणियोंमें परमेश्वरको भावना करे और भेदभाव छोड़ दे। गृहस्थाश्रममें न जानेवाले ब्रह्मचारीको उचित है कि स्त्रियोंको न देखे, न उनका स्पर्श करे, न उनसे बातचीत करे, न उनसे हँसी-ठट्ठा करे, न एकान्तमें एकत्र स्त्री-पुरुषोंको देखे। शौच, आचमन, स्नान, सन्ध्योपासन, अर्चना, तीर्थ-सेवा तथा जप करे, अभक्ष्य पदार्थ न खावे, जिनसे बात नहीं करनी चाहिए और जिनको छूना नहीं चाहिए उनसे न मिले, न बोले और न उनका स्पर्श करे, सब प्राणियोंमें ईश्वरको देखे और मन, वाणी और कायाका संयम पाले। यों तो ये धर्म सभी आश्रमोंके हैं पर ब्रह्मचारीको इनका पालन अवश्य करना चाहिए। इस प्रकार ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करनेवाला ब्राह्मण (या क्षत्रिय या वैश्य) प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी होता है। ऐसे निष्काम नैष्ठिक ब्रह्मचारीकी कर्मवासनाएँ तीव्र तपसे भस्म हो जाती हैं और अन्तमें वह मुक्ति प्राप्त करता है।

वर्षका आरम्भ

गुरुकुलका वर्षारम्भ श्रावणसे समझा जाता था। यद्यपि जिस प्रकार आजकल जुलाईसे वर्षका आरम्भ होता है और मार्च या मईतक चलता है वैसा उस समय नहीं था। केवल औपचारिक रूपसे गणना मात्र करनेके लिये श्रावणसे शिक्षा-वर्ष आरम्भ किया जाता था।

जहाँ विनय और शीलका इतना भव्य और उदात्त वातावरण हो वहाँ दण्डका प्रश्न ही कहाँ उठता है? फिर भी ग्राम-पाठशालाओंमें कपड़ेके

कोड़े, फटे हुए बाँसके फट्टे या हाथसे पीठपर मारनेका विधान था और यह ताडन बुरा नहीं समझा जाता था। आर्य लोग ताडनाको आवश्यक समझते थे। उनका निश्चित मत था कि पाँच वर्षतक पुत्रका लाड़-प्यार करे, दस बरसतक उसे ताडन करे, उसे डाँट-फटकारमें रक्खे पर जब वह सोलह वर्षका हो जाय तो पुत्रसे (या शिष्यसे) मित्रका-सा व्यवहार करे। दण्डके अवसर बहुत कम आते थे। फिर भी यह सिद्धान्त माना जाता था कि लाड़ करनेमें बहुत दोष हैं और ताडना करनेमें बहुत गुण हैं। इसलिये पुत्र और शिष्यको लाड़ न करके उसे ताडना करनी चाहिए। गुरुकुलोंमें अनेक प्रकारके सज्ञान और अज्ञान अपराधोंके लिये अनेक प्रकारके प्रायश्चित्त करके छात्रगण आत्मशुद्धि भी करते रहते थे।

इस प्रकार गुरुकुलोंका वातावरण पारस्परिक स्नेह, सेवा, सहानुभूति, सत्संकल्प, तपस्या, ज्ञानार्जन, विद्यार्जन, आत्म-त्याग, सहिष्णुता तथा विवेक-शीलतासे भरा हुआ था। वहाँ छोटे-बड़े, ऊँच-नीच, राजा-रंक, धनी-निर्धन किसी प्रकारका कोई भेद नहीं था। सब मिलकर समान भावसे रहते थे। सबका रहन-सहन अत्यन्त सरल होता था। सबके पास कुशासन, कम्बल, मृगचर्म, दण्ड, मेखला, जलपात्र और खड़ाऊँके अतिरिक्त और कोई वस्तु नहीं होती थी। सारा जीवन खुले स्वच्छ प्राकृतिक वातावरणमें सक्रिय होकर व्यतीत करनेसे शरीरमें स्फूर्ति और दृढता आती थी। प्राणायाम, हवन और तपस्यासे मुखपर तेज और शरीरमें कान्ति आती थी। सेवा तथा सहिष्णुतासे मनमें उदारता, आत्मत्याग और सत्संकल्पकी सृष्टि होती थी तथा वेद-शास्त्र आदिके अध्ययनसे बुद्धिमें विवेक प्रस्फुरित होता था। सबसे बड़ी बात यह थी कि छात्र सब प्रकारकी चिन्ताओंसे मुक्त होकर अध्ययन करते थे।

परीक्षा

उन गुरुकुलोंमें आजकल-जैसी परीक्षा नहीं होती थी। प्रतिदिन जो कुछ गुरुजी पढ़ाते थे उसे वे अगले दिन सुनकर ही आगेका पाठ पढ़ाते थे। अतः, परीक्षा तो नित्य ही चलती रहती थी। इसके अतिरिक्त स्वयं छात्र ही

आपसमें पाठ विचार करके अपनी-अपनी परीक्षा लेते चलते थे और जहाँ कमी होती थी वहाँ पूरा करते चलते थे। शास्त्रार्थके रूपमें सामूहिक परीक्षा भी होती थी जिनमें एक ही गुरुकुलके छात्र दो श्रेणियोंमें विभक्त होकर एक पूर्व-पक्ष ग्रहण कर लेता था, दूसरा उत्तर पक्ष। इसमें गुरुजी मध्यस्थ हो जाते थे और शास्त्रार्थ हो जानेपर वे निर्णय देते थे कि किसका पक्ष प्रबल है और किसका निर्बल। जिसका पक्ष निर्बल होता था वह और भी उत्साह और लगनसे अध्ययन करनेमें लग जाता था और इस प्रकार उनमें सात्त्विक तथा स्वस्थ प्रतियोगिता या प्रतिस्पर्धिताका भाव उद्दीप्त होता था। कभी-कभी दो गुरुकुलोंके छात्रोंमें भी शास्त्रार्थ हुआ करता था। इन परीक्षाओंके अतिरिक्त कौशल-परीक्षाएँ और बुद्धि-परीक्षाएँ भी होती थीं जैसे द्रोणाचार्यने वृक्षपर काठकी चिड़िया टाँगकर अपने राजसी शिष्योंसे उसकी आँख बेधनेको कहा था किन्तु केवल अर्जुन ही उसमें सफल हो पाए।

स्नातक और शुल्क

विद्या प्राप्त कर चुकनेपर प्रत्येक छात्र अष्टकुंभ और सहस्रधारासे स्नान करके स्नातक हो जाता था और वह विशिष्ट उपदेश लेकर विद्यालयसे विदा लेता था। इस विदाके संस्कारको समावर्त्तन अर्थात् 'अच्छे ढंगसे लौटना' कहते थे। इस समावर्त्तनके समय गुरु-दक्षिणा देनेकी भी परिपाटी थी अर्थात् प्रत्येक शिष्य अपने-अपने सामर्थ्यके अनुसार गुरुको कुछ देनेका संकल्प करता था। यदि गुरु ही कुछ माँग बैठें तो शिष्य उसे पूरा करना अपना धर्म समझता था। यह गुरुदक्षिणा धनके रूपमें भी दी जाती थी और प्रतिज्ञाके रूपमें भी कि मैं अमुक काम करूँगा। उस समय साधारणतः किसी छात्रसे किसी प्रकार शुल्क नहीं लिया जाता था किन्तु फिर भी ऐसे कुछ छात्र अवश्य थे जो मासिक या वार्षिक शुल्कके रूपमें तो नहीं किन्तु गुरुको तुष्ट करनेके लिये प्रचुर धन देते थे क्योंकि हमारे यहाँ विद्या प्राप्त करनेके चार ही उपाय बतलाए गए हैं —

गुरु-शुश्रूषया विद्या पुष्कलेन धनेन वा।
अथवा विद्यया विद्या चतुर्थी नैव विद्यते ॥

[गुरुकी सेवा करके, भरपूर धन देकर या एक विद्याके बदले दूसरी विद्या सिखाकर विद्या सीखी जाती है, चौथा मार्ग ही नहीं ।]

ये स्नातक तीन प्रकारके होते थे—विद्यास्नातक, व्रतस्नातक और विद्या-व्रत-स्नातक । जिस ब्रह्मचारीने नियमपूर्वक सब विद्याएँ पढ़ ली हों किन्तु यथाविधि ब्रह्मचर्याश्रमकी अवस्था पूरी न की हो, उसे विद्यास्नातक कहते थे । जिसने ब्रह्मचर्याश्रमके नियम तो पूरे पालन किए हों पर सब विद्याएँ न पढ़ पाई हों, उसे व्रतस्नातक कहते थे और जिसने अड़तालीस वर्षतक ब्रह्मचर्य-व्रत पालन करके क्रमशः सब विद्याएँ अध्ययन कर ली हों उसे विद्याव्रत-स्नातक कहते थे ।

अर्थ-व्यवस्था

इन गुरुकुलोंमें पक्के भवन नहीं होते थे । जंगलसे कुश, काँस, बाँस, और लकड़ीसे ही बड़े सुन्दर और दृढ आवास बना लिए जाते थे और यह सब काम भी छात्रगण स्वयं करते थे । फिर भी गुरुकुलके लिये गौएँ और उनकी सेवाका प्रबन्ध चाहिए, ब्रह्मचारियोंके लिये वस्त्र चाहिएँ और उनके लिये बाहर आने-जानेकी भी व्यवस्था होनी चाहिए । इन सबकी सुविधाके लिये राजा और धनी लोग आकर धन दे जाया करते थे और बहुत-सा द्रव्य दानके रूपमें भी मिल जाता था । गुरुकुलोंके लिये गाँव लगा दिए जाते थे । बहुतसे गाँववाले और व्यापार-संघवाले भी गुरुकुल सँभालनेका भार ले लेते थे । इस प्रकार अत्यन्य निष्काम भावसे जीवन बितानेवाले विद्या-वयोवृद्ध गुरुजन प्राचीन गुरुकुल चलाते थे, जिनका मान राजा भी करते थे ।

सार्वजनिक शिक्षण-संस्थाओंका प्रारम्भ बौद्ध संघोंसे ही समझना चाहिए । बौद्ध मठपति अपने यहाँ नवप्रविष्ट भिक्खुओंको विहारमें ही सम्मिलित रूपसे शिक्षा देने लगे थे । इसलिये तृतीय शताब्दीसे पूर्व वर्त्तमान ढंगके सार्वजनिक समझे जानेवाले विद्यालय भारतमें नहीं थे । प्रारम्भमें तो राजधानियाँ, तीर्थ, मठ, देवालय और अग्रहार ग्राम ही शिक्षण-केन्द्र बनते थे क्योंकि ऐसे स्थानोंमें योगक्षेमकी व्यवस्था सरलतासे हो जाती थी । वाराणसी, काञ्ची,

और नासिक आदि तीर्थ इसीलिये प्रसिद्ध हुए कि वहाँ अनेक ब्राह्मण सरलतासे जीविका पानेके कारण निरन्तर निवास करते रहते थे किन्तु तक्षशिला, पैठण, कन्नौज, मिथिला, धारा, उज्जयिनी आदि नगर तो राजधानी होनेके कारण ही प्रसिद्ध विद्याकेन्द्र बन पाए और नालन्दा, विक्रमशिला आदि स्थान बौद्धोंके प्रसिद्ध विहार होनेके कारण विद्या-केन्द्र बने।

———

३

भारतके प्रसिद्ध वैदिक विद्याकेन्द्र

शिल्प तथा अन्य उद्योग कौशलोंके लिये शिल्पी लोग अपने-अपने घर ही शिक्षार्थियों या अपने घरके बालकोंको शिक्षा दे लिया करते थे। शेष व्याकरण-दर्शन आदिकी शिक्षा आश्रमों या गुरुकुलोंमें होती थी और इस शिक्षाक्रममें राजा या राजसत्ताका तनिक भी हस्तक्षेप नहीं होता था। गुरुकुलोंके प्रबन्धमें हस्तक्षेप न करते हुए भी ऐसे गुरुकुलों या आश्रमोंको सहायता देना तथा उनका संरक्षण करना प्रत्येक राजा अपना धर्म समझता था।

अग्रहार

उस समयके शासकगण गुरुकुलोंके लिये भूमि तो देते ही थे, साथ-साथ उनके दैनिक पोषणके लिये कुछ गाँव भी लगा देते थे। कभी-कभी तो गाँवका गाँव ही विद्वान् ब्राह्मणोंको दे दिया जाता था और उन्हें करके भारसे मुक्त कर दिया जाता था। ब्राह्मणोंकी ऐसी बस्तीको ब्रह्मपुरी या अग्रहार तथा इस प्रकारके दानको भट्ट-वृत्ति कहते थे।

विद्यानगर या गुरुनगर

गुरुकुलोंके अतिरिक्त काशी, उज्जैन, नवद्वीप आदि नगर तथा कश्मीर जैसे कुछ प्रदेश भी ऐसे थे जहाँ घर - घरमें प्रतिष्ठित विद्वान् आचार्य, ज्ञान-प्रदीप बनकर दिनरात ज्ञान-ज्योतिका वितरण करते रहते थे। तीर्थोंपर विद्वानोंको आर्थिक सहायता अनायास मिल ही जाती थी अतः, वहाँ विद्वान् लोग व्यक्तिगत रूपसे अपने विद्याकेन्द्र खोल लेते थे। इनमें काशी, कांची, नासिक, कर्णाटक आदि स्थान प्रारंभसे ही प्रसिद्ध विद्याक्षेत्र रहे हैं। यहाँके राजा लोग भी अपनी राजसभामें विद्वानों और पंडितोंको आश्रय देना अपनी शोभा समझते थे। इसीलिये उत्तर भारतमें तक्षशिला, पाटलिपुत्र,

कन्नौज, मिथिला और धारा तथा दक्षिणमें मालखेड, कल्याणी और तंजोर नगर प्रसिद्ध विद्याकेन्द्र बन गए थे।

तक्षशिला

विद्यानगरके रूपमें यदि कोई वैदिक विद्याओंका प्रधान गढ़ था तो वह था तक्षशिला। भरतके पुत्र तक्ष-द्वारा बसाया हुआ तक्षशिला (वर्तमान टैक्सिला) नगर, गान्धार राज्यकी राजधानी बना हुआ भारतकी उत्तर-पश्चिम सीमापर समवस्थित था, जहाँ जनमेजयने प्रसिद्ध नागयज्ञ किया था और जिसके भग्नावशेष वर्तमान रावलपिंडीके पास आज भी प्राप्त होते हैं।

विक्रम संवत्‌से सात सौ वर्ष पहलेसे लेकर तीसरी विक्रम शताब्दीतक तक्षशिलाके विभिन्न आचार्योंके घर सोलह कला, शास्त्र, चित्रकला, मूर्तिकला तथा हाथीदाँत आदिकी अनेक प्रकारकी कारीगरीकी शिक्षा दी जाती थी। राजगृह, काशी, उज्जैन और मिथिला-तकसे वहाँ इतने राजकुमार और छात्र पढ़ने आते थे कि एक-एक आचार्यके पास पाँच-पाँच सौ छात्र पढ़ते थे। इन सब विद्याओंके अतिरिक्त तीन वेद (ऋग्, यजु और साम), व्याकरण, शल्यशास्त्र, धनुर्विद्या, युद्धविद्या, ज्यौतिष (गणित और फलित), गणित, वाणिज्य, कृषि, यानविद्या, तन्त्र, यातु (जादू), गारुडी विद्या, गुप्तधन-प्राप्ति-विद्या, संगीत, नृत्य तथा चित्रकला आदि विषय वहाँ पढ़ाए जाते थे। इतना अध्ययनाध्यापन होते हुए भी तक्षशिलाकी प्रसिद्धि दर्शन और आयुर्वेदके लिये अधिक थी। उन दिनों आयुर्वेदके सबके बड़े आचार्य आत्रेय ऋषि वहीं आयुर्वेदका अध्यापन करते थे। राजवैद्य जीवकने सात वर्षतक उनसे शिक्षा प्राप्त करके वह विकट परीक्षा दी थी जिसमें जीवकसे कहा गया था कि चार दिनके भीतर तक्षशिलाके चारों ओर पन्द्रह मीलके घेरेमें जितनी वनस्पति, जड़ी-बूटियाँ हों सबको एकत्र करके सबका गुण वर्णन करो, और जीवक इस परीक्षामें सफल भी हुआ था। सुप्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि मुनि और राजनीतिके जनक, विचक्षण कूटनीतिज्ञ चाणक्य या कौटिल्यने यहीं शिक्षा पाकर अपने ज्ञान और अपनी मेधावितासे विश्वके इतिहासमें अमरता अर्जित की है। उच्च वर्णों, धनिकों और राजपरिवारोंके पुत्र अपरिमित

संख्यामें यहाँ आते रहते थे और यह नगरी ज्ञान-पिपासुओंकी विशाल ज्ञानवापी बन गई थी। एक धनुर्विद्याके आचार्य भी वहाँ थे जिनके पास एक सौ तीन राजकुमार धनुर्विद्या सीखते थे।

इस नगरीके कुछ छात्र तो अपने गुरुओंके घर रहकर ही पढ़ते थे, कुछ छात्र दिनमें सेवाकार्य करते थे और उसीके बदले रातको गुरुओंसे पढ़ते थे, कुछ ऐसे थे जो गुरुओंको पर्याप्त धन देकर उन्हें प्रसन्न करके विद्या प्राप्त करते थे, उन्हें सेवाकार्य नहीं करना पड़ता था। कुछ धनी छात्र किरायेपर भवन लेकर भी वहाँ रहते थे। वहाँ चारों ओर दिन-रात छात्रोंके समूहके समूह अध्ययन करते, परस्पर पाठ विचारते और शास्त्रार्थ करते दिखाई पड़ते थे। पीछे चलकर वहाँ बौद्धोंके भी विहार बनने लगे किन्तु विक्रमकी पाँचवीं शताब्दीमें उत्तर-पश्चिमसे आनेवाले हूणोंके सर्दार तोरमाणके पुत्र मिहिरकुलने इस ज्ञानपुरी तक्षशिलाको लूटकर, जलाकर इस ज्ञानदीपका सदाके लिये निर्वाण कर दिया।

काशी

तक्षशिलाके अतिरिक्त भारतीय वैदिक ज्ञानका दूसरा केन्द्र था काशी, जो उपनिषत्-कालसे ही भारतीय ज्ञान-विज्ञानका प्रधान केन्द्र बनी हुई थी। उपनिषद्में काशीके प्रसिद्ध दार्शनिक राजा अजातशत्रुका विवरण मिलता है जो मिथिलाके राजा जनकके समान विद्याके पोषक और स्वयं दार्शनिक रहे हैं। बौद्ध जातकोंमें कथा आई है कि काशीके विद्वान् ब्राह्मणोंके घर वेदत्रयी और अठारह शिल्प पढ़ानेके लिये विद्यालय खुले हुए थे और प्रायः सोलह वर्षकी अवस्थाके बालक उच्च शिक्षा प्राप्त करनेके लिये काशी जाया करते थे।

सातवीं शताब्दी वि० पू० में काशी इतना बड़ा विद्याकेन्द्र था कि बुद्धको भी अपने धर्म-चक्र-प्रवर्त्तनके लिये काशीको ही केन्द्र बनाना पड़ा। इसीलिये अशोकके समयतक काशी बौद्ध-विद्याकी भी केन्द्रस्थली बन गई थी। सातवीं शताब्दी विक्रमीमें इस बौद्ध इसिपतन (सारनाथ) विहारमें

सुन्दर प्रासादों और शिक्षा-भवनोंकी इतनी पंक्तियाँ स्थापित हो गई थीं कि वहाँ लगभग डेढ़ सहस्र भिक्खु रहकर अध्ययन करते थे। यह प्रणाली बारहवीं शताब्दी विक्रमीय-तक निरन्तर चलती रही। सत्रहवीं शताब्दिमें बर्नियरने काशीकी शिक्षा-प्रणालीका परिचय देते हुए लिखा, है—'काशी ऐसा विश्वविद्यालय है जहाँ हमारे विश्वविद्यालयोंके समान न तो विद्यालय हैं न नियमित कक्षाएँ वरन् वह तो प्राचीन विद्वानोंके उस ज्ञान-क्षेत्रके समान है जहाँ विद्वान् आचार्य अपने घरोंपर चार-छह या बारह-पन्द्रह छात्रोंको अलग-अलग शिक्षा देते हैं।

मंदिरसे सम्बद्ध विद्यालय

काशी और तक्षशिला-जैसी विशाल विद्यापुरियोंके अतिरिक्त स्थान-स्थानपर देवमंदिरोंके साथ भी मंदिर-निर्माताओं, नगरके प्रतिष्ठित धनिकों अथवा जनताकी ओरसे अनेक विद्यालय स्थापित कर दिए जाते थे, जिनका व्यय-भार आस-पासके लोग या व्यवसाय-धन्धेवाले अपने सिर ले लेते थे। ऐसे विद्यालयोंका ऐतिहासिक उल्लेख दसवीं शताब्दीसे प्राप्त होने लगता है।

सालोत्गी

दसवीं और ग्यारहवीं शताब्दीमें बम्बई राज्यके बीजापुर प्रदेशमें ऐसा ही निःशुल्क तथा प्रसिद्ध सालोत्गी विद्यालय वैदिक विद्याओंका प्रधान केन्द्र था जो त्रयी-पुरुषके मन्दिरसे सम्बद्ध था। इस विद्यालयमें बाहरके छात्रोंके निवासके लिये सत्ताईस छात्रावास बने हुए थे जिनके प्रकाशके व्ययके लिये बारह निवर्त्तन (लगभग साठ एकड़) भूमि, भोजनके लिये पाँच सौ निवर्त्तन भूमि और अध्यापकोंके वेतनके लिये पचास निवर्त्तन भूमि लगी हुई थी अर्थात् वहाँ कमसे कम दो सौ छात्रोंके भोजन, वस्त्र, आवास और शिक्षाकी निःशुल्क व्यवस्था थी। इस नियमित आयके अतिरिक्त आसपासके गाँववाले भी विवाहपर पाँच रुपये, उपनयनपर ढाई रुपये और मुंडनपर एक-एक रुपया दान देते थे। इसके अतिरिक्त श्रद्धालु भक्त भी समय-समयपर विद्यालयके आचार्यों और छात्रोंको निमन्त्रण देते रहते थे।

एन्नायिरम्

इसी प्रकारका एक विद्यालय दक्षिण भारतके आरकोट प्रदेशमें एन्नायिरम्में था जिसमें सोलह अध्यापक पढ़ाते थे और जिसे पासके गाँवोंसे लगभग तीन सौ एकड़ भूमि मिल गई थी जिससे तीन सौ चालीस छात्रोंको निःशुल्क शिक्षा भोजन और आवास मिलनेका प्रबन्ध हो गया था।

तिरुमुक्कुडल विद्यालय

ग्यारहवीं शताब्दीमें दक्षिण भारतके चिंगलपेट जनपदके तिरुमुक्कुडल नगरमें वेंकटेश पेरुयल मन्दिरसे सम्बद्ध एक विद्यालय, छात्रावास और चिकित्सालय था जहाँ साठ छात्रोंके निवास और भोजनकी व्यवस्था थी।

तिरुवर्रियूर विद्यालय

तेरहवीं शताब्दीमें चिंगिलपेट जनपदके तिरुवर्रियूर नगरमें महर्षि पाणिनिकी स्मृतिमें विशाल व्याकरण विद्यालय स्थापित हुआ था जो स्थानीय शिव मन्दिरके समीप समवस्थित था। इसमें लगभग साढ़े चार सौ विद्यार्थियोंके लिये प्रबन्ध था।

मलकापुरम् विद्यालय

सन् १२६८ ई० के शिलालेखके अनुसार मलकापुरम्में एक मन्दिर, विद्यालय, छात्राबास और चिकित्सालय था जिसमें आठ अध्यापक थे और लगभग १५० छात्र निःशुल्क शिक्षा, आवास, भोजन और औषधि पाते थे।

अन्य विद्यालय

इनके अतिरिक्त दक्षिणमें नवीं शताब्दीसे चौदहवीं शताब्दीतक इस प्रकारके अनेक मन्दिर-सम्बद्ध विद्यालय थे जिनमें धारवाड़ जनपदके हेब्बल स्थानपर भुजब्बेश्वरके मठमें एक विद्यालय था जहाँ लगभग दो सौ छात्र शिक्षा पाते थे। हैदराबाद राज्य के नगई स्थान में ग्यारहवीं शताब्दी में विशाल मन्दिर विद्यालय था जिसमें ५५२ छात्र पढ़ते थे। इसी प्रकार बीजापुर जनपदके मनगोली स्थानमें बारहवीं शताब्दीमें व्याकरण विद्यालय था। उसी

समय कर्णाटकमें बेलगाँवके दक्षिणेश्वर मन्दिरमें अध्ययन करनेवाले छात्रोंके लिये निःशुल्क भोजनकी व्यवस्था थी। सन् ११५८ में शिमोगा जनपदमें तालगुंड स्थानके प्रणेश्वर मन्दिरमें जो संस्कृत विद्यालय था वहाँ ४८ छात्रोंको निःशुल्क भोजन और शिक्षा दी जाती थी। इसी प्रकार तंजोर जनपदके पुन्नवयिम स्थानमें तत्स्थानीय मन्दिरका एक व्याकरण विद्यालय भी था जहाँ लगभग ५०० छात्र निःशुल्क शिक्षा और भोजन पाते थे।

अग्रहार विद्याकेन्द्र

देशके अनेक राजा तथा धनी-मानी लोग विद्वान् ब्राह्मणोंको बुलाकर जो गाँव दे डालते थे उन्हें अग्रहार कहते थे। वे भी विद्वान् ब्राह्मणोंके निवासके कारण विद्याकेन्द्र बन जाते थे। ऐसे विद्याकेन्द्रोंमेंसे कर्णाटकके धारवाड़ जनपदमें वर्तमान कलासका कदियूर अग्रहार है जो दसवीं शताब्दीमें राष्ट्रकूट राजाओंने उन २२० ब्राह्मणोंको दिया था जो वेद, व्याकरण, पुराण, तर्क, राजनीति और काव्यके पंडित तथा टीकाकार थे। इन अग्रहार-केन्द्रोंमें दीन विद्यार्थियोंके लिये भोजनकी भी व्यवस्था थी। मैसूरके हसन जनपदके अरसीकेरी स्थानमें सर्वज्ञपुर नामका अग्रहार ग्राम विद्याकेन्द्रके लिये प्रसिद्ध था जहाँ अनेक विद्वान् ब्राह्मण वेद, शास्त्र आदिका अध्ययन कराते थे और दिन-रात अध्ययन-अध्यापनमें लगे रहते थे। इनके अतिरिक्त और भी असंख्य अग्रहार ग्रामोंमें अनेक विद्यार्थियोंको निःशुल्क शिक्षा दी जाती थी।

उत्तर भारतके मन्दिर-विद्यालय

उत्तर भारतमें भी काशी, अयोध्या, मथुरा आदि तीर्थस्थानोंके मन्दिरोंके साथ पाठशालाएँ लगी हुई थीं किन्तु उत्तर-पश्चिमी सीमान्तसे आनेवाले बर्बर दस्युओंने यहाँकी पाठशालाओंको न तो पनपने दिया न रहने दिया।

४

कन्याओंकी शिक्षा

वैदिक कालमें स्त्रियोंका यज्ञोपवीत तो होता था किन्तु जिस प्रकारके गुरुकुल बालकोंके लिये थे वैसे गुरुकुल कन्याओंके लिये नहीं थे। आचार्योंकी कन्याएँ स्वयं अपने पिताके साथ रहकर पढ़-लिख लेती थीं जैसे गार्गीने ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर लिया था। कन्याओंके लिये यही विधान था कि वे अपनी मातासे, बड़ी बहनसे, साससे और पतिसे विद्या प्राप्त कर सकती थीं।

हेमाद्रिने आदेश दिया है—

'कुमारीको विद्या अवश्य पढ़ानी चाहिए और उसे धर्म तथा नीतिमें निष्णात कर देना चाहिए क्योंकि विदुषी कन्या अपने और अपने पतिके लिये कल्याणकारिणी होती है। इसलिये केवल पढ़ी-लिखी कन्याका ही कन्या-दान करना चाहिए। यही सनातन मार्ग है। अपने पिता तथा पतिकी मर्यादा न जाननेवाली, पति-सेवाका ज्ञान न रखनेवाली तथा धर्माचरणसे अनभिज्ञ कन्याका विवाह नहीं करना चाहिए।'

विदुषी नारियाँ

हमारे इतिहासमें विश्ववारा, लोपामुद्रा, अपाला, घोषा, आत्रेयी, पौलोमी, गोधा, व्रजाया आदि मन्त्रद्रष्टी महिलाओं, गार्गी और मैत्रेयी जैसी ब्रह्मवादिनी देवियों, सरस्वतीकी उपाधि धारण करनेवाली पथ्यावस्ति जैसी विदुषियों तथा बडवा, प्रतिथेयी, सुलभा आदि विचक्षण बुद्धि-सम्पन्न नारियोंका विस्तृत विवरण मिलता है। रामायणमें वाल्मीकिने लिखा है कि रामचन्द्रजीके अभिषेकके समय कौशल्याजी मन्त्र पढ़-पढ़कर हवन कर रही थीं; बालि-सुग्रीव-युद्धके समय तारा भी मन्त्रके साथ स्वस्त्ययन कर रही थीं तथा दण्डकारण्यमें सीताजीने रामके साथ इतिहास और धर्म-नीतिपर विचार-विमर्श किया था। महाभारतके शान्ति-पर्वमें लिखा है कि राजा जनकको जब विराग

हुआ तब उनकी पत्नीने उन्हें वेद-शास्त्रके आधारपर गार्हस्थ्य-धर्मकी विशेषता समझाई थी। उसी पर्वमें जनकके साथ संवाद करते हुए सुलभाने योग, समाधि और मोक्षपर अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण प्रवचन दिया है। इन उदाहरणोंसे प्रतीत होता है कि स्त्रियोंको अत्यन्त उच्च श्रेणीकी उदार शिक्षा दी जाती थी।

बौद्ध युगमें स्त्री-शिक्षा

बौद्ध युगतक स्त्री-शिक्षाका महत्त्व अधिक बढ़ चुका था। ललित-विस्तरके अनुसार बुद्धने यह प्रण किया था कि मैं उसी कन्यासे विवाह करूँगा जो लेखन, काव्य और संगीत-कलामें निपुण हो, सर्व-गुणसम्पन्न हो और शास्त्रज्ञ हो। बौद्धोंकी थेरी-गाथामें बहुत-सी विदुषी अध्यापिकाओंका वर्णन आता है।

स्त्री-शिक्षाका विरोध

मीमांसाकार जैमिनिके समय ही आचार्य ऐतिशायनने स्त्रियोंके वैदिक अधिकारोंका विरोध किया था। यह विरोध स्मृतिकालतक इतना बढ गया कि विवाह ही उनका एक मात्र संस्कार समझा जाने लगा, शेष सब संस्कार समाप्त हो गए और यह व्यवस्था दे दी गई कि विवाह ही स्त्रियोंका उपनयन है, पति-सेवा ही उनका गुरुकुल-वास है और घरेलू काम ही उनका अग्निकर्म है।

स्त्री-शिक्षाका पाठ्यक्रम

वात्स्यायनने अपने कामसूत्रमें विवाहित स्त्रियोंके कर्त्तव्योंका वर्णन करते हुए बताया है कि स्त्रीको फुलवारी लगाना, जड़ी-बूटी और शाक उपजाना, मक्खन और तेल निकालना, कताई-बुनाई करना, रस्सी बँटना, नौकर-चाकरोंसे लेन-देन रखना, पशु-पालन, बेचना-मोल लेना, अनेक प्रकारके भोजन-व्यंजन बनाना और शृंगार करना जानना चाहिए। इनके अतिरिक्त स्त्रियोंको चौंसठ कलाएँ या महाविद्याएँ भी जाननी चाहिएँ। राजकुमारियोंको विशेष रूपसे शासन-संबंधी ज्ञान और सैनिक शिक्षा भी प्राप्त करनी चाहिए। इस प्रकार प्राचीन कालमें स्त्रियोंकी शिक्षाके लिये बड़ा विस्तृत और महत्त्वपूर्ण विधान था।

कन्या-शिक्षाका विधान

कामशास्त्रके रचयिता वात्स्यायनने लिखा है कि कन्याओंको विवाहित मौसी, बड़ी बहन, सखी अथवा भुक्त साधुनी आदिसे निम्नलिखित चौंसठ कलाओं या महाविद्याओंका अभ्यास करके सिद्ध तथा सफल गृहिणी बनना चाहिए—

१. गीत (गाना) । २. वाद्य (बाजा बजाना) । ३. नृत्य (गीतके साथ अंग-संचालन द्वारा भाव-प्रदर्शन) । ४. नाट्य (अभिनय) । ५. आलेख्य (चित्रकारी) । ६. विशेषकच्छेद्य (तिलकके साँचे बनाना । ७. तण्डुलकुसुमावलि विकार (चावल और फूलोंसे चौक आदि पूरना) । ८. पुष्पास्तरण (फूलोंकी सेज सजाना या बनाना) । ९. दशन-वसनाङ्गराग (दाँत, कपड़े और अंग रँगना, दाँतोंके लिये मंजन-मिस्सी आदि, वस्त्रोंके लिये रंग और रँगनेकी सामग्री तथा अंगोंमें लगानेके लिये चन्दन, केसर, मेहँदी, महावर आदि बनाना और उनके बनाने तथा कलापूर्ण ढंगसे शरीरपर रचानेकी विधिका ज्ञान) । १०. मणि-भूमिका-कर्म (ऋतुके अनुकूल अपना घर या आवास सजाना) । ११. शयन-रचना (बिछावन या पलँग बुनना, सजाना) । १२. उदकवाद्य (जल-तरंग बजाना) । १३. उदकघात (जलक्रीड़ा या पानीकी चोटसे काम लेना, जैसे पनचक्की या पिचकारी आदिसे काम लेनेकी विद्या) । १४. चित्रयोग (अवस्था परिवर्तन करना अर्थात् जवानको बूढ़ा या बूढ़ेको जवान बनाना या रूप बदलना) । १५. माल्यग्रन्थ-विकल्प (देव-पूजनके लिये या पहननेके लिये माला गूँथना) । १६. केश-शेखरापीड-योजन (सिरपर फूलोंसे अनेक प्रकारकी रचना करना या सिरके बालमें फूल गूँथना या मुकुट बनाना) । १७. नेपथ्य-योग (देशकालके अनुसार वस्त्र या आभूषण पहनना) । १८. कर्ण-पत्रभंग (पत्तों और फूलोंसे कानोंके लिये कर्णफूल आदि आभूषण बनाना) । १९. गन्धयुक्ति (सुगन्धित पदार्थ जैसे गुलाब, केवड़े आदिसे फुलेल बनाना) । २०. भूषण-योजन (सोने तथा रत्नके आभूषण सजाकर पहनना) ।

२१. इन्द्रजाल। २२. कौचुमारयोग (कुरूपको सुन्दर करना या मुँह और शरीरपर मलनेके लिये ऐसे उबटन बनाना जिनसे कुरूप भी सुन्दर हो जायँ)। २३. हस्तलाघव (हाथकी सफ़ाई, फुर्ती या लाग)। २४. चित्र-शाकापूपभक्ष्य-विकार-क्रिया (अनेक प्रकारकी तरकारियाँ, पूए और खानेके पकवान बनाना या सूप-कर्म)। २५. पानक-रस-रागासव-योजन (पीनेके लिये अनेक प्रकारके शर्बत, अर्क़ और आसव आदि बनाना)। २६. सूचीकर्म (सीना-पिरोना)। २७. सूत्रकर्म (अनेक प्रकारके कपड़े बुनना, रफूगरी, क़सीदा काढ़ना तथा तागेसे अनेक प्रकारके बेल-बूटे बनाना)। २८. प्रहेलिका (पहेली-बुझौवल और कहानी-कहौवल)। २९. प्रतिमाला (अन्त्याक्षरी अर्थात् श्लोकका अंतिम अक्षर लेकर उसी अक्षरसे आरम्भ होनेवाला दूसरा श्लोक कहना)। ३०. दुर्वाचयोग (कठिन पदों या शब्दोंका अर्थ निकालना)। ३१. पुस्तक-वाचन (उपयुक्त रीतिसे पुस्तक बाँचना)। ३२. नाटिका-ख्यायिका-दर्शन (नाटक देखना या दिखलाना)। ३३. काव्य-समस्यापूर्ति। ३४. पट्टिका-वेत्र-वाण-विकल्प (नेवाड़, बेंत या बाधसे चारपाई बुनना)। ३५. तर्कुकर्म (तकुआ-सम्बन्धी सारे काम जैसे तकली, चर्खा)। ३६. तक्षण (बढ़ई, पथरकट आदिका काम करना)। ३७. वास्तुविद्या (घर बनाना, एंजिनियरिंग)। ३८. रूप्यरत्न परीक्षा। (सोना-चाँदी आदि धातु और रत्न परखना)। ३९. धातुवाद (कच्चे धातुओंको स्वच्छ करना या मिले धातुओंको अलग-अलग करना)। ४०. मणिराग-ज्ञान (रत्नोंके रंग जानना)। ४१. आकर-ज्ञान (खानोंकी विद्या)। ४२. वृक्षायुर्वेदयोग (वृक्षोंका ज्ञान, चिकित्सा तथा उन्हें रोपनेकी विधि)। ४३. मेष-कुक्कुट-लावक-युद्ध-विधि (मेढ़ा, मुर्गा, बटेर, बुलबुल आदि लड़ानेकी विधि)। ४४. शुक-सारिका प्रलापन (तोता-मैना पढ़ाना)। ४५. उत्सादन (उबटन लगाना, मालिश करना, हाथ-पैर-सिर आदि दबाना)। ४६. केश-मार्जन-कौशल (सिरके बाल सँवारना और तेल लगाना)। ४७. अक्षर-मुष्टिका-कथन (करपलई)। ४८ म्लेच्छित-कला-विकल्प (म्लेच्छ या विदेशी भाषा जानना)। ४९. देश-भाषा-ज्ञान (प्राकृत बोलियाँ जानना)। ५०.

पुष्पशकटिका निमित्त-ज्ञान (दैवी लक्षण जैसे बादलकी गरज, बिजलीकी चमक इत्यादि देखकर आगामी घटनाके लिये भविष्यवाणी करना)। ५१. यन्त्रमातृका (सब प्रकारके यन्त्रोंका निर्माण करना)। ५२. धारणमातृका (स्मरण-शक्ति बढ़ाना)। ५३. सम्पाठ्य (दूसरेको कुछ पढ़ते हुए सुनकर उसे उसी प्रकार दुहरा देना)। ५४. मानसी काव्यक्रिया (दूसरेका अभिप्राय समझकर उसके अनुसार तुरन्त कविता करना या मनमें काव्य करके शीघ्र कहते जाना)। ५५. क्रिया-विकल्प (क्रियाके प्रभावको पलटना)। ५६. छलिक योग (छल या ऐयारी करना)। ५७. अभिधानकोष, छन्दोज्ञान (शब्दका अर्थ और छन्दोंका ज्ञान)। ५८. वस्त्रगोपन (वस्त्रोंकी रचना करना तथा फटे कपड़े इस प्रकार पहनना कि वे फटे न प्रतीत हों)। ५९. द्यूत-विशेष (जुआ खेलना)। ६०. आकर्षण-क्रीडा (खींचने-फेंकनेवाले सारे खेल)। ६१. बालक्रीडा-कर्म (लड़का खेलाना) ६२. वैनायिकी विद्याज्ञान (विनय, सभाजन और शिष्टाचार)। ६३. वैजयिकी विद्याज्ञान (दूसरोंपर विजय पानेका कौशल)। ६४. व्यायामिकी विद्याज्ञान (खेल, कसरत, योगासन, प्राणायाम आदि व्यायाम)।

कन्याओंके लिये निर्धारित यह पाठ्यक्रम बहुत दिनों नहीं चल पाया। यवन आक्रमणकारियोंके आगमनके पश्चात् कन्याओंकी शिक्षा पूर्णतः लुप्त हो गई।

भारतीय वैदिक शिक्षा-पद्धतिकी विशेषताएँ

भारतीय गुरुकुल विद्या-प्रणालीकी विशेषताएँ सूत्र रूपमें हम इस प्रकार वर्णित कर सकते हैं कि—

१. बालकोंका शिक्षा-संस्कार गर्भसे ही प्रारंभ हो जाता था।

२. प्रारंभमें माता ही उसे नित्य कर्म, स्वच्छता, शील और शिष्टाचारका अभ्यास कराती थी।

३. उसके पश्चात् पिता उसे अक्षर-ज्ञान कराकर अपने कुल शील, आचरण तथा लोक-व्यवहारका ज्ञान कराता था और स्वयं या गाँवके उपाध्याय-द्वारा उसे लिखना-पढ़ना सिखानेकी व्यवस्था करता था।

४. इसके पश्चात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यके पुत्र गुरुकुलमें भेज दिए जाते थे।

५. वैदिक शिक्षा सबके लिये अनिवार्य थी; ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य बालकोंके लिये गुरुकुलमें; कन्याओंके लिये पिता या श्वसुरके घर; और शूद्रके लिये अपने घर या शिल्पीके यहाँ।

६. शिक्षा निःशुल्क थी।

७. सावास प्रणाली (रेज़िडेन्शल सिस्टम) के अनुसार शिक्षा दी जाती थी, जहाँ गुरु और शिष्य साथ-साथ रहते थे।

८. गुरुको इतनी महत्ता प्रदान की गई थी कि शिष्य उन्हें देवस्वरूप मानकर उनकी सेवा करके उनकी कृपा पाना अपना ध्येय समझता था।

९. छात्रोंको भोजन-वस्त्र आदिकी चिन्ता नहीं थी।

१०. सदाचार प्रधान समझा जाता था।

११. गुरु अपने शिष्यको पुत्रके समान मानकर उसके भोजन-वस्त्रका प्रबन्ध करते थे और उसके चारित्र्यिक विकासका ध्यान रखते थे।

१२. अनेक विषयोंके अध्ययनकी सुविधा थी किन्तु किसी एक शास्त्रमें पारंगत होना आवश्यक समझा जाता था।

१३. जातिक्रमके अनुसार शिक्षाक्रमका निर्धारण होता था।

१४. राजाओं या शासकोंकी ओरसे गुरुकुलकी व्यवस्थामें किसी प्रकारका कोई हस्तक्षेप नहीं होने पाता था।

१५. इहलोक और परलोक दोनोंकी सिद्धिके लिये शिक्षाका विधान था।

१६. शिक्षा अधिकांश मौखिक होती थी।

१७. अध्यापक स्वतन्त्र और स्वावलम्बी थे।

१८. नीच ऊँच, राजा-रंकका कोई भेद नहीं था।

१९. विद्याके साथ तपस्यापर अधिक ध्यान दिया जाता था।

२०. शिष्याध्यापक प्रणाली थी अर्थात् ऊपरके वर्गके छात्र अपनेसे नीचेके वर्गके छात्रोंको पढ़ाते रहते थे जिससे कम अध्यापकोंसे ही काम चल जाता था और पढ़नेवाले छात्रोंका ज्ञान पक्का होता चलता था।

यही कारण है कि भारतीय शिक्षासे बढ़कर संसारकी कोई शिक्षा-पद्धति आजतक पूर्णतः सफल नहीं हो पाई।

५

बौद्धोंकी शिक्षा-व्यवस्था

जब गौतम बुद्धने अपने धर्मका प्रचार करते हुए सब अवस्था, वर्ग और जातिके लोगोंको अपने धर्ममें दीक्षित करना आरम्भ किया तब इस नव-दीक्षित बौद्ध-समाजमें बड़ी अव्यवस्था और विश्रृंखलता व्याप्त हो गई यहाँतक कि हत्यारे, चोर और डाकू-जैसे अपराधी भी राजदण्डसे मुक्ति पानेके लिये भिक्खु बनने लगे। इस दुरवस्थाको दूर करनेके लिये गौतम बुद्धने ये नियम बनाए—

१. अट्ठारह वर्षकी अवस्थासे कमका कोई व्यक्ति दीक्षित न किया जाय।

२. छूत रोगोंसे आक्रान्त व्यक्ति संघमें न लिए जायँ।

३. राजदण्ड पाए हुए अपराधी भरती न किए जायँ।

४. माता-पिताकी आज्ञाके बिना कोई युवक न प्रविष्ट किया जाय।

स्त्रियोंको भिक्खु-संघमें प्रविष्ट नहीं किया जाता था, किन्तु अपने प्रधान शिष्य आनन्दके बहुत आग्रह करनेपर बुद्धने अपनी मौसी गौतमीको दीक्षित कर लिया था।

संघाराममें भिक्खु-विनय

बुद्धने उदारताके साथ सबके लिये अपने भिक्खुसंघका द्वार खोल तो दिया किन्तु उसका परिणाम यह हुआ कि अनेक जाति, वर्ग, वृत्ति और अवस्थावाले लोग आ-आकर बौद्धसंघमें सम्मिलित होकर अत्यन्त भयानक रूपसे अविनय और उछृङ्खलता फैलाने लगे। कोई गुरु न होनेसे किसीको छोटे-बड़ेका संकोच न रहा। बुद्धके नीचे सभी अपनेको प्रधान समझने लगे। यह अविनय यहाँतक बढ़ा कि जब वे लोग भिक्षा माँगने जाते तो गृहस्थोंके घर जाकर कोलाहल करते, एक दूसरेके पात्रपर जूठे पात्र बढ़ा-बढ़ाकर दाल-भात-खिचड़ीकी लूट करते और आपसमें धक्का-मुक्की और गाली-गलौज भी

करते। जब गृहस्थोंने आकर गौतम बुद्धसे यह बात कही तब उन्होंने भिक्खुओंको धिक्कारते हुए आदेश दिया कि सबको अपने लिये उपाध्याय करना चाहिए अर्थात् किसीको अपना गुरु बनाना चाहिए। किन्तु उपाध्याय नियुक्त हो जानेपर भी भिक्खुओंकी उछृंखलता कम नहीं हुई और वे अनेक बार अपने उपाध्यायोंकी आज्ञाओंका भी उल्लंघन करने लगे। परिणाम यह हुआ कि गौतम बुद्धको शिष्य और उपाध्यायके कर्त्तव्य निश्चित कर देने पड़े जो प्रायः वैसे ही थे जैसे वैदिक गुरुकुल-प्रणालीमें प्रचलित थे।

उपाध्यायके कर्त्तव्य

१. वह अपने शिष्य-भिक्खुओंको शिक्षा दे। २. उनकी जीवन-चर्याका ध्यान रक्खे। ३. यदि वे रोगी हों तो उनकी सेवा-शुश्रूषाका प्रबन्ध करे। ४. उन्हें शील और सदाचारकी शिक्षा दे। ५. सब प्रकारसे उनका संरक्षण करे।

शिष्योंके कर्त्तव्य

शिष्योंका कर्त्तव्य था कि—

१. उपाध्यायकी सब प्रकारकी आज्ञा मानें। २. उपाध्यायकी सब प्रकारसे सेवा करें। उनके शरीरमें तेल मलें, कोठरीमें झाड़ू दें, जाजे झाड़ें, चौकी बाहर निकालकर धूपमें सुखावें और बर्त्तन माँजें। ३. गुरुकी सिखाई हुई विद्या ध्यानसे सीखें। ४. जब गुरु चलने लगें तो उनके वस्त्र और पात्र लेकर उनके पीछे चलें। ५. यदि उपाध्याय रोगी हों तो सब प्रकार उनकी सेवा-शुश्रूषा करें।

पाठ्यक्रम

बौद्ध लोग संसारके त्यागका उपदेश देते थे इसलिये प्रारम्भमें उन्होंने सम्पूर्ण इहलौकिक विद्याएँ संघसे निकाल डालीं और केवल बौद्ध-दर्शन और प्रज्ञा-पारमिताका ही अध्ययन करने लगे। हाँ, अन्य दर्शनोंका खण्डन करनेके लिये कुछ भिक्खु योग, सांख्य, पूर्व-मीमांसा, उत्तर मीमांसा, न्याय, वैशेषिक, जैन और चार्वाक् दर्शनोंका भी अध्ययन करते थे। व्याकरण

और तर्कका अध्ययन विशेष रूपसे कराया जाता था। बौद्ध दर्शनका अध्ययन और अध्यापन पालि भाषाके द्वारा होता था जो बुद्धने संस्कृत और मागधी मिलाकर गढ़ी थी। पीछे चलकर नालन्दा और विक्रमशिला विश्वविद्यालयोंमें अन्य इहलौकिक विषयोंके साथ-साथ मूर्त्तिकला जैसे विषय भी पढ़ाए जाने लगे।

बौद्ध विहारोंकी ज्ञानचर्या

बौद्ध विहारोंमें चौबीस घंटे पढ़ाई चलती रहती थी। साधारणतः एक-एक उपाध्याय एक-एक मंचपर बैठते थे और अनेक भिक्खु उनके तीन ओर बैठकर अत्यन्त संयमके साथ मौन होकर प्रवचन सुनते थे। यदि कहीं शंका होती या प्रश्न पूछना होता तो वे उठकर, उपाध्यायकी आज्ञा लेकर शंका उपस्थित करते और उसका समाधान सुनते। इन मंच-प्रवचनोंके अतिरिक्त कुछ ऐसे उपाध्याय भी थे जो घूमते हुए प्रवचन करते रहते थे और उनके शिष्य पीछे-पीछे प्रवचन सुनते चलते थे।

शिक्षा-प्रणाली

बौद्धोंमें केवल तीन शिक्षा-प्रणालियाँ प्रचलित थीं—एक तो प्रवचन या व्याख्यान-प्रणाली (लेक्चर मेथड), दूसरी व्याख्या-प्रणाली, जिसमें पाठ्य विषयके सब अंगोंका विश्लेषण करके तथा उदाहरण देकर उसे विस्तारसे समझाया जाता था। तीसरी प्रश्नोत्तर प्रणाली थी, जिसमें शिष्य प्रश्न करते थे और गुरु उत्तर देते थे। इसके अतिरिक्त भिक्खुगण आपसमें पाठ-विचार या ज्ञान-विचार भी करते थे।

दिनचर्या

सब भिक्खु प्रातःकाल शौचादिसे निवृत्त होकर सिर और तलवेमें तेल मलकर यवागू (खिचड़ी या दलिया) खाकर पढ़ने बैठ जाते थे और मध्याह्नमें भिक्षा माँगने निकल पड़ते थे जहाँ उन्हें सिद्धान्न (पका हुआ भोजन) मिलता था। जिन विहारोंके भोजनका प्रबन्ध धनिकों, ग्रामों या कुलिकोंने ले लिया था उनके भिक्खु प्रायः भिक्षा माँगने नहीं जाते थे जैसे

नालन्दामें। सन्ध्याको प्रवचन होता था जो प्राय आचरण-सम्बन्धी विषयोंसे ही सम्बद्ध होता था। लगभग तीन घड़ी रात गए ही सब भिक्खु सो जाते थे किन्तु जो पढ़ना चाहते उनके लिये कोई प्रतिबन्ध नहीं था।

बौद्ध शिक्षाकी त्रुटियाँ

१. शारीरिक शिक्षा और व्यायामका प्रायः अभाव था।

२. संघमें प्रवेश होनेके लिये अवस्थाका कोई बन्धन नहीं था।

३. बाल-शिक्षा तथा स्त्री-शिक्षाका पूर्ण अभाव था।

विद्यालयोंके प्रकार

बौद्धोंके यहाँ दो ही प्रकारके विद्यालय हुए—

१. विहार या संघाराम, जिनमें प्रवचनों-द्वारा शिक्षा दी जाती थी। वे वास्तवमें विद्यालय नहीं थे वरन् संघाचरण और सदाचरणके अभ्यास-मठ मात्र थे।

२. नालन्दा और विक्रमशिला जैसे महाविद्यालय, जहाँ व्यवस्थित रूपसे वर्त्तमान विश्वविद्यालयोंकी भाँति बौद्ध दर्शनके अतिरिक्त अनेक विषयोंकी शिक्षा दी जाती थी।

बौद्ध शिक्षा-पद्धतिका परिणाम

इसका परिणाम यह हुआ कि संपूर्ण शिक्षा अत्यन्त अव्यवस्थित हो गई और चारों ओर व्यापक रूपसे अराजकता फैल गई। जिन थोड़ेसे गाँवोंमें अनधिकारी पण्डितोंने चटसालें खोलकर लिखाना-पढ़ाना प्रारम्भ किया उनका न कोई महत्त्व था न कोई आदर। संघारामों (विहारों) में भी जो शिक्षा दी जाती थी उसकी परीक्षाका कोई प्रबन्ध नहीं था। इसलिये शिक्षापर जो शक्ति लगाई जा रही थी वह अधिकांश निष्फल हुई। जिस प्रकार बौद्ध धर्मने भारतीय वैदिक वर्णाश्रम धर्मको विशृंखलित किया वैसे ही गुरुकुलकी शिक्षा-प्रणाली भी उसने ध्वस्त कर डाली। नालन्दा और विक्रमशिला आदि विश्वविद्यालयोंकी व्यवस्था वैदिक गुरुकुल-पद्धतिपर हुई इसलिये वे अत्यन्त भव्य तथा व्यवस्थित रूपमें चलते रहे। शिक्षामें

अव्यवस्था होनेका कुछ यह भी कारण था कि बुद्धने निर्वाणको ही जीवनका लक्ष्य बताया, सांसारिक सुखोंके परित्यागकी सम्मति दी और भिक्खु-जीवन व्यतीत करनेका विधान बनाया। इसलिये प्रारम्भिक शिक्षा समाप्त हो गई तथा अर्थ और कामसे सम्बन्ध रखनेवाली सम्पूर्ण लौकिक विद्याएँ लुप्त हो चलीं। इस प्रकार सम्पूर्ण बौद्ध-शिक्षा एकाङ्गी, संकुचित और दार्शनिक मात्र बनी रह गई।

नालन्दा

बुद्धसे पूर्व अध्यापनका कार्य केवल ब्राह्मण ही करते थे किन्तु बौद्ध विहारोंमें कोई भी योग्य और विद्वान् पुरुष गुरु हो सकता था। किन्तु प्रसिद्ध थेरों (स्थविरों) का इतिहास पढ़नेपर ज्ञात होता है कि उनमें भी अधिकांश ब्राह्मण ही थे, यहाँतक कि बुद्धके जो आदि पाँच शिष्य (पंचवर्गीय भिक्षु) थे, वे भी सब ब्राह्मण ही थे, फिर भी जो अध्यापन-कार्य ब्राह्मणोंके लिये रेखाबद्ध था, वह शिथिल हो गया। बुद्धने अपने सभी शिष्य-भिक्षुओंको यह भी आज्ञा दी थी कि प्रत्येक भिक्खु अपने विहारके आसपास रहनेवाली जनताको शिक्षा दे। इसलिये प्रत्येक भिक्खुके लिये यह आवश्यक हो गया कि वह स्वयं सुशिक्षित हो। तदनुसार प्रत्येक संघाराम या बौद्ध बिहार ही शिक्षा-पीठ बन गया। इन सब बौद्ध विहार-शिक्षापीठोंमें नालन्दा सर्वाधिक प्रसिद्ध है।

नालन्दाके अवशेष

नालन्दा-विहारका विश्वविद्यालय बिहार राज्यमें राजगृहसे लगभग आठ मीलकी दूरीपर वर्त्तमान बड़गाँवके पास था। नालन्दा जानेके लिये पटनेसे आगे बख़्तियारपुरसे सकरी पटरीकी बख़्तियारपुर-लाइट रेलवेकी गाड़ी चलती है। बख़्तियारपुर और राजगृहके बीचमें ही नालन्दा स्टेशन है जहाँसे लगभग डेढ़ मीलकी दूरीपर नालन्दा विश्वविद्यालयके भग्नावशेष विस्तृत परिक्षेत्रमें फैले पड़े हैं। बख़्तियार ख़िलजीने यहाँके सब निवासियोंको अत्यन्त निर्दयतापूर्वक तलवारके घाट उतारकर इस

विश्वविद्यालयको उजाड़ दिया। पुरातत्व-विभागकी ओरसे जो खुदाई हुई है उसमें इन भग्नावशेषोंमेंसे स्तूप, मठ, विद्यालय और छात्रावासके पूरे अंश प्राप्त हुए हैं, जिनमें केवल छतें नहीं हैं। इन भवनोंमें आँगन, कुँएँ, भोजनालयके चूल्हे और पुस्तक पकानेके चूल्हे मिले हैं। उस समय बहुतसे भिक्खु मिट्टीके खपड़ोंपर ग्रन्थ लिखते थे और उन्हें पकाकर पक्का कर लेते थे। इनके अतिरिक्त जो बहुतसे खुदे हुए लेख, मूर्त्तियाँ और मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं, वे सब पास ही राजकीय संग्रहालयमें सुरक्षित हैं।

ऐतिहासिक विवरण

प्रसिद्ध इतिहासकार तारानाथका कहना है कि 'यहींपर सारिपुत्रका जन्म हुआ था और यहीं अस्सी सहस्र अर्हतोंके साथ उन्होंने निर्वाण प्राप्त किया था। उनकी स्मृतिमें एक चैत्य मात्र बचा रह गया था जिसपर अशोकने एक बौद्ध विहार बनवा दिया था।' किन्तु चीनी यात्री फ़ाहियानके समयतक इसकी बहुत प्रसिद्धि नहीं थी। उसने अपने विवरणमें जिस नालो नामके गाँवका वर्णन किया है, उसीको लोग नालन्दा मान लेते हैं। नालन्दाका सर्वश्रेष्ठ तथा विस्तृत वर्णन ह्ज़ेन्त्ज़ाङ् (ह्वेन्त्सांग) ने किया है। वह लिखता है कि 'नालन्दामें बने हुए छह विहारोंमेंसे चार बालादित्यने और उससे पूर्ववर्त्ती मगधके राजा तथागत-गुप्त, बुद्धगुप्त और शक्रादित्यने निर्मित कराए थे। ये सभी गुप्त-वंशके शासक थे और इन्हींके समयमें, इन्हींकी उदारतासे नालन्दाकी श्री-वृद्धि हुई। एक लेखकने लिखा है कि 'नालन्दा विहार ह्वेन्त्सांगके आगमनसे सात सौ वर्ष पहले अर्थात् ईसासे एक शताब्दी पूर्व स्थापित हुआ था। प्रारम्भमें यह बौद्ध-विहार-मात्र था किन्तु ज्यों-ज्यों इसमें बाहरसे ज्ञान-पिपासु आने लगे और विद्वान् लोग एकत्र होने लगे त्यों-त्यों इसका रूप विश्वविद्यालयका होता गया। सम्राटोंकी उदार सहिष्णुता तथा सम्राट् हर्षका राज्याश्रय पाकर यह विश्वविद्यालय और नालन्दा नगरी इतनी प्रसिद्ध हो गई कि वहाँसे मिली हुई एक मुद्रापर खुदा मिला है— 'नालन्दा हसतीव सर्वनगरीः' [नालन्दा इतनी विशाल और सुन्दर नगरी है कि अपनी गगनचुम्बी अट्टालिकाओंके कारण वह संसारकी समस्त

नगरियोंपर हँसती है ।] इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह नगरी ढाई सहस्र वर्ष पहले महावीर स्वामीके समय तथा गौतम बुद्धके समय भी प्रसिद्ध थी। गौतम तो नालन्दाके पास प्रावारिक आम्रवन (अमराई)में आकर ठहरते भी थे।

नालन्दा नाम क्यों पड़ा ?

कुछ लोग कहते हैं कि इस विश्वविद्यालयका नाम नागराजा नालन्दाके नामपर नालन्दा पड़ा। किन्तु दूसरी व्याख्या यह भी है कि वहाँ इतनी विद्या बाँटी जाती थी कि किसीको अलम् (बस) नहीं कहा जाता था (न अलम् ददाति या सा नालन्दा)। कुछ लोग कहते हैं कि यहाँ 'नाल' (कमलकी डंठल) बहुत निकाली जाती थी इसलिये इसे 'नालन्दा' कहते थे।

नालन्दासे प्राप्त यशोवर्माके शिलालेखमें लिखा है—

'अपने शुभ्र ऊँचे चैत्योंके किरण-समूहोंसे नालन्दा नगरी बड़े-बड़े राजाओंकी नगरियोंकी मानो हँसी उड़ाती है और इसके जिन ऊँचे प्रासादों एवं विहारोंकी पंक्तियोंमें प्रसिद्ध धुरन्धर विद्वान् लोग वास करते हैं, वे उस सुमेरु पर्वत-सी शोभावाली लगती हैं जिनमें विद्याधर निवास करते हैं।'

नालन्दाके भवन

इस विद्यालयमें छह-छह खण्ड ऊँचे छह विद्यालय थे। विश्वविद्यालयके समस्त भवनोंके चारों ओर ईंटोंका दृढ परकोटा बना हुआ था, जिसमें एक ही द्वार था। इसीके धर्मगञ्ज नामक भागमें एक अत्यन्त सम्पन्न और सुन्दर पुस्तकालय अवस्थित था जिसके रत्नसागर, रत्नोदधि और रत्नरञ्जक नामक तीन भवन थे। इनमेंसे रत्नोदधि भवन नौ खण्ड ऊँचा था जिसमें प्रज्ञापार-मिता और समाजगुह्य आदि पवित्र तन्त्र-ग्रन्थ सुरक्षित थे। इन भवनोंके अतिरिक्त इस विश्वविद्यालयके भीतर पत्थरकी सड़कें, अनेक प्रकारके कूप और जलघड़ियाँ बनी हुई थीं। विश्वविद्यालयके चारों ओर कमलोंसे भरे हुए दस बड़े-बड़े पक्के सरोवर थे जिनमें नित्य प्रातःकाल विश्वविद्यालयके अन्ते-वासी घण्टा बजते ही स्नान करनेके लिये कूद पड़ते थे। इनके अतिरिक्त आठ बड़े-बड़े शालागृह थे, जिनकी खिड़कियोंमेंसे मेघोंकी अनन्त आकृतियाँ

तथा सूर्य-चन्द्रकी सन्धिके दिव्य दृश्य दिखाई देते थे और आस-पासके पद्म-पूर्ण सरोवरों तथा हरी-भरी अमराइयोंकी मनोहर हरीतिमा चित्त प्रसन्न करती रहती थी। इन शालागृहोंके आँगनोंके चारों ओर तथा बड़े विहारमें कई सौ कोठरियाँ थीं जहाँ तीन सहस्रसे अधिक भिक्खु तथा अध्यापक निवास करते थे।

प्रवेश

सम्पूर्ण एशिया-भरसे अनेक ज्ञान-पिपासु ज्ञानार्थी उसमें प्रवेश पानेके लिये लालायित होकर वहाँ आते थे। भिक्खु और अभिक्खु दोनोंको वहाँ प्रविष्ट किया जाता था किन्तु वहाँ प्रवेश होनेके लिये परीक्षाका विधान अत्यन्त कठोर था। विश्वविद्यालयके मुख्य द्वारपर अनेक विद्याओं और शास्त्रोंके प्रकाण्ड विद्वान् द्वार-पण्डित, प्रवेशार्थी छात्रोंकी प्रारम्भिक परीक्षा लेते थे और उनके पूर्वज्ञान तथा विद्या-संस्कारका परिज्ञान करते थे। इसलिये कठिनाईसे दसमेंसे दो या तीन छात्र वहाँ प्रविष्ट हो पाते थे।

विश्वविद्यालयके अधिकारी

द्वार-पण्डितोंके अतिरिक्त और भी अनेक अधिकारी होते थे जिनमें तीन बहुत प्रसिद्ध थे—१. धर्मकोष (कुलपति), २. कर्मदान (व्यवस्थापक) और ३. पीठस्थविर (आचार्य)। ह्वेन्त्सांगके समयमें शीलभद्र ही वहाँके कुलपति या धर्मकोष थे।

पाठ्यक्रम

इस विश्वविद्यालयमें जो भिक्खु होकर आता था उसे जब दस शील उच्चारण करनेकी योग्यता हो जाती थी तब उसे मातृकेतुके दो सूत्र पढ़ाए जाते थे। इसके पश्चात् उसे नागार्जुनकी सुहृल्लेखा, जातकमाला, महासत्त्व-चन्द्रके गान, अश्वघोषके काव्य, सूत्रालंकार-शास्त्र और बुद्धचरित पढ़ाया जाता था। बौद्ध धर्मके इन ग्रन्थोंके अतिरिक्त अन्य शास्त्र भी पढ़ाए जाते थे। उच्च विषयोंके अध्ययनसे पूर्व लगभग चौदह वर्ष तक (यदि बालक हो

तो ६ वर्षसे लेकर १४ वर्षतक) व्याकरणका प्रौढ ज्ञान प्राप्त करना पड़ता था। काशिकावृत्ति समाप्त कर चुकनेपर विद्यार्थीको हेतु-विद्या (तर्कशास्त्र) और अभिधम्मकोष (बौद्ध दर्शन) का अध्ययन कराया जाता था। इनके अतिरिक्त अन्य दर्शन, योग-शास्त्र, तर्क-शास्त्र, तांत्रिक दर्शन, आयुर्वेद और रसायन भी पाठ्यक्रममें रक्खे गए थे। विचित्र बात यह थी कि बौद्ध होते हुए भी इस विश्वविद्यालयमें साम्प्रदायिक संकीर्णता नहीं थी। प्रत्येक व्यक्तिको महायान, अट्ठारहों सम्प्रदायोंके ग्रन्थ, वेद, हेतु-विद्या, शब्द-विद्या, चिकित्सा, शिल्प-स्थान (विभिन्न कलाएँ), अभिचार और संख्याका अध्ययन करना पड़ता था। इस शास्त्रीय और साहित्यिक अध्ययनके अतिरिक्त विद्यार्थियोंको कुछ व्यायाम भी करना पड़ता था और दैनिक चंक्रमण अर्थात् टहलना भी सबके लिये अनिवार्य था।

दिनचर्या और शील

इस विश्वविद्यालयकी सबसे बड़ी विशेपता यह रही कि दस सहस्र विद्यार्थी रहते हुए भी सात शताब्दियोंमें एक भी ऐसा अवसर नहीं आया कि वहाँके किसी भी अन्तेवासीको दण्डित करना पड़ा हो। इसका कारण वहाँकी दिनचर्या थी, जिसका पालन प्रत्येक व्यक्तिको कठोरतासे करना पड़ता था। छात्रावासोंके पास ही जो दस सरोवर थे उनमें ब्राह्ममुहूर्त्तके समय ही जहाँ घंटा बजा कि सम्पूर्ण अन्तेवासी स्नानके लिये उतर पड़ते थे। प्रत्येक अन्तेवासीको प्रातःकाल सिरपर मलनेके लिये और संध्या समय तलवोंमें रगड़नेके लिये तेल दिया जाता था। सब अन्तेवासी प्रातः और सायं टहलने निकल जाते थे और यद्यपि वास्तवमें वहाँ चौबीसों घंटे पढ़नेका क्रम चलता रहता था किन्तु प्रातः एवं सायं टहलनेके पश्चात् ही अध्ययन-अध्यापन होता था। आगे चलकर इत्सिंगके समयमें छात्रोंकी संख्या घटकर तीन सहस्र ही रह गई थी क्योंकि बिहारमें ही विक्रमशिला नामका एक दूसरा विश्वविद्यालय खुल गया था।

अध्यापक

नालन्दामें यद्यपि महायान-सम्प्रदायके अनुयायी दस सहस्र भिक्खु

रहते थे किन्तु वे अट्ठारहों बौद्धागमों, चारों वेदों तथा विभिन्न आगमोंका भी अध्ययन करते थे। इनमेंसे जो असाधारण विद्वान् होते थे वे 'विशिष्ट' पुरुष कहलाने लगते थे। नालन्दामें लगभग पन्द्रह सौ अध्यापक अपने प्रभाव, विद्या, शील और पाण्डित्यके लिये दूर-दूरतक प्रसिद्ध थे। इनमेंसे हर्षके पूर्व ३२० ई० में नागार्जुन, आर्यदेव, आर्य असंग, वसुबंधु और धर्मपाल अत्यन्त प्रसिद्ध थे। ह्वेनत्सांगके समय शीलभद्र ही वहाँके सबसे बड़े विद्वान् थे और कहा जाता है कि वे सभी विषयोंके समान रूपसे पण्डित थे। उनके अतिरिक्त एक सहस्र ऐसे भी विद्वान् थे जो तीस-तीस शास्त्रोंका एक साथ विवेचन कर सकते थे और दस ऐसे थे जो पचास-पचास शास्त्रोंके ज्ञाता थे।

व्यवस्था

इस विश्वविद्यालयमें पाठ्य-क्रम भी उदार था और शिक्षार्थियोंसे कोई शुल्क भी नहीं लिया जाता था। गुरु और शिष्य दोनों इतना मर्यादित, सुसंघटित और आदर्श जीवन व्यतीत करते थे कि सात सौ वर्षोंमें एक भी अपराध किसीने नहीं किया। यद्यपि प्रतिदिन सौ मञ्चोंसे अध्यापक लोग प्रवचन करते थे और प्रत्येक विद्यार्थीके लिये इन प्रवचनोंमें उपस्थित होना अनिवार्य था फिर भी दिनका समय पर्याप्त नहीं होता था और इसीलिये वहाँके अन्तेवासी दिन-रात एक दूसरेकी सहायता करते हुए, पाठ विचारते हुए, अध्ययन और अध्यापन करते रहते थे।

अक्षयनीवी

इतने बड़े विश्वविद्यालयके पोषणकी व्यवस्था वहाँके राजाओंने दो सौसे अधिक गाँवकी अक्षयनीवी (स्थिर पोषण) देकर सुलझा दी थी। इत्सिंगके समयमें भी दो सौ गाँवोंने इनके पोषणका भार अपने ऊपर ले रक्खा था। प्रतिदिन दो सौ किसान बहँगियोंपर चावल, दूध और मक्खन ला-लाकर वहाँ पहुँचा जाते थे। बाहरसे आनेवाले गुण-ग्राहक, उदार और धनिक भी समय-समयपर पर्याप्त धन दे जाते थे। यही कारण है कि वहाँके अध्यापक तथा छात्र निश्चिन्त होकर विद्याध्ययन करते थे क्योंकि उन्हें भोजन, वस्त्र

पात्र और औषधि मिलनेकी व्यवस्था विश्वविद्यालयकी ओरसे थी। वहाँ छात्रोंके लिये निःशुल्क भोजनालय खोल दिए गए थे जहाँ विभिन्न वस्तुओंके वितरणकी बड़ी सुन्दर व्यवस्था कर दी गई थी। नालन्दाका छात्र होना इतने गौरव और सम्मानकी बात थी कि वहाँका कोई भी स्नातक एशियाके किसी प्रदेशमें केवल 'नालन्दा-बन्धु' परिचय दे देनेपर आतिथ्य, सहायता और आदर प्राप्त कर सकता था।

शिक्षा-पद्धति

नालन्दामें शिक्षण-पद्धति तीन प्रकारकी थी—

१. प्रवचन-पद्धति, जो दो प्रकारसे व्यवहृत होती थी—पहली उपदेश-प्रधान, जिसमें नीति और चरित्र-सम्बन्धी प्रवचन होते थे और दूसरी व्याख्या-प्रधान (एक्सपौज़िशन मेथड), जिसमें अध्यापक लोग शास्त्रीय विषय बताते हुए उसकी व्याख्या और विवेचना करते चलते थे।

२. प्रश्नोत्तरी-पद्धति, जिसमें अध्यापक और छात्र दोनों एक दूसरेसे प्रश्न पूछकर और उत्तर देकर ज्ञान पक्का करते चलते थे।

३. शास्त्रार्थ-पद्धति, जिसमें विद्यार्थी परस्पर शास्त्रार्थ करके अपना ज्ञान पक्का करते थे। इन शास्त्रार्थोंमें किसी प्रकारकी कटुता नहीं आने पाती थी और न मनोमालिन्य ही होता था। इसे हम परस्पर-परीक्षण कह सकते हैं। रटना या कण्ठाग्र करना ही ज्ञान-संग्रहका मुख्य आधार था। छात्र परस्पर विचार-विनिमय करके पाठका पारायण भी कर लेते थे तथा अध्यापकोंके पास किसी भी समय पहुँचकर अपनी शंकाका समाधान भी कर लेते थे। अध्यापक इतने उदार थे कि छात्र जिस समय भी आकर प्रश्न पूछते उसी समय उनकी शंकाका समाधान करना और समझा देना वे अपना पवित्र कर्तव्य समझते थे।

अवसान

जब तेरहवीं ईसवी शताब्दीमें बख़्तियार ख़िलजीने नालन्दाके पास स्थित पाल राजाओंके गढ़ तथा योग-भोग-पूर्ण वज्रयानियोंके केन्द्र उद्दण्डपुरा-

पर आक्रमण करके वहाँके साधुओंको तलवारके घाट उतार दिया, उसी समय नालन्दाके भिक्खुओंको भी उन्होंने एक-एक करके काट डाला और इतना विशाल विश्वविद्यालय उन धर्मान्ध मुसलमान शासकोंने ऐसा नष्ट कर डाला कि वहाँका विशाल पुस्तकालय ही छह महीनेतक निरन्तर जलता रहा।

वलभी

काठियावाड़में वर्त्तमान वाला नगरीके समीप वलभी नामक नगर सातवीं शताब्दिमें बौद्ध विद्याका इतना प्रसिद्ध केन्द्र था कि इत्सिंगने तो इसे नालन्दाके समान प्रसिद्ध माना है। ६४० ई० में वहाँ लगभग सौ बौद्ध विहार थे जिनमें छह सहस्र भिक्खु रहते थे। वहाँ राजनियम, अर्थशास्त्र और साहित्यका विशेष शिक्षण कराया जाता था। बौद्धिक स्वातन्त्र्य और धार्मिक उदारता वहाँ पूर्ण रूपसे व्याप्त थी। भारतके विभिन्न भागोंसे जो विद्वान् वहाँ आते थे वे दो-दो तीन-तीन वर्षतक सत् और असत्के सिद्धान्तोंका ही विवेचन करते रहते थे क्योंकि इन सिद्धान्तोंके सम्बन्धमें वलभीके आचार्योंका मत ही सर्वमान्य समझा जाता था। वहाँसे जो प्रसिद्ध विद्वान् निकलते थे उनका नाम वैसे ही वहाँके ऊँचे फाटकोंपर खड़ियासे लिखा जाता था जैसे नालन्दामें।

वलभीके समृद्ध नगरके कोटिपति व्यापारी नागरिकोंके अतिरिक्त ४८० से ७७५ ई० तक वहाँ शासन करनेवाले मैत्रक राजा भी पुस्तकालयके लिये निरन्तर आर्थिक सहायता देते रहते थे। ७७५ ई० में अरबोंने काठियावाड़पर जो आक्रमण किया उससे विश्वविद्यालयकी सम्पूर्ण प्रगति ही पङ्गु हो गई। फिर भी मैत्रकोंके उत्तराधिकारियोंने पुनः सहायता देनी प्रारम्भ की जिससे यह विद्याकेन्द्र बारहवीं शताब्दीतक इतना प्रसिद्ध रहा कि बङ्गालतकसे वहाँ छात्र आते रहते थे।

विक्रमशिला

आठवीं शताब्दीमें बिहारके भागलपुर नगरसे २४ मील दूर पत्थरघाट पहाड़ीपर राजा धर्मपालने विक्रमशिला-विहारकी स्थापना की थी। उसने

वहाँ अनेक मन्दिर, विहार, भवन तथा अध्ययन-शालाएँ बनवाकर उनके पोषणके लिये बहुत-सी सम्पत्ति लगा दी थी, जिसकी आय तेरहवीं शताब्दीतक उस विहारको मिलती रही। नालन्दाके समान विक्रमशिला भी शीघ्र ही इतनी प्रसिद्ध हुई कि लगभग चार सौ वर्षोंतक तिब्बत और विक्रमशिलामें परस्पर सम्बन्ध बना रहा और तिब्बतके छात्रोंके लिये वहाँ एक छात्रावास-जैसी अतिथिशाला भी बना दी गई थी। तिब्बतके ग्रन्थोंमें विक्रमशिलाके बुद्ध, ज्ञानपाद, वैरोचन, रक्षित, जेतारि, रत्नाकरशान्ति, ज्ञानश्रीमित्र, रत्नवज्र, अभयङ्करगुप्त तथा तथागतरक्षित आदि अनेक लब्धप्रतिष्ठ विद्वानोंकी चर्चा है जिन्होंने अनेक संस्कृत-ग्रन्थोंकी रचना की और उनमेंसे बहुतोंका अनुवाद तिब्बती भाषामें किया। विक्रमशिलाके इन विद्वानोंमें ग्यारहवीं शताब्दीके दीपङ्कर श्रीज्ञान (उपाध्याय अतिस) अधिक प्रसिद्ध हो गए हैं जिन्होंने तिब्बतमें जाकर बौद्ध धर्मका प्रचार किया और लगभग दो सौ पुस्तकें लिखीं।

बारहवीं शताब्दीमें विक्रमशिलामें तीन सहस्र भिक्खु अध्ययन कर रहे थे। इन सब छात्रोंके लिये अत्यन्त समृद्ध और विशाल पुस्तकालय था। वहाँके प्रधान उस विहारके पीठस्थविर थे और सबके लिये अलग काम बँटे थे। वहाँके बौद्ध अध्यापक इतना सरल जीवन व्यतीत करते थे कि उनका अधिकसे अधिक व्यय चार साधारण भिक्खुओंके समान होता था। वहाँकी शिक्षा-व्यवस्था छह द्वारपण्डितोंके हाथमें थी जिनका नेता वहाँका पीठस्थविर होता था। वहाँ भी नालन्दाके समान कठोर परीक्षाके पश्चात् प्रवेश मिलता था। वहाँ के पाठ्य विषयोंमें बौद्ध ग्रन्थोंके अतिरिक्त व्याकरण, तर्कशास्त्र, दर्शन, तन्त्र और कर्मकाण्डका विशेष रूपसे समावेश था। शिक्षा पूर्ण कर चुकनेपर वहाँके छात्रोंको राजाओंके हाथसे उपाधिपत्र मिलते थे और वहाँके प्रमुख छात्रोंके चित्र विद्यालयकी भीतोंपर बनवा दिए जाते थे।

सन् १२०३ में बख़्तियार खिलजीने विक्रमशिलाको दुर्ग समझकर नष्ट-भ्रष्ट कर डाला। तबक़ाते-नासिरीमें लिखा है कि 'उस विहारमें अधिकांश ब्राह्मण पण्डित (बौद्ध भिक्खु) थे जो सब मार डाले गए। वहाँ जितनी हिन्दुओंकी धर्मपोथियाँ थीं उनका रहस्य जाननेके लिये कुछ हिन्दुओंकी

खोज हुई किन्तु सभी मार डाले जा चुके थे। जब उन पुस्तकोंका रहस्य ज्ञात हुआ तब आक्रमणकारियोंको ज्ञात हुआ कि यह दुर्ग नहीं था, विद्यालय था। इस प्रकार उस विद्यालयका करुण अवसान हुआ किन्तु वहाँके पीठस्थविर शाक्य श्रीभद्र कुछ बचे-खुचे साथियोंके साथ तिब्बतकी ओर निकल गए थे।

अन्य विद्याकेन्द्र

ह्वेन्त्सांगके विवरणसे ज्ञात होता है कि नालन्दा, वलभी और विक्रमशिलाके अतिरिक्त कश्मीरमें जयेन्द्र विहार, पंजाबमें चीनापट्टी और जलन्धर विहार, ब्रिजनौर (उत्तर प्रदेश) में मतिपुर-विहार, कन्नौजमें भद्र-विहार, आन्ध्रमें अमरावती तथा हिरण्य देशके विहार आदि अनेक विद्याकेन्द्र सातवीं शताब्दीमें देशभरमें फैले हुए थे, जिनमें ठहर-ठहरकर ह्वेन्त्सांगने बौद्ध ग्रन्थोंका अध्ययन किया था। इनके अतिरिक्त बिहार और बङ्गालमें बारहवीं शताब्दितक ओदन्ततुरी और जगदल्ल-विहार जैसे बड़े विद्याकेन्द्र थे। इससे यह परिणाम निकालनेमें कोई आपत्ति नहीं है कि इन बौद्ध विद्या-केन्द्रोंने भारतीय ज्ञान-प्रसारके लिये कुछ कम कार्य नहीं किया।

६

मुसलिम शासन-कालमें भारतीय शिक्षा

जिन मुसलमान आक्रमणकारियोंने सातवीं शताब्दीसे प्रारम्भ करके चौदहवीं शताब्दीतक भारतमें प्रवेश किया उन सबका मूल उद्देश्य, राज्य-सीमाका विस्तार और भारतका धन लूटना ही रहा। परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि सातवीं शताब्दीसे सोलहवीं शताब्दीतक मुसलिम राज्य-कालमें शिक्षा शून्य ही रही। सन् ११९२ में मुहम्मद ग़ोरीने दिल्ली पहुँचकर मन्दिर तोड़कर मसजिदें बनवाईं और पाठशालाएँ तोड़कर मकतब (प्रारम्भिक पाठशालाएँ) और मदरसे (महाविद्यालय) स्थापित कराए। उसके दास उत्तराधिकारी क़ुतुबुद्दीन ऐबक़ (सन् १२०६–१२१०) ने भी बहुत-सी मसजिदें और मकतब बनवाए। क़ुतुबुद्दीनके उत्तराधिकारी अल्तुतमश, रज़िया, नासिरुद्दीन और बलबनने भी मसजिदोंके साथ लगे हुए मकतबों और मदरसोंको प्रोत्साहन दिया और नये भी खुलवाए। हाँ, ख़िलजी शासकोंने शिक्षाके प्रसारके लिये कुछ नहीं किया, उल्टे अलाउद्दीनने शिक्षाकार्योंके लिये दिए हुए सब परम्परागत इनाम (दान) और वक्फ़ (धार्मिक जागीर) छीनकर दूसरे कामोंमें लगा लिए। उसके उत्तरा-धिकारी मुबारकख़ाँ ने फिरसे उनका प्रचलन किया और तुग़लक शासकों (१३२५–१४१३) ने भी इस श्लाघ्य परम्पराका निर्वाह किया, यहाँतक कि फ़ीरोज़ तुग़लकने तो ३६ लाख टंक (रुपए) पुरस्कार, दान और शिक्षा-कार्यमें व्यय किए, मसजिदोंके साथ तीस महाविद्यालय स्थापित किए और दिल्लीमें एक ऐसा सावास-विश्वविद्यालय (रेजिडेंशल युनिवर्सिटी) स्थापित किया जहाँ छात्रों और अध्यापकोंको राज्यकी ओरसे छात्रवृत्ति और पोषणवृत्ति प्राप्त होती थी। फ़ीरोजकी आँखें मुँदते ही फिर अन्धकार-युग प्रारम्भ हो गया। सन् १३९८ में क्रूर तैमूरने सभी विद्यालयों तथा धार्मिक और धर्मार्थ

संस्थाओंको लूटकर उजाड़ दिया। सैयद और लोदी शासकों (सन् १४१४-१५५६) मेंसे सिकन्दर लोदीने इतना ही किया कि अपनी हिन्दू प्रजामें भी फ़ारसीका अध्ययन प्रचलित करा दिया और इस प्रकार उस रत्नगड्डुम बाज़ारू भाषाका सूत्रपात किया जो पीछे उर्दू बनकर चल निकली।

दक्षिण भारतमें मुसलिम-शिक्षा

जहाँ उत्तर भारतके मुसलिम शासक अनेक विद्यालय बना और तोड़ रहे थे वहीं दक्षिणमें बहमनी और फिर उसके टूटनेपर अहमदनगर, मालवा, गोलकुण्डा और बीजापुर तथा पश्चिममें सिन्धके छोटे-छोटे स्वतन्त्र राज्योंमें वहाँ के मुसलमान शासक गाँव-गाँवमें मकतब और मदरसे खोलते जा रहे थे जहाँ धर्म और शिक्षण दोनों साथ-साथ चलने थे।

पर मुसलिम शासकोंने शिक्षाकी कोई निश्चित राज्यनीति निर्धारित नहीं की थी। सर्वप्रथम हूमायूँने दिल्लीमें बाबरकी समाधिपर एक मदरसा स्थापित किया। शेरशाहने भी नारनौलमें एक मदरसा बनवाया किन्तु यह श्रेय अकबरको ही है कि उसने शिक्षा-प्रचार और व्यवस्थाके लिये निश्चित राज्यनीति ही निर्धारित कर दी।

अकबरकी शिक्षानीति

यद्यपि अकबर स्वतः लिख-पढ़ नहीं सकता था किन्तु उसने मुस्लिम छात्रोंकी सुविधाके लिये महाभारत, रामायण, अथर्ववेद, लीलावती, ताजिक (ज्यौतिष), कश्मीरका इतिहास (संभवत राजतरंगिणी) आदि अनेक ग्रंथोंका फ़ारसीमें अनुवाद करा लिया था। उसने अनेक विलक्षण तथा अप्राप्य पुस्तकोंका विशाल संग्रह करके मुल्ला पीर मुहम्मदको पुस्तकाध्यक्ष नियुक्त करके एक विशाल पुस्तकालय स्थापित कराया जो दो भागोंमें विभक्त था—एक विज्ञान दूसरा इतिहास। इतना ही नहीं, उसने चित्रकला, संगीत और नस्तालीक़ (सुलेख लिपि) को प्रोत्साहन दिया और अपनी प्रजा तथा पुत्रोंको शिक्षित करनेके लिये सुन्दर व्यवस्थित शिक्षाका प्रबन्ध किया। उसने जो विद्यालय (मकतब और मदरसे) स्थापित किए उनमें

हिन्दू और मुसलमान दोनों एक साथ, एक ही पाठ्यक्रम लेकर एक ही विद्यालयमें शिक्षा प्राप्त करते थे। अन्तर इतना ही था कि मुस्लिम छात्र क़ुरान पढ़ते थे और हिन्दू छात्र व्याकरण, वेदान्त और योगपर पतञ्जलिका भाष्य पढ़ते थे।

शिक्षण-विधि

अकबरने जो मदरसे चलाए उनमें शिक्षण-विधि यह थी—

१. सबको पहले फ़ारसी वर्णमाला सीखनी पड़ती थी और तब उसका शुद्ध उच्चारण और मात्राका ज्ञान करना पड़ता था। तब वे कोई ऐसी सरल नसर (गद्य) या नज़्म (पद्य) का वाचन करते थे जिसमें कोई नैतिक या धार्मिक शिक्षा हो। प्रतिदिन प्रत्येक प्रारम्भिक छात्रको चार अभ्यास करने पड़ते थे—

क. वर्णमालाका पारायण, ख. संयुक्ताक्षरोंका अभ्यास, ग. पूरे या आधे शेर (छन्द) का पाठ पढ़ना, घ. पिछले पाठकी आवृत्ति।

जैसे-जैसे छात्रोंका भाषा-ज्ञान बढ़ता जाता था वैसे-वैसे उन्हें निम्नांकित विषयोंका क्रमशः ज्ञान कराया जाता था—

१. नीति-शास्त्र, २. गणित, ३. बही-खाता, ४. कृषि, ५. ज्यामिति, ६. ज्यौतिष, ७. अर्थशास्त्र (व्यापार-शास्त्र, लेनदेन आदि), ८. भौतिक शास्त्र, ९. तर्कशास्त्र, १०. प्राकृतिक दर्शन या तत्त्वज्ञान और ११. इतिहास।

ये विषय सबको इसी क्रमसे सीखने पड़ते थे। केवल धार्मिक दृष्टिसे मुसलमानोंको क़ुरान और हिन्दुओंको व्याकरण, वेदान्त और योग-दर्शन पढ़नेकी छूट थी।

मुग़ल शासक और नये विद्यालय

अकबरने फ़तहपुर सीकरीकी पहाड़ीपर जो अद्वितीय मदरसा बनवाया उसके अतिरिक्त फ़तहपुर सीकरी, आगरा और गुजरातमें भी बहुतसे सावास विद्यालय (मदर्से) बनवाए किन्तु दिल्लीके मदरसेमें नगरवासी छात्र भी पढ़ने चले जाते थे। इन राज्य-संचालित विद्यालयोंके अतिरिक्त कुछ मुस्लिम

आचार्योंने अपनी ओरसे इल्मे-मौसिक़ी (संगीतविद्या), इल्मे तसव्वरी (चित्रकला), फ़िलसफ़ा (अध्यात्मतत्त्व या दर्शन) और सर्वगणितके विद्यालय खोल रक्खे थे जैसे आगरेके मीर अलीबेगने दारुलउलूम (विद्यालय) खोल रक्खा था। दूसरा मदरसा दिल्लीमें सन् १५६? में अकबरकी आया (धात्री) माहम अनागाने स्थापित किया था। इस प्रकार अकबरके राज्यमें एक ही विद्यालयमें हिन्दू और मुसलमान छात्रोंको एक साथ पढ़नेकी सुविधा दी गई, हिन्दू तथा मुस्लिम कला और साहित्यको प्रोत्साहन दिया गया, हिन्दू और मुस्लिम महाग्रन्थोंका अनुवाद कराया गया, विभिन्न देशों, धर्मों और सम्प्रदायोंके विद्वानोंको राजाश्रय दिया गया और असंख्य शिक्षण संस्थाओंको स्थापना की गई।

जहाँगीरका शिक्षा-प्रेम

अकबरका पुत्र जहाँगीर स्वयं फ़ारसी और तुर्कीका विद्वान् था। उसने तीस वर्षसे उजाड़ पड़े हुए मदरसोंको फिरसे बनवाकर उन्हें छात्रों और अध्यापकोंसे परिपूर्ण करा दिया और इसके लिये उसने वे सब सम्पत्तियाँ लगादीं जिनके कोई उत्तराधिकारी न थे। उस समय आगरेके मदरसेमें विभिन्न धर्मोंके माननेवाले बड़े बड़े आचार्य शिक्षा देते थे। पुस्तक और चित्रोंका उसने अद्वितीय सग्रह किया था और चित्रकारों, गायकों, गणितज्ञों, इतिहासकारों और कवियोंको राजाश्रय देकर आदत भी किया था। यह सब होते हुए भी शिक्षाके सम्बन्धमें उसकी कोई निश्चित नीति नहीं थी, शाहजहाँ ने दिल्लीकी जुमा मसजिदके पास सन् १६५० में शाही मदरसा स्थापित किया था जो सन् १८५७ के प्रथम स्वातंत्र्य-युद्धके समय अँगरेज़ोंके हाथसे नष्ट हो गया। शाहजहाँने दारुल-बक़ा मदरसेका भी जीर्णोद्धार कराया और वहाँ उस्तादे आज़म (आचार्य) के पदपर तत्कालीन प्रसिद्ध विद्वान् मौलाना मुहम्मद सदरुद्दीनको प्रतिष्ठित किया था।

औरंगज़ेबका नया रंग

औरंगज़ेबने अकबरकी शिक्षा-नीतिसे ठीक उल्टी नीति ग्रहण करके अप्रैल सन् १६६९ में सब हिन्दू विद्यालय और मन्दिर नष्ट कर डाले। किन्तु

मुस्लिम शिक्षाके लिये उसने बड़ी उदारतासे धन व्यय किया और स्थान-स्थानपर असंख्य मकतब और मदरसे खुलवा दिए यहाँतक कि उसने लखनऊ-स्थित डच लोगोंका भी एक भवन छीनकर उसमें भी मदरसा खुलवा दिया था। उसने अपने सब दीवानोंको आज्ञा दे दी थी कि आप लोग दीन छात्रोंको योग्यतानुसार छात्रवृत्ति दिया करें। उसने अहमदाबाद, पटना और सूरतके मदरसोंमें छात्रों और अध्यापकोंकी संख्या भी बढ़वा दी।

दण्डके लिये शिक्षाका प्रयोग

संसारके इतिहासमें अरंगज़ेब ही एक मात्र व्यक्ति है जिसने दण्डके लिये शिक्षाका प्रयोग किया। गुजरातके बोहरे अपने व्यापारके लिये सदासे प्रसिद्ध रहे हैं। जब उन्होंने औरंगज़ेबके सिपहसालारों (सेनापतियों) को बहुत तंग किया तब औरंगज़ेबने उनके लिये विद्यालय खुलवा दिए, अध्यापक नियुक्त कर दिए, सबकी उपस्थिति अनिवार्य कर दी और मासिक परीक्षाका विधान कर दिया जिससे बोहरोंका अधिकांश समय इन अनिवार्य विद्यालयोंमें बीतने लगा और उनका व्यापार चौपट हो गया।

व्यक्तिगत प्रयास

इन राज्य-संचालित विद्यालयोंके अतिरिक्त कुछ विद्यालय स्वतन्त्र रूपसे और कुछ औरंगजेबकी सहायतासे भी खुले। मुहम्मदशाह (सन् १७१६—१७४८) के शासन-कालमें आमेर (जयपुर) के राजा जयसिंहने ज्यौतिष-विद्याके संस्कार और प्रचारके लिये दिल्लीमें जन्तर-मन्तर नामकी प्रसिद्ध वेधशाला बनवाई थी। उसी समय नादिरशाहने आक्रमण किया और मुग़ल शासकोंने बड़े अध्यवसायसे जो ग्रन्थरत्न संग्रह किए थे उन्हें वह ईरान उठा ले गया। इसी प्रकार शाह आलम द्वितीय (सन् १७५९-१८०६) ने बड़े परिश्रमसे जो अच्छा पुस्तकालय संगृहीत किया था उसे ग़ुलाम क़ादिर लूट ले गया।

उपसंहार

उपर्युक्त विवरणसे यह बात स्पष्ट हो जायगी कि मुसलमान शासकोंने प्रायः अपनी हिन्दू प्रजाकी शिक्षाकी ओर ध्यान नहीं दिया, कुछने पहलेसे

चले आते हुए विद्यालयोंको जीने भर दिया और औरंगज़ेबने तो उन्हें समूल नष्ट करनेका ही उपक्रम किया। अकबर-जैसे कुछ लोगोंने हिन्दुओंके लिये मुस्लिम विद्यालयोंमें पढ़नेकी अथवा अलग विद्यालय बनानेकी व्यवस्था भी की थी। इस सबने धार्मिक शिक्षाको महत्त्वपूर्ण समझा था यद्यपि उसका रूप शुद्ध मुस्लिम ही था। इतना होनेपर भी शिक्षा सार्वदेशिक न बन सकी। उमरा (धनी लोग) अपने बच्चोंके लिये घरपर अध्यापक रखते थे। शेष अध्यापक भी दस-दस बारह-बारह विद्यार्थी लेकर जीविकाके लिये मकतब या मदरसे चला रहे थे। विद्यालयोंका स्वरूप भी पूर्ण रूपसे घरेलू था जिनमें अध्यापक अपने शिष्योंके साथ रहते थे, अपनी कहते और उनकी सुनते थे, अपने सदाचरणके द्वारा उनके आचरण ठीक करते थे, उन्हें प्रोत्साहन देते थे, उनकी प्रशंसा करते थे और आवश्यकतानुसार उन्हें डाँटते-फटकारते और पीटते भी थे।

मकतब और मदरसा

बड़े मदरसोंके अतिरिक्त जितने छोटे मकतब या मदरसे थे उन सबमें एक मियाँजी पढ़ाते थे जो अपनी खाटपर हुक्का गुड़गुड़ाते हुए, हाथमें डण्डा लिए बैठे रहते थे। सब विद्यार्थी उनके चारों ओर झुण्ड बाँधकर या पाँत बाँधकर सिर और शरीर आगे-पीछे हिला-हिलाकर स्वरसे अपना पाठ घोटते थे। जहाँ कोई चुप दिखाई दिया वहीं ललकार हुई—क्यों बे, अमुकके बच्चे ! (इस सम्बोधनमें विभिन्न जानवरोंके बच्चों और अण्डोंसे बालकोंकी उपमा दी जाती थी) और यदि ललकारके पश्चात् भी वह सावधान न हुआ या इस शिथिलताकी आवृत्ति हुई तो वह मियाँजीके पास आनेको विवश किया जाता था, उसे पीठ झुकानी पड़ती थी और उसपर डण्डा बरसने लगता था। इतनेपर भी यदि वह नहीं मानता था तो उसे पीठपर ईंट रखकर मुर्गा बनाना पड़ता था, कोठरीमें बन्द रहना पड़ता था या ऐसा ही कोई दण्ड भुगतना पड़ता था। किन्तु ये अध्यापक बड़े भोले भी होते थे। यदि कोई अपराधी शिष्य आटा-दाल या फल-फूल लानेका संकेत कर देता था तो वह दण्ड-मुक्त भी हो जाता था।

पाठन-क्रम

प्रत्येक विद्यार्थीको मियाँजी बारी-बारीसे अपने पास बुलाते थे, पहले पिछला पाठ सुनते थे, कंठाग्र न होनेपर कुटम्मस करते थे और तबतक अगला पाठ नहीं पढ़ाते थे जबतक पिछला पाठ कंठाग्र नहीं हो जाता था। नये पाठके लिये मियाँजी शुद्ध उच्चारणके साथ शैर (छन्द) का आधा या चौथाई कई बार छात्रसे कहलाते थे और तब उसका अर्थ समझाते थे। हिफ़्ज़ (कण्ठाग्र) करना ही अध्ययनका मूल तत्त्व समझा जाता था। इन मदरसोंकी कठोर दण्ड-प्रणाली भगोड़ छात्रोंके लिये बड़ी संकटप्रद थी और इसीलिये ऐसे बालकोंको लानेके लिये छात्र-दूत भेजे जाते थे जो भगोड़ोंके हाथ-पैर पकड़कर उन्हें लटकाकर विद्यालयमें आते थे।

पोषण

इन विद्यालयोंको गाँवोंसे फ़सलके समयपर कुछ बँधा हुआ अन्न (जवरा) मिलता था, पर्वोंपर त्योहारी मिलती थी, ब्याह-बारात, जनेऊ आदि मंगल अवसरोंपर भेंट मिलती थी, सावनमें या किसी भी महीनेमें चौक-चाकड़ी (हाथमें छोटे-छोटे डण्डे लेकर बजाते हुए विद्यार्थियोंका प्रदर्शन) लेकर छात्रोंके घर जाकर अन्न या धन इकट्ठा किया जाया करता था और यह अध्यापक अपनी शय्यापर बैठा-बैठा अन्त समयतक अध्यापक बना रहता था।

मुस्लिम राज्यकालमें हिन्दू शिक्षा

मुस्लिम शासन-कालमें राज्यकी ओरसे कोई सहायता या प्रोत्साहन न मिलनेपर भी मन्दिरों और मठोंसे सम्बद्ध संस्कृत पाठशालाएँ या गाँवोंके पाधाओंकी चटसालें, उदार हिन्दू धनिकों और ग्रामवासियोंके सहारे चलती रहीं। धनी लोग अपने-अपने घर विद्वानोंको आश्रय देकर अपने बालकोंको शिक्षा दिलाते रहे। परिणाम यह हुआ कि अधिकांश हिन्दू जनताके लिये शिक्षाका द्वार अवरुद्ध हो गया और उनमें निरक्षरता, संकीर्णता, अन्धविश्वास और जडता व्याप्त होने लगी।

७

भारतमें योरोपीय शिक्षाका श्रीगणेश

(१७०० से १८५४ तक)

अट्ठारहवीं शताब्दीके पूर्व ही अनेक विदेशी यात्री नये देशोंकी खोज करते हुए भारतकी ओर भी आ पहुँचे। रोमसे कई शताब्दियों पूर्वसे स्थल-व्यापार होता आ रहा था। यूनानसे भी राजनीतिक और व्यापारीय सम्बन्ध स्थल-मार्गसे बहुत पहले स्थापित हो चुका था किन्तु जल-मार्गसे भी पश्चिमी योरोपके कुछ साहसी व्यवसायी और नाविक आने लगे। शाहजहाँके समयमें ही सर टौमस रो नामका एक अँगरेज़ आया था जिसने अँगरेज़ोंकी कोठीके लिये सूरतमें भूमि माँग ली थी। इधर दक्षिणमें वास्को-डे गामाने पश्चिमी तटपर गोआ, दामन और द्यूको अपना केन्द्र बनाकर वहाँ पुर्तगाली शासन जमाया। इसके पश्चात् फ़्रांसीसी आए और उन्होंने भी पाण्डेचेरी, माही, कारीकल आदि स्थानोंमें अपने व्यवसाय-केन्द्र स्थापित किए। इन केन्द्रोंसे प्रत्येक देशकी व्यावसायिक कम्पनीने अपने अधीन कर्मचारियोंके पुत्रोंको शिक्षा देनेके लिये विद्यालय खोल दिए जिनमें प्रारम्भसे उनको अपने देशकी भाषामें उन-उन देशवाले कर्मचारियोंके पुत्रोंको पढ़ाया जाने लगा। किन्तु जब इन केन्द्रोंमें भारतीय कर्मचारियोंकी संख्या बढ़ी, तब पुर्तगाली, फ़्रान्सीसी और अँगरेज़ीके बदले एक पँचमेल भाषाके माध्यमसे शिक्षा दी जाने लगी जिसे भारतीय लोग फ़िरंगी भाषा कहने लगे।

ईसाई धर्मका प्रचार

प्रारम्भमें ये सब व्यापारी कम्पनियाँ केवल व्यापारके लिये ही आई थीं किन्तु पुर्तगाली लोग व्यापारके लिये ही नहीं वरन् ईसाई धर्मका प्रचार करने भी आए थे। इसलिये उन्होंने गोआ, दामन, द्यू, कोचीन और

हुगलीमें पैर जमाते ही नये ईसाई बने हुए लोगोंको शिक्षा देनेके लिये विद्यालय खुलवा दिए जिनमें पुर्तगाली और स्थानीय भाषामें लिखना-पढ़ना और कैथोलिक धर्म सिखाया जाता था। फ्रांसीसियोंने भी पाण्डेचेरी, माही, चन्द्रनगर और यनाममें अपने व्यापार-केन्द्रोंके साथ प्रारम्भिक विद्यालय खोल दिए जिनमें भारतीय अध्यापक मातृभाषाके द्वारा शिक्षा देते थे। ।

ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी

ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनीने भी अपने व्यावसायिक केन्द्रोंमें काम करनेवाले सेवकोंके बच्चोंके लिये और ईसाई मतका प्रचार करनेके लिये विद्यालय खोल दिए। अँगरेज़ लोग प्रोटेस्टेण्ट ईसाई थे इसलिये उन्होंने कैथोलिक पुर्तगालियों और फ्रान्सीसियोंसे ईर्ष्या करके प्रोटेस्टेण्ट ईसाई मतका प्रचार भी अपने विद्यालयोंमें किया और ईसाई भी बनाने लगे।

डेनिश व्यापारी

डच लोग भी सत्रहवीं शताब्दीमें ही आ चुके थे। सन् १७०६ में प्रोटेस्टेण्ट ईसाई मतमें विश्वास रखनेवाले डेन लोग (डेनमार्कके रहनेवाले) भारतके दक्षिण-पूर्वी तटपर ट्रंकोबार स्थानपर पहुँचे। डेनोंने आते ही पुर्त्तगाली और तमिल भाषाएँ सीखकर भारतीय 'मूर्त्तिपूजक और मुसलमान' बच्चोंके लिये सन् १६२५ में सत्रह विद्यालय तथा ईसाई बच्चोंके लिये चार मिशनरी स्कूल खोल दिए।

ईसाई ज्ञान-वर्द्धिनी सभा

प्रोटेस्टेण्ट अँगरेज़ पादरियोंने सन् १७२७ में मद्रास आकर 'ईसाई ज्ञान-वर्द्धिनी सभा' के द्वारा मद्रास, तंजौर, कन्नानोर, पालमकोटा और त्रिचनापल्लीमें विद्यालय खोल दिए। बपतिस्त ईसाई लोगोंने सन् १७६३ में बंगाल पहुँचकर सीरामपुरमें लगभग दस सहस्र बच्चे अपने मुट्ठीमें कर लिए। सन् १८०४ में लन्दन मिशनरी सोसाइटीने लंका और बंगालमें विद्यालय चलाए। चर्च मिशनरी सोसाइटी तथा वैस्लेयन मिशनने सूरत, आगरा, मेड्, कलकत्ता, ट्रन्कोबार और कोलम्बोमें अपने केन्द्र स्थापित कर

लिए। पहले तो इन पादरियोंकी पाठशालाओंसे लोग बहुत भड़के पर धीरे-धीरे जब लोगोंने देखा कि ये निःशुल्क शिक्षा दे रहे हैं और ज्ञानका प्रचार कर रहे हैं तब उनकी आस्था बढ़ चली।

ईस्ट इण्डिया कम्पनीका प्रयास

ईस्ट इण्डिया कम्पनीने भी इन सबकी देखा-देखी अपने विद्यालय खोलनेका विचार कर लिया। तंजौरके रेज़िडेण्ट सुलीवनने उच्च जातियोंके बच्चोंकी शिक्षाके लिये सन् १७८४ में जो योजना प्रस्तुत की वह कम्पनीने स्वीकार कर ली और संचालक-मंडल (कोर्ट ऑफ़ डाइरेक्टर्स) ने सन् १७८७ में योजना हाथमें लेकर प्रत्येक विद्यालयके लिये सौ पौण्ड वार्षिक सहायता स्वीकार करते हुए आदेश दिया कि इन विद्यालयोंमें अँगरेज़ी, गणित, तमिल, हिन्दी और ईसाई धर्म सिखाया जाय। ये अँगरेज़ी विद्यालय बहुत लोकप्रिय नहीं हो पाए क्योंकि इनमें केवल उन ब्राह्मणोंके पुत्र ही शिक्षा पाते थे जो अपने पुत्रोंको कम्पनीमें लिपिक (क्लर्क) बनाकर रखना चाहते थे।

कलकत्ता मदरसा

तत्कालीन दुर्नाम गवर्नर-जनरल वारेन् हेस्टिंग्सने कम्पनीके व्ययसे अरबीके माध्यमसे मुस्लिम बालकोंको शिक्षित करनेके लिये 'कलकत्ता मदरसा' स्थापित किया जिसमें थोड़ेसे विद्यार्थी मासिक छात्रवृत्ति पाकर प्राकृतिक अध्यात्म-तत्त्व, कुरान, धर्म, कानून, ज्यामिति, गणित, तर्कशास्त्र और अरबीका व्याकरण पढ़ते थे। सन् १८१९ में कम्पनीने इसके संचालनके लिये तीस सहस्र रुपया वार्षिक देना स्वीकार किया और सन् १८२२ में एक नया भवन बनवाया।

संस्कृत कालेज

प्राच्य-विद्याको प्रोत्साहन देनेके निमित्त ब्रिटिश रेजीडेण्ट जोनाथन डंकनने वारेन हेस्टिंग्सकी प्रेरणापर ही सन् १७०१ में न्यायशासनके लिये हिन्दू धर्मशास्त्रके सुयोग्य व्याख्याता प्राप्त करनेके उद्देश्यसे बनारस संस्कृत कालेज स्थापित किया जहाँ मनुस्मृतिके अनुसार ही शिक्षा दी जाती थी। इस विद्यालयकी प्रबन्ध समितिको कम्पनीकी ओरसे बीस सहस्र रुपया

वार्षिक सहायता दी जाती थी। हेस्टिंग्सके उत्तराधिकारी वेलेज़लीने सन् १८०० में कम्पनीके असैनिक (सिविल) सेवकोंके लिये हिन्दू तथा मुस्लिम धर्मशास्त्र तथा भारतीय भाषाओंके माध्यमसे भारतका इतिहास पढ़ानेके लिये एक कालेज खोल दिया।

ईसाई पादरियोंके प्रयत्न

इन विद्यालयोंसे पूर्व सन् १७२६ में ऐग्लिकन पादरियोंने ऐंग्लो-इण्डियन बालक-बालिकाओंके लिये कलकत्ता धर्मार्थ विद्यालय (चैरिटेबिल-स्कूल) खोल दिया था जो अब कलकत्ता ब्वाएज़ स्कूल और कलकत्ता गर्ल्स स्कूल नामक दो संस्थाओंमें बँट गया है। सन् १७८१ में फ़्री स्कूल सोसाइटीने निर्धन ऐंग्लो-इण्डियन बच्चोंके लिये एक निःशुल्क विद्यालय (फ्री स्कूल) खोल दिया और बपतिस्त पादरियोंने भारतीय तथा ऐंग्लो-इण्डियन बालक-बालिकाओंके लिये सीरामपुरमें 'धमार्थ विद्यालय' खोल दिया। सन् १८१० में शिवपुर (कलकत्ता) में अमरीकियोंने बिशप्स कालेज नामका एक महाविद्यालय खोला और सन् १८३७ में प्रसिद्ध स्कौट पादरी अलेग्ज़ेण्डर डफ़ने कलकत्तेमें जनरल एसेम्बलीज़ इन्स्टीट्यूशन नामका एक विद्यालय खोल दिया जिसमें पीछे महाविद्यालयकी कक्षाएँ भी जोड़ दी गईं। यही संस्था वर्त्तमान स्कौटिश चर्च कौलेज और स्कूलकी नींव है।

स्वतंत्र रूपसे योरोपीय शिक्षाका विकास

अँग्रेज़ोंकी पद्धति सर्वाधिक श्रेष्ठ माननेवाले कलकत्तेके प्रसिद्ध ब्रह्मसमाजी तथा समाज-सुधारक राजा राममोहन रायने डेविड हेअर और सर एडवर्ड हाइड ईस्टके सहयोगसे सन् १८१६ में कलकत्तेमें हिन्दू कालेज (कलकत्ता विद्यालय) स्थापित किया।

सन् १८१७ में हिन्दुओंके बालकोंको योरोपीय तथा एशियाई भाषा और विज्ञानकी शिक्षा देनेके लिये जो यह हिन्दू कालेज खोला गया उसमें अँगरेज़ीको सर्वप्रथम स्थान प्राप्त हुआ। मद्रास और बम्बईमें भी कच्छप-गतिसे योरोपीय शिक्षा चल निकली।

बम्बईमें शिक्षा-समिति और दक्षिणा-कोष

बम्बईमें प्रसिद्ध लोकसेवी माउण्ट स्टुअर्ट एलिफन्स्टनके प्रयाससे सन् १८१५ में बम्बई शिक्षा-समिति (बौम्बे एजुकेशन सोसाइटी) स्थापित हुई और सन् १८२२ में 'विद्यालय-पुस्तक-भाण्डार और विद्यालय-समिति' (स्कूल बुकडिपो और स्कूल सोसाइटी) की स्थापना की गई। पेशवाओंने विद्वान् हिन्दुओंकी सहायताके लिये जो दक्षिणा-कोष संचित कर रक्खा था उसका प्रयोग बम्बई सरकारने पूना-विद्यालयकी स्थापनाके लिये किया।

मद्रास शिक्षा-विभाग

मद्रासके प्रथम गवर्नर सर टौमस मुनरोने सन् १८२२ में मद्रासकी तत्कालीन देशी शिक्षा-व्यवस्थाकी जाँच कराकर सन् १८२६ में लोकशिक्षा-विभाग (बोर्ड औफ़ पब्लिक इन्स्ट्रक्शन) खोल दिया, जिसने गाँवोंमें सौ पाठशालाएँ खोलीं और मद्रासमें अध्यापकोंको शिक्षाके लिये एक केन्द्रीय शिक्षण-महाविद्यालय (सेंट्रल ट्रेनिंग कालेज) खोल दिया। इससे बहुत पहले ही मद्रास और बम्बईमें बहुतसे ईसाई-विद्यालय खुल चुके थे जिन्हें प्रारम्भमें ईस्ट इण्डिया कम्पनीसे आर्थिक सहायता भी मिलती थी। इन प्रान्तोंके अनेक बड़े नगरोंमें भी पादरियोंकी संस्थाएँ खुल चुकी थीं।

ईस्ट इण्डिया कम्पनीने जब भारतमें शासन-भार सँभाला, उस समय स्थान-स्थानपर अनेक टोल, पाठशालाएँ, मकतब और मदरसे थे और जिन प्रान्तोंमें सन् १७९३ की स्थायी भूमि-व्यवस्था (पर्मानेंट सेटिलमेंट) चल चुकी थी वहाँ शिक्षाकी व्यवस्थाके लिये कुछ रुपया अलग भी दिया गया और पाठशालाओंको जो दान-भूमि मिली हुई थी उसे भी उन्होंने ज्यों-का-त्यों रहने दिया।

इण्डिया ऐक्टमें नई धारा

सन् १८१३ के इण्डिया ऐक्टमें एक धारा बढ़ा दी गई थी कि 'ईस्ट इण्डिया कम्पनीके डाइरेक्टरोंका यह भी कर्त्तव्य होगा कि वे भारतमें कमसे कम एक लाख रुपये शिक्षापर प्रतिवर्ष व्यय करें।' वह तैंतालीसवीं धारा इस प्रकार है—

'यह भी निश्चय किया जाता है कि सपरिषद् गवर्नर अपने अधिकार से अपनी राज्यसीमामें प्राप्त हुए कर तथा लाभका जो रुपया राज्य-प्रबन्धके व्ययसे बचे उसमेंसे प्रतिवर्ष एक लाख रुपया *'भारतीय साहित्यके पुनरुद्धार और समुन्नतिके लिये, भारतके विद्वानोंको प्रोत्साहन देनेके लिये एवं भारतकी ब्रिटिश राज्यसीमाके निवासियोंमें विज्ञानका ज्ञान प्रसारित और समुन्नत करनेके लिये व्यय करै।'*

कम्पनीका नीतिपत्र

ईस्ट इण्डिया कम्पनीके संचालकोंने सन् १८१४ के नीतिपत्र (डिस्पैच) में उक्त धाराकी नीतिके संचालनके लिये यह निर्देश दिया कि उक्त धारामें दो स्पष्ट प्रस्ताव विचारणीय हैं—(१) भारतके विद्वानोंको प्रोत्साहन और भारतीय साहित्यका पुनरुद्धार एवं उसकी समुन्नति। (२) भारत-वासियोंमें विज्ञानके ज्ञानका प्रसार। हम समझते हैं कि ये दोनों उद्देश्य जन-विद्यालय खोलकर पूरे नहीं किए जा सकते क्योंकि भारतके प्रतिष्ठित उच्च वर्णके लोग विद्यालयके अंकुश और नियमका पालन नहीं कर सकते। अतः, हम सोचते हैं कि वे जिस प्रकार अपने घरोंपर शिक्षा देते आए हैं वैसे ही उन्हें देते रहने दें और उन्हें सम्मानित उपाधि तथा आर्थिक सहायता देकर प्रोत्साहित करते रहें।

लोक-शिक्षा-समिति

पर दस वर्षोंतक कुछ भी नहीं हो पाया। सन् १८२३ में एक 'लोक-शिक्षा-समिति' (कमिटी ऑफ़ पब्लिक इन्स्ट्रक्शन) कलकत्तेमें स्थापित हुई और उसे उपर्युक्त धाराकी पूर्तिके लिये एक लाख रुपया सौंप दिया गया।

इस समितिने तीन काम किए—

१. बहुत सी संस्कृत और अरबीकी पुस्तकें छाप डालीं।

२. योरोपीय वैज्ञानिक ग्रन्थोंके अनुवादके लिये प्राच्य विद्वान् नियुक्त कर लिए।

३. उसी वर्ष आगरेमें और दो वर्ष पश्चात् दिल्लीमें प्राच्य विद्यालय खोल दिए।

थोड़े दिनों पश्चात् बनारस संस्कृत कालेज और कलकत्ता मदरसेमें अँगरेज़ी कक्षाएँ भी जोड़ दी गईं और सन् १८३० में दिल्लीमें इंग्लिश कौलेज खोल दिया गया। इतना कार्य ईस्ट इण्डिया कम्पनीकी ओरसे राजकीय नीतिके अनुसार किया गया।

सन् १८३० का नीति-पत्र

सन् १८३० में ईस्ट इण्डिया कम्पनीके संचालकोंने गवर्नर-जनरलको एक नीतिपत्र भेजा जिसमें कहा कि—

(१) भारतीय लोग स्वयं अँगरेज़ी साहित्य और पाश्चात्य विज्ञानके प्रति अत्यन्त आकृष्ट हैं इसलिये अँगरेजी शिक्षा देना ही उनके लिये कल्याणकर है।

(२) योरोपीय भाषाओंके द्वारा विज्ञानकी विशेष शाखाओंका परिचय पाना अधिक लाभकर तथा सुगम है। यदि उनका अनुवाद कराना ही अभीष्ट हो तो भी उस कार्यको वे ही भारतीय सम्पन्न कर सकते हैं जिन्होंने विज्ञानके ग्रन्थोंका अध्ययन मूल योरोपीय भाषाओंमें किया हो।

(३) हम लोग यह नहीं चाहते कि आद्यन्त अँगरेज़ीका ही प्रयोग हो। शिक्षाके माध्यमके लिये हम भारतीय भाषाओंका महत्त्व कम नहीं करना चाहते।

(४) अँगरेज़ी भाषाके द्वारा दी जानेवाली यह शिक्षा अत्यन्त परिमित-संख्यक भारतीयोंको ही दी जाय।

(५) चतुर और मेधावी भारतीय इस शिक्षासे सम्पन्न होकर पाठशालाओं और विद्यालयोंमें अध्यापक होकर, उपयोगी ग्रन्थोंके अनुवादक और लेखक बनकर अपने देशवासियोंमें अधिक व्यापक रूपसे उन गुणों और लाभोंका प्रचार करेंगे जो उन्होंने स्वयं अँगरेज़ीके अध्ययनसे प्राप्त किए हैं। इस प्रकार योरोपीय विचारों और भावोंके प्रभावसे वे जो उदात्त भावना और उत्कृष्ट संस्कार प्राप्त करेंगे उसे वे भारतीय साहित्यमें और भारतीय जनताके मनमें भली भाँति प्रविष्ट कर सकेंगे।

(६) अतः, आप (गवर्नर-जनरल) कृपया घोषणा कर दें कि जो भारतीय इस पद्धतिसे शिक्षा प्राप्त करके सुयोग्यता अर्जित करेगा—

(क) वह अत्यन्त आदरणीय समझा जायाग।

(ख) उसे उदारतापूर्वक सब प्रकारका आर्थिक तथा अन्य सहयोग और प्रोत्साहन दिया जायग।

(ग) यह कार्य ब्रिटिश सरकारके प्रति सबसे बड़ा सेवा-कार्य समझा जाकर आदृत किया जायगा।

अल्पाधार सिद्धान्त और मैकौले

इस नीति-पत्रमें ही सर्वप्रथम अल्पाधार-सिद्धान्त (इन्फ़िल्ट्रेशन थिअरी) प्रस्तुत किया गया अर्थात् यह स्वीकृत किया गया कि पहले थोड़ेसे गतिशील, बुद्धिमान् और सुरक्षित लोगोंको भली भाँति अँगरेज़ीकी शिक्षा दे दी जाय, फिर वे स्वयं अपनी स्थानीय परिस्थितिके अनुकूल तत्तत्स्थानीय जनताको शिक्षा देते चलेंगे और इस प्रकार उन अल्पसंख्यक जनोंके प्रयाससे उनके द्वारा जनतामें धीरे-धीरे शिक्षा प्रविष्ट हो जायगी। इस अल्पाधार शिक्षा-नीतिके पीछे अन्य कारण ये भी थे कि—

१. कम्पनीके पास शिक्षाके लिये इतना कम धन था कि जितने लोग अँगरेज़ी शिक्षासे लाभान्वित होना चाहते थे उनकी ज्ञान-पिपासा उतने कम द्रव्यसे तृप्त नहीं की जा सकती थी।

२. अँगरेज़ी शिक्षा देना अनिवार्य था क्योंकि अँगरेज़ोंको भारतके शासन-कार्यमें सहायता देनेके लिये ऐसे योग्य सेवकोंकी भी आवश्यकता थी जो भली भाँति अँगरेज़ी जानते हों।

३. वर्तमान शैलीमें भारतीय भाषाओंमें लिखी हुई मान्य पुस्तकें भी नहीं थीं इसलिये विवश होकर कम्पनीको यह अल्पाधार शिक्षा-नीति ग्रहण करनी पड़ी।

नीतिका विरोध

कुछ विशेष विचारकोंने इस अल्पाधार शिक्षण-नीतिका बड़ा विरोध किया और कहा कि इस प्रकारकी नीतिसे शिक्षाकी समस्त शक्ति थोड़ेसे लोगोंको देकर उन्हें अनुदार, उच्छृङ्खल, निरंकुश तथा एकाधिकारी बनाना सर्वथा अनुचित

और असंगत है। यह तो सम्पूर्ण राज्यके जनसाधारणपर एक विशेष प्रकारकी मानसिक और बौद्धिक दासता लादना है । शासनको चाहिए था कि प्राचीन शिक्षा-प्रणालीको अपनाकर उसीका परिष्कार और सुधार करके उसे लोकहितकारी बनाया जाता न कि उल्टे उसपर विदेशी वस्तु लादकर उसका संहार किया जाता ।

आंग्ल-वादियों और प्राच्य-वादियोंका कलह

इधर तो यह शिक्षा-नीति अपनानेका चक्र चल रहा था उधर दिसम्बर १८३१ में सार्वजनिक शिक्षा-समिति (कमिटी औफ़ पब्लिक इन्स्ट्रक्शन) ने अपना प्रथम विवरण प्रकाशित कर दिया कि इस समयतक समितिके अधीन चौदह संस्थाएँ चल रही हैं जिनमें ३४९० छात्र पढ़ रहे हैं। प्राच्य-विद्याकी संस्थाओं (संस्कृत तथा अरबी विद्यालयों) के छात्र अधिकांशतः छात्रवृत्ति पाकर पढ़ते थे और प्रतिवर्ष अरबी और संस्कृत पुस्तकोंके प्रकाशनपर अत्यधिक धन भी व्यय हो रहा था। उधर लोगोंकी रुचि भी अँगरेज़ी शिक्षाकी ओर अधिकाधिक बढ़ती चली जा रही थी ।

इस प्रकार कम्पनीकी ओरसे मिलनेवाले एक लाख रुपयेके व्ययकी नीतिपर दोनों दलोंमें बड़ा विवाद खड़ा हो गया।

ट्रैवेलियनने इन दोनों दलोंका अत्यन्त मनोहर वर्णन करते हुए कहा है—

'जहाँ एक ओर कोई न कोई शिक्षा-नीति स्थिर करनेकी बात चल रही थी वहाँ अँगरेज़ी पढ़ानेका चाव सहसा बहुत बढ़ गया । चारों ओरसे सार्वजनिक शिक्षा-समितिपर यह दबाव डाला जाने लगा कि शीघ्र ही शिक्षाके माध्यमका निर्णय कर दिया जाय। जो पुस्तकें छपीं उनकी यह दशा थी कि उनमेंसे अँगरेज़ी पुस्तकें तो दो वर्षमें तीन हज़ार एक सौ बिक गईं परन्तु संस्कृत और अरबीकी पोथियाँ तीन वर्षोंमें इतनी भी न बिक पाईं कि उनकी छपाईका व्यय निकालना तो दूर, उन्हें दो मासतक सुरक्षित रखनेका व्ययतक भी निकल आवे। ऐसी परिस्थितिमें स्वयं समितिके भीतर ही वैमनस्य उठ खड़ा हुआ। एक दल तो संस्कृत और अरबीके ग्रन्थोंका प्रकाशन करने तथा संस्कृत और अरबीमें अँगरेज़ी ग्रन्थोंका अनुवाद

चलाते रहनेके पक्षमें था, दूसरा दल योरोपीय विज्ञानको संस्कृत और अरबीके माध्यमसे प्रकाशित और प्रचारित करनेके व्यय-साध्य कार्यक्रमको तत्काल समाप्त करके, प्राच्य विद्याके प्रोत्साहनके लिये दी हुई सब प्रकारकी छात्र-वृत्ति बन्द करके, केवल गिनी-चुनी यथा अत्यन्त आवश्यक संस्कृत और अरबीकी पुस्तकें विभिन्न विद्यालयोंके लिये मोल लेना भर उचित समझता था। इस दलका प्रस्ताव था कि 'इस प्रकार द्रव्य बचाकर उन स्थानोंपर अँगरेज़ी पढ़नेवाली नई संस्थाएँ स्थापित की जायँ जहाँ उनकी माँग बढ़ रही है।'

मैकौलेका निर्णय

इस विवादने इतना उग्र रूप धारण कर लिया कि समितिका सारा काम ही ठप पड़ गया। दोनों ही दल इतने सबल और सन्तुलित थे कि उनके विवादके कारण एक पग आगे बढ़ना भी सम्भव नहीं हो रहा था। यह स्थिति लगभग तीन वर्षतक चलती रही और यह दशा आ गई कि यदि सरकार ही स्वयं हस्तक्षेप करके किसी भी दलके पक्षमें अपना निर्णय देकर समितिको क्रियाशील करे तो करे। अतः, उस समितिके सदस्योंके दोनों दलोंने सरकारके सम्मुख अपना-अपना अभिमत व्यक्त करते हुए वक्तव्य भेजे। भारतके तत्कालीन गवर्नर-जनरल लौर्ड विलियम बेंटिंकने अपनी परिषत्के सदस्य लौर्ड मैकौलेको इस समितिका प्रधान नियुक्त करके उसे अधिकार दे दिया कि आप इस विषयकी जाँच करके अपना मत व्यक्त करें। फलतः २ फरवरी सन् १८३५ को लार्ड मैकौलेने इस विवादका अन्त करते हुए उस नई शिक्षा-नीतिका श्रीगणेश किया जिसमें उसने भारतीय और अरबी साहित्यको बड़े विस्तारके साथ निरर्थक, निराधार, मूर्खतापूर्ण, असत्य, असंगत तथा असम्भव बताते हुए घोषित किया—'हम यह चाहते हैं कि भारतीय केवल रंगमें तो भारतीय रहें, किन्तु खान-पान, रहन-सहन, आचार-विचार इत्यादि सब बातोंमें पूर्णतः अँगरेज़ बन जायँ।

परिणाम

निष्कर्ष यह है कि सन् १९३० के पार्लियामेण्ट एक्टके द्वारा हम

किसी भी बातके लिये वचन-बद्ध नहीं हैं और हमें यह स्वतन्त्रता है कि—

(१) हम शिक्षाके निमित्त निकाले हुए कोषको यथारुचि व्यय करें, किन्तु हमें यह धन ज्ञातव्य विषयोंकी शिक्षामें लगाना चाहिए।

(२) अँगरेज़ी भाषा निश्चय ही संस्कृत और अरबीसे अधिक समृद्ध और अध्ययनीय है।

(३) अँगरेज़ी शिक्षा प्राप्त करनेके लिये भारतवासी लालायित हैं, संस्कृत और अरबीके लिये नहीं।

(४) केवल न्याय-विधान तथा धर्मकी भाषा होनेके कारण भी संस्कृत और अरबी प्रोत्साहनीय नहीं हैं।

(५) अँगरेज़ीके द्वारा हम भारतवासियोंको अच्छा विद्वान् बना सकते हैं तथा उसी लक्ष्यकी ओर हमें अग्रसर होना भी चाहिए।

शिक्षाकी नवीन नीति [सन् १८३५]

इतना घोर विरोध होनेपर भी ७ मार्च सन् १८३५ को लौर्ड विलियम बेंटिंकने मैकोलेकी नीतिको राज्यकी नीति मानकर निम्नांकित निर्णय घोषित कर दिया—

"सपरिषद् गवर्नर जनरलने सार्वजनिक शिक्षा-मन्त्रीके पिछली २१ और २२ जनवरीके दोनों पत्रों और उनमें उद्धृत अन्य पत्रोंपर भली भाँति विचार करके यह निश्चय किया है—

(१) ब्रिटिश सरकारका मुख्य उद्देश्य यह होगा कि वह भारतवासियोंमें पाश्चात्य साहित्य और विज्ञानोंका प्रसार करे क्योंकि शिक्षाके लिये जितना धन प्रयोगमें लाया जाया है वह केवल अँगरेज़ी शिक्षाके लिये ही सर्वश्रेष्ठ रूपमें प्रयुक्त हो सकता है।

(२) किन्तु सपरिषद् गवर्नर जनरलका यह भी उद्देश्य है कि देशी शिक्षाके जो महाविद्यालय या विद्यालय विद्यमान हैं, वे तबतक न तोड़े जाँय जबतक भारतीय जनता उनसे लाभ उठानेके लिये उत्सुक और प्रवृत्त है। अतः, सपरिषद् गवर्नर-जनरल यह आदेश देते हैं कि वर्तमान

देशी विद्यालयोंमें जितने प्राध्यापक या छात्र हैं और शिक्षा-समितिके अधीन जितनी संस्थाएँ हैं उन्हें यथापूर्वक सहायता तो मिलती रहे किन्तु आज-तक प्रचलित इस प्रणालीपर घोर आपत्ति है कि सरकार-द्वारा छात्रोंका भरण-पोषण करके ऐसी शिक्षाको अनावश्यक और कृत्रिम प्रोत्साहन दिया जाय जो थोड़े दिनोंमें स्वाभाविक रूपसे अधिक उपयोगी शिक्षाके द्वारा समाक्रान्त हो जायगी। अतः, ऐसे देशी विद्यालयोंमें पढ़नेवाले किसी भी छात्रको भविष्यमें कोई भी छात्रवृत्ति नहीं दी जायगी। साथ ही, इन प्राच्य संस्थाओंके कोई भी प्राध्यापक यदि अपना पद-त्याग करेंगे तो उनका स्थान रिक्त रहेगा और छात्रोंकी संख्या तथा कक्षाकी दशा देखकर सरकार यह विचार करेगी कि उस स्थानपर किसीको नियुक्त करना चाहिए या नहीं।

(३) सपरिषद् गवर्नर जनरलको यह सूचना मिली है कि समितिने प्राच्य ग्रन्थोंके प्रकाशनपर बहुत रुपया व्यय कर दिया है। गवर्नर-जनरलका यह आदेश है कि भविष्यमें इस कार्यके लिये किसी प्रकारका व्यय न किया जाय और इन सुधारोंके पश्चात् जो कुछ रुपया बचे वह अँगरेज़ी माध्यमके द्वारा भारतीयोंको अँगरेज़ी साहित्य और विज्ञान पढ़ानेमें लगाया जाय।

सारांश

सारांश यह है कि—

(१) पाश्चात्य साहित्य और विज्ञानके प्रसारको ही सरकारने अपना सिद्धान्त बना लिया।

(२) प्राच्य ग्रन्थोंका प्रकाशन बन्द कर दिया गया।

(३) नई छात्रवृत्तियाँ बन्द कर दी गईं।

(४) बचा हुआ धन अँगरेजी भाषाके माध्यमसे अँगरेज़ी साहित्य और विज्ञान पढ़ानेमें व्यय किया गया और इस प्रकार अँगरेज़ी और प्राच्य विद्याका पारस्परिक सम्बन्ध पूर्णतः निश्चित हो गया।

(५) देशी भाषाओंका महत्त्व भी स्वीकृत किया गया और यह मान लिया गया कि उचित देशी साहित्यके निर्माणके लिये सम्पूर्ण शक्ति केन्द्रित कर देनी चाहिए।

भारतीयोंने इस अँगरेज़ी शिक्षाके प्रति इतनी उत्सुकता प्रदर्शित की कि विद्यालयों और छात्रोंकी संख्या वेगसे बढ़ चली ।

१८५४ का शिक्षा-महाविधान

तीनों प्रान्तोंमें इतने वेगसे भारतीय जनता अँगरेज़ी शिक्षाकी ओर आकृष्ट हो रही थी कि सन् १८५४ में ईस्ट इण्डिया कम्पनीके संचालक-मण्डलने यह सिद्धान्त स्थिर किया कि सम्पूर्ण जनताको शिक्षा देना राज्य-शासनका निश्चित धर्म होना चाहिए। अपने इस निश्चयको कार्य रूपमें परिणत करनेके लिये उन्होंने अपने उद्देश्य स्पष्ट रूपसे घोषित कर दिए और कहा—

१. उपादेय ज्ञानके व्यापक विस्तारसे जो नैतिक और भौतिक सुख प्राप्त होते हैं वे भारतीयोंके लिये सुलभ हो सकें।

२. शिक्षासे लाभ उठानेवाले लोगोंके चरित्र और बुद्धिका उन्नयन किया जाय ।

३. राज्य-सेवाके लिये अत्यन्त सद्वृत्त (ईमानदार) सेवक प्रस्तुत किए जायँ।

४. भारतीय लोग भारतके विस्तृत वैभव-निधानोंका विस्तार करके अँगरेज़ोंसे स्पर्धा करें और साथ-साथ हमारे (अगरेज़) उत्पादकोंके लिये उन सब वस्तुओंका संग्रह करके उन्हें देते रहें जो इँगलिस्तानके सब वर्गोंके लोग व्यापक रूपसे प्रयोग करते हैं।

शिक्षाकी प्रकृति

इन उद्देश्योंकी घोषणाके पश्चात् उन लोगोंने निश्चय किया कि किस प्रकारकी शिक्षा जनतामें वितरित की जाय और ज्ञानकी विभिन्न शाखाओंमें कौन-सा ज्ञान अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण है। इस सम्बन्धमें उन्होंने घोषित किया कि—

१. आगे बढ़नेसे पूर्व हम यह घोषित कर देना चाहते हैं कि हम भारतमें

जिस प्रकारकी शिक्षाका विस्तार करना चाहते हैं उसका स्वरूप वही होगा जिससे योरपको समुन्नत कलाओं और विज्ञानोंका प्रसार हो।

२. संस्कृत, अरबी और फ़ारसी साहित्योंके अध्ययनके लिये जो विशेष संस्थाएँ खुली हुई हैं और उनके द्वारा लोगोंको जो सुविधा मिल रही है उसे हम कम नहीं करना चाहते किन्तु इस प्रकारके सब प्रयत्न गौण ही समझे जायँगे।

३. उन वर्गोंको सब प्रकारकी सुविधा दी जायगी जो उदार योरोपीय शिक्षा प्राप्त करनेके लिये समुत्सुक हैं।

४. किन्तु हम यह मानते हैं कि जो अधिकांश जनता किसी सहायताके बिना शिक्षा प्राप्त करनेमें पूर्णतः असमर्थ है उसे जीवनके प्रत्येक क्षेत्रके उपयुक्त, उपादेय और व्यावहारिक शिक्षा दी जायगी।

उद्देश्य-प्राप्तिके साधन

उपर्यंकित उद्देश्योंकी पूर्त्तिके लिये निम्नलिखित साधन सुझाए गए—

१. एक अलग शिक्षा-विभाग खोल दिया जाय जिसमें निरीक्षकों और उपनिरीक्षकोंके दलके सहित ऐसे शिक्षा-सञ्चालक नियुक्त किए जायँ जो विभाग-पर भली प्रकार शासन कर सकें।

२. कलकत्ता, बम्बई और मद्रासमें लन्दन विश्वविद्यालयके आदर्शपर परीक्षण विश्वविद्यालय (ऐग्ज़ामिनिंग युनिवर्सिटी) स्थापित किए जायं।

३. स्थान-स्थानपर राजकीय विद्यालय स्थापित किए जाएँ।

४. प्रारम्भिक शिक्षापर अधिकाधिक ध्यान दिया जाय।

५. अध्यापकोंकी शिक्षाके लिये शिक्षाशास्त्र-विद्यालय (ट्रेनिंग स्कूल या कालेज) खोले जायँ।

६. जनता-द्वारा चलाए हुए विद्यालयोंकी सहायताके लिये आर्थिक सहायता-प्रणाली (ग्रैंट-इन-एड सिस्टम) भी प्रारम्भ की जाय और इस सहायताका वितरण धार्मिक भेद-भावसे पूर्णतः अलग रहकर श्रेष्ठ लौकिक ज्ञानके आधारपर किया जाय। इनका निरीक्षण विभागीय कर्मचारी निरन्तर करते रहें और इनमें कुछ न कुछ शुल्क भी लिया जाता रहे।

सन् १८५४ का यह महाविधान सर चार्ल्स वुडने प्रस्तुत किया था, अतः, इसका नाम 'वुडका नीतिपत्र' (वुड्स डिस्पैच) या शिक्षा-महाविधान (मैग्ना कार्टा ऑफ़ एजुकेशन) पड़ गया है । इस नीतिपत्रमें राष्ट्रकी सार्वजनिक शिक्षाकी पूर्ण योजना प्रस्तुत कर दी गई है इसीलिये एक विद्वान्का कहना है कि 'यह महाविधान भारतीय शिक्षाके इतिहासकी सर्वोच्च तथा सर्वोत्कृष्ट सीमा है क्योंकि इससे पहले जो कुछ हुआ है वह इसतक पहुँचता है और जो आगे हुआ है वह इसीसे ढला है ।'

सन् १८५६ ई० की शिक्षा-योजना

वुडकी बनाई हुई शिक्षा-योजनाके अनुसार प्रत्येक जिलेमें एक-एक राजकीय हाई स्कूल खोल दिया गया, सन् १८५७ में कलकत्ता, बम्बई और मद्रासमें विश्वविद्यालय खोले गए, सब प्रान्तोंमें शिक्षा-विभाग बने और शिक्षा-संचालक नियुक्त हो गए । निरीक्षकों और उपनिरीक्षकोंकी भी एक सेना खड़ी कर दी गई । जहाँ-तहाँ प्रारम्भिक पाठशालाएँ भी खुल गईं । तीनों प्रान्तोंमें शिक्षा-शास्त्र-विद्यालय खोल दिए गए । इसी बीच सन् १८५७ में अँगरेज़ी राज्य उखाड़ फेंकनेके लिये भारतमें विद्रोह हुआ पर परिणामतः अँगरेज़ी राज्य पूर्ण रूपसे जम गया और ईस्ट इण्डिया कम्पनीके हाथसे राज्य-शासन निकलकर महारानी विक्टोरियाके हाथमें आ गया ।

वुड-नीति-पत्र और नये नीति-पत्रमें अन्तर

सन् १८५९ में एक नवीन शिक्षा-विधान प्रस्तुत किया गया जिसमें मुख्यतः वुड-नीतिपत्रके सिद्धान्त दुहराकर स्वीकृत किए गए । अन्तर केवल इतना ही रहा कि १८५६ की योजनामें यह वक्तव्य और जोड़ दिया गया कि 'भारतीय जनताने प्रारम्भिक शिक्षाके संवर्द्धनमें सरकारको सहयोग नहीं दिया । अत', भविष्यमें प्रारम्भिक शिक्षा-संचालनका कार्य भी सरकार ही करेगी ।'

हंटर कमीशन

सन् १८८२ तक अँगरेज़ी शिक्षा इस वेगसे चलने लगी कि 'जन-शिक्षा-

संचालक' (डाइरेक्टर ऑफ़ पब्लिक इन्स्ट्रक्शन) उसे सँभालनेमें अपनेको अशक्त पाने लगे। इसलिये भारतके प्रमुख मनीषियोंकी प्रेरणापर तत्कालीन गवर्नर जनरल लौर्ड रिपनने सन् १८८० में ईंगलैण्डसे भारत आते समय यह वचन दिया कि 'मैं भारत पहुँचते ही भारतमें अँगरेज़ी शिक्षाके क्रमकी पूरी और गहरी जाँच कराऊँगा।' उस प्रतिज्ञाके परिणाम-स्वरूप १८५४ के नीतिपत्रको पुनः आवश्यकतानुसार संशुद्ध करने और पिछले बीस वर्षकी शिक्षण-गति-विधिका परीक्षण करनेके उद्देश्यसे सन् १८८२ ई० में सर विलियम हंटरकी अध्यक्षतामें एक शिक्षा-समीक्षा-मण्डल (एजुकेशन कमीशन) नियुक्त किया गया जिसके सदस्य श्रीआनन्दमोहन बोस (इण्डियन नैशनल कांग्रेसके अध्यक्ष) और जस्टिस के० टी० तैलंग भी थे।

इस समीक्षा-मंडलको दो बातोंका भार सौंपा गया—

क. प्रारम्भिक शिक्षाके प्रसारका उपाय सुझाना।

ख. आर्थिक सहायता-प्रणाली (ग्रेन्ट-इन-एड सिस्टम) का प्रसार।

प्रारंभिक शिक्षाके प्रसारकी बात

इस मण्डलको यह विशेष भार दिया गया कि भारतमें तत्कालीन प्रारम्भिक शिक्षाकी अवस्थाका अध्ययन करके ऐसे उपाय सुझावें जिससे प्रारम्भिक शिक्षाका उचित रूपसे प्रसार और विकास किया जा सके।

यद्यपि इस मण्डलका काम केवल प्रारम्भिक शिक्षाके प्रसारके संबंधमें अपने सुझाव देना भर था तथापि उससे यह भी आशा की गई थी कि वह भारतके लिये सार्वजनिक शिक्षाकी सर्वश्रेष्ठ प्रणाली भी निर्दिष्ट करे। अतः, इस मण्डलके लिये अन्य विचारणीय प्रश्नोंमें ये समस्याएं भी जोड़ दी गईं— क. विशेष वर्गोंकी शिक्षा, ख. कन्या-शिक्षा, ग. छात्र-वृत्तिका प्रश्न।

मंडलका विवरण

इस समीक्षा-मण्डलने सन् १८८३ में जो विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया उसमें उन्होंने केवल प्रारम्भिक शिक्षाका ही नहीं वरन् शिक्षाके सभी क्षेत्रों और अंगोंका पर्यवेक्षण करके उसपर अपनी इस प्रकार सम्मति दी—

१. भारतकी स्वदेशी (इन्डिजिनस) शिक्षा-पद्धतिके सम्बन्धमें

क. वे सभी देशी विद्यालय मान्य किए जायँ जिनमें भारतीय प्रणालियोंसे भारतीय भाषाएँ और विद्याएँ पढ़ाई जाती हैं और यदि वे उदार लौकिक शिक्षा भी देते हों तो उन्हें प्रोत्साहन दिया जाय ।

ख. ये विद्यालय नगरपालिकाओं तथा जनपद-मण्डलों (डिस्ट्रिक्ट बोर्डों) के द्वारा अधिकृत और प्रोत्साहित किए जायँ तथा उन्हींके द्वारा इनकी व्यवस्थाकी देखभाल हो ।

ग. उन्हें जो आर्थिक सहायता दी जाय वह स्थानीय नगरपालिकाओं अथवा जनपद-मंडलोंकी ही ओरसे दी जाय ।

•. प्रारम्भिक शिक्षाके सम्बन्धमें

'उच्च शिक्षाके सम्बन्धमें सरकारकी जो नीति है वह ठीक वैसी नहीं है जैसी प्रारम्भिक शिक्षाके सम्बन्धमें। प्रारम्भिक शिक्षाका प्रबन्ध सरकार स्वयं करेगी और इस प्रतीक्षामें नहीं बैठी रहेगी कि स्थानीय सहायता मिलनेपर चलाई जाय । किन्तु माध्यमिक शिक्षा तो केवल वहींपर दी जा सकेगी जहाँ पर्याप्त स्थानीय सहयोग प्राप्त होनेकी सम्भावना होगी । अतः, भविष्यमें अगरेज़ीकी शिक्षाके लिये जो माध्यमिक विद्यालय खोले जायँगे वे सब अर्थ-सहायता-प्रणाली (ग्रैंट इन एड) के आधारपर ही खोले जा सकेंगे ।' इस नीति-निर्धारणके पश्चात् मण्डलने प्रारम्भिक शिक्षाके सम्बन्धमें ये सुझाव दिए—

अ. प्रारम्भिक पाठशालाओंको परीक्षाके परिणामके आधारपर सहायता दी जाय ।

आ. पाठशालाका भवन और परिवाप (फ़र्निचर) अत्यन्त सरल और सस्ता हो ।

इ. प्रारम्भिक शिक्षाके विषयोंमें महाजनी गणित, बहीखाता, पटवारगिरी (खेतोंकी नाप-जोख), सरल विज्ञान, कृषि और व्यावसायिक कौशल भी बढ़ा दिए जायँ

ई. ऐसे विद्यालयोंके लिये अध्यापक तैयार करनेके निमित्त 'साधारण प्रशिक्षण-विद्यालय (नौर्मल ट्रेनिंग स्कूल) खोल दिए जायँ ।

उ. जो धन सरकारकी ओरसे प्रारम्भिक शिक्षाके लिये विभिन्न प्रान्तोंको दिया जाय उसका प्रथम उपयोग प्रारम्भिक विद्यालयोंकी देख-रेख और शिक्षण-कला-विद्यालयोंके उचित संरक्षणके लिये किया जाय ।

माध्यमिक शिक्षाके सम्बन्धमें

क. हाई स्कूलकी ऊपरी कक्षाओंमें दो विभाग कर दिए जायँ—एक तो उन लोगोंके लिये जो प्रवेशिका (एन्ट्रेंस) परीक्षा उत्तीर्ण करके विश्वविद्यालयोंमें जाना चाहते हों और दूसरा, वह व्यावहारिक विभाग हो जिसमें शिक्षा पाकर छात्र व्यावसायिक वृत्ति ग्रहण कर सकें ।

ख. आर्थिक सहायता-प्राप्त विद्यालयोंकी स्थापनाको प्रोत्साहन देनेके लिये उन विद्यालयोंके प्रबन्धकोंको आदेश दिया जाय कि वे आसपासके गवर्नमेण्ट हाई स्कूलोंमें लिये जानेवाले शुल्कसे कम शुल्क लें जिससे अधिक छात्र राजकीय विद्यालयोंमें न जाकर उनके विद्यालयोंमें आवें ।

ग. छात्रवृत्तिका क्रम ऐसा रक्खा जाय कि छात्र उसके द्वारा अपना अध्ययन चलाए रक्खें, जैसे प्रारम्भिक श्रेणीमें उत्तीर्ण छात्रको वृत्ति दी जाय तो वह उसके सहारे मिडिलतक पढ़ता चले और मिडिलमें उत्तीर्ण छात्रको वृत्ति दी जाय तो वह हाई स्कूलतक पढ़ता चला चले ।

विद्यालय-स्थापनामें जनताका हाथ

१. लोक-संस्थाओंके प्रबन्धकोंसे साधारण शिक्षा-विषयोंपर परामर्श लिया जाया करे और उन विद्यालयोंके छात्रोंको भी सरकारी विद्यालयोंके विद्यार्थियोंके समान प्रतियोगिता-परीक्षाओं, छात्र-वृत्तियों तथा अन्य सार्वजनिक पदोंकी सुविधा दी जाय ।

२. उन विद्यालयोंकी शिक्षा-प्रवृत्तिकी स्वतन्त्रतामें किसी प्रकारकी बाधा न दी जाय और इस बातका ध्यान रक्खा जाय कि सार्वजनिक परीक्षाओंके कारण उन विद्यालयोंके ऊपर उन परीक्षाओंकी पाठ्य-पुस्तकें और पाठ्यक्रम न लाद दिए जायँ ।

३. आर्थिक सहायताके नियमोंका सुधार करके, वे नियम सब देशी भाषाओंमें तथा सब समाचार-पत्रोंमें प्रकाशित किए जायँ और लोक-संस्थाओंके प्रबन्धकों तथा अन्य ऐसे लोगोंको भी भेजे जायँ जो शिक्षाके प्रसारमें सहायता कर सकें।

४. सरकारी विभाग-द्वारा व्यवस्थित माध्यमिक विद्यालयों और महाविद्यालयोंमें सहायता-प्राप्त विद्यालयोंकी अपेक्षा अधिक शुल्क लिया जाय।

५. जहाँ-जहाँ अच्छे लोकविद्यालय खुलते रहें वहाँ-वहाँसे विभागीय सरकारी विद्यालय हटाए जाते रहें।

६. कन्या-शिक्षाके लिये अधिक सहायता दी जाय और जिन कन्या-विद्यालयोंके प्रबन्धक इस कार्यमें अधिक रुचि प्रदर्शित करें उन्हें उदारता-पूर्वक प्रोत्साहित किया जाय। जहाँ इस प्रकारका लोक-सहयोग न प्राप्त हो वहाँ विभागकी ओरसे या स्थानीय नगर-पालिकाकी ओरसे विद्यालय खोले जायँ।

७. सहायता-प्राप्त संस्थाओंके विस्तारके लिये प्रत्येक प्रान्तकी शिक्षाके निमित्त दिए जानेवाले द्रव्यमें निरन्तर समय-समयपर अभिवृद्धि की जाती रहे।

८. समीपमें गवर्नमेण्ट स्कूल होनेके कारण किसी लोक-संस्थाको सरकारी आर्थिक सहायता पानेमें बाधा न दी जाय।

९. सरकारी विभाग-द्वारा संचालित संस्थाओंको अत्यन्त उच्च श्रेणीका बनाए रखते हुए भी लोक-संचालित संस्थाओंका विकास और विस्तार करना ही शिक्षा-विभागका प्रमुख उद्देश्य होना चाहिए।

सरकारकी नीति

'सरकारने स्वयं शिक्षाका महत्त्व स्वीकार कर लिया है क्योंकि सरकारी कार्योंमें सहायता प्राप्त करने, अपनी शक्ति सुदृढ बनाए रखने और अपने व्यावसायिक स्वत्वोंके विस्तारके लिये भी सरकारको अच्छे पढ़े-लिखे योग्य व्यक्तियोंकी आवश्यकता है, इसलिये शिक्षा-प्रसारके कार्यको सरकार अपना कर्त्तव्य समझती है।'

लोक-प्रयासके सम्बन्धमें मण्डलके सुझाव स्वीकृत

सन् १८८४ में ब्रिटिश सरकारने मण्डलके सुझाव स्वीकृत करते हुए यह घोषणा की—

'शिक्षा-समीक्षण-मण्डलने शिक्षाकी सम्भावनाओंका पर्यवेक्षण करके यह अत्यन्त सुविचारित प्रस्ताव किया है कि धीरे-धीरे उन स्थानोंसे सरकार अपने उच्च विद्यालय हटा ले जहाँ श्रेष्ठ लोक-संस्थाएँ विद्यमान हैं। भारत सरकार यह नहीं चाहती कि उच्च शिक्षाको निरुत्साहित किया जाय वरन् वह सरकारका प्रमुख कर्त्तव्य समझती है कि उच्च शिक्षाका विस्तार और पोषण किया जाय। किन्तु सरकार अपने परिमित कोषको विशेष रूपसे दृष्टिमें रखते हुए लोकशिक्षाके विभिन्न अंगोंसे सम्बद्ध लोक-शक्तियोंसे यह आशा करती है कि वे शिक्षाके प्रसारमें सहयोग देंगे। इसलिये उच्च शिक्षाके सम्बन्धमें सरकार समझती है कि आत्मावलम्बन ही उच्च शिक्षाके विकासका सर्वश्रेष्ठ आधार हो सकता है।'

शिक्षामें सरकारका हस्ताक्षेप

सन् १८८२ की सरकारी नीतिके अनुसार ढला हुआ शिक्षाक्रम लगभग बीस वर्षोंतक चलता रहा। तदनन्तर सन् १९०४ में भारत-सरकारने राज्य तथा लोक-प्रयासोंका सम्बन्ध स्पष्ट करते हुए यह सार्वजनिक घोषणा की—

'भारतीय सरकारने इस सिद्धान्तको अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समझा है कि शिक्षाकी प्रत्येक शाखामें सरकारको अपनी ओरसे कुछ परिमित संख्यामें ऐसी संस्थाएँ चलाते रहना चाहिए जो लोक-चालित-संस्थाओंके लिये आदर्श भी हों और जो शिक्षाका उच्च मान भी बनाए रख सकें। संस्थाओंपर सीधे प्रबन्धका अधिकार हटाते हुए भी सरकार यह आवश्यक समझती है कि वह अधिकाधिक निरीक्षणके द्वारा सभी सार्वजनिक शिक्षा-संस्थाओंपर व्यापक नियन्त्रण बनाए रक्खे।'

इस प्रकार सरकारने सम्पूर्ण शिक्षा-नीति ही इस प्रकार अपने अधिकारमें कर ली कि पाठ्य-विषय, पाठ्यक्रम तथा निरीक्षण आदिके द्वारा सब विद्यालय मुट्ठीमें आ जायँ।

माध्यमिक शिक्षाके लिये सन् १९१३ की नीति

भारतीय जनता इस वेगसे अँगरेज़ी शिक्षाकी ओर उन्मुख हुई कि भारतकी ब्रिटिश सरकारको सन् १९१३ की फ़रवरीमें भारतीय शिक्षा-नीतिके सम्बन्धमें एक प्रस्ताव घोषित करना पड़ा—

'भारत सरकार अपनी इस नीतिपर दृढ है कि माध्यमिक शिक्षा यथा-सम्भव लोक-प्रयासोंपर ही आश्रित रहे। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि सरकार लोक-संस्थाओंके प्रबन्धको राज्यशासित शिक्षण-संस्थाओंसे अच्छा समझती है वरन् जो परिपाटी चला दी गई है उसका वह इसलिये पालन करना चाहती है कि राज्यकी समस्त शक्तियों और सम्पूर्ण प्राप्य साधनोंको प्रारम्भिक शिक्षाके विकास और विस्तारके लिये ही केन्द्रित किया जा सके।'

विभिन्न स्थानोंकी विशिष्ट आवश्यकताओं, दशाओं तथा अवस्थाओंकी दृष्टिसे भारत सरकारने माध्यमिक विद्यालयोंके सम्बन्धमें यह नीति अपनाई कि—

क. बी. ए. उत्तीर्ण या प्रशिक्षित (ट्रेण्ड) अध्यापकको वर्त्तमान सरकारी स्कूलोंमें नियुक्त करके तथा विज्ञान, इतिहास, भूगोल और हस्त-कौशलके शिक्षणके लिये नवीन साधन प्रस्तुत करके वर्तमान सरकारी स्कूलोंकी दशा समुन्नत कर दी जाय।

ख. सहायता-प्राप्त लोक-संस्थाओंकी आर्थिक सहायता इतनी बढ़ा दी जाय कि वे सरकारी विद्यालयोंके साथ-साथ चल सकें और जहाँ आवश्यक हो वहाँ नई सहायता-प्राप्त संस्थाएँ स्थापित कर दी जा सकें।

ग. प्रशिक्षण-विद्यालयों (ट्रेनिंग कौलेजों) की संख्या बढ़ाकर उनका उन्नयन इस प्रकार किया जाय जिससे सरकारी तथा लोकसंचालित विद्यालयोंको पर्याप्त संख्यामें प्रशिक्षित (ट्रेण्ड) अध्यापक मिल सकें।

घ. आर्थिक सहायताके नियम इतने ढीले कर दिए जावँ कि यथासम्भव प्रत्येक विद्यालय सहायता पा जाय।

शिक्षापर अधिकार करनेके कारण

सरकारने शिक्षाको हस्तगत करनेके कारण उपस्थित करते हुए कहा—

१. मानव-जीवन अत्यन्त व्यस्त हो गया है और वर्त्तमान जीवन-क्षेत्र तथा वैज्ञानिक क्षेत्रोंमें प्रवेश पानेके लिये यह आवश्यक है कि माध्यमिक विद्यालयोंमें अनेक प्रकारके पाठ्यविषय अन्तर्भुक्त कर लिए जायँ। इन विषयोंको पढ़ानेके लिये स्थायी धनकी आवश्यकता भी होगी जिसका भार सरकार ही उठा सकती है, लोक-संस्थाएँ नहीं।

२. सब विद्यालयोंमें शिक्षाशास्त्रज्ञ तथा योग्य अध्यापकोंकी माँग बढ़ती जा रही है और यह माँग तबतक पूरी नहीं हो सकती जबतक अध्यापकोंको किसी प्रकारका आर्थिक प्रलोभन न हो। उस प्रलोभनकी पूर्ति भी सरकार ही कर सकती है।

३. स्वास्थ्य-विज्ञानके अध्ययनने स्पष्ट कर दिया है कि विद्यालयका जीवन अधिक स्वस्थ वातावरणमें चलना चाहिए। इसका तात्पर्य यह है कि विद्यालयोंमें शारीरिक शिक्षाके लिये पर्याप्त व्यवस्था हो। इसके लिये भी अधिक धन चाहिए और यह भार भी सरकार ही ले सकती है।

४. स्वल्प आयके मध्यम श्रेणीके लोग कम शुल्क देकर अपने बच्चोंको श्रेष्ठतम शिक्षा दिलाना चाहते हैं। यह भी तबतक सम्भव नहीं है जबतक सरकार स्वयं यह भार अपने सिरपर न ले ले।

५. अतः, यह आवश्यक समझा जाता है कि विद्यालयोंकी परीक्षा-प्रणालीका आद्यन्त सुधार किया जाय और यह सुधार तबतक सम्भव नहीं है जबतक कि निरीक्षणका भार सरकार अपने ऊपर न ले ले।

इन कारणोंसे अब माध्यमिक शिक्षा लोक-चालित प्रयासोंके हाथसे मुक्त करके सरकारी हाथमें ले ली जाती है।

८

विश्वविद्यालयोंका विकास

कलकत्तेकी शिक्षा-समिति (कैलकटा काउंसिल औफ़ एजुकेशन) ने सन् १८४५ में सर्वप्रथम भारतमें विश्वविद्यालय स्थापित करनेका जो प्रस्ताव किया था उसे सन् १८५४ में पार्लियामेण्टकी स्वीकृति मिल पाई। १८५४ के 'वुडके नीतिपत्र' में भी विशेष रूपसे उसका उल्लेख किया गया और तदनुसार सन् १८५७ में कलकत्ता, बम्बई और मद्रासके तीन प्रान्त नगरोंमें लन्दन विश्वविद्यालयके आदर्शपर तीन विश्वविद्यालय खोल दिए गए। ये विश्वविद्यालय परीक्षाओंमें सम्मिलित होनेवाले परीक्षार्थियोंकी परीक्षा भी लेते थे और परीक्षार्थी तैयार करनेवाले विद्यालयोंको सम्बद्ध भी करते थे अर्थात् ये विश्वविद्यालय परीक्षाकारी और सम्बन्धकारी (ऐग्ज़ामिनिंग ऐंड ऐफ़िलिएटिंग) दोनों थे।

विश्वविद्यालयोंके प्रकार

आजकल जितने विश्वविद्यालय हैं, वे तीन प्रकारके हैं—

१. परीक्षाकारी और सम्बन्धकारी (ऐग्ज़ामिनिंग ऐंड ऐफ़िलिएटिंग) : जो परीक्षा भी ले और परीक्षार्थी तैयार करनेवाले विद्यालयोंको सम्बद्ध भी करे।

२. संघ-विश्वविद्यालय (फ़ीडरल युनिवर्सिटी) : जो परीक्षा भी लेता हो, सम्बद्ध भी करता हो, शिक्षा भी देता हो एवं जिसके विभिन्न अंगभूत विद्यालय, अन्तर्विद्यालय शिक्षा-प्रणालीसे, शिक्षण-कार्यमें सहयोग भी देते हों। इस प्रकारके संघ-विश्वविद्यालयोंसे सम्बद्ध प्रत्येक विद्यालय साझी या साथी समझा जाता है और उसके प्रतिनिधि विश्वविद्यालयके व्यवस्था-मण्डलोंके सदस्य रहते हैं। इन सम्बद्ध विद्यालयोंको अपना पाठ्यक्रम बनाने और अपना शिक्षण-क्रम व्यवस्थित करनेकी पूरी स्वाधीनता रहती है।

३. सावास विश्वविद्यालय (रेज़िडेन्शल या यूनिटरी टीचिंग यूनिवर्सिटी) : सावास विश्वविद्यालयसे कोई भी विद्यालय सम्बद्ध नहीं होता। उसमें पढ़ाईकी व्यवस्थाके लिये विभिन्न विषयोंके विभिन्न विभाग होते हैं। पीछे चलकर कुछ सावास विश्वविद्यालयोंसे नीतितः कुछ विद्यालय सम्बद्ध कर दिए गए किन्तु उनकी मूल प्रकृति सावास विश्वविद्यालयकी ही बनी रही। इन सभी सावास विश्वविद्यालयोंमें काशी हिन्दू विश्वविद्यालय सबसे भिन्न रहा जिसमें विभाग भी रहे, अपने विद्यालय भी रहे और प्रारम्भिक शिक्षासे लेकर उच्चतम शिक्षाकी व्यवस्था भी बनी रही।

भारत सरकारको परीक्षाकारी (एग्ज़ामिनिंग) विश्वविद्यालय स्थापित करना अधिक उपयुक्त प्रतीत हुआ क्योंकि बिना हर्रें-फिटकरी लगाए चोखा रंग लाना अन्य किसी प्रकार सम्भव नहीं था। सन् १८५७ से लेकर आजतक इस प्रकारके विश्वविद्यालय भारतकी उच्च शिक्षाके शिक्षा-विकासमें जहाँ महत्त्वपूर्ण भाग लेते रहे वहाँ इन विश्वविद्यालयोंमें होनेवाले भ्रष्टाचारोंका परिमाण भी इतना बढ़ा कि चारों ओरसे उनकी तीव्र आलोचना होने लगी।

सन् १८८२ ई० में जब शिक्षा-कमीशन बैठा और लौर्ड रिपनने देखा कि विश्वविद्यालयोंकी संख्या कम है तो सन् १८८२ ई० में उसने लाहौरमें एक विश्वविद्यालय स्वयं स्थापित किया और सन् १८८७ ई० में उसके उत्तराधिकारी लौर्ड लिटनने प्रयाग विश्वविद्यालय स्थापित कर दिया।

सन् १९०२ का विश्वविद्यालय समीक्षण-मण्डल

इन सब परिस्थितियोंने स्पष्ट कर दिया कि विश्वविद्यालय-प्रणालीका आद्यन्त परिष्कार होना चाहिए और इसीलिये सन् १९०२ में श्री टी. रैलेकी अध्यक्षतामें विश्वविद्यालय-समीक्षण-मण्डल (यूनिवर्सिटी कमीशन) की स्थापना की गई जिसके अन्य प्रमुख सदस्योंमें सर गुरुदास बनर्जी और नवाब सैयद हुसेन बिलग्रामी भी थे।

इस मण्डलने पाँच सुझाव दिए—

क. विश्वविद्यालयोंकी व्यवस्था-पद्धतिका पुनः संघटन किया जाय।

ख. विश्वविद्यालयोंसे सम्बद्ध विद्यालयोंका अत्यन्त कठोर और

नियमित निरीक्षण किया जाय और सम्बद्धताके अभिसंधानोंका अत्यन्त कड़ाईके साथ पालन कराया जाय।

ग. छात्रोंके निवास और अध्ययनकी परिस्थितियोंपर अत्यन्त सूक्ष्म ध्यान दिया जाय।

घ. निश्चित सीमातक विश्वविद्यालयोंमें शिक्षणका कार्य किया जाय।

ङ. परीक्षा-प्रणाली और पाठ्यक्रममें महत्त्वपूर्ण परिवर्त्तन किए जायँ।

सन् १९०४ में जब विश्वविद्यालय-विधान (यूनिवर्सिटी ऐक्ट) बना तब इन उपर्युक्त सुझावोंमेंसे प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ तो उसमें सम्मिलित कर लिए गए और शेष तृतीय तथा पंचम सुझाव विस्तृत नियमोंमें डालनेके लिये रख छोड़े गए।

विश्वविद्यालयोंकी शासन-व्यवस्था

सन् १९०४ के विश्वविद्यालय-विधानके अनुसार सभी विश्वविद्यालयोंके शासन-स्वरूपमें परिवर्त्तन हो गया और निम्नलिखित व्यवस्था कर दी गई—

१. सीनेट या महासभा : विश्वविद्यालय-व्यवस्थाकी सबसे ऊँची शासन-सभा सीनेटके सब सदस्य पहले जीवन-भरके लिये चान्सलर-द्वारा मनोनीत किए जाते थे और प्रायः प्रान्तपति ही चान्सलर होते थे। इस महासभामें अध्यापकोंका कोई प्रतिनिधित्व नहीं था और इसीलिये लोग इन विश्वविद्यालयोंका प्रयोग अपने राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्त्तिके लिये करने लगे थे। किन्तु इस नये विधानके द्वारा प्राचीन सदस्योंकी संख्या कम कर दी गई और प्राध्यापकोंको भी प्रतिनिधित्व दे दिया गया।

२. पहले सब सम्बद्ध विद्यालयोंको सभी विषय पढ़ानेकी छूट थी किन्तु इस विधानके पश्चात् प्राध्यापकोंकी योग्यता तथा अन्य आवश्यक उपादानोंकी परीक्षा करके केवल उन्हीं विद्यालयोंको उतने ही विषय पढ़ानेकी आज्ञा विश्वविद्यालय देने लगा जिनके उचित शिक्षणके सम्बन्धमें विश्वविद्यालयोंको पूर्ण विश्वास हो जाता था।

३. अनेक विद्यालयोंके साथ छात्रावास संलग्न कर दिए गए और सावास प्रणाली प्रारम्भ कर दी गई। छात्रावासोंमें रहनेवाले विद्यार्थियोंके लिये

अनेक प्रकारके प्रतिबन्ध लगा दिए गए क्योंकि उन दिनों अन्य नैतिक कारणोंके साथ-साथ बंग-भंगके विक्षोभसे उत्पन्न स्वदेशी आन्दोलन भी विराट् रूप धारण कर चुका था।

४. विभिन्न विश्वविद्यालयोंने योरोपीय विश्वविद्यालयोंके अनेक प्रसिद्ध और लोकविश्रुत प्राध्यापकोंको विशिष्ट विषयोंपर व्याख्यान देनेके लिये निमंत्रित किया।

५. इन परिवर्त्तनोंके कारण विज्ञान भी प्रमुख रूपसे पाठ्यक्रममें आकर जम गया।

सन् १९०२ के विश्वविद्यालय-समीक्षण-मण्डलने यद्यपि अत्यन्त सावधानीके साथ विश्वविद्यालयकी सभी बुराइयाँ दूर करनेका प्रयत्न किया फिर भी निम्नांकित बातोंके सम्बन्धमें मण्डलने विशेष ध्यान नहीं दिया—

क. प्राध्यापकोंके उचित वेतन-मान और उपयुक्त सेवा-अवधिकी निश्चिन्तता (सिक्योरिटी ऑफ़ सर्विस ऐंट टिन्योर) के सम्बन्धमें।

ख. विभिन्न विद्यालयोंमें पढ़ाए जानेवाले विषयोंके आवश्यक सहयोगके सम्बन्धमें, जिससे निरर्थक व्यय कम होता और उनकी श्रेष्ठता बढ़ती।

ग. विश्वविद्यालयको शिक्षा-संघ बना देनेका सिद्धान्त मान लेनेपर भी यह मण्डल यही मानता रहा कि हमें बी. ए. की कक्षासे नीचेकी शिक्षामें किसी प्रकारका हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। सच पूछिए तो इन विद्यालयोंमें शिक्षाकी व्यवस्था हो जानेसे ही बी. ए. से नीचेकी कक्षाओंपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा क्योंकि विश्वविद्यालयोंमें जो शिक्षाकी व्यवस्था हुई वह पर-स्नातक (पोस्ट ग्रेजुएट) वर्गोंके लिये ही की गई। इस प्रकार वास्तवमें उचित विश्वविद्यालय-शिक्षाका संघटन ठीक-ठीक नहीं हो पाया क्योंकि हाई स्कूलकी शिक्षाका कोई उचित सम्बन्ध विश्वविद्यालयकी शिक्षासे स्थापित नहीं किया गया।

इस प्रकार छात्र बढ़े, प्राध्यापक बढ़े, विद्यालय बढ़े और इन सबको सुसंघटित करके इस सेनाकी परीक्षा लेनेकी शिरःपीड़ा भी बढ़ती चली गई।

फलतः, अगले बीस वर्षोंमें लोग इस परिपाटीसे भी ऊब गए और अनुभव करने लगे कि विश्वविद्यालय-शिक्षाका पुनः संघटन अवश्य होना चाहिए।

हिन्दू विश्वविद्यालय

सन् १६०४ ई० में काशीमें मालवीयजीने हिन्दू विश्वविद्यालयका पहले-पहल सविवरण प्रस्ताव रक्खा और दिसम्बरमें काशीकी राष्ट्रीय महासभाके अवसरपर श्री बी. एन० महाजनीके सभापतित्वमें १ जनवरी सन् १६०६ ई० को वहीं कांग्रेसके पण्डालमें हिन्दू विश्वविद्यालय स्थापित करनेकी घोषणा कर दी गई।

सन् १६११ ई० में हिन्दू यूनिवर्सिटी सोसाइटीकी रजिस्टरी हुई। इसके एक वर्ष पश्चात् ही भारतके राष्ट्र-मन्त्रीने लार्ड हार्डिञ्जकी सम्मतिसे 'सावास विश्वविद्यालय' स्थापित करनेकी स्वीकृति दे दी। पहली अक्तूबर सन् १६१५ ई० को 'हिन्दू विश्वविद्यालय बिल' धारा-सभामें स्वीकृत हो गया। और तत्कालीन गवर्नर-जनरल तथा वाइसराय लौर्ड हार्जिने ४ फ़रवरी सन् १६१६ को इस विश्वविद्यालयका शिलान्यास किया।

सैडलर समीक्षण-मण्डल [१६१७]

विश्वविद्यालयोंकी ह्रासोन्मुख दशासे संक्षुब्ध होकर जनताने विश्वविद्यालयोंके विरुद्ध जो पुकार मचाई उसके परिणाम-स्वरूप भारत-सरकारकी ओरसे सर माइकेल सैडलरकी अध्यक्षतामें कलकत्ता-विश्वविद्यालयकी शिक्षा-पद्धतिका समीक्षण करनेके लिये सन् १६१७ ई० में एक मण्डल नियुक्त हुआ।

सन् १६१६ के मार्चमें इस मण्डलने विश्वविद्यालय और माध्यमिक शिक्षाके पारस्परिक सम्बन्धका भी विवेचन किया और यह विचार किया कि व्यावसायिक और वैज्ञानिक विद्यालयोंपर विश्वविद्यालयकी शिक्षाका क्या प्रभाव पड़ सकता है या क्या सहयोग प्राप्त हो सकता है। इस मण्डलने जो विवरण प्रस्तुत किया है वह भारतकी माध्यमिक तथा उच्चतर शिक्षाका सबसे अधिक विस्तृत तथा प्रामाणिक समीक्षण माना जाता है।

मण्डलका निष्कर्ष

मण्डलने प्रारम्भमें ही स्पष्ट रूपसे घोषित किया कि जबतक विश्व-विद्यालयोंकी आधारशिला (माध्यमिक शिक्षा) में ही आमूल परिवर्त्तन और सुधार नहीं हो जाते तबतक सामान्यतः सभी विश्वविद्यालयोंकी और विशेषतः कलकत्ता-विश्वविद्यालयकी व्यवस्थाका सन्तोषजनक संघटन नहीं हो सकता।

माध्यमिक शिक्षाके दोष गिनाते हुए मण्डल कहता है कि माध्यमिक शिक्षाका—

१. शिक्षा-मान (स्टैंडर्ड) अत्यन्त निम्न कोटिका, अनियमित और अल्पज्ञ अध्यापकों-द्वारा संचालित है।

२. शिक्षण-साधन अत्यन्त अपर्याप्त हैं। विज्ञान, भूगोल, हस्तकौशल आदि आधुनिक विषयोंके शिक्षणके लिये इनमें व्यापक दारिद्र्य है।

३. सार्वजनिक परीक्षाओं (पब्लिक ऐग्ज़ामिनेशन्स) के लिये सारी शक्ति लगा देनेके कारण शिक्षा अत्यन्त संकुचित हो गई है।

४. निरीक्षण करने, निर्देश करने और सहायता देनेके उचित प्रबन्धका अभाव है।

५. अधिकांश भाग जो विद्यालयोंमें पढाना चाहिए वह विश्वविद्यालयके महाविद्यालयोंमें पढ़ाया जाता है, जैसे इन्टरमीजिएटमें पढ़ाया जानेवाला पाठ्य-क्रम वास्तवमें स्कूलका ही काम है, जो कौलेज-प्रणालीसे पढ़ाया जा रहा है और इसीलिये वह असफल भी हो रहा है। इस श्रेणीके लिये जो साहित्य रचा जा रहा है वह भी अत्यन्त अनुपयुक्त है।

कहनेका तात्पर्य यह है कि माध्यमिक शिक्षा-प्रणाली इतनी अपूर्ण, सदोष और निम्न कोटिकी है कि जो लोग वास्तवमें शिक्षित होना चाहते हैं उन्हें विवश होकर विश्वविद्यालयोंकी शरण लेनी पड़ती है। यह मार्ग उन निरीह व्यक्तियोंको भी ग्रहण करना पड़ता है जिनकी प्रवृत्ति और रुचि विश्व-विद्यालयमें पढ़ाए जानेवाले किसी भी विषयसे मेल नहीं खाती।

इन परिस्थितियोंको ध्यानमें रखते हुए केवल विश्वविद्यालयके सुधारके ही लिये नहीं वरन् वास्तविक राष्ट्रीय विकासके लिये भी माध्यमिक शिक्षामें आमूल

सुधार आवश्यक है। अतः, 'इण्टरमीजिएट शाखाको विश्वविद्यालयोंसे हटा दिया जाय और विश्वविद्यालयोंमें प्रवेश पानेकी अवस्था मैट्रिक परीक्षाके पश्चात् होनेके बदले वर्त्तमान इण्टरमीजिएटकी परीक्षाके पश्चात् हो।'

इस प्रस्तावका ध्यान रखते हुए कमीशनने निम्नलिखित सुझाव उपस्थित किए —

१. ऐसे इण्टिरमीजिएट कौलेज खोले जायँ जिनमेंसे कुछको तो चुने हुए हाई स्कूलोंके साथ सम्बद्ध कर दिया जाय और शेषको अलग संस्थाके रूपमें चलाया जाय। बी० ए० की पाठावधि दो बरसके बदले तीन बरस कर दी जाय।

२. इन्टरमीजिएट विद्यालयोंके पाठ्यक्रम इस प्रकार बनाए जायँ कि वे बी० ए० कक्षाओंके शास्त्र (आर्ट्स), विज्ञान, आयुर्वेद (डाक्टरी), यन्त्रशिल्प (एञ्जिनियरिंग) वाणिज्य तथा व्यवसायका पाठ्यक्रमोंको पूर्ण कर दें अर्थात् इण्टरमीजिएटकी अवस्थामें ही बालकोंको विभिन्न विषयोंका इतना ज्ञान करा दिया जाय कि वे यदि विश्वविद्यालयकी शिक्षा प्राप्त करनेके लिये उत्सुक या समर्थ न हों तब भी वे जीवनके विभिन्न क्षेत्रोंमें प्रविष्ट होकर कुशलताके साथ कार्य-सञ्चालन कर सकें।

३. इस व्यवस्थाके लिये वर्त्तमान शिक्षा-विभागका भी इस प्रकार पुनः संस्कार किया जाय कि विद्यालय-प्रणाली भली प्रकार व्यवस्थित की जा सके। इस उद्देश्यको सिद्ध करनेके लिये एक 'माध्यमिक तथा अन्तरिम शिक्षा-मण्डल' (बोर्ड औफ़ सेकेण्डरी ऐण्ड इन्टरमीजिएट एजुकेशन) बने, जिसमें केवल सरकारी अधिकारी, शिक्षासे संबद्ध लोग तथा विभिन्न धर्मोंके प्रतिनिधि ही न रहें वरन् वाणिज्य, कृषि और आयुर्वेदादि व्यवसायोंको भी उचित प्रतिनिधित्व मिले। इस प्रकार संघटित मण्डलका कार्य यह हो कि वह हाइ स्कूल और इण्टरमीजिएट कौलेजोंके लिये पाठ्यक्रम निश्चित करे, माध्यमिक और इण्टर-मीजिएट शिक्षाकी आवश्यकताओंकी ओर सरकारका ध्यान दिलावे और वार्षिक व्ययसीमा (बजट) के भीतर ही विभिन्न विद्यालयोंको आर्थिक सहायता बँटवानेकी व्यवस्था करे।

४. एक केन्द्रीय शिक्षण-विश्वविद्यालय (सेण्ट्रलाइज़्ड टीचिंग यूनिवर्सिटी) स्थापित किया जाय।

उस समयतक जितने भी विश्वविद्यालय थे, वे सम्बन्धकारी थे और इसीलिये उस प्रणालीमें बहुत-सा कार्य दरिद्र प्रकारसे तथा निरर्थक रूपसे अनेक विद्यालयोंमें दुहराया-तिहराया जाता था। जिन विद्यालयोंको विश्व-विद्यालय संबद्ध कर लेता था उनके अतिरिक्त शेष सब निरर्थक ही बने रहते थे। इसलिये मण्डलने यह प्रस्ताव किया कि 'यह केन्द्रीय विश्वविद्यालय सब विषयोंके अध्यापनका कार्य करे' अर्थात् 'एकत्र शिक्षण विश्वविद्यालय' (यूनिटरी टीचिंग यूनिवर्सिटी) हो, जहाँ विश्वविद्यालयके आचार्योंद्वारा विश्वविद्यालयकी ओरसे सब विषयोंकी नियमित शिक्षा दी जाय। इसीके साथ-साथ ये विश्व-विद्यालय सावास (रेज़ीडेन्शल) हों। इसके आवास कुछ तो ऐसे बड़े खण्डोंमें हों जिन्हें भवन (हौल) कहा जाय, कुछ छोटे खण्डोंमें हों जिन्हें छात्रावास (होस्टल) कहा जाय। सम्पूर्ण शिक्षण-कार्य, विभागोंके रूपमें व्यवस्थित किया जाय और प्रत्येक विभाग ऐसे उत्तरदायी अध्यक्षके अधीन हो जो उस विषयके सब क्षेत्रोंके शिक्षणकी पूरी व्यवस्था कर सके।

५ जहाँतक शासन-व्यवस्थाकी बात है, इस सम्बन्धमें प्राचीन प्रणाली तोड़कर एक पूर्णकालिक कुलपति नियुक्त किया जाय और वर्तमान कार्य-कारिणी तथा शिक्षण-व्यवस्था-समितियाँ तोड़कर नई समितियाँ स्थापित की जायँ, अर्थात् वर्त्तमान सीनेट तोड़ दिया जाय जिसमें केवल शिक्षण-सम्बन्धी प्रश्नोंका ही नहीं, वरन् विश्वविद्यालयके नीति-सम्बन्धी प्रश्नोंका भी समाधान किया जाता है। इसके बदले दो परिषदें बना दी जायँ——१. अत्यन्त विस्तृत प्रतिनिधित्वसे युक्त महासभा (कोर्ट), जो नीति निर्धारित करे और २. शिक्षण-व्यवस्थापिका परिषद् (एकेडेमिक कौन्सिल), जिसे अर्थ-सम्बन्धी और शासन-सम्बन्धी सब कर्त्तव्य और अधिकार सौंप दिए जायँ।

परिणाम

इस विवरणके प्रकाशित होनेके पश्चात् भी जो अनेक विश्वविद्यालय स्थापित

हुए उनमेंसे कुछ तो पुरानी लकीर पीटते हुए सम्बन्धकारी ही बने रहे और कुछ शिक्षणकारी अथवा अर्धशिक्षणकारी रूपमें चलाए जाते रहे। भारतवर्षमें इस समय निम्नलिखित विश्वविद्यालय केवल सम्बन्धकारी हैं—कलकत्ता, बम्बई, मद्रास, पंजाब, पटना, नागपुर, आगरा, कटक (उत्कल), अहमदाबाद (गुजरात), पूना, गौहाटी, कश्मीर, बड़ोदा, तिरुवरांकूर (त्रावङ्कोर) आन्ध्र और राजपूताना (जयपुर)। इनमेंसे पटना और नागपुरमें शिक्षण भी होता है।

निम्नलिखित विश्वविद्यालय शिक्षादातृ-श्रेणीके हैं जहाँ सावास शैलीसे शिक्षाका विधान किया जाता है—काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय, अलीगढ़ मुसलिम विश्वविद्यालय, प्रयाग, लखनऊ, रुड़की (एञ्जिनियरिंग), दिल्ली (सम्बन्धकारी भी), सागर, शान्ति-निकेतन, हैदराबाद, अन्नामलाइ और मैसूर।

भारतकी पाकिस्तानी सीमामें दो विश्वविद्यालय हैं – कराँची और ढाका।

इन नये विश्वविद्यालयोंकी स्थापनाके फलस्वरूप पारस्परिक सम्पर्कके उद्देश्यसे सन् १९२४ में एक अन्तर्विश्वविद्यालय-मंडल (इंटर-यूनिवर्सिटी बोर्ड) बना दिया गया।

६

हारटोग शिक्षा-समिति

सन् १९२८ में साइमन-मण्डल (साइमन कमीशन) के नामसे जो भारतीय वैधानिक मण्डल (इण्डियन स्टैचुटरी कमीशन) नियुक्त किया गया उसने मई सन् १९२८ में भारतीय शिक्षाके सम्बन्धमें विस्तृत विवरण प्रस्तुत करनेके लिये एक शिक्षासमिति नियुक्त की जिसके अध्यक्ष थे सर फ़िलिप हारटोग । इस समितिको शिक्षाके सम्पूर्ण क्षेत्र तथा उसकी विभिन्न शाखाओंका व्यापक परीक्षण करनेके साथ-साथ यह भी काम सौंपा गया कि राजनीतिक और वैधानिक परिस्थितियोंको दृष्टिमें रखकर ऐसे व्यापक विकासके साधन सुझावे जिससे ब्रिटिश भारतमें शिक्षा और उसकी व्यवस्थाका उचित संघटन किया जा सके ।

उद्देश्य

इस समितिने स्पष्ट रूपसे निर्देश किया कि शिक्षाका कार्य है जनताको ऐसी नागरिकताकी शिक्षा देना जिससे जनता विवेकके साथ अपना प्रतिनिधि चुन सके, मतदानकी प्रणाली समझ सके और कुछ लोगोंको नेतृत्व करनेकी शिक्षा दे सके । अतः इस समितिने लगभग डेढ वर्षतक शिक्षाकी समस्याओंपर विचार करके सितम्बर सन् १९२९ में यह निष्कर्ष निकाला कि—

१. प्रारम्भिक विद्यालयोंमें विद्यार्थियोंकी बढ़ती हुई संख्या यह घोषित करती है कि प्रारम्भिक शिक्षाके प्रति लोगोंकी जो दुर्भावनाएँ थीं वे अब दूर होती चली जा रही हैं यहाँतक कि अब तो लोग स्त्री-शिक्षा और सामाजिक सुधारके लिये भी अत्यन्त उत्सुक प्रतीत हो रहे हैं।

२. यह सब होते हुए भी सम्पूर्ण प्रारम्भिक शिक्षा-प्रणालीमें नीरसता और अपचय या अपनयन (वेस्टेज अर्थात् पाठ्यक्रम पूरा होनेसे पूर्व किसी भी

समय बच्चोंको स्कूलसे हटा लेनेकी वृत्ति) व्याप्त है। जनतामें इतनी साक्षरता और समर्थता नहीं है कि वे विवेकके साथ अपना प्रतिनिधि चुननेके लिये मतदान कर सकें। जिस अनुपातसे प्ररम्भिक पाठशाएँ बढ़ रही हैं, उस अनुपातसे साक्षरताका विकास नहीं हो रहा है क्योंकि प्रारम्भिक पाठशालाओंमें पढ़नेवाले बहुत थोड़े बालक चौथी श्रेणीतक पहुँच पाते हैं।

३. जिस वेग और संख्यामें बालक शिक्षा प्राप्त करते जा रहे हैं उस वेग और संख्यामें बालिकाएँ अग्रसर नहीं हो रही हैं।

४. माध्यमिक शिक्षाके क्षेत्रकी कुछ दिशाओंमें, विशेषतः अध्यापकोंकी दशामें, तो बहुत ही सुधार हुआ है। विद्यालयोंमें अधिकाधिक प्रशिक्षित अध्यापक नियुक्त किए जा रहे हैं और विद्यालय-जीवनकी सामान्य प्रवृत्तियोंमें भी विशेष विस्तार हो रहा है। किन्तु संपूर्ण माध्यमिक शिक्षा आज भी इस आदर्शपर चलाई जा रही है कि माध्यमिक शिक्षामें प्रविष्ट होनेवाला प्रत्येक छात्र विश्वविद्यालयके लिये तैयार किया जाय। मैट्रिकुलेशन परीक्षा तथा अन्य सार्वजनिक परीक्षाओंमें जो भयानक संख्यामें छात्र अनुत्तीर्ण हो रहे हैं वे इस बातके प्रमाण हैं कि शिक्षाकी अधिकांश शक्तिका अपव्यय ही हो रहा है। व्यावसायिक तथा विशेष वृत्तियोंकी शिक्षाका हमारी शिक्षा पद्धतिसे कोई सम्बन्ध नहीं है और इसीलिये उसका कोई सफल परिणाम नहीं निकल रहा है। बहुतसे विद्यालयों और विश्वविद्यालयोंने अपनी मौलिकताओं और शिक्षापद्धतियोंमें विशेष चमत्कार और विकास प्रदर्शित किया है। उनमेंसे अधिकांशमें पहलेकी अपेक्षा अधिक सहयोगपूर्ण जीवनकी शिक्षा दी जा रही है। किन्तु आज भी हमारे विश्वविद्यालय केवल विद्यार्थियोंको परीक्षाओंमें उत्तीर्ण करानेके उद्देश्यसे स्थापित हैं जिनमेंसे अधिकांश छात्र ऐसे हैं जो विश्वविद्यालयोंकी शिक्षाके लिये तो अत्यन्त अयोग्य हैं किन्तु जीवनके दूसरे क्षेत्रोंमें पहुँचकर अधिक सफल हो सकते हैं।

५. शिक्षाकी नीति ऐसी सुसंचालित होनी चाहिए कि सब प्रकारका (शक्ति, समय, धन और श्रमका) अपव्यय रोका जा सके।

६. हमने यह परिणाम निकाला है कि शिक्षाकी व्यवस्थापर पुनः विचार

होना चाहिए। वास्तवमें यह केन्द्रीय सरकारका ही कर्त्तव्य है कि वह सम्पूर्ण भारतवर्षकी शिक्षा-सम्बन्धी सूचनाओंकी केन्द्र-भूमि बने और विभिन्न प्रान्तोंके शिक्षा-सम्बन्धी अनुभवोंके सम्यक संयोगकी स्थली बने।

प्रान्तीय सरकारोंका कर्तव्य है कि वे स्थानीय संस्थाओं (नगरपालिकाओं और जनपद-मण्डलों) पर प्रान्तीय मन्त्रियों-द्वारा अधिक नियन्त्रण रक्खें। निरीक्षण-अधिकारियोंकी संख्या बढ़ाई जाय और बालकोंकी शिक्षाकी अपेक्षा कन्याओंकी शिक्षापर अधिक ध्यान दिया जाय।

उत्तरप्रदेशकी सरकारका निश्चय

युक्तप्रान्त (उत्तर प्रदेश) की सरकारने साइमन शिक्षासमितिके सुझावोंके आधारपर ८ अगस्त सन् १९३४ को अपनी शिक्षा-नीतिमें निम्नलिखित परिवर्त्तन घोषित किया—

१. हाई स्कूलकी पाठनावधि एक वर्ष कम कर दी जाय।

२. सब विषयोंके शिक्षणका माध्यम मातृभाषा हो जाय।

३. इण्टरमीजिएटकी पाठनावधि एक वर्ष बढ़ा दी जाय जिससे वह स्वयं अपनेमें पूर्ण हो जाय।

४. इस पाठनावधिका नाम उच्चतर प्रमाणावधि (हायर सर्टिफ़िकेट कोर्स) रक्खा जाय और यह चार रूपोंमें चलाई जाय—

क. वाणिज्य-परक (कौमर्शल)

ख. व्यवसाय-परक (इण्डस्ट्रियल)

ग. कृषि-परक (ऐग्रिकल्चरल)

घ. शास्त्र तथा विज्ञान (आर्ट्स ऐण्ड साइन्स) पढ़ानेवाली।

देखनेको तो यह चार रूपोंमें है पर है द्विमुखी ही। इनमेंसे एक तो वाणिज्य, व्यवसाय और कृषिके पाठ्यक्रममें पूर्णता प्राप्त करनेका प्रमाण देनेवाली है और दूसरी वह है जिसके द्वारा शास्त्र और विज्ञानका अध्ययन करके विश्वविद्यालयमें प्रविष्ट होकर शिक्षा चलाते रहनेकी योग्यताका प्रमाणपत्र प्राप्त हो।

५. माध्यमिक विद्यालयोंकी निम्नतर कक्षाओंमें हस्त-कौशल तथा

कारीगरीके विषय भी प्रारम्भ कर दिए जायँ जिससे छात्रोंकी क्रिया-वृत्तिका परीक्षण हो सके और उनमें स्वतन्त्र व्यावसायिक कार्य करनेकी प्रवृत्ति प्रारम्भसे ही उद्बुद्ध होती चले।

सप्रू बेकारी-समिति

युक्त-प्रान्त (उत्तर प्रदेश) के समन्त्रिमण्डल गवर्नरने ५ अक्तूबर सन् १९३४ को शिक्षित युवकोंमें फैली हुई बेकारीकी जाँच करने तथा उसे दूर करनेके व्यावहारिक सुझाव देनेके लिये सर तेजबहादुर सप्रूकी अध्यक्षतामें एक समिति नियुक्त की जिसने शिक्षा-प्रणाली और बेकारीके पारस्परिक सम्बन्धकी परीक्षा करके यही निष्कर्ष निकाला कि—

१. माध्यमिक शिक्षाका लक्ष्य स्पष्ट नहीं है इसलिये अधिकांश विद्यार्थी भावी वृत्ति निर्धारित किए बिना ही स्कूलमें पढ़ने लगते हैं।

२. विभिन्न नौकरियोंमें परीक्षाका प्रमाणपत्र ही प्रामाणिक माना जाता है इसलिये परीक्षामें उत्तीर्ण होना ही सबका लक्ष्य होता है।

३. छात्रोंके अभिभावक भी नौकरीके लिये ही अपने पुत्रोंको पढ़ाते हैं।

४. माध्यमिक शिक्षामें ऐसा कोई पाठ्यक्रम नहीं है जिसके आधारपर बालक अपना भावी जीवन-क्रम स्थिर कर सकें।

५. बालकोंमें प्रत्येक छोटे-से-छोटे व्यवसायका सम्मान करनेकी वृत्तिका अभाव है।

इस समितिने सुझाव दिया कि विद्यालयोंमें शिक्षा अधिक व्यावहारिक हो, छात्रोंकी भावी वृत्ति पहले ही निश्चित हो जाय, पाठ्यक्रममें ऐसे विषय रक्खे जायँ जिनका भावी जीवनमें उपयोग किया जा सके और उनमें ऐसी वृत्ति जगाई जाय कि वे छोटे-छोटे व्यवसायको भी बुरा न समझें।

परीक्षाकी परीक्षा

सन् १९२६ में एक अन्तर्देशीय विद्यालय-परीक्षा-शोध समिति स्थापित हुई थी जिसने विश्वभरकी विभिन्न परीक्षा-प्रणालियोंकी परीक्षा की। सर फिलिप हारटोग तथा ई० सी० होड्सने उसका विवरण देते हुए अपनी 'परीक्षाओंकी

परीक्षा' पुस्तकमें स्पष्ट लिखा है कि 'परीक्षा-प्रणालियोंके कारण आज ज्ञान प्राप्त करनेकी प्रवृत्ति कम हो रही है, परीक्षा उत्तीर्ण करके नौकरी ढूँढ़नेकी अधिक। इससे शक्ति, समय, धन और श्रमका अपव्यय तो हो ही रहा है, साथ ही उससे ठीक परीक्षा भी नहीं हो पा रही है यहाँतक कि एक ही परीक्षार्थीको जहाँ एक परीक्षक उसी प्रश्नपर २७ अंक देता है वहीं दूसरा ८२ अंक देता है।'

इस परीक्षा-पद्धतिने कितने प्रकारकी हानि की है और कर रही है उसे हम इस प्रकार गिना सकते हैं—

१. छात्रोंमें ज्ञान प्राप्त करनेकी और जीवनमें उस ज्ञानका प्रयोग करनेकी प्रवृत्ति बन्द हो गई है।

२. सब नौकरीके लिये पढ़ते हैं इसलिये उनका उद्देश्य केवल उपाधि लेना भर रह जाता है।

३. परीक्षा उत्तीर्ण करनेके लिये परीक्षकपर दबाव डाला जाता है, घूस दी जाती है, कापी बदलवाई जाती है, बोलकर लिखवाया जाता है, प्रतिलिपि करनेको प्रोत्साहन दिया जाता है।

४. अध्यापकोंकी उन्नतिका आधार भी परीक्षा-फल बन गया है इसलिये वे भी ज्ञान-दानकी अपेक्षा परीक्षा उत्तीर्ण करनेका गुर बतानेमें ही अपनी शक्ति लगाते हैं।

किन्तु इन सब कारणोंके होते हुए भी किसीके कानोंपर जूँतक न रेंगी और परीक्षा-प्रणाली आज भी उसी भयंकरताके साथ चलती चली जा रही है।

———

१०

शिक्षामें नवीन प्रयोग

सन् १९३६-३७ में भारत सरकारने इँगलैण्डके दो प्रधान शिक्षा-शास्त्री ए. ऐबट और एस्. एच्० वुडको निमन्त्रण देकर भारतमें बुलवाया और उन्हें यह कार्य सौंपा कि भारतकी आर्थिक तथा शिक्षा सम्बन्धी परिस्थितियोंकी जाँच करके यह सुझाव दें कि भारतमें व्यावसायिक शिक्षाकी क्या सम्भावनाएँ हैं और वे सम्भावनाएँ किस प्रकार पूर्ण हो सकती हैं। इन लोगोंने भारतकी शिक्षा-व्यवस्थाका भली प्रकार निरीक्षण और परीक्षण करके सन् १९३७ के मई मासमें ये सुझाव दिए—

वुडका मत

१. शिशु-कक्षाएँ केवल महिलाओंके ही हाथमें रक्खी जायँ।

२. बालकोंके स्वाभाविक कुतूहलके विषयों और उनकी साधारण प्रवृत्तियोंके आधारपर ही बालकोंको शिक्षा दी जाय, पुस्तकोंके आधारपर नहीं।

३. पाठ्यक्रम पूर्णतः बालकोंके चारों ओरके वातावरणसे सम्बद्ध हो।

४. देशी भाषाओंके माध्यमसे ही सब विषयोंकी शिक्षा दी जाय किन्तु अँगरेज़ी अनिवार्य रहे ।

५. अँगरेज़ीकी शिक्षा घरेलू और व्यावहारिक अधिक हो, पण्डिताऊ कम।

७. शारीरिक शिक्षा भी केवल सैन्य-गति (ड्रिल) तक ही परिमित न रहे, वह और भी अधिक मनोरंजक और हितकर हो ।

८. कुछ ऐसे भी विद्यालय खोले जायँ जिनमें थोड़ेसे पाठ्यक्रमके साथ भावी वृत्तिके लिये तैयारी करनेकी शिक्षा दी जा सके।

९. विद्यालयोंका प्रबन्ध कठोरतापूर्वक शासित हो।

१०. विद्यालयोंके निरीक्षणका कार्य अधिक व्यवस्थित कर दिया जाय।

ऐबटका मत

१. प्रत्येक प्रान्तको अपने प्रान्तकी आवश्यकता, सुविधा और स्थितिके अनुसार वहाँको व्यावसायिक शिक्षाके प्रकारोंकी जाँच करके उनका स्वरूप निश्चित करना चाहिए।

२. दो प्रकारके विद्यालय खोले जायँ—१. साधारण, २. व्यावसायिक। देशकी व्यावसायिक तथा वाणिज्य-संस्थाओंसे भी शिक्षासंचालनमें पूर्ण सहयोग लिया जाय।

३. व्यावसायिक विद्यालयोंकी शिक्षाके अन्तिम दो वर्षोंमें व्यावसायिक आधार स्पष्ट करके तदनुसार शिक्षा दी जाय।

४. कुछ ऐसे पूर्वाभ्यास विद्यालय (प्री-एप्रेंटिस स्कूल्स) खोले जायँ जिनमें लोग भावी वृत्तिके लिये अभ्यास कर सकें।

५. व्यापार-विद्यालय खोले जायँ, जिनमें व्यापार करनेके सब विधान और कौशल सिखाए जायं।

६. चित्रकला आदि कलाओंकी शिक्षाका प्रबन्ध किया जाय।

७. व्यावसायिक विद्यालयोंमें ऐसी अल्पकालिक तथा अतिरिक्त कक्षाएँ प्रारम्भ की जायँ जहाँ अन्य स्थानोंमें काम करनेवाले कारीगर और कर्मकार भी आकर शिक्षा प्राप्त कर सकें।

८. सरकारको अपनी शिक्षा-पद्धतिका यह क्रम रखना चाहिए—

क. एक व्यावसायिक प्रशिक्षण-विद्यालय (वोकेशनल ट्रेनिंग कौलेज) खोला जाय जो अन्य प्रकारके प्रशिक्षण-विद्यालयों (ट्रेनिंग कौलेजों) के साथ मेल खाता चले।

ख. निम्न व्यावसायिक विद्यालय (जूनियर टेकनिकल स्कूल) खोले जायँ।

ग. उच्च व्यावसायिक विद्यालय (सीनियर टेकनिकल स्कूल) खोले जायँ।

घ. एक विद्यालय कला-कौशल और घरेलू उद्योग-धन्धोंकी शिक्षा देनेके लिये खोला जाय।

बहुशिल्प विद्यालय (पोलीटेकनिक इन्स्टीट्यूट)

इन सुझावोंके अनुसार दिल्लीमें एक प्रथम श्रेणीका बहुशिल्प विद्यालय (पौलीटेकनिक इंस्टीट्यूट) खोला गया जिसके दो विभाग हैं—एक निम्न विभाग और दूसरा उच्च विभाग। निम्न विभागका शिक्षाक्रम तीन वर्षका है। इस विद्यालयमें पुस्तकके ज्ञानतक ही शिक्षा परिमित नहीं है और रटनेकी वृत्ति भी कड़ाईसे रोकी जाती है। इसीलिये यहाँ पाठ्य-पुस्तकोंका अत्यन्त अभाव है। प्रत्येक मासके अन्तिम शनिवारको सब छात्र कोई न कोई मनोहर स्थान देखने निकल जाते हैं जहाँ वे कभी तो ऐतिहासिक भवनोंकी बनावट और कारीगरीका अध्ययन करते हैं और कभी जाकर ऐसी ही बातोंका ब्यौरा एकत्र करते हैं। यहाँके बच्चे समय-समयपर अखिल भारतीय आकाशवाणी (औल इण्डिया रेडियो) पर जाकर कुछ गाते बजाते, कहते-सुनते हैं अथवा निम्न-लिखित सुव्यसनोंमेंसे किसी-न-किसीमें उलझे रहते हैं—चित्र-ग्रहण, ज्योतिष, मानचित्र, गत्तेका काम, एकत्रीकरण (टिकट, सिक्के, चित्र आदि), भोजन बनाना, स्काउटिंग आदि। इनके अतिरिक्त नाटक, वाद-विवाद, संगीत-गोष्ठी, शारीरिक व्यायाम और खेलोंकी भी विस्तृत व्यवस्था है।

इस विद्यालयमें विज्ञान और ललितकला सिखानेके लिये भली प्रकार सुसज्जित प्रयोग-शालाएँ हैं। प्रत्येक छात्रको सप्ताहमें कुछ घण्टे यन्त्रशालामें काम करनेके लिये जाना ही पड़ता है।

उच्च विभाग

उच्च विभागमें बिजली तथा यान्त्रिक विज्ञान, वास्तुकला, प्रयोगात्मक विज्ञान तथा अन्य कलाओंकी शिक्षाके लिये उचित व्यवस्था है और सर्वसाधारणके लिये भी सन्ध्याको शिल्पकला सिखानेका प्रबन्ध किया गया है।

वर्धा शिक्षा-योजना

२२ और २३ अक्तूबर सन् १९३७ ई० को वर्धाके मारवाड़ी हाई स्कूल (अब नवभारत विद्यालय) के वार्षिकोत्सवके अवसरपर महात्मा

गाँधीके सभापतित्वमें भारतके शिक्षा-शास्त्रियोंकी एक सभा निमन्त्रित की गई जिसमें पहले पहल गाँधीजीने अपनी नवीन शिक्षा-योजना उपस्थित करते हुए कहा कि वर्त्तमान शिक्षा न तो किसी प्रकारकी जीविका-वृत्तिके लिये मार्ग प्रदर्शित करती, न इसमें किसी प्रकारके उत्पादनशील कार्यकी क्षमता ही है। इस शिक्षा-पद्धतिसे शारीरिक ह्रासके साथ-साथ नैतिक ह्रास भी होता है और जिन कर-दाताओंके धनसे यह पद्धति चलाई जा रही है उन्हें इसका तनिक भी प्रतिदान नहीं मिल रहा है। अतः, मैट्रिकुलेशनके मानतक ऐसी प्रारम्भिक शिक्षा अनिवार्य कर दी जाय जिसका आधार कोई जीविका-वृत्ति (कला-कौशल) हो और उच्चतर शिक्षाको लोगोंकी रुचि और शक्तिपर छोड़ दिया जाय।

योजनाके उद्देश्य, सिद्धान्त और अंग

यह शिक्षा-योजना भारतके चार कष्टोंको दूर करनेकी दृष्टिसे अपनाई गई—१. दरिद्रता, २. निरक्षरता, ३. परतंत्रता और ४. स्कूलोंकी नीरसता। यह प्रणाली चार मुख्य मानस-शास्त्रीय और सामाजिक सिद्धान्तोंपर अवलम्बित करके बनाई गई—१. स्वयंशिक्षा (औटो-एजुकेशन), २. करके सीखना (लर्निंग बाइ डुइंग), ३. आवयविक शिक्षा (सेन्स ट्रेनिंग) तथा ४. श्रमका आदर (डिग्निटी औफ़ लेबर)। इन्हें ध्यानमें रखते हुए इस प्रणालीके चार अंग निर्धारित किए गए—१. अनिवार्य शिक्षा, २. मातृ-भाषाके द्वारा, ३. किसी हस्तकौशलपर अवलम्बित तथा ४. स्वावलम्बी।

इसके लिये केवल वे ही हस्तकौशल शिक्षाके आधार बनाए गए जिनमें शिक्षाकी अधिकसे अधिक सम्भावनाएँ (मैक्सिमम एजुकेटिव पौसिबिलिटीज़) निहित हों अर्थात् जिनके आधारपर पाठ्यक्रमके सभी या अधिकसे अधिक विषय पढ़ाए जा सकें।

पाठ्य-विषय

पाठ्य-क्रममें निम्नलिखित विषय निर्धारित किए गए—मातृभाषा, हिन्दुस्तानी, व्यावहारिक गणित, सामाजिक अध्ययन (इतिहास, भूगोल

तथा नागरिक-शास्त्र), संगीत, हस्त-कौशल तथा व्यायाम। यद्यपि इस सूचीमें सभी उपयोगी विषयोंका समावेश तो हो गया किन्तु आधे समयमें हस्तकौशल और आधेसे कममें शेष अन्य विषय पढ़ाना उचित नहीं हुआ। शिमलेमें इस योजनाको सभाने निर्णय किया कि इस योजनाको स्वावलम्बी नहीं बनाया जा सकता। अतः, इसका चौथा अंग अलग कर दिया गया। फिर भी तीन घंटे बीस मिनटतक चरखा चलाते रहना या अन्य किसी हस्त-कौशलमें समय लगाते रहना अस्वाभाविक था। इसलिये उत्तर प्रदेशमें आधार-शिक्षा और मध्यप्रान्तमें विद्यामन्दिर-योजनाके नामसे जब वर्धा-प्रणाली चलाई गई तो उसमें हस्त-कौशलके दैनिक अभ्यासकी अवधि कम कर दी गई।

वर्धा शिक्षा-योजनामें परिवर्त्तन

गाँधीजीके सभापतित्वमें वर्धामें जो शिक्षा-योजना बनी उसमें चार मुख्य आधार माने गए थे—१. शिक्षा अनिवार्य हो, २. मातृभाषाके माध्यमसे हो, ३. किसी हस्त-कौशलपर अवलम्बित हो और ४. आत्म-निर्भर हो। किन्तु डाक्टर ज़ाकिर हुसैनकी अध्यक्षतामें जो समिति शिमलेमें बैठी उसने इसके चतुर्थ आधार 'आत्मनिर्भरता'को निकाल दिया। इस योजनाके मुख्य अनुयायियोंका विश्वास है कि 'आत्मनिर्भरता' ही वास्तवमें इस योजनाका मूल तत्त्व था जिसे अलग करके इस शिक्षाकी हत्या कर दी गई। सावास आश्रमों तथा त्यागी, देशभक्त, उदारचेता महापुरुषोंके गुरुकुलोंमें यह योजना अपने चतुर्थ आधार अर्थात् आत्म-निर्भरताकी साधना भी अवश्य कर सकती है, जैसा कि आज भी सेवाग्राममें हो रहा है, किन्तु इस आत्मनिर्भरताके सिद्धान्तको व्यापक लोक-शिक्षाकी योजनामें डाल देनेसे उसकी असफलता निश्चित और असंदिग्ध है क्योंकि स्वार्थ-बुद्धि अथवा व्यावसायिक बुद्धिसे काम करनेवाले लोग इस प्रकारकी योजनाका न तो सात्त्विक महत्त्व समझ सकते हैं न उदारतापूर्वक सात्त्विक भावनासे उसे कार्यान्वित कर ही सकते हैं।

वर्धा शिक्षा-योजनाके गुण

वर्धा-योजनाके प्रसारसे हमारी शिक्षा-पद्धतिके बाह्य रूपमें कुछ विशेष स्वस्थ परिवर्त्तन दिखाई देने लगे हैं—

१. विद्यालय-कक्षाओंकी पुरानी नीरसता समाप्त हो गई है।

२. केवल मौखिक रटन्त कार्यके बदले विविध प्रकारका रचनात्मक शारीरिक कार्य होने लगा है।

३. छात्रोंको अपनी रचनात्मिका प्रतिभाके विकासके लिये उन्मुक्त अवसर प्राप्त होने लगा है।

४. अध्यापक भी कक्षाकी नीरस पढ़ाई और दोष-सुधार करनेकी निर्जीव पद्धतिके बदले अब पथ-प्रदर्शक और आदेष्टा बन गए हैं।

५. कक्षा-प्रकोष्ठकी भीतोंपर छात्रोंकी कलात्मक कृतियोंका रंगबहुल प्रदर्शन होने लगा है और कक्षाएँ हँसने लगी हैं क्योंकि जिन भीतोंपर कभी भूलसे चूना-तक नहीं पोता जाता था, वे भी चित्र-निर्माण और चित्ररक्षाके लिये सुरूप रक्खी जा रही हैं।

६. छात्रोंमें परिश्रमके प्रति आदर उत्पन्न हुआ है और उन्हें किसी प्रकारका काम या व्यवसाय करनेमें संकोचके बदले गर्व होता है।

७. भावी जीवनमें छात्र जो व्यवसाय अपनाना चाहते हैं उसका वे पहलेसे निर्धारण कर सकते हैं (यद्यपि करते नहीं)।

८. स्वयं अपने हाथकी रचनासे छात्रोंकी सौन्दर्य-वृत्तिका विकास होता है, उन्हें अपनी कृतिमें आनन्द मिलता है और इस प्रकार उनमें अध्यवसाय (लगन), सटीकता, एकाग्रता, नियमितता और स्वच्छताका भाव बढ़ता चलता है।

९. एक ही प्रकारका कार्य करनेवाले सहयोगी कारीगरकी भावनाके साथ काम करनेके कारण धनी और कंगाल बालकोंके बीच परस्पर भ्रातृत्व-भावनाका सम्वर्द्धन होता है।

वर्धा शिक्षा-योजनाकी त्रुटियाँ

१. महात्मा गाँधी शिक्षाशास्त्री नहीं थे। उन्होंने अपने आश्रममें कताई-बुनाईका प्रयोग करके जो परिणाम निकाले थे, वे एकदेशीय ही नहीं वरन् एकाश्रमीय थे, जहाँका प्रत्येक सदस्य सेवा, त्याग और आत्मसंयमके भावसे काम करता था। अतः, ऐसे एक प्रकार और एक संकल्पके लोगोंके प्रयोगको सारे देशके लिये प्रयुक्त करना अत्यन्त भ्रामक बात थी।

२. इन विद्यालयोंसे जो यह आशा की गई थी कि इनसे निकलनेवाले लोग परस्पर सहयोगशील समाजकी नींव डालेंगे, वह भी सिद्ध नहीं हुआ।

३. विद्यालयोंसे विद्यालयका व्यय निकल आनेका विरोध तो प्रारम्भसे ही होता रहा. यहाँतक कि शिमलेमें जो इस योजनापर विचार हुआ उसमें स्वावलम्बी होनेकी बात छोड़ ही दी गई।

४. हाथके कामपर इतना बल दिया गया और इतना समय निश्चित किया गया कि बौद्धिक ज्ञान ठण्ढा पड़ गया और परिणाम यह हुआ कि जिन प्रारम्भिक विद्यालयोंसे गणितके अच्छे कुशल छात्र निकलते थे, वहाँसे निकम्मे छात्र निकलने लगे और छात्रोंका सुलेखन-अभ्यास तो नष्ट ही हो गया।

५. विद्यालयोंमें छात्र जो हाथका काम करते हैं, वह न तो छात्रोंके ही काम आता, न सरकारने ही उसे मोल लेती। अतः, वह सब रद्दी करके फेंक दिया जाता है जिससे राष्ट्रकी बड़ी क्षति होती है।

६. हस्तकौशलके द्वारा जो अन्य विषयोंकी शिक्षा देनेकी बात चली वह अत्यन्त अतिकृत, अव्यावहारिक, अस्वाभाविक, अवैज्ञानिक, अमनोवैज्ञानिक, आडम्बरपूर्ण तथा हास्यास्पद बनी रही।

७. इससे नैतिक या सामाजिक सहयोगके बदले अनैतिक और असामाजिक भावनाएँ उद्दीप्त हुईं और परस्पर असहयोग तथा अविश्वास बढ़ा। यहाँतक कि जात-पाँतके जो बन्धन यह प्रणाली तोड़ना चाहती थी वे अधिक कटु होकर दृढ होते गए। वर्त्तमान ग्राम-जीवन इसका सबसे बड़ा प्रमाण है।

८. इससे समाज-सेवाकी भावनाके बदले स्वार्थ-साधनाकी वृत्ति ही बढ़ी।

९. जो पाठ्यक्रम बनाया गया है वह पाँच वर्षकी अवस्थासे प्रारम्भ

होना चाहिए था और उसमें चार वर्षसे अधिक नहीं लगने चाहिएँ थे। कारीगरों और किसानोंके बच्चे तो यह सब काम चार-पाँच महीनेमें ही आदिसे अन्ततक सीख सकते हैं।

१०. खेती तथा फल और साग-भाजी उपजाना कोई हस्त-कौशल नहीं है। यह तो शुद्ध व्यवसाय-वृत्ति है जो गाँवोंमें स्वभावतः होती ही है। नगरोंके लिये यह व्यर्थ है क्योंकि वहाँ भूमि प्राप्त नहीं है।

११. बढ़ईगिरी और चमड़ेका काम सबको सिखाकर उस स्थानके बढ़इयों और मोचियोंकी जीविकामें बाधा देना है और व्यर्थमें उनके मनमें गाँठ उत्पन्न करके समाजकी संयुक्त भावनाको छिन्न-भिन्न करके अनावश्यक रूपसे अस्वस्थ प्रतिद्वन्द्विता उत्पन्न करना है। इसके अतिरिक्त जिन विद्यालयोंमें बढ़ईगिरी और चमड़ेका काम सिखाया जाता रहा है, वहाँके पाँच प्रतिशत छात्रोंने भी उसे व्यवसाय-वृत्तिके रूपमें स्वीकार नहीं किया, केवल परीक्षामें उत्तीर्ण होने-भरके लिये वे उसका प्रयोग करते रहे।

१२. पाठ्यक्रममें सामाजिक ज्ञानके लिये जो विवरण दिया गया है वह इतना विस्तृत, अव्यावहारिक और शिक्षा-विरोधी रख दिया गया है कि वह छात्रके लिये भारस्वरूप ही होगा। शिक्षाके सिद्धान्तके अनुसार ज्ञातसे अज्ञातकी ओर चलना चाहिए अर्थात् अपने देशके ज्ञानसे प्रारम्भ करना चाहिए, किन्तु इस योजनामें प्रारम्भसे ही संसारका इतिहास पढ़ानेकी कष्ट-कल्पना की गई है और इसी अवस्थामें म्युनिसिपल बोर्ड, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड आदिके नियम भी सिखानेकी निरर्थक योजना बना दी गई है। यह तो हाइ स्कूलके पश्चात् सिखानी चाहिए जब वे वयस्क होने लगें, जब उन्हें लोककार्यमें संलग्न होना पड़े। उनके कच्चे मस्तिष्कपर यह भार क्यों डाला जाय?

१३. इसी प्रकार साधारण विज्ञानका बहुत-सा ज्ञान भी गाँवके बालकोंको इस पाठ्यक्रमसे अधिक होता है, विशेषतः प्रकृति, वनस्पति और पशुविज्ञान का। शरीर-विज्ञान, रसायन-शास्त्र और वैज्ञानिकोंकी कहानियाँ सीखकर वे क्या करेंगे!

१४. चित्र-कला और संगीत सबके लिये नहीं है। उसके लिये रुचि और

प्राकृतिक साधन—उँगली और कण्ठ—चाहिए। ऐसे व्यक्तिको चित्र-कला सिखानेसे क्या लाभ जो करेलेको कटहल और बैंगनको लौकी बना दे और ऐसे व्यक्तिको संगीत सिखानेमें समय क्यों नष्ट किया जाय जिसका रेंकना सुनकर धोबी अपना गधा ढूँढने निकल पड़ें। ये विषय अनिवार्य न रखकर ऐच्छिक रक्खे जा सकते हैं। हाँ, सामूहिक गान या भजनके अभ्यासमें कोई दोष नहीं है।

१५. हिन्दुस्तानीकी अनिवार्यता इस योजनाकी सबसे बड़ी भूल थी, विशेषतः दो लिपियोंके साथ। यह अच्छा हुआ कि राष्ट्रने हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपिको राष्ट्रीय व्यवहारके लिये स्वीकार कर लिया।

१६. परीक्षाका पाप अभीतक बना हुआ है जो शिक्षाका सबसे भयकर घुन है।

१७. अध्यापकोंके वेतनके सम्बन्धमें जो बीस और पच्चीस रुपए मासिकका विधान किया गया था वह अत्यन्त लज्जाजनक था। जान पड़ता है इसके विधायकोंने समझ लिया था कि अध्यापक वेदान्ती संन्यासी होते हैं जिसके साथ न परिवार होता है न अन्य कोई आवश्यकता।

१८. केवल हस्त-कौशलपर अधिक एकाग्र होनेसे बुद्धि कुण्ठित हो जाती है और मनन-शक्ति शिथिल होने लगती है।

१९. हस्त-कौशलमें रचना-शक्तिके विकासके लिये अत्यन्त परिमित क्षेत्र है।

२०. भारत जैसे दरिद्र देशमें रुई, रंग, गत्ते और लकड़ी-जैसे आवश्यक पदार्थोंका व्यर्थ विनाश श्रेयस्कर नहीं है क्योंकि शिक्षा तो ऐसी होनी चाहिए कि 'हर्रे लगे न फिटकिरी, रंग चोखा आवे।'

२१. एक ही आकार-प्रकार तथा रूपकी सामग्री विद्यालयोंमें अधिक बना देनेसे उसकी खपत नहीं हो पाती और इस प्रकार प्रोत्साहनके अभावमें छात्रोंमें निरुत्साहिता और नीरसता व्याप्त हो जाती है।

२२. साथ-साथ काम करनेपर भी ऊँच-नीचका भेद बना ही रहता है।

२३. एक ही प्रकारके या कुछ गिने-चुने प्रकारके हस्त-कौशलके साथ माथा पच्ची करते-करते धीरे-धीरे उससे विराग हो जाता है क्योंकि नई वस्तुमें ही

कुतूहल होता है, एक ही वस्तु दिन-रात देखते-देखते मनुष्यका मन ऊबने लगता है।

२४. विद्यालयके पाठ्यक्रमके अन्तर्गत सभी विषय हस्त-कौशलके आधारपर नहीं सिखाए जा सकते और यदि सिखाए भी जायँ तो वे कृत्रिम आधार ग्रहण करनेके कारण अस्वाभाविक, सटीकताके अभावमें अवैज्ञानिक और उचित वातावरणमें उपस्थित न किए जानेके कारण असंगत या अमनोवैज्ञानिक होंगे। हस्त-कौशलपर इतना अधिक बल देनेसे राष्ट्रकी बौद्धिक चेतना कुण्ठित हो जानेकी अधिक सम्भावना है क्योंकि व्यवसायमें फँसे रहनेवाले व्यक्तिमें राष्ट्र-धर्म तथा राष्ट्रीय आत्म-सम्मानकी भावना उतनी प्रस्फुरित नहीं हो पाती जितनी व्यापक और उदार शिक्षा पाए हुए व्यक्तिमें।

२५. शिक्षाके विषयोंके अन्तर्योगका तात्पर्य यह है कि स्वाभाविक रूपसे पाठ्य विषयोंमें पारस्परिक एकात्मता स्थापित हो। किन्तु वर्धा-शिक्षा-योजनामें हस्त-कौशलके साथ पाठ्यक्रमके विभिन्न विषयोंका अन्तर्योग कृत्रिम तथा अस्वाभाविक है।

२६. अध्यापकके व्यक्तित्वका कोई महत्त्व नहीं रह गया और वे चटकलके फ़ोरमैन मात्र बने रह गए हैं।

२७. इस शिक्षा-योजनामें धार्मिक, नैतिक तथा शारीरिक शिक्षाके लिये किसी प्रकारका कोई विधान नहीं है।

अतः, यह शिक्षा-योजना व्यापक रूपसे प्रयोग करनेपर तो सफल नहीं हो सकती किन्तु कुछ विशिष्ट अध्यापकोंके द्वारा विशेष आश्रमोंमें इसका सफल प्रयोग अवश्य किया जा सकता है। इसमें यदि उचित सुधार न हुआ और इसे ठीक रूपसे व्यवस्थित न किया गया तो बची-खुची शिक्षा भी चौपट हो जायगी।

यह योजना बम्बई, बिहार, मध्यप्रान्त, संयुक्तप्रान्त (अब उत्तर प्रदेश), असम और उड़ीसाकी सरकारोंने कुछ थोड़े हेर-फेरके साथ चलाई। उत्तर प्रदेश सरकारने तो प्रयागमें बेसिक ट्रेनिंग कौलेज भी खोल दिया। मद्रास, बंगाल, पंजाब और सीमाप्रान्त तथा सिन्ध (जो अब पाकिस्तानमें है) ने यह आधार-योजना नहीं स्वीकार की; यद्यपि लोक-विद्यालयोंको इसका प्रयोग करनेके

लिये छूट अवश्य दे दी। उड़ीसा सरकारने तो दो वर्षमें ही कन्धा डाल दिया और १६४१ में ही आधार विद्यालय बन्द करनेका निश्चय भी घोषित कर दिया।

सार्जेण्ट शिक्षा-योजना

सन् १६३५ में तत्कालीन वाइसरायकी कार्य समितिके सदस्य सरदार ज़ोगेन्दर सिंहकी अध्यक्षतामें भारतका 'केन्द्रीय शिक्षा-परामर्श-मण्डल' (सेंट्रल एडवाइज़री बोर्ड ऑफ़ एजुकेशन) पुनः संघटित हुआ और उसने शिक्षाके निम्नलिखित विषयोंका अध्ययन करके उनपर अपना अध्ययन-विवरण प्रस्तुत करनेका संकल्प किया—

१. आधार-शिक्षा (बेसिक एजुकेशन)।

२. प्रौढ शिक्षा (एडल्ट एजुकेशन)।

३. विद्यालयके छात्रोंकी स्वास्थ्य-रक्षा (फ़िज़िकल वैलफ़ेयर ऑफ़ स्कूल-चिल्डरन)।

४. विद्यालय-भवन (स्कूल बिल्डिंग)।

५. समाज-सेवा (सोशल सर्विस)।

६. प्रारम्भिक, मिडिल और हाई स्कूलोंके अध्यापकोंकी शिक्षा और सेवाके नियम।

७. शिक्षाधिकारियोंकी भरती।

८. व्यावसायिक शिक्षा (टेकनिकल एजुकेशन), जिसके अन्तर्गत वाणिज्य और कला भी हैं।

यह योजना मुख्य रूपसे भारत सरकारके शिक्षा-परामर्शदाता जौन सार्जेण्टने ही प्रस्तुत की थी इसलिये यह उनके ही नामसे प्रसिद्ध है।

प्रस्ताव

भारतके इस 'केन्द्रीय शिक्षा-परामर्श-मण्डल' (सेण्ट्रल एडवाइज़री बोर्ड ऑफ़ एजुकेशन) ने १६ जनवरी सन् १९४४ को भारतीय शिक्षाका पूर्ण पर्यवेक्षण करके एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योजना प्रस्तुत की जिसे वर्धा-योजनाका विस्तृत और पूर्ण रूप समझना चाहिए और जिसमें ये मुख्य बातें कही गईं—

१. छहसे चौदह वर्षतककी अवस्थावाले सब बच्चों (बालक-बालिकाओं) को अनिवार्य शिक्षा दी जाय।

२. शिक्षाका माध्यम मातृभाषा हो।

३. सर्वबोध्य भारतीय भाषा हिन्दुस्तानीको हिन्दी (नागरी) और उर्दू लिपिके माध्यमसे पढाया जाय।

४. सांस्कृतिक विषय स्वतन्त्र रूपसे पढाए जायँ।

५. अध्यापकोंका सामाजिक मान बढ़ाया जाय।

६. कोई अध्यापक तीस रुपये मासिकसे कम वेतन न पावे।

७. प्रारंभिक कक्षाओंमें महिला अध्यापिकाओंकी संख्या बढ़ा दी जाय, विशेषतः पूर्व-प्रारंभिक (प्री-प्राइमरी) कक्षाओंमें निःशुल्क शिक्षाके लिये ऐसी अध्यापिकाएँ ही रक्खी जायें जो सामाजिक शिष्टाचार सिखा सकें।

८. पाठ्यक्रमका पुनः संस्कार किया जाय।

९. धार्मिक शिक्षा ऐच्छिक हो, अनिवार्य न हो।

१०. जूनियर या उत्तर प्रारम्भिक अवस्थामें अंगरेज़ी न पढाई जाय किन्तु उच्च माध्यमिक अवस्था (सीनियर स्टेज) में प्रान्तीय शिक्षा-विभाग आवश्यकतानुसार उसका संयोजन करें।

११. किसी प्रकारकी सार्वजनिक (मिडिल या हाई स्कूल) परीक्षाएँ न ली जायँ।

सार्जेण्ट शिक्षा-समितिने भारतीय समाजकी आवश्यकताओंका ध्यान रखते हुए जो विस्तृत योजना बनाई उसमें उस शिक्षाकी सभी अवस्थाओंपर विचार करके यह सुझाव दिया।

१. शिशुशाला (नर्सरी स्कूल) : छह वर्षसे कम अवस्थाके बालकोंके लिये शिशु-विद्यालय खोले जायँ, जिनमें केवल महिलाएँ ही शिष्टाचारकी निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा दें।

२. आधार-शिक्षा (बेसिक एजुकेशन : प्राइमरी तथा मिडिल) : बालकको प्रारम्भिक (प्राइमरी) अथवा निम्नाधार (जूनियर बेसिक) पाठशालामें भरती करके कम-से-कम पाँच वर्षतक उसे निःशुल्क तथा अनिवार्य

शिक्षा दी जाय जिसे पार कर चुकनेपर वह उच्चाधार विद्यालय (सीनियर बेसिक स्कूल) में तीन वर्षतक (ग्यारहसे चौदह वर्षकी अवस्थातक) अध्ययन करे।

३. प्रारम्भिकोत्तर विद्यालय (पोस्ट प्राइमरी स्कूल) : प्रारम्भिक या निम्नाधार (प्राइमरी या जूनियर बेसिक) पाठशालाके पाठ्यक्रमके पश्चात् उच्चाधार (सीनियर बेसिक या मिडिल) विद्यालयोंके अतिरिक्त एक और भी प्रकारके प्रारम्भिकोत्तर विद्यालय हों जिनमें ग्यारह वर्षकी अवस्थाके बालक भरती किए जायँ और जिनमें पाँच वर्षतक अनेक प्रकारके विषयोंकी शिक्षा दी जाती रहे जिससे कि वे व्यवसाय और वाणिज्यमें भी सीधे प्रवेश कर सकें या उसमेंसे निकलकर विश्वविद्यालयोंमें भी प्रवेश पा सकें। ऐसा भी विशेष प्रबन्ध किया जाय कि उच्चाधार विद्यालय (सीनियर बेसिक या मिडिल स्कूल) में पढ़नेवाले या पढ़े हुए विद्यार्थी भी इन प्रारम्भिकोत्तर विद्यालयोंमें भरती किए जा सकें।

४. उच्चाधार कन्या-विद्यालय (सीनियर बेसिक गर्ल्स स्कूल) : निम्नाधार (जूनियर बेसिक) अथवा प्रारम्भिक अवस्थामें तो बालक और बालिकाओंकी शिक्षा समान हो किन्तु उच्चाधार (सीनियर बेसिक) अवस्थामें कन्याओंके पाठ्यक्रममें पाकशास्त्र (भोजन बनाना), धुलाई-रँगाई, सीने-पिरोने तथा क़सीदेका काम, बुनाई-कढ़ाई, गृहस्थी, बच्चोंकी देखभाल और आकस्मिक चिकित्सा बढ़ा दी जाय।

५. उच्च विद्यालय (हाइ स्कूल) : उच्च विद्यालयोंमें ग्यारह वर्षकी अवस्थाके कुशल बालक ही भरती किए जायँ जो छह वर्ष पढ़ें। इन विद्यालयोंके निम्नलिखित रूप हों—

क. शास्त्रीय उच्च विद्यालय (ऐकेडेमिक हाई स्कूल)।

ख. व्यावसायिक, वैज्ञानिक तथा यान्त्रिक विद्यालय (टेकनिकल हाइ स्कूल)।

ग. उच्च कन्या विद्यालय (गर्ल्स हाइ स्कूल)।

६. विश्वविद्यालयकी शिक्षा : विश्वविद्यालयोंमें उपाधि (डिग्री अथवा बी० ए० के समकक्ष) परीक्षाके लिये दो वर्षके बदले तीन वर्ष लगाए जायँ। इण्टर तोड़कर उसका पहला वर्ष विद्यालयमें जोड़ दिया जाय और दूसरा

विश्वविद्यालयमें, जिससे विश्वविद्यालयमें पढ़नेवाले छात्रको कमसे-कम तीन वर्षतक विश्वविद्यालयका सम्पर्क प्राप्त हो सके।

७. व्यावसायिक शिक्षा : व्यवसाय (इण्डस्ट्री), वाणिज्य (कौमर्स) और शास्त्र (आर्ट्स) के सम्बन्धमें सार्जेण्ट-समितिने वे ही सुझाव दिए जो ऐबट और वुडने दिए थे किन्तु सार्जेण्ट-समितिने बहुशिल्पीय विद्यालयों (पौलिटेकनिकल) के बदले एक-शिल्पीय (मोनो-टेकनिकल) विद्यालय खोलना अधिक श्रेयस्कर बताया।

८. सयानोंकी शिक्षा (ऐडल्ट एजुकेशन): अगले बीस बरसोंतक सरकार साक्षरता-आन्दोलन चलावे और इस कार्यको स्वयं अपने हाथमें लेकर इसे समृद्ध तथा शक्तिशाली बनावे।

९. अध्यापकोंकी शिक्षा : शिशुशालाकी अध्यापिकाओंको दो वर्ष, निम्न तथा उच्चाधार पाठशालाओंके अध्यापकोंको तीन वर्ष, जो बी० ए० उत्तीर्ण न हों उन्हें दो वर्ष और बी० ए० उत्तीर्ण अध्यापकोंको एक वर्षतक शिक्षाशास्त्रका अध्ययन कराया जाय।

१०. स्वास्थ्य : विभिन्न प्रकारके विद्यालयोंमें पढनेवाले छात्रों तथा छात्राओंके स्वास्थ्य-वर्धन तथा स्वस्थ वातावरणमें उनके पोषणकी व्यवस्था सरकार करे।

११. जड तथा विकलांगोंकी शिक्षा : जड, पागल तथा विकलांगों (अन्धे, लँगड़े, लूले आदि)की शिक्षाका भी विशेष प्रबन्ध करना चाहिए।

१२. मनोरंजन तथा सामाजिक प्रवृत्तियाँ : विद्यालयोंको ऐसी मनोरंजनात्मक तथा सामाजिक प्रवृत्तियोंके संयोजनके लिये प्रेरित किया जाय जिनसे युवकोंमें उत्साह भरे और उन्हें नेतृत्वकी शिक्षा मिले।

१३. वृत्ति-विमर्श केन्द्र (ऐम्प्लोयमेंट ब्यूरो) : सरकारको स्थान-स्थानपर ऐसे वृत्ति-विमर्श-केन्द्र खोल देने चाहिएँ जहाँ पहुँचकर विद्यालयोंसे निकले हुए छात्र अपनी योग्यताके अनुरूप वृत्ति, व्यवसाय या स्थान प्राप्त कर सकें और आवश्यक आदेश, निर्देश और परामर्श प्राप्त कर सकें।

———

११

विश्वविद्यालय शिक्षा-समीक्षण-मण्डल [१९४८]

स्वतन्त्र भारतीय सङ्घ-सरकारने ४ नवम्बर १९४८ को डाक्टर सर सर्वपल्ली राधाकृष्णन्‌की अध्यक्षतामें विश्वविद्यालय-सम्बन्धी प्रत्येक विषयकी जाँच करनेके लिये एक शिक्षा-समीक्षण-मण्डल नियुक्त किया। इस मण्डलने विश्वविद्यालय-शिक्षाकी समस्त शाखाओंका भली प्रकार निरीक्षण करके यह सुझाव दिया कि—

१. उच्च श्रेणीकी व्यापक, व्यावसायिक तथा जीविका-योग्य शिक्षापर ही लोकतंत्र अवलम्बित है। अतः, सामाजिक उद्देश्योंके आधारपर ही हमें अपनी शिक्षा-नीति स्थापित करनी चाहिए। यदि हम आत्माको भूखा रखकर केवल व्यावसायिक और शिल्पीय शिक्षा देंगे तो ऐसा राक्षस-राज्य बनेगा जिसके वैज्ञानिकोंमें अध्यात्म-चेतना नहीं होगी तथा यांत्रिकोंमें नैतिक शक्ति नहीं होगी। अतः, सभ्य होनेके लिये यह आवश्यक है कि हम अपने समाजमें दीनोंके लिये दया, महिलाओंके लिये आदर, मनुष्य-मात्रके लिये भ्रातृत्व, शान्ति और स्वातंत्र्यके लिये प्रेम, निर्दयताके लिये घृणा और न्याय-प्राप्तिके लिये अनवरत भक्तिकी भावनाको समृद्ध करें। अतः, विश्ववियालयोंका काम यह है कि वे इन आदर्शोंका पालन करें और अधिकाधिक संख्यामें लोगोंको शिक्षित करनेके उचित साधन प्रस्तुत करके उन्हें उचित रीतिसे शिक्षा दें।

२. अध्यापकोंका महत्त्व, उत्तरदायित्व तथा वेतनमान बढ़ा दिया जाय और चार ही प्रकारके प्राध्यापक हों—महाध्यापक (प्रोफ़ेसर), संप्राध्यापक (रीडर), प्राध्यापक (लैक्चरर) और निर्देशक (इंस्ट्रक्टर)। खोज करनेके लिये कुछ विद्वद्वृत्तियाँ दी जायँ, योग्यताके आधारपर वेतन-मान बढ़ाया जाय, उचित प्राध्यापकोंके चुनावपर विशेष ध्यान दिया जाय, साठ वर्षकी

अवस्थापर अवकाश दिया जाय (किन्तु महाध्यापकोंकी अवधि चौंसठ वर्षतक भी बढाई जा सकती है); और पोषण-कोष (प्रोविडेंट फण्ड), छुट्टी तथा शिक्षण-अवधिके सम्बन्धमें निश्चित नियम बना दिए जायँ ।

३. विश्वविद्यालयोंमें इण्टरमीजिएट परीक्षाके पश्चात् ही छात्र भरती किए जायँ, छात्रोंको विभिन्न व्यवसायोंकी ओर प्रवृत्त करनेके लिये व्यावसायिक विद्यालय खोले जायँ, हाइ स्कूल और इन्टरमीजिएटके अध्यापकोंका ज्ञान अभिनव बनानेके लिये पुनर्नवा-पाठ्यक्रम (रिफ्रेशर कोर्स) चलाया जाय, विश्वविद्यालयों और महाविद्यालयोंके शास्त्र (आर्ट्स) विभागमें २००० और विज्ञान-विभागमें १५०० से अधिक छात्र न लिए जायँ, वर्षमें परीक्षाके दिन छोड़कर कम-से-कम १८० दिन पढाई अवश्य हो, ग्यारह-ग्यारह सप्ताहके तीन सत्र हों, कोरे व्याख्यानोंके बदले व्यक्तिगत शिक्षा, पुस्तकालयका प्रयोग तथा लिखित अभ्यासोंकी प्रधानता हो, किसी भी विषयके लिये निर्धारित पाठ्य-पुस्तकें न हों, छात्रोंकी उपस्थिति अनिवार्य हो, घर-बैठे परीक्षा देनेकी आज्ञा गिने-चुने विशिष्ट लोगोंको ही दी जाय, विभिन्न प्रकारके कार्यालयोंमें काम करनेवाले लोगोंके लिये सान्ध्य विद्यालय चलाए जायँ और प्रयोग-शालाएँ सम्पन्न की जायँ ।

४. एम्. ए. और एम्. एस्-सी. उपाधिके लिये समान नियम हों तथा विज्ञानकी पढ़ाईके लिये विशेष व्यवस्था हो ।

५. चिकित्सा-विद्यालयोंमें सौ विद्यार्थी भरती किए जायँ, व्यवसाय-शिक्षाके लिये विशेष व्यावसायिक कौशलकी शिक्षा दी जाय, सरकारी नौकरीके लिये विशेष शिक्षाका प्रबन्ध किया जाय, व्यावसायिक शिक्षा, श्रमिकोंकी समस्या तथा व्यापार-सम्बन्धी अन्य ज्ञातव्य बातोंकी शिक्षा देनेके लिये एक अलग पाठ्य-क्रम बनाया जाय ।

६. धार्मिक-शिक्षाके लिये मौन ध्यान, धार्मिक नेताओंके जीवनचरित, धर्मग्रन्थ तथा धर्मदर्शनकी क्रमशः शिक्षा दी जाय ।

७. उच्च विद्यालयों और विश्वविद्यालयोंके छात्रोंको प्रादेशिक भाषा,

राष्ट्रभाषा और अँगरेज़ी जाननी चाहिए। राष्ट्रभाषा केवल देवनागरी लिपिमें ही लिखी जाय।

८. सार्वजनिक परीक्षा बन्द करके विभिन्न नौकरियोंके लिये सरकार अपनी परीक्षा ले, वर्ष-भरके कामपर एक तिहाई अंक दिए जायँ, परीक्षाएँ छोटे-छोटे खंडोंमें और एक-एक विषयके अनुसार अलग-अलग समयपर ली जायँ, इकट्ठी नहीं और जब कोई छात्र एक पाठ्यक्रमके सब विषयोंमें उत्तीर्ण हो जाय तब उसे उपाधि दी जाय। सब विश्वविद्यालयोंमें उत्तीर्ण होनेके अंक समान हों और मौखिक परीक्षा केवल परस्नातक (पोस्ट ग्रेजुएट) तथा व्यावसायिक परीक्षाओंमें ही ली जाय।

९. छात्रोंकी भरती योग्यताके आधारपर हो; योग्य तथा वास्तवमें दीन छात्रोंको ही छात्रवृत्ति दी जाय; छात्रोंके स्वास्थ्यका ध्यान रक्खा जाय और ऐसे सब उपाय किए जायँ जिनसे उनके शारीरिक वैभवका विकास हो; राष्ट्रिय सैन्य-मण्डल (नेशनल केडेट कोर) में सभी छात्र और छात्राओंको भरती किया जाय; समाज-सेवाकी भावना छात्रोंमें भरी जाय; छात्रावासोंसे जातीयता हटाकर शिक्षित भोजन-शास्त्रियोंके अधीन पाक-शालाएँ चलाई जायँ; अध्यापकोंके साथ छात्रोंका संपर्क पढ़ाया जाय; अत्यन्त सुशील तथा मेधावी छात्र ही अग्रणी (मौनीटर) बनाए जायँ; छात्र-संघोंकी प्रवृत्तियाँ यथासंभव राजनीतिक प्रवृत्तियोंसे दूर हों और उनमें विश्वविद्यालयोंके अधिकारियोंका कोई हस्तक्षेप न हो; छात्रोंको दलगत राजनीतिसे दूर रखकर उन्हें स्वशासनके कार्यमें प्रवृत्त किया जाय और अध्यापक, अभिभावक, राजनीतिक नेता, जनता और समाचार-पत्रोंका भी सहयोग लिया जाय; और, छात्र-सुविधा-विमर्श-मंडल (एडवाइज़री बोर्ड ऑफ़ स्टूडेंट्स वेलफ़ेयर) स्थापित किया जाय जो निरन्तर छात्रोंकी सुविधाओंके उपाय सोचे।

१०. महिलाओंको शिक्षाकी अधिक सुविधाएँ दी जायँ; शिक्षाके कुछ ही विषय महिला और पुरुष दोनोंके लिये समान हो किन्तु दोनोंकी पूरी शिक्षा एक सी न हो और महिला अध्यापकोंको पुरुषोंके समान ही वेतन दिया जाय।

११. शुद्ध सम्बन्धकारी विश्वविद्यालय बन्द कर दिए जायँ और सभी

सरकारी महाविद्यालय किसी न किसी विश्वविद्यालयसे सम्बद्ध कर दिए जायँ; महाविद्यालयोंकी प्रबन्धकारिणी-समितियाँ सुधार दी जायँ और विश्वविद्यालयमें निम्नलिखित अधिकारी हों—(क) समवेक्षक (विज़िटर, जो राष्ट्रपति ही हों), (ख) महाकुलपति (चांसलर, जो प्रायः प्रान्तीय राज्यपाल हों), (ग) कुलपति (वाइस चांसलर, जो पूर्णकालिक अधिकारी हों), (घ) महासद (सीनेट या कोर्ट), (ङ) व्यवस्था-परिषद् (एग्ज़ीक्यूटिव कौंसिल), (च) समज्याएँ (फ़ैकल्टीज़), (छ) शिक्षा-मण्डल (बोर्ड् स ऑफ़ स्टडीज़), (ज) अर्थसमिति (फाइनेंस कामटी), और (झ) चयन-समितियाँ (सिलेक्शन कमिटीज़)।

१२. केन्द्रीय सरकारको उच्चतर शिक्षाका भार अपने ऊपर लेकर भवन-निर्माण तथा उपकरण (इक्विपमेंट)के लिये धन देना चाहिए।

१३. बनारस, अलीगढ़ और देहली विश्वविद्यालय भी सम्बन्धकारी और शिक्षणकारी हों। इन विश्वविद्यालयोंका शिक्षा-माध्यम राष्ट्रभाषा हो और इनका जातीय स्वरूप दूर करके इनकी प्रबन्ध-समितियोंमें अन्य जातियोंके लोग भी लिए जायँ।

१४. शान्ति-निकेतनकी विश्वभारती और दिल्लीके पास जामिया-नगरकी जामिया-मिल्लियाको भी विश्वविद्यालय मान लिया जाय।

१५. ग्राम-प्रदेशोंमें उच्चतम शिक्षाका विकास करनेके लिये विशेष उद्योग किया जाय।

यद्यपि अभी इन सुझावोंका पूर्ण रूपसे पालन तो नहीं किया जा सका किन्तु इण्टरमीजिएट तोड़कर बी. ए. का पाठ्यक्रम तीन वर्षका बना देनेके लिये विचार हो रहा है। किन्तु जबतक परीक्षा-प्रणाली पूर्णतः नष्ट नहीं होगी तबतक विश्वविद्यालयकी शिक्षा व्यवस्थित नहीं हो सकती।

— ——

१२

शिक्षाके नवीन प्रयोग

उन्नीसवीं शताब्दीके मध्यमें स्वामी दयानन्द सरस्वतीने प्राचीन गुरुकुल-प्रणालीका उद्धार करनेके उद्देश्यसे शिक्षाके निम्नांकित उद्देश्य प्रतिपादित किए—१. सब लोग अपने आठ वर्षसे ऊपर लड़कों और लड़कियोंको गुरुकुलमें भेज दें। २. लड़कों और लड़कियोंके गुरुकुल अलग-अलग हों जहाँ सबको समान भोजन, वस्त्र और आसन दिए जायें। ३. पच्चीस वर्षसे पूर्व बालकका और सोलह वर्षसे पूर्व कन्याका विवाह न किया जाय। ४. गुरुकुलमें वेद, वेदान्त तथा सत्य शास्त्रोंके साथ-साथ राजविद्या, संगीत, शिल्पविद्या, गणित, ज्योतिष, भूगोल, खगोल, भूगर्भ-विद्या, यन्त्रकला, हस्त-कौशल, चिकित्सा-शास्त्र आदिका भी अभ्यास कराया जाय।

गुरुकुल काँगड़ी

इन आदर्शोंके अनुसार सन् १६०२ में स्वामी श्रद्धानन्दजीने हरिद्वारके पास काँगड़ीमें गुरुकुल स्थापित किया, जिसका उद्देश्य था संस्कृत साहित्यके साथ-साथ वैदिक साहित्यका अध्ययन, प्राचीन राष्ट्रिय शिक्षा, ब्रह्मचर्य-पालन, निःशुल्क शिक्षा, भारतके प्राचीन इतिहास तथा पुरातत्त्वका अध्ययन। इसीलिये वहाँ सांगोपाग वेद और संस्कृत साहित्यके साथ अँगरेज़ी, गणित, रसायन, भौतिक विज्ञान, जीव-विज्ञान, वनस्पति-शास्त्र, भू-विज्ञान, कृषि, आयुर्वेद पश्चात्य दर्शन तथा अर्थ-शास्त्र पढ़ानेकी भी व्यवस्था की गई।

ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रम, हरिद्वार

गुरुकुलकी स्थापनाके कुछ वर्ष पश्चात् महामना पण्डित मदनमोहन मालवीयके आदेशानुसार हरिद्वारमें श्रुति-स्मृति-पुराण-सम्मत सनातनधर्मके अनुसार ब्रह्मचर्य व्रत तथा प्राचीन गुरुकुलोंके अनुकूल शिक्षा देनेके निमित्त ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रमकी स्थापना हुई जो अभीतक अपने निर्दिष्ट उद्देश्योंके अनुसार शिक्षा दे रहा है।

विश्वभारती

महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुरने सन् १८६३ में परमार्थ-साधकोंके लिये बंगालमें बोलपुरके पास जो शान्ति-निकेतन स्थापित किया था उसीमें कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुरने सन् १६०१ में बच्चोंका एक विद्यालय स्थापित किया जिसका उद्देश्य ऐसी शिक्षा देना था जो प्राकृतिक हो, जहाँ बच्चे परिवारके वातावरणका अनुभव करें और जहाँ वे पारस्परिक विश्वास और उल्लासके साथ स्वतंत्रता-पूर्वक अध्ययन करें। सन् १६२२ में यही विद्यालय विश्वभारतीके नामसे अन्ताराष्ट्रिय विद्यालयके रूपमें परिणत हुआ। इसका उद्देश्य था—

१. पूर्वकी विभिन्न संस्कृतियोंको उनकी मौलिक एकताके आधारपर पश्चिमके विज्ञान और संस्कृतिके समीप पहुँचना, २. सहबन्धुत्वका अनुभव करते हुए पूर्व और पश्चिमका समन्वय करना, जिससे विश्वबन्धुत्व और विश्व-एकता सम्भव हो सके। विश्व-भारतीकी प्रसिद्धि संगीत, नृत्य, नाट्य तथा चित्रकलाके लिये अधिक हुई किन्तु अब तो यह केन्द्रीय सरकारके अधीन अन्य विश्वविद्यालयोंकी भाँति विश्वविद्यालय बन गया है।

बौएज़ ओन होम (छात्राणां स्वगेहम्)

कलकत्तेके पास कासीपुरमें श्री रेवाचन्द अणिमानन्दने सन् १६०४ में प्राचीन भारतीय गुरुकुलकी मर्यादाके अनुसार 'बौएज़ ओन होम' (बालकोंका अपना घर) नामका विद्यालय स्थापित किया जिसका उद्देश्य था—पाँचसे ऊपर और दस वर्षसे नीचेकी अवस्थावाले थोड़ेसे बालकोंको घरके वातावरणके समान सोलह वर्षकी अवस्था-तक विद्यालयमें रखकर शिक्षा दी जाय, जहाँ उन्हें सब छोटा-बड़ा काम अपने हाथसे करना पड़े और घरपर शिक्षा न दी जाय। इस विद्यालयमें चार ही अध्यापक सब विषय पढ़ा लेते हैं। शिक्षाके जितने प्रयोग भारतमें हुए हैं उनमें यह सबसे अधिक सफल और सस्ता है इसीलिये सर माइकेल सेडलर जैसे शिक्षा-शास्त्रियोंने इसकी प्रशंसा की है।

चिपलूणकर-योजना

सन् १८८७ में लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, श्री आगरकर और

विष्णुशास्त्री चिपलूणकरके प्रयाससे पूनेमें राष्ट्रिय शिक्षा देनेके उद्देश्यसे 'न्यू इंग्लिश स्कूल'की स्थापना की गई। आगे चलकर सन् १८८५ में इन महापुरुषोंने एक शिक्षा-समाज ही बना दिया जिसके अनुसार फ़र्गुसन कालेज जैसे प्रसिद्ध राष्ट्रिय विद्यालय खुले, जो सेवा और आत्म-त्यागका व्रत लेनेवाले व्यक्तियों-द्वारा ही संचालित होते हैं। इन संस्थाओंने भारतके बड़े-बडे नेता, लेखक, साहित्यकार और देशसेवकोंको जन्म दिया है।

रैयत शिक्षण संस्था

१९१९ में श्री भाऊराव पटेलने सताराके पास शुद्ध शिक्षा-सुधार, ग्राम-सुधार तथा ग्रामोद्योगके लिये सेवक तथा अध्यापक तैयार करनेके उद्देश्यसे रैयत शिक्षण-संस्था स्थापित की जहाँ छात्रोंने ही अपने लिये घर बनाए। इसमें खेती और उद्यान-कलाकी शिक्षा दी जाती है। इसमें एक भी वेतनभोगी कर्मचारी नहीं है। इसमें सब जाति और धर्मके विद्यार्थी एक साथ बन्धुभावसे खाते, पीते, रहते और पढ़ते हैं।

व्रताचारी समाज

बंगालमे सन् १९२१ और ३२ के बीच श्री जी० एस० दत्तने ग्राम-गीतोंके सम्बन्धमें जो खोजें कीं उन्हींसे प्रेरणा ग्रहण करके व्रताचारी समाजका आन्दोलन चला जिसका उद्देश्य है सब प्रकारका भेद मिटाकर पूर्ण मनुष्य बनाना। इसके अनुसार प्रत्येक व्रताचारीको ज्ञान, श्रम, सत्य, एकता और आनन्दका व्रत लेना पड़ता है, सोलह प्रण करने पड़ते हैं और सत्रह निषेध स्वीकार करने पड़ते हैं। इसमें गीत-युक्त और तालयुक्त व्यायामके द्वारा एकता और स्फूर्तिकी शिक्षा दी जाती है।

कर्वेका महिला विश्वविद्यालय

सन् १९१६ में आचार्य कर्वेने पूनेमें इंडियन वीमेन्स यूनिवर्सिटी (भारतीय महिला विश्वविद्यालय) की स्थापना की जिसका उद्देश्य था कि महिलाओंकी आवश्यकताके अनुकूल पाठ्यक्रम बनाकर वर्तमान भारतीय भाषाओंके माध्यमसे स्त्रियोंको उच्चतर शिक्षा दी जाय। यह संस्था पिछले अनेक वर्षोंसे महिलाओंकी जागर्ति और सामाजिक क्रांतिमें बड़ा योग दे रही है।

वनस्थली-विद्यापीठ

जयपुर राज्यमें कन्याओंकी शिक्षाके लिये वनस्थली विद्यापीठ नामकी एक संस्था कुछ वर्ष पूर्व खुली है जिसमें सात वर्षसे ऊपरकी कन्याएँ ली जाती हैं और उन्हें सफल गृहिणी और माता बनानेके अतिरिक्त जागरूक और सफल नारी बनानेकी शिक्षा दी जाती है। इस उद्देश्यसे विद्यापीठने पंचमुखी शिक्षाक्रम बनाया है—१. नैतिक शिक्षा, २. शारीरिक शिक्षा (तैरना, घुड़सवारी, साइकिल चलाना आदि), ३. गार्हस्थ्य-शिक्षा, ४. ललितकला, ५. पुस्तकीय शिक्षा। यह विद्यालय विश्वविद्यालयोंकी परीक्षाओंके लिये भी शिक्षा देता है। इसका सबसे बड़ा दोष यही है कि इसमें कन्याओंका कोमलत्व, शील तथा अन्य स्त्री-सुलभ गुण पूर्णतः नष्ट हो जाते हैं।

आर्य-कन्या-महाविद्यालय, बड़ोदा

बड़ोदेमें अभी कुछ दिन पूर्व आर्य-कन्या-महाविद्यालयकी स्थापना की गई है जिसका उद्देश्य है कन्याओंको ऐसी उदार और सांस्कृतिक शिक्षा देना जिससे वे घर और बाहर दोनोंके लिये समान उपयोगी हो सकें। किन्तु वहाँकी मरदानी वेष-भूषा और सैनिक शिक्षा इस बातका प्रमाण है कि वहाँकी शिक्षा बाहरके लिये चाहे जितनी उचित हो किन्तु घरके लिये अत्यन्त अनुपयुक्त है।

लेडी इरविन कौलेज, दिल्ली

अखिल भारतीय महिला-सम्मेलनके निर्णयानुसार दिल्लीमें भारतीय परिस्थितिके अनुकूल योग्य पत्नी, योग्य माता, समाजकी उपयोगी सदस्या और गार्हस्थ्य-शास्त्रकी योग्य अध्यापिका बनानेके उद्देश्यसे लेडी इरविन कौलेजकी स्थापना की गई जिसमें एक सौ अस्सी रुपए वार्षिक शुल्क तथा पचहत्तर रुपए मासिक छात्रावासका व्यय है और जहाँ विदेशी भोजनालयकी प्रथासे आठ-आठ सौ रुपएके बिजलीके चूल्होंपर रोटी सेंकना सिखाया जाता है। इसमेंसे निकली हुई देवियाँ भारतीय परिस्थितिके अनुकूल कितनी उत्तम गृहस्थिन होंगी इसकी सहज ही कल्पना की जा सकती है।

दारुल-उलूम, देवबन्द

सन् १८६६ में सहारनपुरके पास देवबन्दमें मुसलमानी शिक्षण-पद्धतिके अनुसार इस्लामी विद्या, कौशल और आचारके प्रचार, प्रसार, उद्धार तथा अध्ययनके लिये 'मदरस-ए अरबी' स्थापित किया गया जो आगे दारुल-उलूमके रूपमें समुन्नत हुआ और जो आज एशिया भरके इस्लामी संसारका इतना बड़ा सांस्कृतिक केन्द्र बन गया है कि दूर-दूरसे मुस्लिम छात्र वहाँ शिक्षा पाने आते हैं।

संचेष्टन विद्यालय (ऐक्टिविटी स्कूल)

योरोपीय संचेष्टन विद्यालयोंके अनुकरणपर श्रीनगर (कश्मीर) में संचेष्टन विद्यालय खोले गए हैं जहाँ साधारण गणित तथा लिखने-पढ़नेका अभ्यास कराकर बालकोंको जीवनकी विभिन्न समस्याओं और प्रवृत्तियोंसे साक्षात् परिचित करा दिया जाता है, जैसे—स्वच्छता, फुलवारी लगाना, रसोई-घरका सब काम, डाकका काम, दूकानदारी, कपड़े बुनना, सीना, धोना, छापना, काढ़ना, दिया-बत्ती करना, नाटक खेलना, पर्वोत्सव मनाना, अतिथियोंका स्वागत करना, चित्र और खिलौने बनाना, गीत, नृत्य तथा पर्यटनका प्रबन्ध करना, औषधालय चलाना, बच्चोंकी देख-भाल करना आदि। इन विद्यालयोंमें तीनसे आठ वर्षतकके बच्चे अपनी अध्यापिकाओंके निर्देशसे सब काम करते और सीखते हैं।

प्रौढों और विकलांगोंको शिक्षा

व्यापक निरक्षरता दूर करनेके लिये विभिन्न राज्योंकी ओरसे रात्रि-पाठशालाएँ, श्रव्य-दृश्य-प्रणाली (औडियो-विजुअल मेथड) के चित्र, कथा, व्याख्यान, मेले, प्रदर्शिनी तथा सामूहिक-विकास-योजनाके द्वारा प्रौढोंको व्यावहारिक शिक्षा देनेकी योजनाएँ चल रही हैं।

इसी प्रकार गूँगे, बहरे और अन्धे बालकों या प्रौढोंको शिक्षित करनेके लिये दिल्ली, पटना, प्रयाग, काशी, बम्बई तथा मद्रासमें सरकारी और असरकारी शिक्षालय खोले गए हैं। इसके अतिरिक्त अगली पंचवर्षीय योजनामें भी उसके लिये व्यवस्था की जा रही है।

द्वितीय खण्ड

योरोपीय शिक्षाका विकास

१

सत्रहवीं शताब्दीतक पश्चिमी देशोंमें शिक्षाका विकास

पश्चिमी देशोंमें मिस्रमें ही सर्वप्रथम सभ्यता, संस्कृति, ज्ञान और विज्ञानने उसी प्रकार विकास पाया जैसा भारतने। अतः, पश्चिमी देशोंकी शिक्षाका विकास-क्रम मिस्रसे ही आरम्भ होता है।

मिस्रमें शिक्षा

अधिकसे अधिक देवताओंकी तुष्टि करनेका उपाय जाननेवाले पुरोहित लोग ही मिस्रमें स्वाभाविक रीतिसे लोक-नेता बन गए, क्योंकि लोगोंको भय रहता था कि कहीं हमारे पुरोहित लोग रुष्ट होकर देवताओंके द्वारा कोई विपत्ति न बुला दें। यद्यपि केवल अध्यापन करनेवाले लोगोंका भी एक वर्ग धीरे-धीरे वहाँ पनपता जा रहा था और विद्वान् लोग स्थान-स्थानपर स्वयं अपनी पाठशाला खोलकर पढ़ाने भी लगे थे फिर भी मिस्रमें बहुत दिनोंतक पुरोहित ही अध्यापक बने रहे। उनकी पाठन-प्रणाली बस यही थी कि जो बताया जाय उसे कंठाग्र करो और जैसा अपनेसे बड़ोंको करते देखो वैसा ही आचरण करो। वहाँ लोहेके कलमसे लकड़ीपर खोदकर या स्याहीसे सरपतकी गुद्दीसे बने हुए फरेटोंपर लिखनेका अभ्यास कराया जाता था, लिखे हुएको पढवाया जाता था और गिनती गिनवाई जाती थी। आचार-नियम बड़े कठोर थे। शारीरिक दण्ड कसकर दिए जाते थे। अध्यापकका बड़ा आतंकपूर्ण आदर था। उसके विरुद्ध मुँह खोलना पाप समझा जाता था।

सेमेटी जातियोंकी शिक्षा

बाबुली (बैबिलोनियन), असीरी (असीरियन), हिब्रू और फ़िनीशी (फ़िनीशियन) लोगोंकी शिक्षा-प्रणाली बड़ी ढीली-ढाली थी। इन जातियोंमें पढ़ना, लिखना, गणित, इतिहास, धर्म, स्तोत्र, घरेलू शिल्प, गीत, नृत्य और

व्यापार सिखलाया जाता था। राजशास्त्र, नीतिशास्त्र ज्यौतिष और भूगोलकी शिक्षा केवल वे लोग ग्रहण करते थे जो अपने घरका व्यापार छोड़कर इन विद्याओंके द्वारा जीविका चलाना चाहते थे। शिक्षक सभी पुरोहित या धर्म-गुरु लोग होते थे जिनके कारण वहाँकी शिक्षा-पद्धतिमें वह व्यापकता और उदारता नहीं आ पाई जो यूनान और रोमकी शिक्षा-प्रणालीमें आ गई थी। परिणाम यह हुआ कि इन सेमेटी जातियोंकी सम्पूर्ण शिक्षा अत्यन्त संकुचित तथा अनुदार घेरेमें घिरकर घुटकर रह गई।

यूनानमें शिक्षा-योजना

यूनानमें होमरके समयसे जिस शिक्षा-पद्धतिका श्रीगणेश हुआ था वह रोमके आक्रमणतक अनेक रूपोंमें परिवर्तित होती रही। यह परिवर्त्तन शिक्षाके आदर्शोंमें भी हुआ और पाठन-सामग्रीमें भी। यूनानमें मुख्यतः दो शिक्षण-व्यवस्थाएँ प्रधान थीं—एक अथेन्स (एथेन्स) की और दूसरी स्पार्त्ता (स्पार्टा) की। अथेन्सके लोग आयोनियों (आयोनियन्स) की सन्तान थे जो अत्यन्त कल्पनाशील, कलात्मक और साहित्यिक रुचिवाले थे। स्पार्तीय लोग दोरियों (डोरियन्स) की सन्तान थे जो अत्यन्त कल्पनाहीन, अपने कामसे काम रखनेवाले और परम योद्धा थे। अथेन्सी लोग समुद्रके पास रहते थे और विभिन्न देशोंके साथ व्यापारका सम्बन्ध स्थापित कर लेनेके कारण उनकी वृत्ति, संस्कृति और भावना अत्यन्त उदार और परिष्कृत हो गई थी। उधर स्पार्त्तीय लोग पर्वतोंसे घिरी हुई घाटियोंके परिमित संस्कारमें पले होनेके कारण बाहरके जगत् तथा उदार व्यवहारसे नितान्त विच्छिन्न थे।

अथेन्सकी शिक्षा-योजना

इस भिन्न प्राकृतिक जीवनके परिणामस्वरूप अथेन्सियोंकी शिक्षाका आदर्श बना 'सुन्दरता तथा सुखके साथ पूर्ण जीवनका उपभोग करना'। फल यह हुआ कि अथेन्समें व्यक्ति, उसकी रुचि तथा सम्मतिका बड़ा आदर किया जाने लगा। सौन्दर्यकी उदात्त भावनाके साथ वहाँके बालकोंको यूनानी व्याकरण, काव्य, भाषा-शैली, अलंकार-शास्त्र, वक्तृत्व-कला, संगीत, गणित, भौतिक विज्ञान, अर्थशास्त्र और राजनीतिकी शिक्षा दी जाने लगी। वहाँके

अध्यापक सब परम स्वतन्त्र और मनस्वी थे इसलिये वे पैदागौग (अध्यापक) ही धीरे-धीरे दैमागोग (राजनीतिज्ञ) भी बन गए । उन्होंने अपने व्यक्तिवादको तो आवश्यकतासे अधिक समुन्नत किया ही, साथ ही अपने शिष्योंको भी ऐसे अवाञ्छनीय रूपमे प्रगतिशील, स्वच्छन्द, उच्छृङ्खल, झगड़ालू और उद्दण्ड बना दिया कि उनके हृदयमें न तो राज्यके ही प्रति निष्ठा रह गई न अपने गुरुओंके ही प्रति । परिणामतः चारों ओर अविनय फैल गया ।

स्पार्त्ताकी शिक्षा-भावना

स्पार्त्तियोंका आदर्श हुआ 'साहस और विनय (डिसिप्लिन) का इस प्रकार संवर्द्धन करना कि व्यक्ति सब प्रकारसे राज्यके लिये आत्म-समर्पण कर सके ।' वहाँ साहित्य तथा कलाके अध्ययनके लिये बहुत ही कम प्रोत्साहन दिया गया । फल यह हुआ कि अपने आदर्शकी रक्षाके फेरमें सारी राजकीय शिक्षाने सैनिक बाना पहन लिया और 'स्पार्त्ती नियम' कठोर शासनका पर्याय बन गया । वहाँ युद्धमें जानेवाले सैनिकको ढाल देकर यही कहा जाता था—'इसे साथ लेकर आना या इसपर चढकर आना ।' जो युद्धमें जीतकर आता था वह अपनी ढाल साथ लेकर आता था और जो वीरगतिको प्राप्त होता था उसे उसीकी ढालपर लिटाकर घर लाया जाता था । कठोर सैनिक शिक्षाका परिणाम यह हुआ कि व्यक्तिगत शिक्षा दी नहीं गई और इसीलिये स्पार्त्तियोंकी नैतिक दशा कभी सुधर नहीं पाई ।

व्यक्तिगत समुन्नतिकी शिक्षाके अभावमें स्पार्त्तासे एक भी तेजस्वी शिक्षा-शास्त्री उत्पन्न नहीं हो सका । यूनानके सभी प्रसिद्ध शिक्षा-विशेषज्ञ, गुरु और लेखक सब अथेन्सवासी ही थे जिनमेंसे चार महापुरुषोंकी ख्याति आजतक बनी हुई है । वे हैं—सुकरात (सोक्रतेस् या सौक्रेटीज़), क्षीणोफन्न (क्सेनोफ़न या जेनोफ़न), अफ़लातून (प्लातो या प्लेटो) और अरस्तू (अरिस्तोतल या ऐरिस्टौटिल), जिन्होंने योरोपकी शिक्षाके इतिहास और विधानको बहुत दिनोंतक प्रभावित किए रक्खा ।

रोमी शिक्षा-पद्धति

रोमवाले भी प्रकृतितः अथेन्सियोंकी अपेक्षा स्पार्त्तियोंसे अधिक मिलते-

जुलते थे। उनकी प्रारम्भिक शिक्षाका केन्द्र था घर, जहाँ एकमात्र गृहपतिका शासन चलता था। बालकोंको बारह सरणियोंके नियम (लौज़ औफ़ ट्वैल्व टेबिल्स), व्यापार, खेती, नागरिक कर्त्तव्य, पढ़ने, लिखने और गणितकी शिक्षा दी जाती थी। कन्याओंको केवल घरके कामकी शिक्षा दी जाती थी।

जब रोमवालोंने यूनानको जीता तब एक उल्टी बात यह हुई कि रोमकी शिक्षा-प्रणालीपर यूनानियोंका बड़ा प्रभाव पड़ा। सैकड़ों यूनानी शिक्षक रोममें आ धमके और रोमवालोंकी शुद्ध व्यावहारिक शिक्षामें साहित्य और कलाका भी समावेश हो गया। फल यह हुआ कि छोटे बच्चोंको यूनानी काव्य और गद्यकी शिक्षा दी जाने लगी तथा ऊँची कक्षाओंमें इतिहास, विज्ञान, दर्शन, वक्तृत्व-कला, वाक्चातुर्य और शास्त्रार्थ-कलाकी। इस शिक्षाके व्यापक प्रभावसे रोममें सिसरो, सेनेका और क्विन्तिलियन जैसे प्रतिभाशील शिक्षा-शास्त्री और वक्ता उत्पन्न हुए, धड़ाधड़ विद्यालय खुलने लगे और थोड़े ही समयमें रोम-साम्राज्यमें शिक्षाका प्रशस्त प्रसार हो चला। इसी बीच सहसा ट्यूटोनी दस्युओंने आक्रमण करके रोम-साम्राज्यको छिन्न-भिन्न कर डाला और यूनानी तथा रोमी शिक्षा-शास्त्रियोंके समस्त परिश्रमपर पानी फेर दिया। इस बर्बर आक्रमणका अत्यन्त भयानक दुष्परिणाम यह हुआ कि यूनान और रोमकी प्रशस्त शिक्षा-पद्धति फिर पनप ही नहीं पाई।

ईसाई पादरियोंका प्रभुत्व

योरोपमें ईसाई पादरियोंका जब प्रभुत्व हुआ तब उन्होंने केवल धार्मिक व्यवस्थापर ही नहीं वरन् शासन-व्यवस्थापर भी अधिकार कर लिया। उनके अनुसार जीवनका उद्देश्य यही था कि 'सब लोग साधुवृत्ति धारण कर लें और संसारकी सब वस्तुओंसे विरक्त हो जायँ।' इसलिये शिक्षाका भी उद्देश्य हो चला 'परलोककी साधनाके लिये तैयारी करना।' फलतः ईसाई मठोंमें इसी प्रकारकी शिक्षा दी जाने लगी और वहाँके सभी विद्यार्थी अपना अधिकांश समय प्रार्थना और ध्यानमें लगाने लगे, प्राचीन धार्मिक शिक्षाओं और ग्रन्थोंका आदर होने लगा और इन ईसाई मठोंमें रहने और पढनेवाले छात्र इन ग्रन्थोंकी सुन्दर कलात्मक प्रतिलिपि करना ही अपना सौभाग्यवर्द्धक व्यवसाय समझने लगे।

इस कार्यमें अधिक दक्ष करनेके लिये नये मूँडे हुए चेलोंको पढ़ना, लिखना, गाना, गिरजाघरमें पूजा करना और साधारण-सा गणित भी सिखाया जाने लगा। इसके पश्चात् उन्हें विद्यात्रयी [लातिनका व्याकरण, भाषण-कला तथा तर्कशास्त्र] और ज्ञान-चतुष्टय [गणित, ज्यामिति, ज्यौतिष और संगीत) सिखानेकी व्यवस्था की गई और इस प्रकार 'सप्त उदार कलाओं' (सेविन लिबरल आर्ट्स) के शिक्षणका क्रम चल निकला।

नागरता या सामन्तवाद (शिवेलरी) की शिक्षा

धार्मिक व्यूहसे मुक्त व्यक्तियोंने इन ज्ञानविस्तारक कलाओंसे भले ही कुछ लाभ उठाया हो, किन्तु इसका वास्तविक उद्देश्य धार्मिक अभ्युत्थान ही था, यहाँतक कि अलकुइनके नेतृत्वमें चार्लमैग्नेने जो इस सम्बन्धमें प्रयास किए वे भी शिक्षाके उद्देश्यको बहुत बदल नहीं पाए। उनकी मृत्युके समय-तक केवल पादरी ही पढ़े-लिखे लोग होते थे। साधारण जन, यहाँतक कि कुलीन वर्ग भी नाममात्रकी ही शिक्षा पाते थे। कुलीन वर्गको जो शिक्षा दी जाती थी उसे शिक्षाके बदले साहसपूर्ण नागरिकता (शिवेलरी), सामन्तवाद या संक्षेपमें नारी-सेवा कहा जा सकता है। किसी भी युवकको प्रारम्भमें किसी सरदार या किसी महिलाके साथ उसका सेवक होकर रहना पड़ता था। उसे काव्य और संगीतकी शिक्षा दी जाती थी और चतुरङ्ग (शतरंज) खेलना सिखाया जाता था। कुछ और बड़े होनेपर उसे सैनिक शिक्षा दी जाती थी और आखेट करना, घुड़सवारी करना, घोड़ेपर चढ़कर भालेसे द्वन्द्व-युद्ध करना, तैरना और गाना सिखाया जाता था। इसीके साथ-साथ ईसाई धर्मका भी उसे ज्ञान कराया जाता था। जब वह स्वयं सरदार बन जाता था तब उसे नीति-शास्त्रकी शिक्षा दी जाती थी, सदाचारका अभ्यास करना सिखाया जाता था और उसे ईसाई धर्म तथा महिलाओंकी रक्षाके लिये दीक्षित कर लिया जाता था।

विद्वन्मंडलकी स्थापना

ईसाई मठोंके विद्यालयोंमेंसे ही एक नये प्रकारके विद्वद्वाद (स्कौलस्टिसिज़्म) का आविर्भाव हुआ जिसका उद्देश्य यह था कि धर्मकी समुन्नतिके

निमित्त यूनानी भाषाका प्रयोग किया जाय। इन लोगोंने तर्कवादको बड़ा महत्त्व दिया जिसके अध्ययनका यह उद्देश्य था कि उसके द्वारा नये ज्ञान-तत्त्वोंकी खोज करनेके बदले प्राचीन ज्ञान-तत्त्वोंका समर्थन किया जाय और उन्हें सत्य प्रमाणित किया जाय। इन लोगोंने अरस्तू और उसके ग्रन्थोंको ही ज्ञानका मूल मान लिया और अपनी सारी शक्ति उन्हींका अध्ययन करने और उन्हींको सिद्ध करनेमें लगा दी।

ग्यारहवीं, बारहवीं और तेरहवीं सदियोंमें कारीगरों, मिस्त्रियों और व्यापारियोंकी चेष्टासे बहुतसे छोटे-छोटे गाँव भी बड़े-बड़े नगर बन गए। इन लोगोंने अपने-अपने व्यावसायिक संघ (गिल्ड) बना लिए और इन संघोंने निश्चय कर लिया कि अपने भावी सदस्योंको शिक्षित करके ही हम साँस लेंगे। इन संघोंने कुछ ऐसे पादरी नियुक्त कर लिए जो बच्चोंको पढ़ना, लिखना और गणित सिखाते थे। इस प्रकारके विद्यालय नगरोंमें खुलते चले गए और इन संघीय विद्यालयोंमें शिक्षाकी प्रणाली यह हो गई कि बालकोंको कुछ दिनोंतक किसी भी व्यवसायीके साथ रहकर उसका काम सीखना पड़ता था और काम सीखकर एक निश्चित अवधितक उसके यहाँ काम भी करना पड़ता था।

विश्वविद्यालयोंका प्रादुर्भाव

ग्यारहवीं शताब्दीके निर्वाण काल और बारहवीं शताब्दीमें योरोपमें विश्वविद्यालय खुलने लगे थे। जैसे भारतमें विशिष्ट विद्वानोंकी परिषदें पीछे चलकर गुरुकुलके रूपमें परिणत हो गईं वैसे ही योरोपमें भी प्रारम्भमें कुछ विद्यार्थी किसी विशेष विद्याके अध्ययनके लिये कहीं एकत्र होते थे (जैसे सालेर्नोमें भैषज्य-विद्याके लिये या बोलोनामें न्यायनीति (क़ानून) सीखनेके लिये) और वहाँ विश्वविद्यालय बन जाता था। पैरिस विश्वविद्यालयका उद्भव भी एक गिरिजाघरसे संबद्ध विद्यालयसे हुआ जो वास्तवमें अध्यापकोंका ही एक संघटन मात्र था।

मध्यकालीन युगकी शिक्षा

मध्यकालीन युगमें कला, सौन्दर्य-शास्त्र, साहित्य, कविता और विज्ञानने

ईसाई धर्म और गिरिजाघरको सहायता देते हुए बड़ी उन्नति की। मुसलमानोंके हाथसे अपना धर्मदेश (ईसाका जन्मस्थान येरुसलम) छीननेके लिये सोलहवीं शताब्दीमें ईसाइयोंने जो धर्मयुद्ध किया था उसका परिणाम यह हुआ कि पादरियोंके प्रभावसे जो विषय अबतक त्याज्य समझे जाते थे वे भी जागरण-कालमें जाग उठे। साहित्य और ज्ञानकी अभिवृद्धिके निमित्त यूनानी और लातिन भाषाएं पढ़ाई जाने लगीं और शिक्षाका उद्देश्य हुआ व्यक्तित्वका संवर्द्धन। पादरियोंका प्रभाव घटने लगा और लोग यश कमानेके फेरमें पड़ गए। शिक्षण-सामग्रीमें वृद्धि हो गई। जागरणकालके इन अध्यापकोंने विशेषतः पेत्रार्कने भाषाकी शिक्षाको इतनी प्रधानता दे दी कि शारीरिक, सामाजिक, कलात्मक और वैज्ञानिक शिक्षाके तत्त्व पीछे छूट गए। किन्तु पेत्रार्कके स्वदेशवासी वित्तोरिनो द फ़ेल्त्रेने उससे असहमत होकर इतिहास और सभ्यताकी शिक्षाको भी अधिक महत्त्व देना प्रारम्भ किया।

सुधार और प्रतिसुधारके युगमें शिक्षा

सुधार और प्रतिसुधारके युगमें शिक्षाका क्षेत्र भी उसके प्रभावसे अछूता न बच सका। लूथर और मैलांख्थौन दोनोंने कहा कि राष्ट्रके प्रत्येक व्यक्तिको शिक्षा दी जाय और राज्यका यह धर्म हो कि वह नये विद्यालय स्थापित करके, उनका पोषण करके प्रत्येक बालकको वहाँ पढ़ानेके लिये विवश करे। इस प्रकार सर्वप्रथम अनिवार्य शिक्षाका शंख फूंका गया और यह कहा गया कि जनताकी तात्कालिक आवश्यकताकी पूर्तिके लिये प्रारम्भिक पाठशालाओंमें भाषा तथा व्यावहारिक विषयोंकी शिक्षाका प्रबन्ध तत्काल कर दिया जाय। माध्यमिक पाठशालाओंमें अर्थात् लातिन पाठशालाओं (इंगलैंडके ग्रैमर स्कूल्स) में उदात्त काव्य, इतिहास, सर्वंगणित, व्याकरण, भाषण-कला, तर्कशास्त्र, संगीत और व्यायामकी शिक्षा दी जाने लगी। इन पाठशालाओंसे निकले हुए छात्र भी लोकनेता बननेके बदले अध्यापक या राजमन्त्री बननेके फेरमें पड़ गए। जागरण-कालने शिक्षाक्षेत्रमें जिस उदारताकी आशा दिलाई थी वह सुधारकालमें ठंढी पड़ गई और शिक्षक भी उन विभिन्न सम्प्रदायोंका समर्थन करने लगे जो रोमन कैथोलिकोंके विरुद्ध उठ खड़े हुए थे। इन प्रोटेस्टेंटी

पाठशालाओंसे मिलती-जुलती जेसुइतोंकी पाठशालाएँ थीं जिन्होंने शिक्षामें पूर्णता और सुशिक्षित अध्यापकोंकी नियुक्तिको बड़ी महत्ता दी।

सोलहवीं शताब्दीके पिछले अर्द्धमें और पूरी सत्रहवीं शताब्दीमें शिक्षापर इस धार्मिक शासन और रूढ़िका बड़ा प्रभाव बना रहा। देखनेमें तो पाठ्यक्रम बड़ा मानवोचित और स्वाभाविक लगता था किन्तु वास्तवमें वह वैसा ही कठोर और पंडिताऊ था जैसा मध्ययुगमें।

यथार्थवाद या प्रत्यक्षज्ञानवाद

प्रत्यक्षज्ञान-वादी (सेन्स-रीअलिस्ट्स) या यथार्थवादी राबैल, मिल्टन, मौण्टेन तथा सर फ्रान्सिस बेकन-जैसे विद्वानोंने इस शिक्षा-पद्धतिका बड़ा विरोध किया। इनका कथन था कि यदि साहित्यका अध्ययन करना हो तो उसके शब्द-रूपों और उसके व्याकरण-सम्बन्धी प्रयोगोंपर माथापच्ची और शास्त्रार्थ न करके उसके भाव, उसकी ध्वनि और उसके अर्थको समझनेका प्रयत्न करना चाहिए। इसी प्रकार यदि प्रकृति, न्यायविधान, कला या शिल्पका अध्ययन करना हो तो उसका मौखिक शब्दबोध करनेके बदले उसका प्रत्यक्ष निरीक्षण, अनुभव और प्रयोग करना चाहिए। पाठ्यक्रममें साहित्य और भाषाकी प्रधानता थी और इसका विरोध भी नहीं हुआ। इसके समर्थकोंका उद्देश्य यह था कि इसके द्वारा हम राष्ट्रको 'नियमित संयम' (फ़ौर्मल डिसिप्लिन) सिखा सकते हैं और इस नियमित संयम-सिद्धान्तके आचार्य हुए प्रसिद्ध अँगरेज़ जौन लौक। उनका कहना था कि क्या सीखा या पढ़ा जाता है इसका कोई महत्त्व नहीं है, महत्त्व इस बातका है कि कैसे पढ़ा या सीखा जाता है। छात्रके लिये शिक्षाका फल यही है कि वह पढ़ने या सीखनेकी क्रियाके साथ-साथ संयम भी सीखता चले।

तथ्यवाद तथा स्वानुभूतिवाद

इस प्रवृत्तिका सबसे अधिक अन्तिम रूप था इन्द्रियानुभववाद या स्वानुभूतिवाद (सेन्स-रीअलीज़्म), जिसका अर्थ यह था कि हमें अपनी इन्द्रियों और बुद्धिगम्य तर्कोंद्वारा ही वास्तविक ज्ञान प्राप्त होता है, पोथी रटने और

रूढियोंमें अंधविश्वास करनेसे नहीं। अतः, शिक्षाके क्षेत्रमें इस तथ्यवादने प्राकृतिक विज्ञानोंकी खोजपर ही विशेष ध्यान दिया। इस तथ्यवादके दो पक्ष थे, एक था मानवतावादी तथ्यवादी (ह्यूमेनस्टिक रीअलिज़्म) और दूसरा था समाजवादी तथ्यवाद (सोशलिस्टिक रीअलिज़्म)।

मानवतावादी तथ्यवाद

पिछले खेवेके मानवतावादियोंने कहा कि किसी भी लेखकके शब्दोंमें जिन भावोंकी अभिव्यक्ति हुई है उनमें वास्तविक वस्तुओं तथा तत्त्वोंकी खोज करें। फल यह हुआ कि लोगोंने उदात्त साहित्य (क्लासिकल लिटरेचर) के शब्दों और बँधे हुए रूपोंकी उपेक्षा करके उसके वर्ण्य विषयकी ओर अधिक ध्यान देना प्रारम्भ किया। काव्योंके विषयका ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करनेके लिये काव्यमें वर्णित कथाके समयकी सामाजिक, भौगोलिक तथा प्राकृतिक परिस्थितिके अध्ययनकी प्रवृत्ति लोगोंमें बढ़ चली।

समाजवादी तथ्यवाद

जहाँ एक ओर लिखित साहित्यमें वास्तविकता ढूँढ़नेका प्रयत्न हो रहा था वहीं दूसरी ओर कुछ लोग यह समझ रहे थे कि कुछ तथ्य बताना मात्र ही शिक्षाका चरम लक्ष्य नहीं मान लेना चाहिए क्योंकि शिक्षा प्राप्त करनेका उद्देश्य तो जीवन-निर्वाहमें उस ज्ञानका प्रयोग करना है। इस विचारके आधारपर एक नया पन्थ चल पड़ा—सामाजिक तथ्यवाद, जिनके मतसे शिक्षा इस प्रकार दी जानी चाहिए कि वह छात्रोंको इस वास्तविक संसारमें रहने और जीवन वहन करने-योग्य बना सके तथा जीवनके अवसरों और कर्तव्योंके लिये सीधी व्यावहारिक बातें बता सके। इन लोगोंका विश्वास था कि उच्च समाजके उच्च वर्गको साहित्यिक शिक्षाके साथ मध्ययुगीन वीरताकी शिक्षा भी दी जाय जिससे वह वर्ग शिष्ट और सज्जन भी बन सके। इनका विचार था कि छात्रोंको विद्यालयोंमें पढ़ानेकी अपेक्षा किसी एक घरेलू अध्यापक-द्वारा या देशाटन-द्वारा शिक्षा देनी चाहिए और इसीलिये इन्होंने अपने पाठ्यक्रममें दौत्यकर्म (राजदूतका काम), मुख-सामुद्रिक (किसीका मुख देखकर उसका

स्वभाव ज्ञान लेना), अश्वारोहण, बर्छी चलाना और फुर्तीले व्यायामके साथ-साथ तत्कालीन भाषाओं तथा पास-पड़ोसके देशोंकी रीति-नीति और आचार-विचारके ज्ञान आदि विषयोंको स्थान दिया था।

इस प्रकारकी शिक्षाका ठीक विवरण मौण्टेन (१५३३ से १५९२ ई०) के 'बच्चोंकी शिक्षा' नामक निबन्धोंमें तथा जौन लौक (१६३२ से १७०४ ई०) के 'शिक्षा-सम्बन्धी कुछ विचार' नामक ग्रन्थमें मिल सकता है।

लौक

लौकने महत्त्वके क्रमसे शिक्षाके उद्देश्य रक्खे हैं—१. सद्गुण या सदाचार, २. ज्ञान (सांसारिक या इहलौकिक समस्त विषयोंका ज्ञान), ३. भाव-संस्कार अथवा मनकी उदारता और ४. विद्या। पुस्तक-ज्ञानके अतिरिक्त छात्रको शिष्ट नागरिकोंके भी कुछ गुण प्राप्त करने चाहिएँ जैसे नृत्यकला, अश्वारोहण, बर्छी चलाना और मल्लयुद्ध करना।

मानवतावादी तथ्यवादके समर्थक मिल्टनने कहा है कि 'भाषा और पुस्तककी शिक्षाके साथ-साथ पाठ्यक्रमके अन्तमें इतिहास, नीति-शास्त्र (ईथिक्स), राजनीति, अर्थशास्त्र और धर्मविज्ञान आदि सामाजिक विज्ञान भी सिखाने चाहिएँ एवं ऐसी व्यावहारिक शिक्षा देनी चाहिए जो विद्यार्थीको जीवनके निकटतम पक्षोंसे सम्पर्क करा दे। बँधे-बँधाए शब्दरूपोंकी रटाई छोड़कर हमें उन विचारों और तथ्योंका अध्ययन करना चाहिए जिनकी अभिव्यक्ति शब्दों-द्वारा होती है। इसी ज्ञानको आचार्योंने मानवीय सानुभव ज्ञान कहा है।

मौण्टेन

सामाजिक तथ्यवादी मौण्टेनने 'दिखावटी विद्वत्तापर' (ओन पेडेण्ट्री) नामक अपने ग्रन्थमें तत्कालीन संकुचित मानवतावादी शिक्षापर बड़ा कठोर व्यंग्य करते हुए कहा है कि 'अध्यापकका कर्तव्य केवल यही नहीं है कि वह पाठके शब्दोंमें ही विद्यार्थीकी परीक्षा ले, उसका यह भी कर्त्तव्य है कि वह पाठके अर्थ और भावका भी परीक्षण करे। उसे केवल यही नहीं देखना चाहिए कि विद्यार्थियोंने कितना रटा है, प्रत्युत यह भी देखना चाहिए कि छात्रने कितना समझा और कितना लाभ उठाया है।

मानवतावादी शिक्षाके अन्य आचार्य

मानवतावादी शिक्षाके आचार्योंमें राबैले (१४६५-१५५३ ई०) और मलकास्टर (१५३०-१६११ ई०) के अतिरिक्त ब्राथवेट आदि बहुतसे विद्वान् हुए जिन्होंने और भी उदार तथा बहुमुखी शिक्षाके साथ-साथ प्राकृतिक और सर्वसाधारण पद्धति-द्वारा शिक्षा देनेके सुझाव प्रस्तावित किए थे। इन्होंने प्राचीन रूढिवाद और बन्धनयुक्त मानवतावादको छिन्न-भिन्न कर डाला और वास्तविक जीवनसे सम्बन्ध रखनेवाली ऐसी शिक्षाका प्रचार किया जिसमें पाठ्य-विषयोंकी बहुलता हो।

सामन्त शिक्षालय (रिट्टेर आकाडेमियन)

इसी समय जर्मन राज्योंमें सत्रहवीं शताब्दिमें इस सामाजिक वास्तविकता-वादसे प्रभावित एक प्रकारके नये विद्यालय खुले जिनमें सामन्तों और सरदारोंके बच्चोंको फ्रांसीसी, इतालवी, स्पेनी और अँगरेज़ी भाषाओंके साथ-साथ शिष्टाचार, नृत्य, बर्छी चलाना, अश्वारोहण, दर्शनशास्त्र, सर्वगणित, भौतिक विज्ञान, भूगोल, गणनाशास्त्र, न्यायविधान, मुख सामुद्रिक-विज्ञान और दौत्य-कर्मकी शिक्षा दी जाती थी। इन विद्यालयोंको सामन्त-शिक्षालय (रिट्टेर आकाडेमियन) कहते थे। इनमें व्यायामशाला (जिमनेशिया) के सब अभ्यासोंके साथ-साथ वर्त्तमान भाषाओं, विज्ञानों और सामन्तवादी कलाओंका भी शिक्षण होता था और विश्वविद्यालयोंका भी थोड़ासा पाठ्यक्रम मिला लिया गया था।

इन मानवतावादी आचार्योंको यह श्रेय अवश्य दिया जायगा कि उन्होंने सार्वभौम प्रारम्भिक शिक्षा, अध्यापन-कलाकी शिक्षा और कन्या-शिक्षाकी व्यवस्था की और बालकोंके मानसिक विकासका अध्ययन करनेके लिये मार्ग खोल दिया।

स्वानुभव-तथ्यवाद और विज्ञानका आन्दोलन

सत्रहवीं शताब्दीमें चारों ओर वैज्ञानिक उन्नतिकी लहर उठ खड़ी हुई और शिक्षा-शास्त्रियोंने वास्तविक ज्ञानकी प्राप्ति तथा प्रत्येक वस्तुका वास्तविक

तत्त्व पहचाननेके लिये पाठ्यक्रममें विज्ञान भी जोड़ दिया। उस विज्ञानमें बहुतसी ऐसी बातें भी थीं जो धार्मिक अन्धविश्वाससे टक्कर खाती थीं। इसलिये पादरियोंके कान खड़े हुए। वे भला कब सहन करनेवाले थे कि कोई वैज्ञानिक आकर यह कह दे कि पृथ्वी तो सूर्यके चारों ओर घूम रही है। इसलिये पादरियोंने इस नये आन्दोलनका बड़ा विरोध किया और इन सब वैज्ञानिकोंको नास्तिक तथा धर्मद्रोही घोषित कर डाला।

बेकन

फ्रांसिस बेकन (१५६१-१६२६ ई०) को ही वैज्ञानिक खोजकी वह सर्वप्रथम व्यवस्थित पद्धति निकालनेका श्रेय है जिसका नाम उसने परिणाम-पद्धति (मैथड औफ़ इण्डक्शन) रक्खा था। शिक्षाके क्षेत्रमें यही सर्वप्रथम वैज्ञानिक पद्धति मानी गई और इसीलिये लोग बेकनको सबसे पहला स्वानुभव-तथ्यवादी अर्थात् अपने अनुभवसे तथ्यको जानने और समझनेवाला मानते हैं। उसने अरस्तूकी सिद्धान्त-पद्धति (डिडक्टिव मैथड) का खण्डन किया। जिसमें वैज्ञानिक लोग पहलेसे ही एक सिद्धान्त मानकर उसकी सिद्धिके लिये उदाहरण खोजते थे।

राटिख़

बेकनका प्रभाव राटिख़पर अधिक पड़ा। वह मानता था कि एक समय एक ही विषय इस प्रकार पढ़ाया जाय कि उसकी आवृत्ति होती रहे। उसने शिक्षाके कुछ मूलमंत्र या गुर स्थिर कर लिए थे जैसे 'प्रकृतिके अनुसार चलो, प्रत्येक बात प्रयोग और परिणामके द्वारा सीखो, रटकर कुछ कंठाग्र न करो।' वह तो सफल न हो पाया पर उसके शिष्य कमीनियसने उसका ठीक प्रचार किया।

कमीनियस

जौन ऐमौस कमीनियस (१५९२-१६७१ ई०) का जन्म मोरावियाके निवनित्स नामक गाँवमें हुआ था और वह मोरावी चर्च (ईसाई धर्मपद्धति) का प्रधान अनुगामी था। जीवनकी कुछ झंझटोंमें फँस जानेके कारण उसे

बहुत इधर-उधर घूमना पड़ा और ऐसे बहुत प्रकारके लोगोंसे उसका सम्बन्ध हुआ जो उस समय शिक्षाके सुधार और संघटनमें दत्तचित्त होकर लगे हुए थे। इसलिये कमीनियसपर उनका प्रभाव भी भरपूर पड़ा। उसने तीन दिशाओंमें प्रमुख रूपसे कार्य किया—१. लातिन सीखनेके लिये पुस्तकमाला (जानुआ लिंग्वारम रेसेराता) की रचना की, २. 'महाशिक्षाशास्त्र' (दि ग्रेट डायडेक्टिक) रचा और ३. 'ज्ञानकी सर्वतोमुखी व्यवस्था करनेके उपाय' (पेनसोफ़िया) लिखा।

शिक्षाके सम्बन्धमें उसने पूरा मत 'महाशिक्षाशास्त्र' (दि ग्रेट डायडेक्टिक, सन् १६५७ ई०) में प्रतिपादित किया है। इसमें उसने तथ्यवादी आन्दोलनके भी सर्वश्रेष्ठ तत्त्वोंका समावेश कर लिया था। उसने ज्ञान, सदाचार और पवित्रताको ही शिक्षाका आदर्श माना था और बालक-बालिका, अच्छे-बुरे, धनी-निर्धन सबके लिये सार्वभौम शिक्षाका समर्थन किया था। उसका विश्वास था कि सर्वतोमुखी शिक्षा चारों प्रकारके विद्यालयोंमें अर्थात् मातृ-कक्षा, ग्रामकी देशी भाषा-पाठशाला, नगरोंके लातिन विद्यालय और राज्यके विश्वविद्यालय सभीमें दी जाय और आगेके प्रत्येक क्रमिक विद्यालयमें ज्ञानकी परिधिका उत्तरोत्तर विकास होता चले अर्थात् शिशु-शिक्षा-कालसे ही भूगोल, इतिहास, विज्ञान, व्याकरण, भाषणकला, संगीत, शास्त्रार्थकला, गणित, ज्यामिति, ज्यौतिष, अर्थ-शास्त्र, राजनीति, तत्त्वज्ञान और धर्म सबका थोड़ा-थोड़ा साधारण परिचयात्मक ज्ञान कराते रहना चाहिए और आगेकी श्रेणियोंमें क्रमशः उस ज्ञानका निरन्तर विस्तार कराते रहना चाहिए जिससे नये विषय लानेकी आगे कोई आवश्यकता ही न रह जाय। यही प्रणाली आगे चलकर कन्सेण्ट्रिक मैथड (परिधि-विस्तार-पद्धति) के नामसे प्रसिद्ध हुई।

शिक्षण-पद्धतिके सम्बन्धमें उसका सिद्धान्त था कि सम्पूर्ण ज्ञान स्वाभाविक पद्धतिसे ही दिया जाय। कमीनियसने ही सर्वप्रथम शिक्षामें परिणाम-प्रणाली या इण्डक्टिव मैथडका प्रयोग किया था। पढ़ना, लिखना, संगीत, विज्ञान, भाषा, सदाचार और धर्मकी शिक्षाके लिये भी उसने बेकनकी परिणाम-प्रणालीका ही प्रयोग किया। उसका कहना है कि विज्ञान सिखाते समय यदि

वास्तविक वस्तुएँ न मिल सकें तो उनकी प्रतिकृति और चित्र आदि बनाकर ही दिखा दिए जायँ अर्थात् विद्यार्थीको प्रत्येक वस्तुका प्रत्यक्ष या स्वानुभव-ज्ञान मिलना ही चाहिए। इस प्रकार कमीनियसने स्वानुभव तथ्यवादका आधार लेकर उसमें अनेक सुधार भी किए और बहुतसे नये तथ्य भी जोड़े। इसीलिये उसे सत्रहवीं शताब्दीके शिक्षाशास्त्रियोंमें सबसे बड़ा सिद्धान्ताचार्य और व्यावहारिक सुधारक कहा जाता है।

लौक

शिक्षा-शास्त्रियोंमें जौन लौक (१६३२-१७०४ ई०) ही ऐसा भाग्यवान् पुरुष है जिसे लोग तथ्यवादी, स्वानुभव तथ्यवादी और प्रकृतिवादी सभी कुछ कहते हैं। यदि लौक-द्वारा प्रतिपादित बौद्धिक, नैतिक और शारीरिक शिक्षाके तत्त्वोंका एक शब्दमें समास करें तो वह शब्द है—'विनय या आत्मसंयम'। विनयका अर्थ है भली प्रकार विशिष्ट नियमके अनुसार अपना आचरण संयत रखना। यह शब्द अँगरेज़ीके 'डिसिप्लिन' शब्दका पर्यायवाची है। लौकका विचार है कि सम्पूर्ण ज्ञान-लाभ अनुभवसे ही होता है। उसका कहना है कि मस्तिष्क कोरे कागज या मोम-पट्टी (टेबुला राज़ा या तबुला रासा) के समान है जिसपर हमारी इन्द्रियोंके द्वारा बाह्य संसारकी छाप पड़ती चलती है। अतः, मनको विवेकशील बनानेके लिये अभ्यास तथा विनयकी बड़ी आवश्यकता है और मनके संयमके लिये सर्वगणित तथा विज्ञानकी शिक्षा आवश्यक है। मनुष्यको अपनी इच्छाओंका तिरस्कार करके, अपनी रुचिकी उपेक्षा करके, मनकी वृत्तियोंका दमन करके, उचित विवेक तथा तर्कके अनुसार सुमार्ग ग्रहण करना चाहिए और वह शक्ति नित्य व्यवहार और बचपनसे अभ्यास करनेसे प्राप्त हो सकती है। इससे भी अधिक निश्चित विनयपूर्ण उसका प्रसिद्ध 'कठोरीकरणका प्रयोग' (हार्डनिंग प्रोसेस) है। उसका कहना है कि 'बच्चोंको जाड़े-पालेमें बहुत पहना-उढ़ाकर नहीं रखना चाहिए। बच्चोंके सब अंग ठीक साध देने चाहिएँ। उनके पैर नित्य ठंढे पानीसे धुलाए जायँ। उनके जूतोंके तल्ले इतने पतले हों कि यदि वे पानीमें चलें तो जूतोंमें पानी भर सके। उन्हें बिना टोपी उढ़ाए धूप और वायुमें खेलनेको छोड़

दिया जाय। उनकी खाटें भी कड़ी लकड़ीकी हों।' लौकके इस कठोर विनयके सिद्धान्तके कारण शिक्षा-शास्त्री लोग उसे 'नियमित विनय' (फ़ौर्मल डिसिप्लिन) के शिक्षा-सिद्धान्तका सर्वप्रथम महान् प्रवर्त्तक मानते हैं। लौकके इस सिद्धान्तका यह प्रभाव पड़ा कि उसके अनुयायियोंने यह नियम बना दिया कि चाहे बालककी रुचि, योग्यता और आकांक्षा हो या न हो किन्तु उसे लातिन, यूनानी और गणित अवश्य पढ़ाना ही चाहिए, क्योंकि गणितसे तर्क-बुद्धि बढ़ती है और भाषाओंसे स्मृति-शक्ति बढ़ती है। यह सिद्धान्त इतना अधिक लोकप्रिय हुआ कि वैज्ञानिकोंने सभी प्रकारके विद्यालयोंमें इस 'नियमित विनय' का प्रचार कर दिया।

———

२

शिक्षामें लोकतंत्रवाद और प्रकृतिवाद

अठारहवीं शताब्दीमें योरप तथा अमरीकामें पादरियोंके प्रभुत्व तथा व्यक्तिके बन्धन एवं एकाधिकारत्वके विरुद्ध भयंकर विद्रोह हुआ। यह आन्दोलन इस शताब्दीके पूर्वार्द्धमें तो बौद्धिक दमनके विरुद्ध चला और उत्तरार्द्धमें राजनीतिक अधिकारोंके दमनके विरुद्ध। पहले आन्दोलनका नेता था वौल्तेया, जिसने कहा कि 'समाज और शिक्षाका आधार तर्क या विवेक होना चाहिए।' दूसरे प्रकारके आन्दोलनका नेता था रूसो, जिसने प्रकृतिवादका प्रवर्त्तन किया।

वोल्तेया (वौल्टेयर)

वौल्तेया (१६९४ से १७७८ ई०) तथा उसके सहकारी दिदेरो, कोंदिलाक दे' अलम्बे आदि फ्रांसीसी आचार्योंने रूढिगत संस्थाओंका विरोध करके विवेकवाद (रैशनलिज़्म) की स्थापना की। इस विवेकवादका उद्देश्य था एकतन्त्रवाद तथा अन्धविश्वासको मिटाना और उनके स्थानपर आचार-व्यवहारका स्वातन्त्र्य, सामाजिक न्याय और धार्मिक सहिष्णुता स्थापित करना। परन्तु प्राचीनताका विरोध करनेमें ये लोग इतने आगे बढ़ गए कि चारों ओर एक प्रकारका विप्लव, उच्छृङ्खलत्व और नास्तिकवादका साम्राज्य फैल गया। इस प्रकार जहाँ एक ओर विवेकवादने मानव-बुद्धिको बन्धन-मुक्त करनेका प्रयास किया वहीं दूसरी ओर उसने उस साधारण मानव-समाजकी स्थिति सुधारनेका कोई यत्न नहीं किया जो अभीतक दरिद्र, अपढ़ और चारों ओरसे पीड़ित था।

रूसो

इस बुद्धिवादी और विवेकवादी प्रवृत्तिके विरुद्ध जीन जेक्स रूसो (१७१२–१७२८ ई०) ने अपना मनोवेगवाद (इमोशनलिज़्म) और

प्रकृतिवाद (नैचुरलिज़्म) का झंडा उठाया। रूसोका जन्म २५ जून सन् १६१२ को इतालिया (इटली) के जिनेवा नगरमें हुआ। बचपनमें ही माता न रहनेके कारण उसका पालन-पोषण उसकी बुआ और उसके फक्कड़ पिताने किया। जब वह केवल छह वर्षका था, तभी उसके पिताने उसे अश्लील और कामोत्तेजक कथाएं सुना-सुनाकर बचपनमें ही उसका मन कुरुचिपूर्ण कर दिया। बचपनमें ही उसने अपने पिताके सब उपन्यास पढ़ डाले। पर जब वह अपने दादाकी पुस्तकें पढ़ने लगा तब उसे प्लुतार्क-द्वारा लिखित 'महापुरुषोंका जीवन-चरित' (प्लुतार्क्स' लाइव्ज़ औफ़ ग्रेट मैन्) और 'ईसाई-धर्म तथा साम्राज्यका इतिहास' प्राप्त हो गया। रूसोके चरित्रपर इस साहित्यका इतना प्रभाव पड़ा कि वह वीरताके भावसे ओत-प्रोत हो गया।

सन् १७२७ में रूसो अपने ममेरे भाईके साथ बोसी गाँवमें दो वर्ष रहा। इस बीच एक बार उसपर झूठा आरोप लगाकर जो दंड दिया गया उससे उसका हृदय तिलमिला उठा और उसने परिणाम निकाला कि 'मनुष्यकी गतिमें नियम-बद्धता, बाह्याडम्बर, उपदेश और दंडका प्रयोग करके जब उसे प्रकृतिसे दूर रक्खा जाता है तभी उसके स्वाभाविक पवित्र मनमें विकार उत्पन्न होता है और उसकी सरलता तथा स्वाभाविकता नष्ट हो जाती है।' उसने अपने 'एमील' नामक पोथीमें कहा है—'प्रत्येक वस्तु प्रकृतिके हाथमें सुन्दर, स्वच्छ और पवित्र रहती है, किन्तु मनुष्यके हाथमें आते ही उसमें विकार आने लगता है।'

बोसी छोड़नेके पश्चात् दोनों भाई जिनेवामें घर बैठे पतंग बाँधते, पिंजड़े बनाते, ढोल मढ़ते, मकान उठाते, घड़ी सुधारते और खिलौने गढ़ते थे। रूसो जब कभी अपने पिताके पास जाता तो महिलाएँ उसे बड़ा प्यार करतीं क्योंकि वह बड़ा सुन्दर था। बस बारह वर्षकी अवस्थामें ही उसके मनमें प्रचंड काम-भावना जाग उठी। रूसोने चार वर्षतक एक शिल्पीके पास काम सीखते समय कुसंगतिसे झूठ बोलना, चोरी करना आदि सब कुकर्म सीख लिए। फिर वहाँसे ऊबकर वह तीन वर्षतक सेवौय प्रान्तमें इधर-उधर घूमता रहा। दुखी-पीड़ितोंसे सहानुभूति

करना भी रूसोने इसी समय सीखा और समझा कि ग्रामीणोंके सरल देहाती जीवनमें जो निर्मलता, पवित्रता, नम्रता और सच्चाई पाई जाती है वह सभ्य, शिक्षित नागरिक कहलानेवाले व्यक्तियोंमें ढूँढ़नेपर भी नहीं पाई जा सकती।

उन्नीस वर्षकी अवस्थामें मदाम दे वारेन् नामकी एक दुश्चरित्रा स्त्रीके साथ वह सेवौयमें रहने लगा जहाँ उसने संगीत, दर्शन तथा अन्य विज्ञानोंका ज्ञान भी उपार्जित किया। पर थोड़े ही दिनोंमें उन दोनोंमें खटपट हो गई और रूसो सन् १७२४ में पैरिस चला गया जहाँ वह एक मूर्ख, कुरूपा नौकरानीके चंगुलमें फँस गया। सन् १६४१ में वह वेनिसमें फ्रांसीसी राजदूतका आत्म-सचिव बन गया पर वहाँ भी उसका निर्वाह न हो पाया। साढ़े सात वर्षके पश्चात् उसने संगीत-शाला खोल ली जिससे धीरे-धीरे साहित्यकारों और कलाविदोंमें उसका नाम होने लगा।

सन् १७५० से १७६५ तक रूसोने कई लेख प्रकाशित किए। उसका सर्वप्रथम लेख छपा 'विज्ञान और कलाओंकी उन्नतिने लोकचरित्र बिगाड़नेमें योग दिया है या सुधारनेमें?' सन् १७५५ में उसने 'दि न्यू हैलौय' नामक प्रसिद्ध उपन्यास लिखा और फिर एक लेख लिखा 'मनुष्योंमें असमानताका प्रादुर्भाव'। रूसोका कथन है कि 'व्यक्तिगत धनकी वृद्धिके साथ ही चोरी, डकैती आदि बढ़ने लगी और धनीकी रक्षाके लिये ही दंड-विधान, रक्षा-विधान और सभ्यता आदिका निर्माण हुआ है। नियमसे चलाए हुए समाजने सदा दीनोंकी उपेक्षा करके धनियोंकी ही शक्ति बढ़ाई।'

सन् १७६२ में रूसोका प्रसिद्ध उपन्यास 'एमील' या 'एमिली' और 'सामाजिक धर्म' (सोशल कौन्ट्रैक्ट) निकला। 'सामाजिक धर्म' तो साम्राज्यवादका विरोधी था। धार्मिक अधिकारी उससे इतना चिढ़ गए कि पेरिस और जिनेवामें जहाँ कहीं वह पोथी पादरियोंके हाथ पड़ी, तुरन्त जला दी गई और रूसोको भी वहाँसे अपने प्राण लेकर भागना पड़ा। रूसोकी इस पुकारका परिणाम यह हुआ कि फ्रांस और अमरीकामें स्वतन्त्र विचारकी क्रान्ति मच गई और लोग नये ढंगसे सोचने-विचारने लगे।

'एमील' नामक उपन्यासमें उसने एमील नामक बालकका चित्रण करके अपने सम्पूर्ण आदर्श स्पष्ट कर दिए हैं। रूसोका कथन है कि बच्चेके मन, मस्तिष्क और शरीरको स्वतन्त्रतापूर्वक समुन्नत होनेका अवसर देनेके लिये उसे कृत्रिमतासे हटाकर स्वाभाविकताकी ओर छोड़ देना चाहिए जिससे उसके निर्मल मस्तिष्क, मन और शरीरके विकासमें पूर्ण स्वतन्त्रता रहे और समाजके विचारोंकी छाया उसके निर्मल मनपर न पड़ पावे। इसीलिये उसने घोषणा की थी—'प्रकृतिकी ओर लौट चलो। बालकको स्वाभाविक रूपसे ही शिक्षा दो।' यही रूसोका प्रकृतिवाद है।

रूसोके अनुसार प्रत्येक बालक, जन्मके समय निर्मल होता है। उसकी प्रकृति, उसका मन, उसकी इच्छाएँ तथा मूल प्रवृत्तियाँ सभी उच्च कोटिकी होती हैं, इसलिये यथासम्भव उसके विकासके लिये उसे पूर्ण स्वतन्त्रता देनी चाहिए। यह स्वतन्त्रता तबतक सम्भव नहीं है जबतक बालकको समाजसे दूर न कर दिया जाय। शिक्षक तथा समाजकी आवश्यकताओं और भावोंके अनुसार बालकको शिक्षा नहीं देनी चाहिए वरन् बालककी आवश्यकता और उसकी स्वाभाविक प्रवृत्तिको ही उसकी शिक्षाका पथप्रदर्शक होना चाहिए। ऐसा करनेसे प्रत्येक बच्चा अपनी योग्यता, आवश्यकता तथा समयके अनुसार अपने आप सरलतासे अपने आपको शिक्षित करता चल सकता है। अतः शिक्षा देनेसे पूर्व, बच्चेकी योग्यता, उसकी आवश्यकता बुद्धि तथा रुचि भली प्रकार समझ-बूझ ली जानी चाहिए। अध्यापकको चाहिए कि वह शिक्षा-विधि तथा पाठ्य-विषय दोनोंकी अपेक्षा बालकको अधिक महत्त्वपूर्ण समझे और बालककी प्रवृत्ति तथा प्रकृतिके अनुसार ही उसे शिक्षा दे। अपने 'प्रकृतिका अनुसरण करो' के सिद्धान्तके अनुसार वह चाहता था कि प्रत्येक क्षेत्रमें बालकका विकास स्वतन्त्रतापूर्वक हो, उसमें किसी प्रकारका हस्तक्षेप न हो। बालकके बौद्धिक विकासको प्रबुद्ध करनेके लिये शिक्षकको उसकी बौद्धिक परिधि तथा स्वाभाविक कुतूहल-भावनाका सहारा लेकर चलना चाहिए। शिक्षकको चाहिए कि बालकको ऐसे अवसर प्रदान करे जिनमें वह स्वयं सोच-विचारकर अपने अनुभवका परिणाम निकाले।

स्वयं कोई बात बतानेकी अपेक्षा बालकके मनमें ऐसी उत्सुकता जगा दी जाय कि वह स्वयं उसे ढूँढ़ निकाले क्योंकि इससे उसके मस्तिष्कका विकास भी भली प्रकार होता चलेगा। यही सिद्धान्त आगे चलकर स्वयंशोध (ह्यूरिस्टिक) प्रणालीका जनक भी सिद्ध हुआ।

रूसोका कहना है कि बालकको चालढाल तथा उसके आचार-व्यवहारमें शिक्षा तथा उपदेशसे इतना सुधार कभी नहीं हो सकता जितना वह स्वयं अपने अनुभवसे कर सकता है। वह अपने कुकर्मोंके कटु अनुभवसे अपने दोष अधिक स्वाभाविक रूपसे देख सकता है। यदि बालक एक बार आगमें हाथ डालकर अपना हाथ जला लेगा तो वह दुबारा आगमें हाथ नहीं डालेगा। इसके अतिरिक्त बच्चेका मस्तिष्क कोरी पाटी नहीं है कि शिक्षक जो चाहे उसपर लिख दे। उसके मस्तिष्कमें उसका अपना कुछ व्यक्तिगत ज्ञान भी रहता है। अतएव यदि शिक्षकको उसीपर लिखना हो तो उसे मिटाकर ही लिखना पड़ेगा। मिटाकर लिखनके दुहरे कार्यसे अच्छा तो यही है कि बालककी रुचि, बुद्धि, योग्यता तथा समर्थताको समझकर ही उसके अनुसार उसे शिक्षा दी जाय। इसका यह अर्थ हुआ कि बालककी प्रवृत्तिके अनुरूप शिक्षा-विधि बनाई जाय न कि शिक्षा-विधिके अनुरूप बालक बनाया जाय।

रूसोके अनुसार बारह वर्षतकके बालकोंको प्रकृतिके हाथमें इस प्रकार स्वतन्त्र छोड़ देना चाहिए कि उसके घूमने-फिरने, कूदने-फाँदनेमें न तो किसी प्रकारकी बाधा पड़े न किसी प्रकारका हस्तक्षेप ही किया जाय। वह जैसे चाहे वैसे उठे-बैठे, खाए पिए और खेले-कूदे। उसकी स्वाभाविक गतिपर कोई नियन्त्रण न लगाया जाय। इस प्रकारके स्वाभाविक और स्वतन्त्र विचरणसे बालककी ज्ञानेन्द्रियोंका विशेष संवर्धन और विकास होता है। यही नहीं, इस स्वतःप्रवृत्त विचरण-द्वारा वह ऐसा नया ज्ञान अर्जित करता चलता है जो नियमित शिक्षा-द्वारा उस परिमाणतक नहीं दिया जा सकता। बालकको फूलोंके विषयमें जितना ज्ञान अपनी फुलवारीमें खेलते-खेलते प्राप्त हो सकता है उतनी

मात्रामें शिक्षक उसके मस्तिष्कमें कभी नहीं भर सकता और इसमें सन्देह नहीं कि अपने अनुभवसे अर्जित किया हुआ ज्ञान अधिक स्थायी और उपयोगी होता है। इसलिये यह आवश्यक है कि बारह वर्षतक उसे बलवत् शिक्षा नहीं देनी चाहिए।

रूसो यह भी कहता था कि अधिक उपदेश देने और बालककी बुद्धिपर अधिक भार डालकर बौद्धिक शिक्षा देनेसे ठीक रूपसे उसकी शारीरिक वृद्धि नहीं हो पाती। अतएव, बालकके शरीरका स्वस्थ होना अधिक आवश्यक है क्योंकि उसकी सम्पूर्ण समर्थताओंका केन्द्र शरीर ही होता है।

रूसोने अपने एमील नामक ग्रन्थमें एक काल्पनिक शिष्य एमीलकी सृष्टि करके और उसे अपने प्रकृतिवादी सिद्धान्तोंके अनुसार शिक्षा दिलाकर यह दिखलाया कि जन्मसे लेकर पूरे मनुष्य होनेतक वह किस प्रकार बिना शिक्षकके सब कुछ स्वयं सीख लेता है।

ग्रन्थके प्रारम्भमें ही वह अपने मूल सिद्धान्तकी व्याख्या करता हुआ कहता है—'प्रकृतिकर्त्ताके हाथसे आई हुई प्रत्येक वस्तु अच्छी होती है किन्तु मनुष्यके हाथमें पड़कर भ्रष्ट हो जाती है'। इसकी व्याख्या करके वह कहता है कि हमारी शिक्षा तीन प्रकारके अध्यापकोंसे होती है—प्रकृति, मनुष्य और पदार्थ। इनमेंसे प्रकृतिपर हमारा कोई वश नहीं है। इसलिये, हमें चाहिए कि मनुष्य और पदार्थोंको प्रकृतिकी ओर प्रेरित करें और अपनी शिक्षा-पद्धितिको शुद्ध प्राकृतिक बनावें।

एमील पाँच खण्डोंमें विभक्त है। इनमेंसे चार तो क्रमशः एमीलके शैशव, बालकत्व, किशोरत्व और युवावस्थाकी शिक्षाका विवरण है और पाँचवें खंडमें उसकी भावी पत्नी सोफ़ीका विवरण है।

रूसोकी शिक्षा-प्रणालीका विश्लेषण

इस प्रकार रूसोने एमीलमें पुरुषोंके लिये प्राकृतिक व्यक्तिवादी शिक्षा तथा स्त्रियोंके लिये आत्मत्याग तथा आत्मसमर्पणयुक्त कठोर शिक्षा निर्धारित

की है और यह यह भी बताया है कि इस प्रकारकी शिक्षासे देशमें सुख और समृद्धिका विस्तार होगा। किन्तु वास्तवमें यह शिक्षा-पद्धति अत्यन्त अव्यावहारिक है। हाँ, एमीलसे एक बात अवश्य सीखी जा सकती है कि शिक्षा यथासंभव प्राकृतिक, अनुभव-जन्य और समाज-हितकारी अवश्य हो।

रूसोकी शिक्षा-पद्धतिके प्रयोग

अपने समयमें रूसोका कोई प्रभाव तत्कालीन शिक्षा-प्रणाली या विश्व विद्यालयोंपर नहीं पड़ सका। किन्तु पीछे कुछ ऐसे विचारक अवश्य हुए जिन्होंने रूसोकी शिक्षा-योजनाका सार्वजनिक प्रयोग करनेका संकल्प किया।

बेसडो और मानव-संस्थाएँ

रूसोकी इस प्राकृतिक शिक्षाका निश्चित रूपमें प्रथम प्रयोग बेसडोने जर्मनीमें किया और वहाँ इस प्रयोगके लिये फ़िलैन्थ्रोपिनम (मानवसंस्था) नामक शिक्षा-संस्थाओंकी स्थापन की। योहान बर्नहार्ट बेसडो (१७२३-१७९०) स्वभावसे ही रूसोके सिद्धान्तोंपर मुग्ध था। प्रारंभमें धर्मप्रचारके कार्यको तिलांजलि देकर वह हौल्सटाइनमें जाकर हेर फ़ौन क्वालेंडके बच्चोंको शिक्षा देने लगा। वहाँ उसने पहले आस-पासकी वस्तुओंके संबंधमें प्रश्न करके तथा उन वस्तुओंमें खेल-कूदकर उनके संबंधकी सब बातें उन्हें सिखा दीं। इसके पश्चात् सन् १७६२ में 'एमील' पोथी से बेसडो इतना प्रभावित हुआ कि उसने जर्मनीकी शिक्षा-प्रणालीमें क्रान्तिका शंख फूँक दिया। उन दिनों जर्मनीकी दूषित, संकीर्ण शिक्षा-प्रणालीसे लोग इतने ऊब उठे थे कि बेसडोने शिक्षा-सुधारके लिये जो-जो सुझाव रक्खे वे तत्काल सर्वमान्य कर लिए गए और धड़ाधड़ मानवीय विद्यालय (फ़िलैन्थ्रोपिनम) नामक नये ढंगकी संस्थाएँ खोली जाने लगीं।

छह वर्ष पश्चात् बेसडोने बालकोंके लिये 'एलेमेंटारवेर्क' नामक पाठ्य-पुस्तक और अध्यापकों तथा अभिभावकोंके लिये सहायक पुस्तक 'मेथोडेनबुख़' तैयार कर डाली। इसके पश्चात् उसने बच्चोंकी रुचिके आधार-

पर कुछ लोकप्रिय कहानियाँ लिखीं जिनमें नीति, धर्म, उपदेश तथा साधारण विज्ञानकी अनेक बातें भरी हुई थीं।

डेस्साउ बेसडोने अच्छा वेतन, भवन, भूमि और जागीर पाकर अपना प्रसिद्ध मानवीय विद्यालय (फ़िलैन्थ्रौपिनम) खोल दिया जिसमें अनेक विचक्षण विद्वान् अध्यापक बुला लिए गए थे। इस विद्यालयका सिद्धान्त था कि सम्पूर्ण शिक्षा प्रकृतिके अनुकूल हो, शिक्षा-क्रममें बच्चोंकी सहज प्रवृत्तियों और रुचियोंको प्रोत्साहन तथा निर्देश दिया जाय, सीखनेकी विधियाँ भी बालकोंकी मानसिक अवस्थाके अनुकूल हो, तत्कालीन सम्पूर्ण आचार-विचार और कृत्रिमताएँ समाप्त कर दी जायँ और बालकोंको सादे कपड़े पहननेको दिए जायँ। सर्व-शिक्षामें विश्वास करते हुए भी ये मानते थे कि एक वर्गको तो सामाजिक संरक्षण और नेतृत्वके लिये प्राकृतिक शिक्षा दी जाय और दूसरे वर्गको अध्यापन करनेके लिये। इसलिये धनी छात्रोंको छह घण्टे विद्यालयमें और दो घण्टे हाथका काम करनेमें तथा निर्धन परिवारोंके बालकोंको छह घण्टे शारीरिक कामोंमें और दो घण्टे पढनेमें लगाने होते थे। हस्तकौशल, शारीरिक व्यायाम तथा खेल सबके लिये अनिवार्य थे। बौद्धिक शिक्षा-क्रममें लातिनके साथ देशभाषा और फ्रांसीसी भाषाकी शिक्षा भी दी जाती थी। 'एलेमेंटारवेर्क'-के साथ मानव-शास्त्र, शरीर-शास्त्र, पशुपालन, पेड़-पौधे उगाने और पोषित करनेकी विधि, धातु और रसायन, गणित और भौतिक विज्ञानके यंत्र, व्यवसाय तथा इतिहास आदि विषय सिखाए जाते थे। किन्तु पीछे चलकर उसने इन विषयोंका विस्तार कम कर दिया।

इस विद्यालयमें बोलकर और पढ़कर भाषाएँ सिखाई जाती थीं। व्याकरण तब पढ़ाया जाता था जब भाषामें बोलनेकी अच्छी गति हो चुकती थी। बातचीत, खेल, चित्र, नाटक तथा व्यावहारिक और रोचक विषयोंपर पुस्तक पढ़ाकर लातिनमें कुशलता प्राप्त कराई जाती थी। गणितकी शिक्षा मौखिक ही होती थी। ज्यामितिकी शिक्षा ठीक और शुद्ध रेखाचित्रके द्वारा दी जाती थी। इसी प्रकार घर, पड़ोस, नगर, देश और महाद्वीपके क्रमसे भूगोलका ज्ञान कराया जाता था। यद्यपि १७९३ में डेस्साउका फ़िलैन्थ्रौपिनम सदाके लिये

बन्द हो गया तथापि उसके अध्यापकोंने सारे योरपमें फैलकर इस प्रकारके बहुतसे विद्यालय स्थान-स्थानपर खोल दिए।

शिक्षामें उदारता

अट्ठारहवीं शताब्दीमें योरप और अमरीकामें कुछ उदार संस्थाओं तथा सज्जनोंने दीनों और निर्धनोंको शिक्षा देनेके लिये बहुतसे धर्मार्थ विद्यालय खोल दिए जिनमें अध्यापकोंका कार्य यह था कि धार्मिक प्रश्नोत्तरी पढ़ानेके साथ बालकोंके मनसे सब अवगुण और दुराचरण निकाल दें तथा उन्हें पढ़ना, लिखना और गणित सिखावें। इन विद्यालयोंमें छात्रोंके लिये भोजन, वस्त्र और निवासकी भी व्यवस्था थी। थोड़े ही दिनोंमें इन्हीं धर्मार्थ विद्यालयोंके समान योरप और अमरीकामें रविवारी विद्यालय (संडे स्कूल्स) चले जिनमें रविवारको शिक्षा दी जाती थी।

शिष्याध्यापक-प्रणाली (मौनीटोरियल सिस्टम)

लंकास्टरने लन्दनके साउथवर्क प्रदेशमें १७९८ ई० में दीन बालकोंके लिये शिष्याध्यापक-प्रणालीका एक विद्यालय खोल दिया जहाँ कुछको चुनकर स्वयं पढ़ाया और फिर वे विद्यार्थी अन्य सब विद्यार्थियोंको पढ़ाने लगे। इस प्रयोगमें उसपर बहुत ऋण हो गया पर ब्रिटिश ऐण्ड फ़ौरेन सोसाइटी (ब्रिटिश तथा विदेशी समिति) ने इस विद्यालयका भार अपने ऊपर ले लिया। यह प्रणाली इतनी लोकप्रिय हुई कि इँगलैण्डके ईसाई चर्चमें डाक्टर एन्ड्रू बेलने ऐसे अनेक विद्यालय खोल दिए क्योंकि डाक्टर बेल भारतमें रहकर इस प्रणालीका अध्ययन कर चुके थे।

निर्धन बच्चोंके लिये उन्नीसवीं शताब्दीमें फ्रांस, इँगलैण्ड तथा संयुक्त राष्ट्र अमरीकामें शिशु-विद्यालय भी खोले गए, जिनका राष्ट्रिय शिक्षा-प्रणालीमें महत्त्वपूर्ण स्थान है, किन्तु ये विद्यालय भी बहुत थोड़े दिनोंमें यंत्रवत् हो गए। कुछ भी हो, इस धर्मार्थ शिक्षा-पद्धतिने सार्वभौम और राष्ट्रिय शिक्षाके लिये मार्ग अवश्य खोल दिया।

३

शिक्षामें संप्रेक्षणवाद और व्यावसायिक साधना

रूसोके अव्यावहारिक और असंगत प्रकृतिवादको व्यवस्थित करनेका प्रथम श्रेय है पेस्टालौज़ीको।

पेस्टालौज़ी

यौह्न हेनरिख़ पेस्टालौज़ीका जन्म सन् १७४६ में स्वित्सरलैण्डके त्सूरिख़ नगरमें हुआ। वह पाँच वर्षका हो भी न पाया था कि उसके पिता चल बसे। उसका लालन-पालन उसकी धार्मिक माता तथा पादरी दादाने किया जिनके प्रभावसे उसके मनमें भी यह भावना जागरित हुई कि मैं भी असंस्कृत देहाती भाइयोंको पढा-लिखाकर उन्हें ऊपर उठाऊँ। उसने पहले पादरीका कार्य प्रारंभ किया फिर न्याय-नीति (क़ानून) पढ़ी, पर दोनोंमें उसे सफलता न मिल पाई। रूसोके 'एमील' तथा 'सामाजिक धर्म' (सोशल कौन्ट्रैक्ट) ग्रन्थ पढ़कर उसने सरकारके विरुद्ध विद्रोह किया और पकड़ा गया। वहाँसे छूटनेपर सन् १७६९ में उसने किसानोंको खेतीके नये उपाय बतानेके लिये स्वयं बिर् प्रदेशमें थोड़ी सी भूमि लेकर वहाँ 'न्यू हौफ़' (नया खेत) चलाया किन्तु पाँच वर्षमें यह प्रयोग भी असफल सिद्ध हुआ।

इसी बीच पेस्टालौज़ीने अपने पुत्रका नाम जेक्स रखकर रूसोके 'एमील' के समान उसका पालन करना प्रारंभ किया। इस प्रयोगसे पेस्टालौज़ी इस परिणामपर पहुँचा कि आँख मूँदकर रूसोके सिद्धान्तोंका प्रयोग करना ठीक नहीं है। बच्चेका प्राकृतिक वातावरण उसका घर ही है जहाँ शासन कुछ कठोर भले ही हो किन्तु वह निरन्तर माता-पिताके स्नेहसे भी ओत-प्रोत रहता है। पुस्तकोंके आधारपर समुचित शिक्षा नहीं दी जा सकती।

यदि शिक्षाकी ठीक योजना बन जाय तो निर्धन लोग भी अपनी जीविका कमानेके साथ ही अपनी बुद्धि और आचरण समुन्नत कर सकते हैं।

खेतीमें असफल होनेके पश्चात् १७७७ में उसने वहीं 'न्यू हौफ़' (नया खेत) में ही बीस दरिद्र बच्चे अपने साथ रखकर और उन्हें भोजन-वस्त्र देकर भारतीय गुरु-भावनासे पाठशाला खोली जहाँ छात्र पढ़ने-लिखनेके साथ-साथ अपने आप परिश्रमसे अपनी जीविका भी चला सकें। उसकी पाठशालामें बालकोंको घरेलू काम-काज और सिलाई-बुनाई सिखाई जाती थी, जाड़े-पाले और बरसातके दिनोंमें जब बाहरका काम कम रह जाता था तब सूत कातना और कपड़ा बुनना भी सिखाया जाता था। वहाँ लिखना-पढना सिखानेके पहले बच्चोंको बात-चीत करना भली प्रकार सिखला दिया जाता था और बाइबिल कंठस्थ करा दी जाती थी। थोड़े ही दिनोंमें उस शिक्षा क्रमसे बच्चोंका स्वास्थ्य, उनकी बुद्धि, सदाचार सबमें वृद्धि हुई इसलिये छात्रोंकी संख्या बढ़ा दी गई। पर पैसेकी कमीसे सन् १७८० में शिक्षाका इतना बड़ा प्रयोग सदाके लिये समाप्त हो गया।

इस प्रकार असफल होनेपर उसने अपने एक मित्रकी प्रेरणासे 'एक साधुका संध्याकाल' (दि ईविनिंग आवर औफ़ ए हरमिट) प्रकाशित किया जिसमें उसके सभी शिक्षण-सिद्धान्तोंका समावेश था। किन्तु वह ग्रन्थ कुछ दुर्बोध तथा अस्पष्ट हो गया, इसलिये लोगोंने कहा कि इसे सर्व-सुबोध रूपमें लिख डालिए। तदनुसार उसने अपना प्रसिद्ध, सफल और लोकप्रिय ग्रन्थ 'लियोनार्ड उंड गेट्र्यूड' (१७८०) लिखा जिसमें यह दिखलाया गया है कि किस प्रकार एक साधारण किसान-नारी गेट्र्यूड अपने मधुर व्यवहार तथा परिश्रमसे उस गाँवकी दशा बदल देती है।

आन्श्वांग (अनुभवाश्रित शिक्षण-विधि)

सन् १७६८ में स्वित्सरलैंडके स्तांत्स नगरमें एक अनाथालयके प्रबन्धका भार पैस्टालौज़ीको मिला किन्तु वहाँ न कोई सहायक अध्यापक था न पुस्तकें, न सामग्री। तब उसने अस्सी बच्चोंके शिक्षणकी एक नई विधि आन्श्वाङ्-

(अनुभवाश्रित शिक्षण-विधि) निकाली जिसमें बच्चे स्वयं अपने अनुभव और संप्रेक्षण (औब्ज़र्वेशन) से बाहरका ज्ञान प्राप्त कर सकें।

शिक्षाके नवीन साधन

अपनी संप्रेक्षण-प्रणाली सरलतम बनानेके लिये उसने संप्रेक्षणका क, ख, ग (दि ए-बी-सी औफ़ औब्ज़र्वेशन) निकाला और एकस्वरी ध्वनियों (सिलेबरीज़) के अभ्यासों-द्वारा पुस्तक पढाना प्रारम्भ किया जिनमें पाँचों स्वरों ('ए, ई, आई, ओ, यू' या 'अ, ए, इ, ओ, उ') के साथ क्रमशः सब व्यंजन आगे या पीछे लगाए जाते थे और अन्य व्यंजनोंको भी स्वरोंके साथ आगे-पीछे जोड़कर समस्त सभव उच्चारणोंका अभ्यास कराया जाता था।

उन्हीं दिनों संयोगसे उसे स्तांत्स छोड़कर बुर्गडोर्फ़ चला जाना पड़ा जहाँ उसने अपने 'संप्रेक्षणके क ख ग' और अपनी एकस्वरी ध्वनियोंका भी फिरसे क्रमिक विस्तार किया।

छात्रोंको गणित सिखानेके लिये भी उसने कुछ इकाईके पट्टे (टेबिल्स औफ़ यूनिट) बनाए थे जिनपर सौ तककी गणनाके बिन्दु या रेखाएँ बनी रहती थीं। उनके सहारे विद्यार्थियोंको अंकोंका अर्थ भी ज्ञात हो जाता था और गणितके आगेके क्रम भी समझमें आते जाते थे। ज्यामितिकी शिक्षाके लिये बच्चोंसे कोण, रेखा, वृत्त आदि ज्यामितिके रूप खिंचवाए जाते थे और इसी संप्रेक्षण-प्रणालीसे इतिहास, भूगोल तथा प्राकृतिक इतिहासका भी ज्ञान करा दिया जाता था।

यह प्रणाली इतनी लोकप्रिय हो गई कि लगभग साढ़े तीन वर्षोंमें पेस्टालौज़ीके शिक्षा-सम्बन्धी विचार व्यवस्थित होकर सर्वसाधारणकी शिक्षाके प्रयोगमें आने लगे। बुर्गडोर्फ़में रहते हुए उसने सन् १८०१ में "हाउ गेर्ट्रूयूड टीचेज़ हर चिल्ड्रेन' (गेर्ट्रूयूड अपने बच्चोंको कैसे पढ़ाती है ?) नामक पुस्तक प्रकाशित करके अपनी प्रणालीकी विस्तृत व्याख्या की, जिसका सारांश यह है—

१. शिक्षाका आधार संप्रेक्षण अर्थात् प्रत्येक वस्तुको ध्यानपूर्वक देख-समझकर उसके संबंधका पूरा ज्ञान प्राप्त करना होना चाहिए।

२. भाषाका सम्बन्ध संप्रेक्षणसे ही होना चाहिए।

३. शिक्षा प्राप्त करनेके समय न तो आँख मूँदकर कोई निर्णय कर लेना चाहिए और न निरर्थक आलोचना ही करने लग जाना चाहिए।

४. शिक्षाकी प्रत्येक शाखाका प्रारम्भ सरलतम तत्त्वोंसे होना चाहिए और बालकके विकासके साथ विकसित होना चाहिए अर्थात् संपूर्ण ज्ञान ऐसे क्रमसे दिया जाय कि अगले और पिछले ज्ञानका परस्पर मनोवैज्ञानिक सम्बन्ध बना रहे।

५. शिक्षाकी प्रत्येक अवस्थामें बालकको इतना पर्याप्त समय देना चाहिए कि वह नई सामग्रीको पूर्ण रूपसे आत्मसात् कर ले, मुट्ठीमें कर ले।

६. शिक्षण-कार्य भी विकास-क्रमसे ही चलाया जाय, बलपूर्वक गुरुत्वकी भावनासे छात्रपर कुछ न लादा जाय।

राजनीतिक उथल-पुथलके कारण सन् १८०५ में पेस्टालौज़ीको अपना विद्यालय बुर्गडोर्फ़से हटाकर इवरडून ले जाना पड़ा जहाँ उसने एकस्वरी ध्वनियों (सिलेबरीज़) तथा इकाईके पट्टे (टेबिल औफ़ यूनिट) में सुधार किया और गणितके लिये एक नई भिन्नोंकी सरणि (टेब्रिल औफ़ .फ्रैक्शन्स) भी तैयार कर डाली।

इसी प्रकार लिखना और रेखाचित्र (ड्राइङ्ग) खींचना सिखानेके लिये छड़ी या अंजनी (पेंसिल) आदि वस्तुओंको भिन्न-भिन्न रूपसे आड़े, सीधे, खड़े, पड़े, बेंड़े, तिरछे रखकर रेखाएँ खिंचवाई जातीं और इन रूपोंका अभ्यास कर चुकनेपर छात्रोंको समरूप और सुन्दर आकृतियाँ बनानेके लिये प्रोत्साहन दिया जाता था। इन्हीं सब अभ्यासोंसे छात्रोंको लिखनेका ढंग भी आ जाता था।

पेस्टालौज़ीके इन सिद्धान्तों और प्रयोगोंके फल-स्वरूप प्रसिद्ध वैज्ञानिक कार्ल रिट्टरने उसके भूगोल-शिक्षण-सम्बन्धी विचारोंको समुन्नत

किया और पेस्टालौज़ीके संगीतज्ञ मित्र नैगेलीने संगीत-शिक्षाके लिये इस प्रणालीका प्रयोग करना आरम्भ किया।

पेस्टालौज़ीके शिक्षा-संबंधी उद्देश्य और उनकी व्याख्या

पेस्टालौज़ीने शिक्षाका अर्थ बताया है 'मनुष्यका स्वाभाविक विकास और उसकी सब शक्तियों, समर्थताओं और योग्यताओंका साथ-साथ संवर्धन।' उसने लिखा है कि जैसे बीज और उसके मूलमें स्थित अंग ही अनेक अबाध सम्बन्धोंके द्वारा पूर्ण वृक्षका रूप धारण करते हैं, वैसे ही मनुष्य भी बालकपनमें अपने अंग या उपांगका जो संस्कार पाता है उसीके अनुसार वह विकसित मनुष्य रूप बन जाता है। इसलिये पेस्टालौज़ीने शिक्षाकी परिभाषा देते हुए लिखा है कि 'मनुष्यकी सब शक्तियों और समर्थताओंके स्वाभाविक और सर्वाङ्ग विकासात्मक संवर्धनको ही शिक्षा कहते हैं।'

संप्रेक्षण (औब्ज़र्वेशन) के सिद्धान्तकी व्याख्या

उसकी शिक्षाका मुख्य सिद्धान्त था संप्रेक्षण। इसका तात्पर्य यह है कि बालककी रुचि जिस वस्तुमें हो वही वस्तु बालकको दी जाय जिससे वह उस वस्तुको भली प्रकार देख-समझकर उसके सम्बन्धमें सब बातें जान ले, क्योंकि इस प्रकारका प्रत्यक्ष ज्ञान या स्वानुभूत ज्ञान ही सबसे अधिक स्पष्ट, उपयोगी और टिकाऊ होता है। बालकमें अपने अनुभवको स्पष्ट और व्यवस्थित शब्दोंमें व्यक्त करनेकी शक्ति भी होनी चाहिए इसीलिये उसने अपने संप्रेक्षणके साथ भाषाका ज्ञान भी अनिवार्य रूपसे जोड़ दिया।

पेस्टालौज़ीकी यह संप्रेक्षण-प्रणाली सम्पूर्ण योरप तथा संयुक्त राष्ट्र अमरीकामें फैल गई जिसका प्रचार एक ओर हौरेस मान (१७९६ से १८५९) और डा० एडवर्ड् ए० शैल्डनने औस्वेगो प्रणालियोंकी स्थापनाके द्वारा किया और दूसरी ओर उसकी व्यावसायिक शिक्षाका प्रचार फ़ालेनबुर्गने किया। ये सब व्यावसायिक संस्थाएँ इतनी लोकप्रिय हुईं कि चारों ओर उनकी देखा-देखी न जाने कितने व्यावसायिक विद्यालय योरप तथा अमेरिकामें खुल गए।

हौरेस मान

उन्नीसवीं शताब्दीके मध्यमें अमरीकाके विद्यालयोंका पुनरुद्धार आन्दोलन चला जिसमें सबसे अधिक प्रसिद्धि पाई हौरेस मानने। वहाँकी शिक्षा-समितिका अध्यक्ष बनकर उसने अपने देशकी शिक्षाके क्षेत्रमें बड़े विशिष्ट सुधार किए। उसका विचार था कि शिक्षा अनिवार्य तथा निःशुल्क हो, 'बालिकाओंको भी बालकोंके समान शिक्षा दी जाय।' निर्धनोंको भी धनिकोंके समान जीवनके सभी क्षेत्रोंमें उन्नतिका अवसर दिया जाय और सार्वजनिक विद्यालयोंमें ऐसी शिक्षा दी जाय कि धनी लोग वर्गीय विद्यालयोंको उत्कृष्ट न समझें। इस शिक्षामें केवल पढ़ने-लिखने या अन्य कौशलोंकी ही शिक्षा न दी जाय वरन् उसका उद्देश्य नैतिक चरित्रका विकास और सामाजिक योग्यताका संवर्धन हो। विद्यालयके भवन स्वस्थ और सुघर हों जिनमें वायु, प्रकाश और पीठासनोंकी ठीक व्यवस्था हो। संपूर्ण शिक्षा वैज्ञानिक सिद्धान्तोंके आधारपर ही दी जाय, केवल गुरुवचन और रूढिके आधारपर नहीं। वर्णमाला या अक्षर-पद्धतिसे पढ़ना सिखानेकी अपेक्षा शब्द-पद्धतिसे पढ़नेका अभ्यास कराया। प्रत्येक अध्यापकको शिक्षा-शास्त्रका पूर्ण ज्ञान हो। उनका कर्त्तव्य है कि वे बालकके स्वभावको भली भाँति समझकर स्नेह और सहानुभूतिसे उसे शिक्षा दें। इन सिद्धान्तोंके साथ-साथ उसने पेस्टालोज़ीकी संप्रेक्षण-प्रणालीका भी जहाँ तहाँ प्रचलन किया। पाठ्य-विषयोंमें बीजगणित तथा बही-खातेकी शिक्षा देना वह निरर्थक समझता था। इस सम्पूर्ण परिवर्त्तनका प्रभाव यह हुआ कि विद्यालयों की शिक्षा-व्यपस्था सब दृष्टियोंसे सुरूप और सुसम्बद्ध हो गई।

४

हरबार्ट और शिक्षा-शास्त्रका विकास

पेस्टालौज़ीके शिष्य फ़्रोबेलने प्रथम पक्ष ग्रहण किया और बालकके स्वतः विकास और उसकी स्फूर्तिमयी क्रियाओंको अधिक महत्त्व दिया। उधर हरबार्टने दूसरा पक्ष ग्रहण करके पाठन-प्रणाली और अध्यापन-शैलीको अधिक महत्त्व दिया और सर्वप्रथम दार्शनिक तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे वैज्ञानिक आधार लेकर शिक्षाके सब पक्षोंकी व्यापक रूपसे व्यवस्था की।

हरबार्ट

योहान फ़्रीडरिख़ हरबार्ट (१७७६-१८४१) का जन्म ओल्डनबुर्ग नगरके एक प्रतिष्ठित विद्वत्परिवारमें ४ मई सन् १७७६ को हुआ था। उसकी प्रतिभा-संपन्न माताने हरबार्टको यूनानी भाषा, सर्वगणित और दर्शन-शास्त्र पढ़नेमें भरपूर सहायता दी। हरबार्टने बचपनसे ही अपने विद्यालयमें नैतिक और आध्यात्मिक विषयोंपर लेख लिखकर बड़ी प्रसिद्धि पा ली थी। स्नातक (ग्रेजुएट) होनेके पूर्व ही (१७९७) वह विश्वविद्यालय छोड़कर इण्टरलाकिन (स्वित्सरलैंडके शासक) के तीन पुत्रोंको पढ़ाने लगा। वहाँ तीन वर्षोंमें उसने समझ लिया कि प्रत्येक बच्चेमें कुछ व्यक्तिगत भिन्नता होती है और इसलिये उसने बच्चोंकी विभिन्न अवस्थाओंके प्रति उचित ध्यान भी दिया। अपने प्रिय ग्रंथ 'ओडिस्सी'-में उसने बालकोंमें नैतिकता और बहुमुखी रुचि (मैनी-साइडेड इन्टेरेस्ट) का संवर्धन करनेके उपाय सुझाए हैं। यही प्रारंभिक अनुभव उसके संपूर्ण शिक्षा-शास्त्रका आधार था।

स्वित्सरलैंडमें रहते हुए ही वह पेस्टालौज़ीके शिक्षा-सिद्धान्तोंसे बड़ा प्रभावित हुआ था और सन् १७९९ में जब वह ब्रेमेनमें अपना विश्वविद्यालयका पाठ्यक्रम पूरा कर रहा था उसी समय उसने पेस्टालौज़ीके विचारोंका प्रचार करना और उन्हें वैज्ञानिक रूप देना प्रारंभ कर दिया था।

सन् १८०९ में जब क्वेनिग्ज़बुर्गके विश्वविद्यालयने इमानुअल कांटके स्थानपर हरबार्टको दर्शन-शास्त्रका आचार्य बनाकर बुलाया तब हरबार्टने प्रसिद्ध शिक्षा-संबंधी संस्था प्रारंभ करके उसके साथ एक विद्यालय खोल दिया जिसमें जाकर अध्यापकगण सीखे हुए सिद्धान्तोंका व्यावहारिक प्रयोग करते थे। इस अभ्यास-विद्यालयमें शिक्षा पानेवाले छात्रगण, विद्यालयोंके आचार्य या निरीक्षक बननेको शिक्षा प्राप्त करते थे। हरबार्टके इन शिष्योंके परिश्रमसे प्रशा तथा जर्मनीके अन्य राज्योंमें शिक्षाका अधिक प्रचार हुआ। अपने जीवनके अंतिम आठ वर्ष उसने अपने शिक्षा-सिद्धान्तोंको विस्तृत और व्यवस्थित करनेमें लगाए। यहींपर उसने 'शिक्षा-सिद्धान्तकी रूपरेखा' (आउटलाइन्स ऑफ़ एजुकेशनल डौक्ट्रिन, १८३५) नामक ग्रंथ प्रकाशित किया जिसमें उसने अपनी पूर्ण शिक्षा-पद्धतिकी विस्तृत व्याख्या की। इसके प्रकाशित होते-होते वह अपार यश छोड़कर इस संसारसे महाप्रयाण कर गया।

हरबार्टकी शिक्षा-पद्धतिके आधार

हरबार्टका कथन है कि हमारे मनकी रचना बाहरी संसारके अनुभवोंसे होती है। वह मनुष्यकी सहज भावनाओं और प्रवृत्तियोंका अस्तित्व मानता ही नहीं था। वह मानता है कि चेतनाके सरलतम तत्त्व 'विचार' हैं। हमारा आत्मा स्वयं शुद्ध है। वह बाहरी प्रभावोंके चक्करमें पड़ना नहीं चाहता। किन्तु संसारमें रहनेके कारण उसे अनेक परिस्थितियोंका सामना करना ही पड़ता है। अतः, इन बाहरी प्रभावोंसे मुक्त रहनेके निमित्त हमारा आत्मा इस 'विचार' नामक तत्त्वको उत्पन्न करके निश्चिन्त हो जाता है अर्थात् जब हमारा आत्मा किसी बाह्य परिस्थितिके संपर्कमें आता है तब विचार उत्पन्न होते हैं और ये स्वयं अपनी विस्फोट-शक्तिके द्वारा स्वयं सत् या अस्तित्ववाले बनकर निरंतर अपना संरक्षण करनेके लिये प्रयत्नशील रहते हैं। ये विचार सदा यह प्रयत्न करते हैं कि हम चेतनाकी ऊँचाईके निकटतम पहुँचें। इस प्रयत्नमें प्रत्येक विचार स्वयं चेतनाके भीतर प्रकट होनेका, अपने सहयोगी विचारोंको ऊपर उठानेका तथा असहयोगी विचारोंको

नीचे गिराने या निकाल बाहर करनेका यत्न करता रहता है। प्रत्येक नया विचार या विचारोंका समूह अपनेसे पहलेके विचारोंके मेल या विरोधके अनुसार ऊपर उठता, सुधरता या हटता चलता है। दूसरे शब्दोंमें कह सकते हैं कि हमारी चेतनामें पहलेसे जो विचार विद्यमान हैं उन्हींके अनुसार नये विचार ग्राह्य या अग्राह्य होते हैं। हरबार्टके इस 'पूर्व-ज्ञान' (एपर्सेप्शन) के सिद्धान्तके अनुसार अध्यापकका कर्त्तव्य है कि वह बालकके पूर्व-संचित ज्ञानका सहारा लेकर इस प्रकार नये विचार दे कि उसमें विद्यार्थीकी रुचि और एकाग्रता उत्पन्न हो और उसके मनमें ये नये विचार स्थिर हो जायँ।

हरबार्टके मतसे शिक्षाका उद्देश्य है 'नैतिक और धार्मिक आचरणकी व्यवस्था' जो शिक्षाके द्वारा सिद्ध की जा सकती है और जिसके लिये प्रत्येक बालकके विचार-समूह, स्वभाव और मानसिक सामर्थ्यका ध्यानपूर्वक अध्ययन किया जाना आवश्यक है। जो शिक्षा बालककी विचारधाराके साथ मेल नहीं खाती उसमेंसे वह सदाचरणके विचार ग्रहण नहीं कर सकता। हरबार्टने बालककी रुचिको विद्यालयके कुछ इने-गिने कार्योंकी पूर्तिके लिये अस्थायी उद्दीपन मात्र नहीं माना। उसका कहना है कि शिक्षाके द्वारा ऐसा व्यापक बहुमुखी रुचि-समूह बना दिया जाय जो स्थायी रूपसे जीवनको प्रभावित कर सके और पाठ्यविषय इस प्रकार चुने और क्रमबद्ध किए जायँ कि वे छात्रके पूर्व अनुभवसे ही केवल संबद्ध न हों, वरन् वे ऐसे भी हों कि पूर्ण रूपसे जीवन और आचरणके सब संबंधोंको प्रकाशित करते रहें।

यद्यपि बहुमुखी रुचिके लिये ऐतिहासिक और वैज्ञानिक दोनों प्रकारके विषय आवश्यक हैं किन्तु हरबार्टके मतसे पाठ्यक्रममें उन्हें इस प्रकारसे रखना चाहिए कि वे सब मिलकर एकरूप हो जायँ क्योंकि जबतक यह एकरूपता नहीं होगी तबतक बालककी चेतना भी एकरूप नहीं हो सकती। इसका अर्थ यह हुआ कि हरबार्टने पाठ्य-विषयोंकी पारस्परिक सम्बद्धता या प्रतिसंबद्धता (कौरिलेशन) के सिद्धान्तका पूर्ण निरूपण कर दिया था जो पीछे हरबार्टवादियोंने एकाग्रीकरण (कन्सैन्ट्रेशन) के नामसे समुन्नत किया।

उसका अर्थ यह था कि जितने पाठ्य-विषय हों वे सब साहित्य और इतिहास-जैसे एक या दो व्यापक विषयोंसे संबद्ध कर दिए जायँ किन्तु विषय-सामग्रीका चुनाव और उनका परस्पर संबंध इस प्रकार व्यवस्थित किया जाय कि वह बहुमुखी रुचिको उद्दीप्त कर सके।

हरबार्टने अनुभव किया कि बच्चेको शिक्षा देनेके लिये एक निश्चित क्रम होना चाहिए। वह चाहता था कि यह शिक्षाक्रम मानव-मस्तिष्कके विकास और क्रियासे निरन्तर मेल खाता चले। इसी मानसिक क्रियाके आधारपर उसने चार संगत पदों (स्टेप्स) का निर्धारण किया—(१) स्पष्टता (क्लीअरनेस्); अर्थात् शिक्षणीय वस्तुओं और तत्त्वोंको प्रत्यक्ष तथा स्पष्ट रूपसे उपस्थित करना; (२) संयोग (एसोसिएशन) अर्थात् इन उपस्थित की हुई वस्तुओं और तत्त्वोंको बालकके पूर्वार्जित ज्ञानसे भली प्रकार जोड़ देना; (३) व्यवस्था (सिस्टम), अर्थात् जो ज्ञान इस प्रकार जोड़ा गया हो उसका युक्ति-युक्त और संगत क्रम स्थापित कर देना; और (४) रीति या प्रयोग (मैथड) अर्थात् छात्र-द्वारा नवीन परिस्थितियोंमें उपर्युक्त व्यवस्थाका व्यावहारिक प्रयोग। हरबार्टने तो इस क्रमको केवल सिद्धांत रूपमें प्रतिष्ठित किया था किन्तु उसके पश्चात् उसके शिष्योंने उसे सुधारकर विशेष रूपसे समुन्नत कर दिया। हरबार्टके प्रसिद्ध शिष्य त्सिल्लरने स्पष्टतावाले पदको दो भागोंमें विभक्त किया—(१) प्रस्तावना या उद्बोधन (प्रिपेरेशन) और (२) वस्तु-प्रस्थापन (प्रेज़ेण्टेशन)। हरबार्टके दूसरे शिष्य राइनने 'प्रस्तावना' में एक और उपपद 'उद्देश्य' भी जोड़ दिया। अन्य तीन पदोंको भी अधिक स्पष्ट करनेके लिये पीछेके हरबार्टियोंने उनके नाम बदल दिए और शिक्षाके 'पाँच नियमित पद' (फ़ाइव फ़ौर्मल स्टेप्स) इस प्रकार कर दिए—(१) प्रस्तावना या उद्बोधन (प्रिपेरेशन), (२) वस्तुप्रस्थापन (प्रेजेंटेशन), (३) तुलना और तत्त्वनिरूपण (कम्पैरिज़न एण्ड एब्स्ट्रैक्शन), (४) परिणमन (जनरलाइज़ेशन) और (५) प्रयोग (एप्लीकेशन)। इन्हें स्पष्ट रूपसे इस प्रकार समझाया जा सकता है—

सिद्धान्त-चतुष्पदी	शिक्षा-पंचपदी
१. स्पष्टता (क्लीअरनेस्)—	(१) (अ) प्रस्तावना या उद्बोधन (प्रिपेरेशन)। (आ) उद्देश्य (एम) (२) वस्तु-प्रस्थापन (प्रेज़ेंटेशन)।
२. संयोग (एसोसिएशन)—	(३) तुलना और तत्त्वनिरूपण (कम्पैरिज़न एण्ड ऐब्स्ट्रैक्शन।
३. व्यवस्था (सिस्टम)।	(४) परिणमन (जनरलाइज़ेशन)।
५. रीति या प्रयोग (मेथड)।	(६) प्रयोग (एप्लिकेशन)।

अपनी शिक्षा-पद्धतिका सारांश बतलाते हुए उसने कहा था कि 'उपदेशसे विचार-चक्र बनता है और शिक्षासे चरित्र या आचार। विचारके बिना आचार कुछ नहीं है, यही मेरे शिक्षाशास्त्रका तत्त्व है।'

हरबार्टने छात्रमें बहुमुखी रुचि उत्पन्न करनेकी आवश्यकताको बहुत महत्त्व दिया और कहा कि बहुमुखी रुचि तभी उत्पन्न हो सकती है जब पहले पाठ्यक्रमके लिये उचित विषयोंका चुनाव करके उन्हें ऐसे क्रममें बाँध दिया जाय कि वे एक दूसरेके अंग होकर परस्पर मिल जायँ और अन्योन्याश्रित हो जायँ। यह प्रतिसम्बद्धता दो ही प्रकारसे संभव है—(१) एक तो यह कि छात्रोंके मन तथा उनके विकासकी अवस्थाको समझकर उनके मस्तिष्कमें उनके अनुकूल शिक्षा-सामग्री पहुँचाई जाय। इसे यों कह सकते हैं कि छात्रोंके मस्तिष्कके विकासके अनुसार ही उन्हें शिक्षा दी जाय और यह शिक्षाकी सामग्री अर्थात् विषय भी उनके मानसिक विकासकी अवस्थाके अनुकूल हों। (२) दूसरा विधान यह है कि शिक्षाके सभी विषयोंको साहित्य तथा विज्ञानके दो भागोंमें क्रमसे बाँध दिया जाय और सभी पाठ्यविषय इन्हीं दो विभागोंके अंतर्गत करके परस्पर संबद्ध कर दिए जायँ।

संस्कारावृत्तिका सिद्धान्त (कल्चर ईपौक थ्योरी)

हरबार्टके संस्कारावृत्तिके सिद्धान्तका विकास उसके शिष्य त्सिल्लेरने ही किया था। हरबार्टका विचार है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने मस्तिष्ककी उन्नति तथा मानसिक विकासके साथ-साथ अपनी जातिकी सांस्कृतिक समुन्नतिकी प्रत्येक अवस्थाको समझता और उसकी पुनरावृत्ति करता चलता है। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने मानसिक विकासके साथ-साथ अपने जातीय विकासकी विभिन्न अवस्थाएँ भी प्राप्त करता चलता है। इसलिये बालककी जातिके सांस्कृतिक विकासकी विभिन्न अवस्थाओंके द्योतक शिक्षा-साधनोंको एकत्र करके पाठ्यक्रममें व्यवस्थित करना आवश्यक है।

हरबार्टका यह सिद्धान्त अत्यन्त गूढ, दार्शनिक, अस्पष्ट और अव्यावहारिक है। उसका यह कहना ही असंगत है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवनके क्रममें अपने जातीय विकासकी पुनरावृत्ति करता चलता है। योरोपीय संस्कृतिके विकासका इतिहास यदि हम अपना सहायक मानें तो इसका अर्थ यह हुआ कि बालक प्रारम्भमें अत्यन्त मूढ़ और जंगली होता है और निरंतर अनुभव तथा ज्ञानसे योरपकी सभ्यताके क्रमानुसार समुन्नत होता चलता है। इसका यह अर्थ हुआ कि माता-पिता और कुलके संस्कारका बालकके जीवनमें कोई महत्त्व नहीं है। भारतीय दृष्टिसे तो यह सिद्धान्त अत्यन्त निर्मूल है क्योंकि हमारे यहाँ तो मानवीय सृष्टिका विकास उन प्रजापतियोंसे हुआ जिनकी मानसी सृष्टि हुई थी। यदि हम अपनी संस्कृतिके विकास-क्रमको देखें तो वैदिक कालमें हमारा आध्यात्मिक और बौद्धिक विकास जितना हो चुका था उसकी अपेक्षा तो उसके परवर्त्ती कालमें अबतक हमारी अवनति ही हुई है, उन्नति नहीं। तो क्या इसका यह अर्थ समझा जाय कि अपनी संस्कृतिके विकास-क्रमके अनुसार हम ज्यों-ज्यों बड़े हो रहे हैं, त्यों-त्यों हम मूर्ख होते जा रहे हैं। वास्तवमें हरबार्टका यह संस्कारावृत्तिवाला सिद्धांत अत्यन्त अस्पष्ट, भ्रामक और अमान्य है। हरबार्ट स्वयं उसका

भली-भाँति निरूपण नहीं कर सका और त्सिल्लेरने भी जिस प्रकार उसकी व्याख्या की वह भी बहुत बुद्धिसंगत, तर्कसंगत और बोधगम्य नहीं है।

किन्तु हरबार्टने विषयोंकी पारस्परिक प्रतिसंबद्धता (कौरिलेशन) का जो सिद्धांत स्थिर किया है उसका तात्पर्य यह है कि छात्रोंको विभिन्न विषय इस प्रकार परस्पर संबद्ध करके पढ़ाए जायँ कि छात्रोंके मनपर उनके संयुक्त रूपकी ही छाप पड़े, जैसे, इतिहास पढ़ाते समय उसे भूगोल, साहित्य आदि विषयोंसे इस प्रकार संबद्ध कर दे कि छात्रोंको इतिहासके साथ-साथ भूगोल और साहित्यका भी सांगोपांग ज्ञान हो जाय।

एकाग्रीकरण (कन्सैन्ट्रेशन) का अर्थ यह है कि किसी एक विषयको ही शिक्षाका केन्द्र बनाकर अन्य सब विषय उसीके आधारपर सिखाए जायँ। पर इस एकाग्रीकरणका सबसे बड़ा दोष यह है कि एक ही विषयको सब विषयोंका केन्द्र बनानेसे अन्य विषयोंकी शिक्षा प्रायः अस्वाभाविक रूपसे संबद्ध करनी पड़ती है।

उसका कहना है कि प्रत्येक नये ज्ञानका संचय और ग्रहण करनेके लिये इस दुहरी मानसिक क्रियाकी अत्यन्त आवश्यकता होती है—'धारणा और मनन' (ऐब्सौर्प्शन ऐंड रिफ़्लैक्शन)। इन दोनों क्रियाओंके क्रमशः आने-जानेको प्रायः 'मस्तिष्ककी श्वास-प्रश्वास-क्रिया' भी कहते हैं। धारणाका अर्थ है मस्तिष्कको नये विचार और सत्य विवरण प्राप्त करने और उनपर मनन करने योग्य बनाना। धारणा-द्वारा प्राप्त किए हुए अनेक प्रकारके ज्ञानोंमें अनुकूलता उत्पन्न करते हुए उन्हें एक रूप दे देना ही मनन कहलाता है। इसी सिद्धांतके आधारपर हरबार्टकी 'नियमित पंचपदी' (फ़ौर्मल फ़ाइव स्टेप्स) का निर्माण हुआ है।

यह नियमित पंचपदीय-विधि प्रारम्भिक शिक्षण-संस्कारके लिये तो उचित कही जा सकती है किन्तु व्यावहारिक शिक्षणमें उसका प्रयोग निरर्थक हो जाता है क्योंकि प्रत्येक छात्र नियमित रूपसे विद्यालयके आगेके पाठसे और उस पाठके विभिन्न अंगोंकी प्रकृतिसे भलीभाँति परिचित रहता ही है। अतः इस नियमित पंचपदीय विधिके प्रारम्भिक शिक्षण-पद अर्थात् प्रस्तावना,

उद्देश्य-कथन तथा वस्तुप्रस्थापनकी तो आवश्यकता ही नहीं रह जाती। शिक्षणके नित्य कार्यकी अधिकतासे और उचित सहायक सामग्री तथा पुस्तकोंके अभावमें संयोग, तुलना तथा आत्मीकरणकी विभिन्न विधियोंका भी निर्वाह नहीं हो पाता और इसके अंतिम पद 'प्रयोग' की तो शिक्षण-पीठों (ट्रेनिंग कालेजों) में भयंकर दुर्दशा होती है। पूर्णतः नये पाठके सम्बन्धमें तो हरबार्टकी पंचपदीय विधि निश्चित रूपसे सहायक हो सकती है किन्तु नित्यके पाठ-शिक्षणके लिये उसका प्रयोग करना केवल समय और शक्तिकी नियमित हत्या करना और अध्यापकोंकी मौलिक शिक्षण-पद्धतिके प्रयोगमें बाधा पहुँचाना है।

सुइस्कोन त्सिल्लर (१८१७–१८४२)

हरबार्टकी मृत्युके लगभग पच्चीस वर्ष पीछे हरबार्टवादियोंके दो समवर्त्ती विद्यालय खुले। स्टौयने अपने विद्यालयमें हरबार्टके सिद्धान्त ज्योंके त्यों प्रयुक्त किए किन्तु सुइस्कोन त्सिल्लेरने उनमें आवश्यक सुधार करके लीपत्सिगमें उनका व्यवस्थित प्रचार किया। त्सिल्लेरने ही प्रतिसम्बद्धता और एकाग्रीकरण (कौरिलेशन ऐण्ड कन्सन्ट्रेशन) के सिद्धान्तोंको व्यवस्थित और विस्तृत रूप दिया और उसीने संस्कारावृत्ति (कल्चर ईपौक) के सिद्धान्तका भी स्वरूप स्थिर किया। वह लिखता है कि 'प्रत्येक छात्रको अपने विकासकी अवस्थाके अनुकूल, मानव-समाजके साधारण मानसिक विकासके प्रत्येक विशिष्ट युगमेंसे होकर निकलना चाहिए। इसलिये बालककी शिक्षाकी सामग्री जातीय संस्कृतिके ऐतिहासिक विकासकी उस अवस्थाकी विचार-सामग्रीसे लेनी चाहिए जो छात्रकी वर्तमान मानसिक अवस्थाके समभाव हो।' इसका अर्थ यह है कि यदि बालक कुमार अवस्थामें हो तो उसे मानवीय विकासके कुमार-युगकी सामग्री पढ़नेको देनी चाहिए और यदि वह युवक है तो उसे मानव सभ्यता और संस्कृतिके विकासके युवाकालीन युगका इतिहास और उस युगकी विचारधारा पढ़नेको देनी चाहिए। त्सिल्लेरने इन सिद्धान्तोंके अनुसार प्रारम्भिक पाठशालाओंका आठ वर्षोंका एक पाठ्यक्रम ही बना डाला था। उसीने हरबार्ट-द्वारा निर्धारित शिक्षा-

पंचपदीके प्रथम पदको दो भागोंमें विभाजित किया और अन्तिम पदको बदल दिया।

कार्ल फ़ोल्क मार्क स्टौय, (१८१५–८५)

हरबार्टका दूसरा शिष्य था स्टौय, जिसने शुद्ध रूपसे हरबार्टके सिद्धांतोंका प्रयोग किया और येनामें एक पाठशाला और शिक्षणाभ्यास-विद्यालय भी खोल दिया।

हरबार्टके इन सुधरे हुए सिद्धान्तोंका बड़ा प्रचार हुआ और जर्मनीके अतिरिक्त योरप तथा अमरीकाके अन्य देशोंमें भी ये अधिक लोकप्रिय हुए। इस प्रकार हरबार्टने शिक्षण-कलाको अधिक संयत करते हुए उसे मानस-शास्त्रके सिद्धान्तोंके अनुसार पूर्णतः व्यवस्थित कर दिया। इससे पूर्व केवल ज्ञान प्राप्त करके ही कोई व्यक्ति अध्यापक बन जाता था किन्तु हरबार्टने अपने प्रयोगों और सिद्धान्तोंसे यह व्यवस्था दी कि अध्यापन स्वयं कला है और अध्यापनकी प्रक्रियाको एक विशेष क्रम और संगतिकी आवश्यकता होती है। इसका प्रभाव यह पड़ा कि अध्यापकोंका प्रशिक्षण भी शिक्षा-पद्धतिका अनिवार्य अंग माना जाने लगा।

———

५

फ़्रोबेलका बालोद्यान (किंडेरगार्टन)

फ़्रोबेलने अपने गुरु पेस्टालौज़ीके 'स्वाभाविक विकास' के सिद्धान्तको विस्तृत रूपसे समुन्नत किया ।

फ़्रोबेल

फ़्रीडरिख़ विलहेम आउगुस्ट फ़्रोबेल (१७२८ से १८५२) का जन्म थूरिंगी जंगलके एक गाँवमें हुआ था। उसके पिता ल्यूथरी मतके पादरी थे किन्तु फ़्रोबेलकी शिक्षा-दीक्षाकी ओर उनका ध्यान कम था। उसकी सौतेली माँ भी फ़्रोबेलकी शिक्षाके लिये समय नहीं दे पाई। माता-पिताको इस उपेक्षाके कारण फ़्रोबेल दिन-रात घने जंगलोंमें घूमने तथा जंगली पशु-पक्षियों, पेड़-पौधों, फल-फूलों और विभिन्न प्राकृतिक दृश्योंके निरीक्षणमें समय बिताने लगा। इससे उसने अनुभव किया कि प्रकृतिके सभी पदार्थ एक दूसरेसे संबद्ध हैं और सबमें एक व्यापक अभिन्नता और आत्मीयता विद्यमान है।

पन्द्रह वर्षकी अवस्थामें वह एक वन-रक्षकके पास काम सीखनेके लिये भेज दिया गया जहाँ उसने प्रकृतिके साथ एक प्रकारका आध्यात्मिक सम्बन्ध स्थापित करके वनस्पति तथा वनसे व्यावहारिक परिचय भी बढ़ा लिया। उन दिनों येना विश्वविद्यालयका वायुमण्डल आदर्शवादी दर्शन, कल्पनावादी आन्दोलन और प्रगतिवादी विज्ञानसे ओत-प्रोत था। उन दिनों फ़िख़्टे और उसके शिष्य तथा साथी शेलिंगके नवीन दर्शनकी धूम थी। अतः, उसने भी येना विश्वविद्यालयमें नाम लिखवा लिया और वह फ़िख़्टीय दर्शनसे प्रभावित हो चला। इसके अतिरिक्त उसपर श्लेगेल-पंथियोंकी, प्रसिद्ध कवि गेटे और शिलेरकी तथा वहाँके वैज्ञानिक वातावरणकी छाप भी पड़ी। पर आर्थिक संकटके कारण वह वहाँ टिक नहीं पाया और चार वर्षतक जीविकाके

लिये इधर-उधर भटकता फिरा। संयोगसे सन् १८०५ में फ्रांकफ़ोर्टमें वास्तुकलाका अध्ययन करते समय पेस्टालौज़ियन मौडेल स्कूलके आचार्य आण्टोन ग्न्यूनरसे उसकी भेंट हो गई जिन्होंने उसे अपने विद्यालयमें नियुक्त कर लिया। वहाँ उसने पेस्टालौज़ीके सिद्धान्तोंका अध्ययन करके अपने सिद्धान्तोंका प्रयोग आरंभ कर दिया। वहाँपर हस्तकौशलकी शिक्षा देखकर वह इस परिणामपर पहुँचा कि बालकोंको रचनात्मक अभिव्यक्तिका अवसर देनेसे शिक्षा निश्चय ही महत्त्वपूर्ण हो सकती है।

वहाँ तीन वर्ष रहकर वह ईवरडून चला गया जहाँ उसे अनुभव हुआ कि बच्चोंकी बौद्धिक और शारीरिक उन्नतिमें बच्चोंके खेलका बड़ा प्रभाव पड़ता है और बालककी प्रारम्भिक शिक्षा माताके द्वारा ही दी जानी चाहिए। उसने यथाशीघ्र फ्रांकफ़ोर्टका काम छोड़ा और पेस्टालौज़ी-प्रणालीकी अव्यवस्था, अनैक्य, विषयोंकी असंबद्धता और शिक्षण-विधिकी अनियमितता-से अपनी शिक्षा-प्रणालीको बचानेके लिये वह विशेष अध्ययनके लिए सन् १८११ में ग्वेटिंगेन चला गया। किन्तु अगले ही वर्ष धातुशास्त्रके आचार्य वोइससे प्रभावित होकर वह बर्लिन विश्वविद्यालयमें पहुँच गया जहाँ उसे विश्वास हो गया कि सृष्टिके सब पदार्थोंमें परस्पर घना संबंध अवश्य है।

एक वर्षके लिये वह प्रूसी सेनामें रहकर नैपोलियनके विरुद्ध लड़ा भी जहाँ लांगेथौन और मिडेनडौर्फ़से उसकी मित्रता हो गई। वहाँसे वह फिर बर्लिन लौट आया। सन् १८१६ में अपने शिक्षाके सिद्धान्तोंका प्रत्यक्ष प्रयोग करनेके लिये उसने अपने पाँच छोटे-छोटे भतीजोंको शिक्षा देनेका भार ले लिया और अपने मित्र मिडेनडौर्फ़ और लांगेथौनके साथ कोइलहाउमें शिक्षाका सार्वभौम जर्मन विद्यालय खोल दिया जिसका उद्देश्य यह था कि जिन विषयोंका परस्पर एक दूसरेसे तथा जीवनसे भली प्रकार संबंध समझा जा चुका है उन विषयोंमें छात्रोंकी स्वतः-क्रियाके अभ्यास-द्वारा उनकी सब शक्तियोंका एक साथ समान रूपसे संवर्धन कराया जाय। आत्माभिव्यक्ति, स्वतःविकास और सामाजिक मेल-जोल ही इस विद्यालयके मूल सिद्धान्त थे। खेलके द्वारा ही अधिकांश शिक्षा दी जाती थी। बालोद्यान

(किंडेरगार्टेन) की मूल भावना भी यहीं भासमान हुई। खुले वायुमें, विद्यालय-भवनके आसपासवाले उपवनमें और भवनमें बहुत-सा रचनात्मक अथवा प्रयोगात्मक काम होने लगा। वहाँ बैठकर बच्चे नदियोंके बाँध, पनचक्की, दुर्ग, प्रासाद इत्यादि बनाते थे और जंगलमें जाकर पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़े और फूल-पत्तियोंकी खोज करते थे। व्यावहारिक समस्याओंका समाधान करके वे रूप और संख्याका ज्ञान प्राप्त करते थे। कहानियों और गीतों-द्वारा उनके लिये कल्पना तथा भावुकताका द्वार खोल दिया जाता था।

फ़्रोबेलने सन् १८१६ में अपने 'मनुष्यकी शिक्षा' नामक ग्रन्थमें अपने कोइलहाउके शिक्षा-सम्बन्धी प्रयोगका सविस्तर वर्णन किया। किन्तु लोगोंको न जाने क्यों यह सन्देह होने लगा कि कहींसे उसमें समाजवादी प्रवृत्ति प्रविष्ट हो गई है। अतः, सरकारकी ओरसे नियुक्त निरीक्षक-मण्डलने इस बातकी जाँच की और इस विद्यालयकी बड़ी प्रशंसा करते हुए लोगोंके सन्देहको निराधार बताया।

बालोद्यानकी स्थापना

यह सब हो जानेपर भी लोकापवाद चलता रहा और फ़्रोबेलने समझ लिया कि यहाँ रहनेमें कल्याण नहीं है। अतः, वह स्विट्सरलैंड चला गया और वहाँ पाँच वर्षतक (१८१२–१७) उसने विभिन्न केन्द्रोंमें अपने शिक्षा-सम्बन्धी प्रयोग किए। सहसा सन् १८३७ में बुर्गडोर्फ़का आदर्श विद्यालय चलाते हुए उसे यह बात सूझी कि बालकोंकी शिक्षा सुन्दर बनानेके लिये योग्य माताओंको शिक्षित करना आवश्यक है। खेलके द्वारा शिक्षा देनेकी बात भी उसके मनमें प्रबल होती जा रही थी, इसलिये उसने ऐसे खिलौनों, खेलों, गीतों और शारीरिक गतियोंका अध्ययन और निर्माण करना प्रारम्भ किया जो बालकोंकी उन्नतिमें सहायक हो सकें। दो वर्ष पश्चात् उसने जर्मनी लौटकर तीनसे सात वर्ष-तकके बच्चोंके लिये ब्लांकेन्बुर्गमें एक शिशु-विद्यालय खोल दिया जिसका नाम रक्खा किंडेरगार्टेन (बालोद्यान या बच्चोंकी फुलवारी)।

किंडेरगार्टेन विद्यालय समाप्त

इस बालोद्यानकी पहले तो बड़ी धूम मची किन्तु आर्थिक कठिनाईके कारण सात वर्षमें यह विद्यालय बंद कर देना पड़ा। अगले पाँच वर्षोंतक जर्मनीकी माताओं तथा महिला-शिक्षकोंको व्याख्यान देकर उसने सन् १८४९ में साक्से माइनिंगेनमें अपने प्रिय किंडेरगार्टेन विद्यालयकी स्थापना की। इसी बीच एक महिलाने उस विद्यालयमें रुचि दिखाकर बड़े-बड़े लोगोंको उसका विद्यालय दिखाया और फिर मारिएन्थाल राज्यकी भूमिपर उसके विद्यालयकी स्थापना करा दी। फ्रोबेलकी मृत्युके पश्चात् उस देवीने योरोप भरमें उसके सिद्धान्तका व्यापक प्रचार किया। यद्यपि उसके अन्तिम दिन बड़े हर्षमय और सफल थे किन्तु सन् १८५१ में लोगोंने उसके सिद्धान्तों और उसके भतीजे कार्ल मार्क्सके समाजवादी सिद्धान्तोंको एक समझ लिया जिससे इतना भ्रम फैल गया कि प्रूस (प्रशिया)के शिक्षा-मन्त्रीने आदेश निकालकर सभी किंडेरगार्टेन विद्यालय बन्द करा दिए। इस अन्यायपूर्ण अपमानका उसे इतना गहरा धक्का लगा कि एक वर्षके भीतर ही वह संसारसे चल बसा।

फ्रोबेलका सिद्धान्त

फ्रोबेलने मुख्य रूपसे रूसोके इस सिद्धान्तका समर्थन किया कि 'प्रकृति ही ठीक है' और इसीलिये उसका आग्रह है कि 'जो बात सिखानी या अभ्यस्त करानी हो उसकी शिक्षा आवश्यक रूपसे निर्बाध तथा सक्रम हो, सुझाई हुई, बताई हुई या बाधित न हो।' विकासकी इस उचित विधिका निर्देश करते हुए वह कहता है कि 'यह विकास अन्धानुकरणके बदले सजीव, आत्म-प्रेरित स्वतःक्रिया द्वारा होना चाहिए।'

'स्वतःक्रिया' (सेल्फ़-ऐक्टिविटी) और 'रचनात्मिकता' (क्रिएटिवनस) वाला क्रियात्मक अभिव्यक्तिका मनोवैज्ञानिक सिद्धांत ही फ्रोबेलकी शिक्षा-प्रणालीका मूल आधार है किन्तु वह सामाजिक पक्षको भी कम महत्त्वका नहीं समझता। उसका स्पष्ट मत है कि स्वतःक्रिया-द्वारा जो आत्मानुभव या व्यक्ति-

विकास संवर्द्धित होता है वह सामाजिक संसर्गसे ही होनी चाहिए। वास्तविक शिक्षा मनुष्योंमें रहकर ही प्राप्त की जा सकती है क्योंकि मनुष्यको पढ़-लिखकर सामाजिक जीवनमें ही तो प्रविष्ट होना पड़ेगा। इसी प्रकार खेल-कूदकी सामूहिक चेष्टाओंसे उसे केवल शारीरिक स्फूर्ति ही नहीं प्राप्त होगी प्रत्युत बौद्धिक शिक्षा भी मिलेगी। उसके किंडेरगार्टेनका अर्थ ही यह था कि 'बच्चोंके लिये ऐसा 'छोटा-सा राज्य' स्थापित कर दिया जाय जिनमें वे शिशु-नागरिक अपने अन्य साथियोंकी सुविधाका ध्यान रखते हुए स्वतन्त्रताके साथ विचरण करना सीखें और जिसमें न तो पुस्तकें हों न बँधे हुए बौद्धिक पाठ ही हों प्रत्युत आद्यन्त खेल-कूद, स्वतन्त्र विचरण और उल्लास भरा हो। इस पद्धतिमें अभिव्यक्तिके तीन परस्पर-संबद्ध रूप हैं—१. गीत, २. गति तथा ३. रचना।

शिशुके अंगों, इन्द्रियों और पुट्ठोंको सक्रिय तथा स्फूर्त्तिशील बनानेके लिये फ्रोबेलने पचास खेल-गीत निकाले हैं जो बढई, लुहार आदिके व्यवसायसे और बालककी विशेष शारीरिक, मानसिक या नैतिक आवश्यकतासे मेल खाते हैं। प्रत्येक गीतमें तीन भाग हैं, (१) माताके निदर्शनके लिये कोई उद्देश्य-वाक्य, (२) बालकको सुनानेके लिये संगीतयुक्त पद्य और (३) पद्यका भाव अभिव्यक्त करनेवाला चित्र।

फ्रोबेलके 'उपहारों' (गिफ़्ट्स) और 'व्यापारों' (ओकुपेशन्स) का वास्तविक उद्देश्य है बालकोंकी क्रियात्मक अभिव्यक्तिको प्रोत्साहन देना। दोनोंमें अन्तर यह है कि 'उपहारों-द्वारा' तो बिना उनका आकार बदले ही कुछ निश्चित सामग्री मिलाकर सजाने और पुनः क्रमबद्ध करनेकी क्रिया हो सकती है किन्तु 'व्यापारों-द्वारा' सामग्रियोंका आकार बदलने, सुधारने और दूसरा रूप देनेकी क्रिया भी हो सकती है। अतः, आजकल उपहारोंके बदले 'व्यापारों' को अधिक महत्त्व दिया जाने लगा है और उनकी संख्या तथा परिधि भी बहुत बढा दी गई है। 'व्यापारों'के अन्तर्गत कागज, बालू, मिट्टी, लकड़ी तथा अन्य लुजलुजी सामग्रियोंसे विभिन्न वस्तुएँ निर्माण करनेके कार्योंकी एक लम्बी सूची है।

विश्लेषण

फ्रोबेलने जहाँ स्वतन्त्रताकी इतनी दुहाई दी है वहाँ निश्चित 'उपहारों' और 'व्यापारों'में बाँधकर शिक्षाको ऐसा जकड़ भी दिया है कि वह शिक्षा न रहकर क्रीड़ा-मात्र बनी रह गई। प्रायः बहुतसे शिक्षाशास्त्री यह समझनेकी भूल करते हैं कि बालक खेलसे अपने-आप शिक्षा ग्रहण करता है किन्तु वे यह समझनेका कष्ट नहीं करते कि बालक खेलको खेल ही समझता है और उसके भीतरकी प्रत्येक साभिप्राय क्रियाको भी वह खेलकी भाँति अगम्भीर ही समझता है। फ्रोबेलने इस बातपर ध्यान नहीं दिया कि बालक अपने घरेलू रहन-सहनमें अनेक प्रकारकी आकृतियों, रंगों, रूपों और पदार्थोंसे परिचित होता चलता है। अतः, उसका इन्द्रियज्ञान इतना जड नहीं होता कि केवल उपहारोंसे ही उसकी इन्द्रियों और अंगोंका विकास हो। और फिर जीवनमें खेलका एक विशेष प्रयोजन होता है—मनको गम्भीर बातोंसे हटाना और इस प्रकार उसपर पड़े हुए चिन्तन, मनन, एकाग्र-बन्धनके भारसे उसे मुक्त करके उसके तनाव और खिंचावको ढीला कर देना जिससे उसकी गम्भीरताके कारण शरीरपर पड़नेवाला कुप्रभाव दूर हो सके और मनकी स्वतन्त्रता तथा उसके उल्लाससे शरीरकी अन्य इन्द्रियाँ भी सक्रिय, चेतन तथा स्वस्थ रह सकें। अतः, जिन शिक्षा-शास्त्रियोंने खेलको शिक्षाका साधन बनानेकी बात कही है उन्होंने मनोविज्ञान तथा शरीर-विज्ञानसे नितान्त भिन्न बात कहकर बालकके मानसको खेल-द्वारा स्वतन्त्र तथा उल्लसित करनेके बदले उसे नियन्त्रित तथा नीरस बनानेका उपाय सुझाया है।

फ्रोबेलने अपने लेखोंमें कहा है कि विश्वके सब प्राणी परस्पर अभिन्न हैं। वह अनेक पदार्थोंको सत् मानता हुआ सबमें अखंड अभिन्नताकी कल्पना करता है। यदि यह बात थी तो संसारके सब पदार्थोंमें मौलिक तथा अखण्ड अभिन्नता और एकताकी कल्पना करनेवाले व्यक्तिने रूसोके समान ही बालकके लिये प्रकृतिके द्वार क्यों नहीं खोल दिए? उसने ज्ञान-तन्तुओंके सक्रम विकासके लिये जड उपहारों और व्यापारोंका सर्जन क्यों किया?

स्वतःक्रिया या स्वयं-शिक्षाका सिद्धान्त भी कुछ ऐसी ही कल्पनाका परिणाम है। बारोनेस बैरथेने स्पष्ट लिखा है कि '.फ्रोबेल अपने सब छात्रोंकी प्रत्येक क्रियाकी बड़ी सावधानीसे परीक्षा करता रहता था और जहाँ तनिक भी शिथिलता या अव्यवस्था दिखाई देती थी वहाँ आवश्यक निर्देश, सुधार और समाधान करता चलता था। यदि निर्देश, सुधार और समाधानकी अवश्यकता बनी ही रह गई तो वह प्रणाली स्वतःक्रिया कहाँतक बनी रह सकती है? किन्तु .फ्रोबेलने अपनी शिक्षा-पद्धतिमें समाजकी उपेक्षा नहीं की। सम्भवतः इसी कारण .फ्रोबेल अपने पूर्ववर्त्ती शिक्षाचार्योंकी अपेक्षा कहीं अधिक सफल और लोकप्रिय हो पाया।

.फ्रोबेलने भी शिक्षाके व्यापक महत्त्वकी उपेक्षा करके अध्यापककी महत्ताका तिरस्कार किया। उसने भी रँगी हुई गेंदें, लकड़ीके भिन्न आकारके टुकड़े, कुछ गिने-चुने गीत तथा कागज़, मिट्टी और लकड़ीकी मूर्त्तियोंको मनुष्यके भावी ज्ञानका आधार समझ लिया। यही कारण है कि .फ्रोबेलने मानवके दैवी तत्त्वको उद्दीप्त करनेके आधार अध्यापकको परित्यक्त करके अपना पक्ष शिथिल कर दिया। इतना होनेपर भी .फ्रोबेलने पाठशालाओंकी नीरसता तथा अध्यापकोंके कठोर दण्डविधानमें अभूतपूर्व परिवर्त्तन उपस्थित कर दिया। किन्तु लकड़ी और मिट्टीसे खेलनेवाले बालक वह तेज नहीं प्राप्त कर सकते जो चरित्र और विद्याका तेज प्राप्त किए हुए अध्यापकके सम्पर्कसे प्राप्त हो सकता है।

६

शिक्षामें लोकवाद और विज्ञान

पिछली दो शताब्दियोंमें विज्ञानने अत्यन्त द्रुत गतिसे उन्नति की। अतः, जौर्ज कौम्बेके नेतृत्वमें शिक्षाको व्यावहारिक और अर्थकरी बनानेका आन्दोलन चला। तत्कालीन विद्यालयोंने उसका बड़ा विरोध किया क्योंकि वे प्रचलित परिपाटीमें किसी प्रकारका परिवर्तन नहीं करना चाहते थे। विज्ञानवादी लोग भी प्राचीन विषय—भाषा, व्याकरण, गणित—हटाना नहीं चाहते थे। वे तो केवल नये व्यावहारिक विषय जोड़ना भर चाहते थे। इन व्यावहारिक शिक्षा-शास्त्रियोंमें प्रमुख था हरबर्ट स्पेन्सर।

हरबर्ट स्पेन्सर (१८२०-१९०३)

हरबर्ट स्पेन्सरका जन्म डरबी नगरके शिक्षित परिवारमें हुआ था। अतः, बचपनसे ही उसे साहित्य तथा विज्ञानका समन्वित संस्कार प्राप्त हुआ। बाईस वर्षकी अवस्थासे ही वह सामाजिक और आर्थिक विषयोंपर लेख लिखने लगा और सन् १८४८ ई० में अट्ठाईस वर्षकी अवस्थामें 'दि इकौनोमिस्ट' पत्रका सहायक सम्पादक बना दिया गया। किन्तु दस वर्ष पश्चात् वह स्वतन्त्र पत्रकार और लेखक बन गया। उसने अनेक ग्रन्थ लिखे जिनमेंसे 'एजुकेशन' (शिक्षा) नामक ग्रन्थमें पहली बार वैज्ञानिक तथा मनोवैज्ञानिक ढंगसे बालककी शिक्षाके सब पक्षोंका उसने विस्तारसे विवेचन किया।

स्पेन्सरके अनुसार 'बालकको ऐसी शिक्षा दी जानी चाहिए कि वह स्वयं अपनेको शिक्षित करता चल सके और जीवनको पूर्ण सफल बना सके। यह सफलता विज्ञानके अध्ययनके द्वारा ही संभव है।' स्पेन्सरका विश्वास है कि "मनुष्य केवल पाँच प्रकारके कार्य ही करता है और उन पाँचों प्रकारके कार्योंमें केवल विज्ञान ही उसका सहायक हो सकता है'—

१. वे कार्य, जिनके द्वारा मनुष्य स्पष्ट तथा प्रत्यक्ष रूपसे अपने प्राणोंकी रक्षा करता या कर सकता है।

२. वे कार्य, जो अनजान या अप्रत्यक्ष रूपसे मनुष्यकी रक्षामें सहायता देते हैं।

३. वे कार्य, जिनके द्वारा मनुष्य अपनी संतानको पालता, पोसता और शिक्षा देता है।

४. वे कार्य, जिनके द्वारा मनुष्य अपने समाज और राष्ट्रकी उचित व्यवस्था करता है।

५. वे कार्य, जिनसे मनुष्यका मनोरंजन होता है।

उसका मत है कि मानव-जीवनको सम्पन्न और उदात्त बनानेके लिये इतिहास आवश्यक है क्योंकि इतिहासमें सहसा उसे एक साथ श्रद्धाके सब आलम्बन एकत्र मिल जाते हैं जिससे उसे अपना संस्कार ठीक करने और आदर्श ढूँढनेमें बड़ी सुगमता होती है। वह कहता है कि अवकाशमें चित्र, संगीत, मूर्त्तिकला तथा प्रकृति-दर्शनके लिये छात्रोंको प्रेरणा देनी चाहिए।

उसने अध्यापकोंके लिये कुछ मोटे-मोटे गुर (मैक्सिम्स) बना दिए थे—१. सरलसे कठिनकी ओर चलो। २. ज्ञातसे अज्ञातकी ओर चलो। ३. निश्चितसे अनिश्चितकी ओर चलो। ४. प्रत्यक्षसे अप्रत्यक्ष या भावात्मकताकी ओर चलो। ५. संसारने जिस क्रमसे शिक्षा पाकर सभ्यताका विकास किया है उस क्रमसे बालककी शिक्षा हो (संस्कारावृतिका सिद्धान्त)। ६. प्रयोगात्मक या अनुभवात्मक ज्ञानसे युक्तियुक्त ज्ञानकी ओर बढ़ो। ७. बालकको स्वतः प्रयोग करके परिणाम निकालनेको उत्साहित करो। ८. पढ़ानेका ढंग रुचिकर बनाओ। ९. बालकको नैतिक शिक्षा देनेके लिये माता-पिता सत्यशील, निष्कपट, स्वच्छ और नियमित हों और बालकोंसे स्नेहपूर्ण व्यवहार करें। १०. बालकको अस्वाभाविक दण्ड न दिया जाय। ११. दण्ड-विधान ऐसा स्वाभाविक हो कि छात्र स्वयं अपने अपराधके परिणामसे उत्पन्न असुविधाका अनुभव करे। १२. साथ ही शिक्षाकी अपेक्षा बालकके स्वास्थ्य-पर अधिक ध्यान दिया जाय।

हक्सले

हरबर्ट स्पेन्सरका सबसे बड़ा समर्थक था टौमस एच्० हक्सले (१८२५–१८९५) जिसने स्पेन्सरके विचारोंको अपने परिश्रमसे व्यवहार्य बनाया और पाठ्य-विषयोंमें विज्ञानका प्रवेश कराया। उन्नीसवीं शताब्दीके अन्तिम भागमें योरपमें माँग की जाने लगी कि पाठ्य-क्रममें व्यावसायिक शिक्षा भी सम्मिलित की जाय और कुशल कारीगर उत्पन्न किए जायँ।

सेग्वी -प्रणाली

इस व्यावसायिक शिक्षासे शंकित होकर कुछ लोगोंने अन्य व्यावसायिक तथा लौकिक शिक्षाके साथ धार्मिक शिक्षाकी भी व्यवस्था की। इसी युगमें सर्वप्रथम एद्वार्द सेग्वीं (१८१२–१८८०) ने सन् १८३७ ई० में पैरिसमें जड-बुद्धि बालकोंके लिये एक शिक्षा-प्रणाली निकाली, किन्तु कुछ कारणोंसे उसे अमेरिका चला जाना पड़ा जहाँ १८५० में उसने अपना विद्यालय प्रारम्भ कर दिया। उसकी प्रणाली यह थी कि स्पर्श, स्वाद, गंध, दृष्टि और श्रवण-शक्तिको साधकर विभिन्न अंगों और इन्द्रियों-द्वारा मस्तिष्कको प्रभावित किया जाय। इसलिये चित्र, कार्ड, विभिन्न ढंगके साँचे, मूर्तियाँ, मोम, मिट्टी, कैंची, कम्पास (परकार) और पेंसिल ही उसकी शिक्षाके मुख्य उपादान बने। इसके अतिरिक्त पागलों, अपराधियों, गूँगों और बहरोंके लिये भी व्यवस्थित शिक्षा-प्रणाली खोज निकाली गई।

उधर जौन डयूई और कर्नल पार्करने फ्रोबेलके प्रयोगोंको समुन्नत किया, उसकी क्रियात्मक अभिव्यक्ति तथा सामाजिक सहयोगकी भावनाका परिष्कार किया, शिक्षाके सिद्धान्त और प्रयोगका रूप स्थिर किया और एक प्रयोगात्मक विद्यालय खोला।

व्यावसायिक क्रान्ति और विज्ञानके प्रसारसे जीवनके आदर्श बदले, शिक्षाका उद्देश्य जीवनमें विभिन्न क्षेत्रोंके उपयुक्त नागरिक बनाना हो गया और शासनपर ही सबकी शिक्षाका भार आ गया।

७

शिक्षामें प्रयोजनवाद (प्रैग्मैटिज़्म)

उन्नीसवीं शताब्दीमें अमरीकाके आचार्य जौन ड्यूईने शिक्षाके विभिन्न पक्षोंके कारण, परिस्थिति तथा परिणामके अनुसार उनका परीक्षण करना प्रारम्भ किया। इसीलिये ड्यूईको सब लोग प्रयोजनवादी (प्रैग्मैटिस्ट) कहते हैं।

जौन ड्यूई

ड्यूईका जन्म १८५९ में अमरीकामें हुआ था। आजतकके शिक्षा-शास्त्रियोंका यही सिद्धान्त रहा कि शिक्षाका उद्देश्य बालकके भावी जीवनके लिये सहायक होना है। ड्यूईने इस सिद्धान्तका खंडन करके यह प्रतिपादित किया कि शिक्षा स्वयं ही जीवन है, वह जीवनके लिये तैयारी नहीं है। इसका तात्पर्य यह है कि बालक जब विद्यालयमें प्रवेश करता है उस समय भी उसकी अवस्थाके अनुरूप उसकी जो आवश्यकताएँ रहती हैं; उनकी उसी समय पूर्ति करते चलना ही वास्तविक शिक्षा है। इस सिद्धान्तकी व्याख्या करते हुए ड्यूईने समझाया कि आगे काममें आनेवाले विषय पढानेके बदले छात्रोंकी रुचिके अनुरूप उनकी अभिवृद्धि करनी चाहिए क्योंकि शिक्षाका उद्देश्य सामाजिक है, व्यक्तिगत नहीं। अमरीकाकी जागरूक और विकासशील जनताने ड्यूईके विचारोंका समर्थन करना प्रारम्भ कर दिया। अतः, अमरीकाकी शिक्षा-पद्धतिमें ऐसे विषयोंकी शिक्षाकी व्यवस्था की जाने लगी जो तत्काल विद्यार्थि-जीवन अर्थात् अध्ययन-कालकी अवस्थामें ही काम आ सकें। तदनुसार यह योजना बनी कि प्रत्येक बालकको अपनी रुचि और सामर्थ्यके अनुकूल विकास करनेका पूर्ण अवसर मिले। यह तभी सम्भव है जब प्रत्येक विद्यालय ऐसा छोटासा बालराज्य बना दिया जाय जिसमें सब प्रबन्ध छात्रोंके ही हाथमें रहे जिससे वे सब कार्य अपने परिश्रमसे कर सकें। इस कार्यके लिये बालकोंकी रुचि और वृत्ति समझकर उन्हींकी पूर्तिके निमित्त शिक्षा दी जाय

और उन्हें इस योग्य बना दिया जाय कि वे तथ्यको पहचानकर उसे ग्रहण कर सकें क्योंकि तथ्य ही उपयोगी ज्ञान है ।

समाज और शिक्षा

बालककी स्वाभाविक रुचि और कार्यवृत्ति देखकर शिक्षाके द्वारा उनकी पूर्त्ति करनेका तात्पर्य यह है कि ड्यूई प्रत्येक बालकको व्यक्तिवादी बना देना चाहता था । किन्तु परिणामतः वह शुद्ध समाजवादी था । वह व्यक्तिके मंगलके साथ समाजका मंगल गुँथा मानता था । ड्यूईका मत है कि बालकके मनमें वैयक्तिक आचार-निष्ठा साधनेके लिये ऐसी स्फूर्ति उत्पन्न कर देनी चाहिए कि वह प्रत्येक वस्तुसे आत्मीयता स्थापित करके उसका विश्लेषणात्मक अध्ययन कर सके क्योंकि उसके सहारे जो नैतिकताका उत्पन्न होगी वह आगे चलकर समष्टि रूपसे सभ्यता और संस्कृतिके रूप-निर्माणमें सहायक हो सकती है । अतः, शिक्षाका यह भी उद्देश्य होगा कि ऐसे बालक छाँट लिए जायँ जिनमें नेतृत्वकी क्षमता हो क्योंकि समाजकी सामूहिक अभ्युन्नति तभी संभव है जब हम योग्य व्यक्तियोंको दायित्वपूर्ण पदों और स्थानोंपर प्रतिष्ठित करनेकी सुविधा दें । ड्यूईने विशेष रूपसे कहा है कि शिक्षा-योजना बनाते समय बालक-बालिका दोनोंपर समान ध्यान देना चाहिए क्योंकि एककी उपेक्षा करनेसे समाज ठीक प्रकारसे पनप नहीं सकेगा । उसके आदर्शवादका आधार शुद्ध प्रत्यक्षवाद या यथार्थवाद है । ड्यूई स्थिरतावादी (स्टैटिक) नहीं है । वह यह नहीं मानता कि शिक्षाकी एक पद्धति बनाकर जन्म-जन्मान्तरके लिये निश्चिन्त होकर बैठ रहा जाय । शिक्षा तो समाजकी वह पतिव्रता प्रेयसी है जिसे अपना स्वरूप समाजकी प्रेरणा और आवश्यकतानुसार बदलते रहना चाहिए । इस स्फूर्तिको बनाए रखनेके लिये पाठ्य विषयोंमें हस्तकौशलकी क्रियाओंका बाहुल्य होना चाहिए । सामूहिक रूपसे लोकसेवाके कामोंमें सम्मिलित होनेसे बुद्धिका विकास होता है । अतः, बालकको अपने अनुभवका वर्णन करके उसे कार्य रूपमें परिणत करना चाहिए । छात्र और अध्यापकको परस्पर सहयोगसे एक दूसरेसे शिक्षा लेनी

चाहिए क्योंकि नैतिक विधानसे शिक्षा पानेसे ही जीवन व्यवस्थित तथा सुखी हो सकता है ।

शिक्षाका उद्देश्य

वह शिक्षाके द्वारा सामाजिक अभ्युत्थानमें योग देनेकी क्षमता और प्रत्येक परिस्थितिमें सफलतापूर्वक जीवन-निर्वाह करनेकी शक्ति उत्पन्न करना चाहता था। क्योंकि लोक-कल्याणकी भावना ही वास्तविक आत्मज्ञान है और यही वह शिक्षाका मूल उद्देश्य मानता था।

ड्यूईका शिक्षण-क्रम और प्रयोग-प्रणाली

अभीतक प्रायः सभी शिक्षण-संस्थाओंमें अध्यापकोंका बोलबाला था। वे बालकको जो बतला देते थे वही उसे रटना पड़ता था। उसमें अपनी प्रेरणा, अपनी स्फूर्ति कुछ भी नहीं होती थी। ड्यूईने अध्यापकोंका वह व्यापक प्रभुत्व समाप्त करके उनका काम यह कर दिया कि वे चुपचाप बैठकर बालकोंकी गतिविधिका निरीक्षण करें और उनकी स्वाभाविक वृत्तियोंको देख-समझकर उनके अनुरूप उन्हें उत्साहित करके ऐसे कार्योंमें प्रवृत्त करें जो उनके लिये लाभकर हों। ड्यूईका कहना है कि सब बालकोंकी रुचिमें बहुत बातोंमें भेद होता है। अतः, अध्यापकको ऐसे सभी भेद समझकर उनके अनुरूप प्रत्येक बालकके लिये अलग-अलग कार्यकी व्यवस्था करनी चाहिए। इससे उनमें परस्पर कलह, द्वेष और वैर नही होगा, शील और विनयकी भावना स्वभावतः आ जायगी और उनका स्वयं नैतिक उत्थान हो जायगा। इसलिये ड्यूईने दिन-चर्या (टाइम टेबिल) का विरोध करते हुए बताया है कि आगेका कार्य पहलेसे बता देनेसे छात्रोंके मनमें विरसता उत्पन्न हो जाती है, इसलिये वह चाहता है कि कोई काम पहलेसे निश्चित न किया जाय वरन् अवसरके अनुकूल नित्य नया-नया कार्यक्रम बनता रहे जिससे छात्र यह न समझ पावें कि हम किसी विद्यालय-रूपी यन्त्रके अंग बनकर एक नियमित क्रमसे सब कार्य करनेके लिये पहलेसे ही बँधे हुए हैं। नित्य नवीन कार्य-योजना देखकर उन्हें कुतूहल होगा, जिज्ञासा होगी, स्फूर्ति होगी और नवीन कार्यमें रुचि

भी होगी और यह नवीन कार्य भी अध्यापकको ओरसे प्रस्तुत नहीं होगा, स्वयं छात्र ही अपनी ओरसे उसका प्रस्ताव करेंगे। हाँ, अध्यापक ऐसी परिस्थिति अवश्य उत्पन्न करता चले कि छात्र उसके अनुकूल कार्यका प्रस्ताव कर सकें। यही प्रणाली प्रयोग-प्रणाली (प्रोजेक्ट मेथड) कहलाती है और ड्यूईके प्रयोगात्मक विद्यालयोंमें इसी प्रणालीसे शिक्षा दी जाती है। ड्यूईके प्रसिद्ध शिष्य किलपैट्रिकने इस प्रणालीकी विस्तृत मीमांसा की है। किन्तु इस पद्धतिसे सक्रम तथा व्यवस्थित शिक्षण नहीं हो पाता और ज्ञानकी सब शाखाओंके सब अंगोंका अध्ययन छात्र नहीं कर सकते। इस बातको ड्यूईने भी अपने 'अनुभव और शिक्षा' (एक्सपीरियन्स ऐंड एजुकेशन) नामक ग्रन्थमें स्पष्ट रूपसे स्वीकार किया है।

प्रयोग-प्रणाली (प्रोजेक्ट मेथड)

ड्यूईने सन् १८९६ में जो प्रयोगशाला-विद्यालय (लैबोरेटरी स्कूल) खोला था उसकी पाठ्य-प्रणाली ही प्रयोग-प्रणाली कही जाती है। विशेष अर्थमें प्रोजेक्ट (प्रयोग) शब्दका व्यवहार संयुक्त राष्ट्र अमेरिकाके कृषि-विभागने प्रारंभ किया था। उसके अनुसार 'सहयोगपूर्ण कार्य करनेकी योजनाकी रूप-रेखाको ही प्रयोग कहते हैं।' इसके पश्चात् 'विज्ञान तथा श्रम-साध्य कार्योंकी क्रिया'के लिये ही यह शब्द प्रयुक्त किया जाने लगा। शिक्षाके क्षेत्रमें जब यह शब्द पहुँचा तब इसकी व्याख्या इस प्रकार की गई—'प्रयोग वह समस्यात्मक कार्य है जो वास्तविक परिस्थितिमें पूरा किया जाय।' (ए प्रोजेक्ट इज़ ए प्रोब्लेमेटिक ऐक्ट कैरीड टु कम्प्लीशन इन इट्स नैचुरल सेटिंग।)

किन्तु प्रयोग-प्रणालीमें विद्यार्थियोंको ऐसे समस्यात्मक कार्य दिए जाते हैं जिन्हें वे वास्तविक परिस्थितिमें संपन्न कर सकें। छात्रोंको केवल सूचनात्मक ज्ञान देनेके बदले उनके सामने ऐसी समस्याएँ रक्खी जाती हैं जिनपर वे स्वयं तर्कपूर्ण विचार कर सकें, निर्णय कर सकें, उसे व्यवहारमें ला सकें, प्रत्यक्ष तथा सक्रिय प्रयोगके द्वारा ज्ञानको आत्मसात् कर सकें और समस्याओंका समाधान कर सकें। इसीलिये इसमें तीन बातें रक्खी गई हैं—

(१) ऐसा कार्य दिया जाय जिसमें कोई समस्या हो, छात्रको बुद्धि लगानी पड़े। (२) जो समस्यासे भरा कार्य दिया जाय उसे छात्र ही पूरा भी करें। (३) वह कार्य कक्षाके कार्यके रूपमें नहीं वरन् वास्तविक स्थितिमें ही पूर्ण किया जाय।

ये प्रयोग या कार्य दो प्रकारके हो सकते हैं—(१) सरल (सिम्पिल्) और (२) जटिल या बहुमुखी (कौम्प्लेक्स)। सरल प्रयोगमें केवल एक ही काम होता है। बहुमुखी प्रयोगमें एकसे अधिक समस्यात्मक कार्य होते हैं। शिक्षाकी दृष्टिसे विद्यालयके उत्सव या नाटककी कार्य बहुत अच्छे बहुमुखी प्रयोग होते हैं।

प्रयोग-प्रणालीके सिद्धान्त

प्रयोग-प्रणालीमें सभी शिक्षा-शास्त्रियोंके सभी सिद्धान्तोंका समावेश कर लिया गया है। वास्तविक परिस्थितिमें काम करानेकी योजनामें तो पैस्टालोज़ी, हरबार्ट और फ़्रोबेलका 'करो और सीखो' वाला सिद्धान्त है, समस्यात्मक कार्यमें फ़्रोबेलकी स्वयंशिक्षा तथा मौन्तेस्सौरीकी स्वतःप्रवृत्ति और स्वतन्त्रताका सिद्धान्त है किन्तु व्यापक रूपसे इसमें स्वयंशिक्षा (औटो-एजुकेशन), आंगिक समर्थता तथा 'करो और सीखो' का समावेश है।

प्रयोग-प्रणालीमें कई गुण हैं। इससे विद्यार्थियोंको स्वतः सोचने और काम करनेकी प्रवृत्ति होती है, वे अपना काम समझकर उसमें रुचि लेते हैं, वास्तविक परिस्थितिमें कार्य पूर्ण होनेके कारण वे उस कामके सब तत्त्व समझ लेते हैं, उस काममें जितनी सामग्री और शक्ति लगती है उसका अपव्यय नहीं होता, जितना ज्ञान प्राप्त किया जाता है वह सब वास्तविक जीवनमें काम देता है, इसके द्वारा काम करनेसे अभ्यास और चातुर्यको प्रोत्साहन मिलता है, ठीक क्रमसे काम करनेकी प्रवृत्ति भी उत्पन्न होती है तथा धैर्य, संतोष, आत्मतुष्टि तथा श्रमकार्यके प्रति आदरका भाव उत्पन्न होता है।

किन्तु इस प्रणालीमें सबसे बड़ा दोष यही है कि सब विषयोंके सब अंग इसके द्वारा नहीं सिखाए जा सकते तथा अध्यापकका व्यक्तित्व और ज्ञान निरर्थक हो जाता है।

८

शिक्षामें अवयव-सिद्धि

बीसवीं शताब्दीके प्रारम्भमें मूढ़, बुद्धिहीन तथा विकलांग बालकोंको शिक्षा देनेके लिये जो बहुत-सी विधियाँ प्रचलित हुईं उनमें सबसे अधिक ख्याति पाई इतालिया (इटली)-निवासिनी मेरिया मौन्तेस्सौरीकी प्रणालीने।

मदाम मोन्तेस्सौरी

मेरिया मौन्तेस्सौरीका जन्म सन् १९८० में इतालिया (इटली) में हुआ। रोम विश्वविद्यालयसे आयुर्वेद (डाक्टरी) में आचार्यत्व प्राप्त कर लेनेपर उन्हें सर्वप्रथम मन्दबुद्धि या जडबुद्धि बालकोंकी चिकित्साका काम मिला जिसके लिये उन्होंने सेग्वीं प्रणालीका प्रयोग करके यह निष्कर्ष निकाला कि ऐसे बच्चोंको औषध देनेकी अपेक्षा अन्य प्रकारसे शिक्षा देकर ठीक करना चाहिए। उन्होंने उन्माद-चिकित्सा तथा मनोवैज्ञानिक और वैज्ञानिक शिक्षा-शास्त्रका भी अध्ययन किया और बहुत दिनोंतक स्टेट और्थोफ्रेनिक स्कूलकी संचालिका रहकर मन्दबुद्धि बालकोंको शिक्षा देनेमें सफलता पाई। तब उन्होंने साधारण बालकोंपर भी अपनी शिक्षा-पद्धतिका प्रयोग प्रारम्भ कर दिया और सन् १९०७ में वे 'बाल्यावासों' (हाउसेज़ औफ़ चाइल्डहुड) की शिक्षा-संचालिका बन गईं। इस संस्थामें पहुँचकर वे प्रत्येक विद्यार्थीकी कुल-परम्परा, पैतृक व्यवसाय, पोषण, बचपनके रोग तथा शारीरिक जाँचका पूरा विवरण बनाकर रखती रहीं और प्रत्येक बालकके घरकी स्वच्छता, स्वास्थ्य तथा आर्थिक स्थितिकी जाँच भी किसी कुशल विशेषज्ञ-द्वारा बीच-बीचमें कराती रहीं। फिर भी प्राणि-शास्त्रज्ञोंने यही कहा कि 'यद्यपि डौ० मौन्तेस्सौरीकी वैज्ञानिक शिक्षण-पद्धति अत्यन्त अपर्याप्त और अशुद्ध है और उन्हें वर्तमान विज्ञानका भी पूरा ज्ञान नहीं है फिर भी उनकी प्रणालीकी भावना वैज्ञानिक ही है।'

मौन्तेस्सौरी-पद्धतिमें प्रत्येक बालकको यथासंभव स्वतन्त्रता दे दी गई और अध्यापिका शान्तिके साथ बालककी गति-विधिका सावधानीके साथ निरीक्षण करने लगी। मौन्तेस्सौरीका विचार है कि छात्रोंपर अध्यापक-द्वारा निर्दिष्ट अभ्यास लादनेकी अपेक्षा बालकोंको स्वतःशिक्षित होनेके लिये प्रोत्साहन देना चाहिए जिसमें बालक स्वयं अपनी रुचिके अनुसार काम छाँटें, अपनी रुचिके अनुसार स्वयं अपनी शंका और जिज्ञासाका समाधान करें तथा स्वतः अपना मानसिक और नैतिक विकास कर सकें। उनपर इतना ही अंकुश हो कि जब उनकी क्रिया सर्वसाधारणके हितमें बाधक, निरर्थक या संकटपूर्ण हो तभी उन्हें रोका, टोका और समझाया जाय। व्यक्तिगत अभिव्यक्तिमें विश्वास रखते हुए भी मौन्तेस्सौरीकी पद्धतिमें किंडेरगार्टेनके रोचक खेल, गीत और कथाओंका कोई स्थान नहीं है। यद्यपि मोन्तेस्सौरीकी 'स्वतःशिक्षा' की भावना प्रशंसनीय तो है किन्तु उनके 'शिक्षा-यन्त्र' (डाइडेक्टिक ऐपेरैटस) इतने संकुचित हैं कि उनके द्वारा जीवनकी अनेक वास्तविक क्रियाएँ किसी भी प्रकार पूर्णतः नहीं सिखाई जा सकती।

मौन्तेस्सौरीका पाठ्यक्रम और शिक्षायन्त्र

मौन्तेस्सौरी विद्यालयोंके पाठ्यक्रमको हम तीन वर्गोंमें बाँट सकते हैं—(१) व्यावहारिक जीवनकी क्रियाओंसे संबद्ध, (२) ज्ञानेन्द्रियोंको साधनेकी क्रियाओंसे संबद्ध तथा (३) प्रारम्भिक पाठ्य-नियमोंसे संबद्ध। विद्यालयमें प्रवेश करनेके समय ही बालक व्यावहारिक जीवनको क्रियाओंमें भाग लेने लगता है। चौकियाँ लगाने, भोजन परोसने और थालियाँ धोनेका कार्य करके वह साधारण शिष्टाचार, विनय तथा आचार-व्यवहारका अभ्यास कर लेता है। वह हलके लकड़ीके ढाँचोंपर लगे हुए सूत या चमड़ेके वस्त्रोंमें बटन लगाकर, फ़ीता बाँधकर, हुक लगाकर तथा वेष-भूषाकी विभिन्न वस्तुएँ ठीकसे पहननेका अभ्यास कर लेता है। मौन्तेस्सौरीका विश्वास है कि ऐसे अभ्यासोंसे ही बालकको कपड़े पहननेका ढंग भी आ जायगा और वह अपने हाथके पुट्ठोंको भी पर्याप्त व्यायाम दे सकेगा।

मदाम मौन्तेस्सौरीकी पद्धतिमें बालककी स्पर्श-भावना साधनेके लिये अनेक प्रकारकी सामग्रियोंपर उसकी उँगली फिराकर उन वस्तुओंका तल खुरदरा या चिकना बताया जाता है और फिर इस विवरणके द्वारा बालककी आँखोंपर पट्टी बाँधकर चिकनी और खुरदरी वस्तुएँ छँटवाई जाती हैं। इसी प्रकार दिखा, सुना, छुआ और सुँघाकर किसी वस्तुकी प्रकृति या गुण समझाकर शीत, उष्ण, श्वेत, काला, ठोस, पोला, भारी, हल्का तथा रंग आदिका अभ्यास करा दिया जाता है। श्रीमती मौन्तेस्सौरीका कहना है कि इन अभ्यासोंका यह उद्देश्य नहीं है कि बालकको रंगों, आकारों और वस्तुओंके विभिन्न गुणोंका ज्ञान हो। इन अभ्यासोंसे तो बालककी एकाग्रता, तुलना-ज्ञान तथा स्वयं-निर्णयकी सिद्धि करके उसकी ज्ञानेन्द्रियोंका संस्कार किया जाता है।

मौन्तेस्सौरीका कहना है कि छोटे, बड़े, ठोस, पोले, मोटे, पतले, गोल, तिकोने, चौकोर, बेलनाकार, अंडाकार आदि जितने रूप-आकार दिखाई पडते हैं उनके निरीक्षण, अध्ययन और सम्पर्कसे लेखनमें निश्चित सहयोग मिलता है। मौन्तेस्सौरीने तीन ऐसे अभ्यास निकाले हैं जिनके द्वारा लेखनका स्वतः विकास होता है—(१) बालकसे काग़ज़पर वृत्त, त्रिभुज, चतुर्भुज, षट्कोण आदि आकार खिंचवाकर, उसकी बाह्य रेखापर स्याही करानेका अभ्यास कराकर बालकको लेखन-सामग्री—कलम, अंजनी (पेंसिल), तूलिका, खड़िया आदि—का प्रयोग करनेकी आवयविक चेष्टाओंका अभ्यास कराया जाता है। (२) इसी अभ्यासके समय गत्तोंपर चिपके हुए बलुए काग़जके कटे हुए अक्षरोंपर बालकसे उँगली फिरवाकर अक्षरोंका रूप समझने और उसकी रेखाओंकी दिशाएँ जाननेका अभ्यास भी कराया जाता है। इस अभ्यासमें पहले अध्यापक वर्णमाला-क्रमसे उस बलुए कागजके अक्षरपर उँगली फेरते हुए उसकी ध्वनिका उच्चारण करता है (अक्षरका नाम उच्चारण करनेके बदले प्रयोगमें आनेवाली उसकी ध्वनि कहता है जैसे अँगरेज़ीके 'के' (K) अक्षर न कहकर इसकी प्रयोजनीय ध्वनि 'क' कहता है। पर यह झगड़ा विदेशी अक्षरोंमें है, देवनागरीमें तो ध्वनि और नाम दोनों

एक ही होते हैं) और तब बालककी उँगली उसपर फिरवाकर उससे भी वही ध्वनि कहलाता है। (३) इस प्रकार बालककी उँगली साधकर उसकी स्मृतिके साथ उस सधे हुए रूपका संबंध जोड़नेके लिये उससे कहता है—मुझे 'क' दो, 'ब' दो आदि; या कोई अक्षर दिखाकर पूछता है कि यह क्या है अथवा यह कौन-सा अक्षर है ? अन्तमें छापेवरोंके अक्षर-जुड़ैयों (कम्पोज़िटरों) की अक्षर-पेटी (केस) से मिलती-जुलती पेटियोंके चौकोर घरोंमें रक्खे हुए गत्तोंके अक्षर जोड़कर बालक शब्द बनाता है। यद्यपि इस अभ्यासतक बालक कुछ भी लिखता नहीं है किन्तु लिखनेकी जितनी भी भाव-क्रियाएँ हैं उन सबपर वह अधिकार प्राप्त कर लेता है। यही उस 'लेखनके विस्फोट' (आउटबर्स्ट औफ़ राइटिंग) का रहस्य है जिसकी शिक्षाके क्षेत्रमें बहुत चर्चा है। इस प्रणाली-द्वारा बालक अचेतन रूपसे लेखन-कला सीख लेता है। यह पद्धति मौन्तेस्सौरी-प्रणालीकी सबसे बड़ी सफलता समझी जाती है।

वाचनका क्रम लेखनके पीछे आता है। श्यामपट्ट या कागजोंपर लिखे हुए परिचित वस्तुओंके नामोंसे वाचनका प्रारम्भ किया जाता है। इस प्रणालीमें वर्णमाला-क्रम (एल्फ़ाबेट) से पढानेकी आवश्यकता नहीं समझी जाती, सीधे शब्दसे प्रारम्भ कर दिया जाता है।

गणित सिखानेके लिये मौन्तेस्सौरीने जो प्रयोग स्थिर किए हैं वे पैस्टालौज़ीकी इकाईकी सरणि तथा अन्य विधियोंसे भिन्न नहीं है। इसमें विशेषता इतनी ही है कि इन्होंने विभिन्न लम्बाईके छोटे-छोटे डंडे बना लिए हैं जिनके कई भाग करके उन्हें लाल और नीला रंग दिया जाता है। जब बालक उन भागोंको गिनना सीख जाता है तब अध्यापक भी एक डंडा लेकर, उससे बड़े या छोटे डंडे छात्रोंसे निकलवाता है या छात्रोंसे कहकर सब डंडे इस प्रकार रखवाता है कि वे सबसे बड़े डंडेके बराबर हो जायँ। इस प्रकार बहुत द्रविड प्राणायामके साथ जोड़, घटाना, गुणा, भाग सिखाया जाता है और उसमें समय भी बहुत लगता है।

मौन्तेस्सौरी विद्यालयोंमें बालकोंको ज्ञान तो कम प्राप्त होता है किन्तु

उन्हें स्वच्छता, विनय, शील और एकाग्रताका अभ्यास अवश्य हो जाता है। वहाँ कोलाहल और अशान्ति नहीं होती। मौन्तेस्सौरी विद्यालयोंमें पुरस्कार और दंडका भी अभाव है क्योंकि पुरस्कारसे स्पर्धा और द्वेषकी वृद्धि तथा दंडसे भयकी उत्पत्ति होती है।

मौन्तेस्सौरी-प्रणालीके मूल सिद्धान्त

यद्यपि मौन्तेस्सौरीने कहीं भी अपने सिद्धान्तोंकी विवेचना नहीं की परन्तु उसकी प्रणालीका अनुशीलन करके हम उसके चार सिद्धान्त स्पष्ट देखते हैं— १. छात्रोंको शिक्षा प्राप्त करनेमें स्वतन्त्रता, स्वतःप्रवृत्ति और स्वेच्छा; २. छात्रके व्यक्तित्वका आदर; ३. स्वयं-शिक्षण; ४. शिक्षा-यन्त्रोंके सहारे शरीरके अंगों, इन्द्रियों और अवयवोंकी सिद्धि।

मौन्तेस्सौरी विद्यालयोंमें न बँधे नियम हैं, न कोई बँधी हुई कार्य-सरणि, न किसी विषय या कार्यको निश्चित समयमें समाप्त करनेका बन्धन, न पुरस्कारका प्रलोभन, न दण्डका भय, न विनयके लिये कोई कठोर या बँधे हुए नियम; अर्थात् विनय और शिक्षा दोनों ही क्षेत्रोंमें बालकोंको पूरी छूट है किन्तु इतना सब होते हुए भी पाठशालाओंमें पूर्ण शान्ति, उत्साह, आनन्द और स्फूर्तिका वातावरण छाया रहता है। बालक अपनी इच्छासे उठता, बैठता, खेलता तथा काम करता है, उसके कार्योंमें न तो अध्यापक हस्तक्षेप ही करता है न किसी कार्यके लिये आदेश ही देता है। इस पद्धतिमें प्रत्येक छात्रके व्यक्तित्वका आदर करके किसी बालक या उसके कार्यके प्रति ऐसा कोई व्यवहार नहीं किया जाता जिससे उसके मन या हृदयपर आघात पहुँचे। यदि वह बेढंगा चित्र भी बना लाता है तब भी उसकी प्रशंसा की जाती है क्योंकि उसने निर्माण तो किया है न! इस पद्धतिमें बालकको स्वयं अपनी गति और प्रवृत्तिसे नया ज्ञान प्राप्त करने और नई बात सीखते चलनेके लिये उत्साहित किया जाता है। इस पद्धतिमें विभिन्न शिक्षा-यन्त्रोंके सहारे बालकोंके शरीरके विभिन्न अंगों, इन्द्रियों और पुट्ठोंको इस प्रकार साध दिया जाता है कि उन्हें

आगे ज्ञान प्राप्त करनेके समय उस प्रकारके ज्ञानसे संबद्ध शारीरिक, आंगिक या आवयविक चेष्टाओंके लिये नये सिरेसे अभ्यास न करना पड़े ॥

मौन्तेस्सौरी-प्रणालीका विश्लेषण

मौन्तेस्सौरीने अपनी शिक्षा-प्रणालीको विज्ञान-सम्मत तो बताया है किन्तु उन्होंने न तो कोई ऐसे प्रमाण दिए और न विवरण ही दिए जिनके आधारपर दूसरे लोग भी उसकी वैज्ञानिकता परीक्षण कर सकें। इस प्रणालीमें समय बहुत नष्ट होता है। जो ज्ञान बालकको अन्य सरल उपायोंसे एक मासमें आ सकता है वह इस प्रणालीसे एक वर्षमें प्राप्त होता है। मौन्तेस्सौरीने बालककी स्वतन्त्रताको अधिक महत्त्व दिया अवश्य है किन्तु उसे यन्त्रोंके चक्रमें ऐसा बाँध दिया है कि अध्यापकका व्यक्तित्व पूर्णतः लुप्त हो जाता है, बालक भी कूपमंडूककी भाँति उन्हीं यंत्रोंकी मायामें घिरा पड़ा रहता है। मौन्तेस्सौरीका यह भी हठ है कि मेरे नामके विद्यालयोंमें जब मेरे ही यन्त्रोंका प्रयोग किया जाय तभी वह मौन्तेस्सौरी-प्रणाली हो सकती है अन्यथा नहीं। इसमें वे किसी प्रकारका सुधार या सुझाव भी माननेको तैयार नहीं हैं। यों तो हठवादिता कहीं भी ठीक नहीं होती किन्तु शिक्षाके क्षेत्रमें तो यह प्रवृत्ति अत्यंत अनुचित और अवांछनीय है। सारांश यह है कि मौन्तेस्सौरी-प्रणालीमें केवल विनय और शीलकी भावना ऐसी है जिसे आधुनिक विद्यालयोंको अवश्य ग्रहण करना चाहिए। इसके अतिरिक्त मौन्तेस्सौरी-प्रणाली एक विराट् विडंबना है जो मन्दबुद्धि और जड बालकोंके लिये भले ही लाभकारी हो किन्तु साधारण बालककी शिक्षाके लिये अत्यन्त अव्यावहारिक, व्ययसाध्य, आडम्बरपूर्ण और निरर्थक है।

६

डाल्टन प्रयोगशाला-योजना

विद्यालयोंमें बालकोंकी यातना और वहाँका नीरस तथा कठोर वातावरण देखकर सन् १६१२ में अमरीकाकी शिक्षा-शास्त्रिणी कुमारी हेलन पार्खर्स्टने आठसे बारह वर्षके बीचकी अवस्थावाले बालकोंके लिये शिक्षाकी एक नई योजना बनाई जिसे सन् १९१० में उन्होंने संयुक्त राष्ट्र अमरीकाके मैसाच्यूसेट्स राज्यके डाल्टन स्कूलमें प्रारंभ किया और एक बाल-विश्वविद्यालय-पाठशाला (चिल्ड्रेन्स यूनिवर्सिटी स्कूल) स्थापित करके उसमें अपनी डाल्टन प्रयोगशाला-योजना (डाल्टन लैबोरेटरी प्लान) का व्यवहार किया।

डाल्टन-प्रणाली

इस प्रयोगशाला-योजनाके दो मुख्य सिद्धान्त हैं - (१) विभिन्न विषयोंके लिये निश्चित घंटे और समय-सरणिके कठोर बंधन नष्ट करके बच्चेको स्वतंत्रतापूर्वक काम करनेकी सुविधा देना, (२) जिस विषयमें बालककी रुचि अधिक हो उस विषयको जितनी देर तक वह चाहे, अध्ययन करने देना।

इस पद्धतिमें पूरा पाठ्यक्रम सुविधाजनक मासिक कार्य-योजना (मन्थली एसाइनमेन्ट) के रूपमें बाँट दिया जाता है जिसमें छुट्टियोंके लिये, पढ़े हुए पाठकी आवृत्तिके लिये और विद्यार्थियोंके स्वतःअभ्यासके लिये समय छोड़ दिया जाता है। प्रत्येक पाठ्य विषय एक वर्षकी दस मासिक कार्य-योजनाओंमें बाँट दिया जाता है और यह आशा की जाती है कि विद्यार्थी इस कार्यको ठेके (कौन्ट्रेक्ट) के रूपमें ग्रहण करें और एक महीनेके लिये दिया हुआ निश्चित कार्यक्रम निश्चित समयमें पूरा कर लें। इसमें स्वतन्त्रता यही है कि विद्यार्थी एक मासमें पूरे किए जानेवाले कार्यको अपनी इच्छाके अनुसार चाहे जिस क्रमसे और चाहे

जिस गतिसे पूरा कर सकते हैं। वे चाहें तो एक महीनेके लिये दिए हुए कामको दस दिनमें पूरा कर लें। छात्रोंको इतनी छूट अवश्य रहती है कि वे अपने गुरु या सहपाठियोंसे सम्मति लें, किन्तु कार्य उन्हें स्वतः ही पूरा करना पड़ता है।

इस योजनामें कक्षाके बदले विभिन्न विषयोंकी प्रयोगशालाएँ होती हैं जिनमें विभिन्न विषयोंकी सब सहायक सामग्री विद्यमान रहती है। विभिन्न श्रेणियोंके विद्यार्थी किसी एक विषयका कार्य उस विषयकी कक्षा-प्रयोगशालामें बैठकर पूरा करते हैं। इस प्रकार विद्यालयमें पहली, दूसरी, तीसरी कक्षा न होकर हिन्दी, गणित, इतिहास, भूगोल, विज्ञान, संगीत, चित्र-कला आदि विषयोंकी प्रयोगशालाएँ बन जाती हैं। इसलिये वहाँ न घंटे होते हैं न कोई बँधी हुई दिनचर्या (टाइम-टेबिल)।

डाल्टन-पद्धतिके अध्यापक

इस योजनाके अंतर्गत अध्यापकोंका काम यह है कि (१) वे अपनी प्रयोगशालामें जाकर आसन लगाकर वर्ष-भरके लिये मासिक कार्य-योजना तैयार कर दें, जो विद्यार्थी कुछ पूछने आवे उसे उचित परामर्श या निर्देश दें और देखें कि छात्र एक दूसरेकी प्रतिलिपि तो नहीं करते, समय तो नष्ट नहीं करते या किसी वस्तुका दुरुपयोग तो नहीं करते, (२) मासिक कार्य-योजना बनाते समय विभिन्न विषियोंके अध्यापक परस्पर मिलकर इस प्रकार कार्य बाँटें कि छात्रोंको परिश्रम भी कम हो और व्यर्थ एक प्रकारके कार्यकी आवृत्ति न हो। यदि इतिहासका अध्यापक शिवाजीपर लेख लिखना चाहता है तो वह इस कामको भाषा-शिक्षककी कार्य-योजनामें डाल सकता है जिसका ऐतिहासिक अंश इतिहासका अध्यापक देख ले और भाषाका अंश भाषाका अध्यापक देख ले। इससे छात्र भी दो निबंध लिखनेकी कठिनाईसे बच जाता है और अध्यापकका भार भी हलका हो जाता है। इस योजनामें अध्यापकको कोई अधिकार नहीं है कि वह विद्यार्थीके काममें बाधा दे। यह छात्रका ही अधिकार है कि वह आवश्यकता पड़नेपर अध्यापकसे सम्मति और परामर्श ले।

ठेकेका कार्य (कौण्ट्रैक्ट एसाइनमेंट)

छात्रोंके लिये जो दस मासकी वार्षिक ठेकेकी कार्य-योजना (कौन्ट्रैक्ट एसाइनमेंट) बनाई जाती है उसमें निम्नांकित बातें आती हैं— प्रस्तावना, विषयांग, समस्याएँ, लिखित कार्य, कंठस्थ करने योग्य कार्य, सम्मेलन, सहायक पुस्तकें, प्रगति-विवरण, सूचनापट्टका अध्ययन तथा विभागीय छूट। यद्यपि यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक मासिक कार्य-योजनामें ये सभी बातें आवें फिर भी इनमेंसे अधिकांशका समावेश होना ही चाहिए। वास्तवमें डाल्टन प्रयोगशाला-योजनामें सबसे अधिक महत्त्वका कार्य मासिक कार्य-योजना बनाना ही है और इसीलिये जबतक अत्यन्त कुशल अध्यापक न हों तबतक यह योजना सफल भी नहीं हो पाती।

(१) प्रस्तावना (इन्ट्रोडक्शन) : थोड़ेसे शब्दोंमें एक महीनेके लिये दिए जानेवाले कार्यका परिचय दे दिया जाय।

(२) विषयांग (टौपिक) : जो विषय दिया जाय उसके उस विशेष अंग, भाग, पाठ या अंशका उल्लेख हो, जैसे यदि भाषा पढानी हो तो भाषाके अंग (रचना, व्याकरण, कविता, गद्य, नाटक, कहानी आदि) का उल्लेख स्पष्ट किया जाय, केवल भाषा कहकर न छोड़ दिया जाय और यह भी बताया जाय कि किस अंगके लिये कितना काम अपेक्षित है।

(३) समस्याएँ (प्रोब्लम्स) इसके अंतर्गत उन सब बातोंका उल्लेख हो जिनके लिये छात्रोंको मनन करना या विचार करना पड़े, जैसे यन्त्र बनाना, मानचित्र बनाना अथवा वैज्ञानिक या दार्शनिक विवेचन करना आदि। भाषाके पाठमें समस्याएँ कम होती हैं, इतिहास, भूगोल, विज्ञान तथा अर्थ-शास्त्र जैसे विषयोंमें समस्याएँ अधिक होती हैं जिनके लिये छात्रको विशेष अध्ययन करके अपनी ओरसे परिणाम निकालना होता है।

(४) लिखित कार्य (रिटिन वर्क) : जो कुछ लिखनेका कार्य कराना हो उसका पूरा विवरण दे दिया जाय और जिस तिथिको लेख लेना हो उस तिथिका स्पष्ट उल्लेख हो।

(५) कंठस्थ करने-योग्य कार्य (ओरल वर्क) : इसके अन्तर्गत उन सब अंशों, कविताओं या अनुच्छेदोंका उल्लेख हो जिन्हें कण्ठस्थ कराना अभीष्ट हो ।

(६) सम्मेलन (कौन्फ़रेन्स) : जो कार्य-योजना बनाई जाय उसके लिये कभी-कभी सामूहिक रूपसे एक श्रेणीके छात्रोंसे विचार-विमर्श भी कर लेना चाहिए । अतः, कार्य-योजनामें उन तिथियोंका भी उल्लेख हो जब पूरी कक्षाको एक साथ बैठाकर उस विषयपर बातचीत करनी हो या कुछ विशेष समझाना हो ।

(७) सहायक पुस्तकें (रेफ़रेन्स बुक्स) : कार्य-योजनाके साथ उन पुस्तकों तथा पत्र-पत्रिकाओंके नाम भी दे दिए जायँ जिनसे सहायता लेना छात्रोंके लिये आवश्यक हो । ऐसी पुस्तकों तथा पत्र-पत्रिकाओंका नाम देते समय अध्यायों तथा पृष्ठोंका भी उल्लेख कर दिया जाय जिससे बालकको पूरी पुस्तक या पत्रिकाके पढनेमें अधिक समय नष्ट न करना पड़े ।

(८) प्रगति-विवरण (प्रोग्रेस ग्राफ़)—इसी कार्य-योजनाके साथ बालकोंको यह भी बतला दिया जाय कि वे अपनी प्रगतिका लेखा किस प्रकार बनावें । इससे बालकोंमें आत्मविश्वास बना रहता है और वे समझते रहते हैं कि हमने इतना ज्ञान प्राप्त किया, इतना कार्य किया, इतनी उन्नति की ।

(९) सूचनापट्टका अध्ययन — कभी-कभी यदि प्रयोग-शालाके सूचना-पट्टपर कोई चित्र, मानचित्र अथवा लेख आदि पढ़नेके लिये टाँगनेकी योजना हो तो उसका भी उल्लेख कर दिया जाय ।

(१०) विभागीय छूट (डिपार्टमेंटल कन्सेशन) : ऊपर बताया जा चुका है कि मानसिक कार्य-योजना बनाते समय अध्यापकोंको परस्पर मिलकर इस प्रकारसे कार्य-विभाजन करना चाहिए कि एक ही प्रकारके कार्यकी आवृत्ति न हो और छात्रपर अनावश्यक भार न पड़े ।

दैनिक कार्यक्रम

यह विद्यालय पौने नौ बजे प्रातःकालसे तीसरे पहर चार बजेतक चलता

है। इसमें दोपहरको एक और दो बजेके बीच छुट्टी होती है। सब विद्यार्थियोंका एक-एक दल एक-एक अध्यापकके अधीन रहता है और वह प्रातःकाल अध्यापकसे मिलता है। अध्यापक भी कक्षाको दिए हुए कार्यपर छात्रोंसे बातचीत करता है और व्यक्तिगत रूपमे जिन्हें सहायताकी इच्छा होती है उन्हें सहायता भी देता है। पौने नौमे बारह बजेतक छात्र अपनी इच्छाके अनुसार स्वतन्त्र कार्य करता है। बारहमे एक बजेतक प्रतिदिन सम्मेलन होता है जिसमें कक्षाएँ अपने गुरुओंसे मिलती हैं। इन सम्मेलनों (कान्फ़रेन्सों) में अध्यापक वे सब बातें बताता है जो छात्रकी समझ, शक्ति और अनुभूतिसे परे हों, साथ ही छात्रोंके साथ विभिन्न विषयोंपर विचार-विमर्श, शास्त्रार्थ या वाद-विवाद भी करता है। तीसरे पहरका समय कला, हस्तकौशल, खेल-कूद तथा व्यायाम आदिके लिये छोड़ दिया जाता है।

विद्यार्थीकी गति जानते रहनेके लिये चौघर (ग्राफ़) के रूपमें सब विद्यार्थियोंकी उन्नतिका लेखा रक्खा जाता है। ये लेखे साप्ताहिक और मासिक दो प्रकारके होते हैं। ये दोनों लेखे छात्रके पास रहते हैं जिनमें वह काम पूरा करके अध्यापकसे अपने किए हुए कामका गतिचिह्न बनवा लेता है। इसके अतिरिक्त विद्यालयमें प्रत्येक बालककी उपस्थितिका लेखा भी रक्खा जाता है जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि छात्रकी प्रगति किस प्रकार हो रही है।

डाल्टन-प्रयोगशाला-योजनाका विश्लेषण

इस योजनामें सात बहुत बड़ी विशेषताएँ हैं जो संसारकी किसी शिक्षा-योजनामें प्राप्त नहीं है—(१) प्रत्येक बालकको एक दिनके कामके बदले महीने-भरका काम दिया जाता है जो उसे प्रतिदिन करना पड़ता है। (२) अपनी इच्छा और सुविधाके अनुसार काम करनेकी छूट होती है जिससे विद्यार्थीमें उत्तरदायित्व और आत्मनिर्भरताकी भावना बढती है। (३) प्रत्येक छात्र अपनी गति और रुचिके अनुसार काम करता है। (४) आत्मशिक्षा और व्यक्तिगत कार्य दोनोंका इसमें समन्वय है। (५) किसी दिन विद्यालयसे अनुपस्थित रहनेपर भी अपना काम पूरा कर सकनेके

लिये छात्रको अवसर रहता है। (६) अध्यापक और छात्रके बीच अत्यंत स्नेह और सद्भावनाकी वृत्ति रहती है। (७) विद्यार्थी नित्य अपने कार्यकी परीक्षा करता चलता है इसलिये इस योजनामें परीक्षाएँ नहीं हैं।

इस योजनामें जहाँ इतने गुण हैं वहाँ त्रुटियाँ भी हैं कि इसमें— (१) अध्यापकके व्यक्तित्व और चरित्रका कोई महत्त्व नहीं रह जाता। (२) मौखिक शिक्षण-कार्यके लिये अवकाश नहीं रह जाता। (३) प्रश्नोत्तरी-प्रणालीसे मस्तिष्कको शिक्षित करनेका भी अवसर इसमें नहीं मिलता और इसीलिये इसमें बोल-चालकी भाषा समुन्नत नहीं हो पाती। (४) बहुतसे विद्यार्थी परस्पर अथवा पुस्तकोंसे प्रतिलिपि करके भी कार्य पूरा कर लेते हैं। (५) छात्र किसी एक विषयमें अधिक और किसीमें कम रुचि दिखा सकते हैं। (६) अध्यापकके लिये संशोधनका कार्य बढ जाता है। (७) इस योजनाको कार्यान्वित करनेके लिये जैसे योग्य अध्यापकोंकी आवश्यकता है वैसे साधारणतः नहीं मिल पाते। (८) प्रत्येक विषयके लिये अलग-अलग प्रयोगशाला बनानेमें इतना व्यय होता है कि न तो सार्वजनिक विद्यालय ही यह भार वहन कर सकते हैं न राज्य ही। किन्तु यह सब होते हुए भी यह योजना अन्य सब शिक्षा-प्रणालियोंसे श्रेष्ठतम है क्योंकि इसमें शिक्षाके सब सिद्धांत भी समाविष्ट हो जाते हैं और सबसे बड़ी बात यह है कि कुमारी हेलन पार्खर्स्टने सब स्थानोंके लिये अपने-अपने साधनोंके अनुसार इसमें परिवर्तन करनेकी सुविधा भी दे दी है, मौन्तेस्सौरी-के समान उन्होंने किसी बातके लिये दुराग्रह नहीं किया है।

———

१०

स्वयंप्रयोग-प्रणाली (ह्यूरिस्टिक मेथड)

विज्ञानकी शिक्षाके लिये जैसे प्रारम्भमें बेकनने परिणाम-प्रणाली (इण्डक्टिव मेथड) का प्रचलन किया उसी प्रकार पीछे स्वयंप्रयोग-प्रणाली (ह्यूरिस्टिक) का भी आविष्कार हुआ। इस प्रणालीमें विद्यार्थीको वैज्ञानिकके समान प्रत्येक वैज्ञानिक तथ्यका स्वयं-शोध करना पड़ता है अर्थात् किसी आविष्कारक या वैज्ञानिकने किसी तथ्य, परिणाम या सिद्धांतका जिन विशेष परिस्थितियोंमें विशेष प्रयोग करके या विशेष क्रमसे परिज्ञान किया या नये आविष्कार किए उन्हीं परिस्थितियोंके प्रयोगों और क्रमोंके अनुसार चलते हुए विद्यार्थी भी अपेक्षित परिणाम (आविष्कार) तक पहुँच जाय।

स्पेन्सरका कहना है कि विद्यार्थियोंको जितना कम हो सके उतना कम बताना चाहिए और उन्हें स्वयं काम करके परिणाम निकालनेके लिये प्रेरित करना चाहिए। प्रत्येक छात्रको ऐसी परिस्थितिमें ला रखना चाहिए कि वह स्वयं प्रयोग करके तथ्य ढूँढ निकाले।

आर्मस्ट्रौंग

इस स्वयंप्रयोग-प्रणालीके जन्मदाता हैं आचार्य आर्मस्ट्रौंग, जिनका मत है कि स्वयं परीक्षण करके उसके आधारपर अपना ज्ञान स्थिर करना ही वास्तविक शिक्षा है। इस प्रणालीसे पहला लाभ यह है कि इस प्रकार प्राप्त की हुई शिक्षामें विद्यार्थीका मन लगता है। वह प्रसन्न होता है कि मैंने किसी एक विषयके सब अंगोंका पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया है। दूसरा लाभ यह है कि इससे शिक्षार्थियोंकी रुचि विकसित होती है।

प्रत्येक विद्यार्थीमें स्वयंप्रयोगकी स्वाभाविक स्फूर्ति होती है। वह चाहता है कि प्रत्येक वस्तुके सम्बन्धमें स्वयं अनुभव करे। वह दूसरेके अनुभवको सत्य माननेसे हिचकता है। इस प्रणालीमें वह क्रमसे काम करता है, उसी प्रयोगका बार-बार अभ्यास करता है, इस फिर-फिरके अभ्याससे

उसमें दक्षता आती है और स्वयं प्रश्नका समाधान करनेकी आत्मतुष्टि भी प्राप्त होती है।

स्वयंप्रयोग-प्रणालीमें मार-पीट, ताडना या बाहरी दबावकी आवश्यकता नहीं रह जाती। विद्यार्थी स्वयं उन्मुक्त होता है, वह स्वयं कार्यमें संलग्न होता है, शीघ्रसे शीघ्र उसे पूर्ण करनेका प्रयास करता है, कम समयमें अधिक ज्ञान प्राप्त करता है और उसपर कोई अनावश्यक अधिक भार नहीं पड़ता, खेल-खेलमें ही उसे ज्ञान मिल जाता है। स्वाभाविक परिस्थितिमें प्राप्त शिक्षाका प्रभाव भी स्थायी होता है क्योंकि वह वास्तविक और सत्य होता है।

इस पद्धतिमें विद्यार्थी भी आविष्कारकका पद ग्रहण कर लेता है। उसे आविष्कारककी तुष्टि प्राप्त होती है। वह प्रयोगके समय गैलीलियो और न्यूटन बनकर काम करने लगता है। अन्तर यही है कि मूल वैज्ञानिक तो बहुत-सी भूलें भी करता है किन्तु स्वयंशोधक छात्र तो केवल उसी क्रमसे प्रयोग करता है जिस क्रमसे मूल वैज्ञानिकने सफलता प्राप्त की थी।

ह्यूरिस्टिक मेथड और ह्यूरिज़्ममें अन्तर

ह्यूरिस्टिक प्रणाली और ह्यूरिज़्ममें अन्तर है। ह्यूरिज़्म या स्वयंशोध उस क्रियाको कहते हैं जिसमें वास्तविक वैज्ञानिक स्वतः अपने प्रयोगों-द्वारा कोई अन्वेषण या आविष्कार करता है, किन्तु स्वयंप्रयोग-प्रणाली (ह्यूरिस्टिक मेथड) में छात्र-द्वारा केवल उसी क्रियाकी आवृत्ति कराई जाती है जिसके आधारपर मूल वैज्ञानिकने आविष्कारमें सफलता प्राप्त की थी। ह्यूरिज़्ममें मूल वैज्ञानिक स्वयं अनुसन्धान करता है, ह्यूरिस्टिक प्रणालीमें छात्रगण स्वयं प्रयोग-द्वारा अध्यापकके निर्देशानुसार किसी वैज्ञानिकके अन्वेषण-क्रमकी आवृत्ति करते हैं। कहनेका तात्पर्य यह है कि स्वयंप्रयोग-प्रणालीमें तो आविष्कारककी संगत क्रियाओंका छात्र-द्वारा अनुकरण और अनुसरण किया जाता है और स्वयंशोध-क्रियामें स्वयं आविष्कारक ही मौलिक प्रयोग करके परिणाम निकलता है।

११

शिक्षाकी कुछ नवीन योजनाएँ

संसारके विभिन्न देशोंमें विज्ञानके विकास और स्वतन्त्रताकी भावनाके विस्तारके कारण शिक्षाके क्षेत्रमें लोग नये नये प्रयोग करके शिक्षाको अधिक व्यापक, सुविधाजनक, सरल, सस्ता तथा सर्वोपयोगी बनानेकी नई नई योजनाएँ चला रहे हैं जिनमेंसे कुछ प्रमुख योजनाओंका परिचय नीचे दिया जाता है।

देक्रौली पद्धति

बेल्जियम-निवासी डा० देक्रौलीने बेल्जियमके राजधानी ब्रुसेल्समें एक नये प्रकारका विद्यालय खोला जिसका सिद्धान्त यह था कि बालक अपने जीवनसे ही जीवनके लिये शिक्षा प्राप्त करे। इस सिद्धान्तके निर्वाहके लिये उन्होंने घर और विद्यालय दोनोंमें सामंजस्य स्थापित करनेका प्रयत्न किया अर्थात् अपने घरसे देक्रौली-विद्यालयमें आनेपर उसे यह प्रतीत नहीं होता कि वह घरसे भिन्न वातावरणमें आ गया है। विद्यालयमें उसे घरकी-सी स्वतन्त्रता भी मिलती है और उसकी देख-भाल भी घरके ही समान होती है। इस पद्धतिमें छात्रकी रुचिपर विशेष ध्यान दिया जाता है अर्थात् छात्रको जो कार्य रुचिकर लगे उसी प्रकारका कार्य उसे दिया जाता है। दूसरी विशेष बात यह है कि वहाँ पुस्तकोंके बदले छात्रोंको स्वयं-निरीक्षण, परीक्षण, सम्प्रेक्षण और प्रयोगके आधारपर अनुभवके द्वारा शिक्षा दी जाती है। वे अपने प्रयोगसे जो कुछ परिणाम निकालते या अनुभव करते हैं सब एक पुस्तिकामें अंकित करते चलते हैं। इस प्रकार वे अपनी रुचिके अनुसार अपनी पोथी ही रच डालते हैं जिनमेंसे कुछका प्रकाशन देक्रौलीने किया भी है। इस पद्धतिमें बालकको स्वतन्त्र रूपसे कार्य करनेकी भी छूट है। प्रभात वेलामें भाषा और गणित सीख चुकनेपर उन्हें मध्याह्नमें

संगीत तथा अन्य कलाओंका अभ्यास करनेकी सुविधा तो दी जाती है किन्तु उनपर दबाव नहीं डाला जाता। वे सब कलाओंको भली प्रकार देख-समझकर स्वयं अपनी रुचिके अनुसार छाँटकर कार्य करते हैं। इस पद्धतिके अध्यापक भी मानस-शास्त्रके विशेषज्ञ होते हैं जो सदा बालकोंकी रुचिका निरन्तर ध्यान रखते रहते हैं।

विन्नेट्का योजना

उत्तर अमरीकाकी मिचिगन झीलपर शिकागोसे सत्रह मील उत्तर इलिनोइस प्रदेशके कुक जनपदमें विन्नेट्का नामक नगरमें डा० वौशबर्नने सौ शिक्षा-विशेषज्ञोंको एक समितिमें गंभीर विचार-विमर्शके पश्चात् शिक्षाकी एक नवीन विन्नेट्का-पद्धति निर्धारित की—

१. शिक्षाका आधार और उद्देश्य सामाजिक उत्तरदायित्व होना चाहिए।

२. मानसिक स्वस्थता और शिक्षा-सम्बन्धी खोजपर अधिक ध्यान देना चाहिए। इसका पाठ्यक्रम दो भागोंमें बाँट दिया गया—१. सामाजिक जीवनकी आवश्यकताकी पूर्ति करनेवाले विषय। २. बालकके व्यक्तित्वका विकास करनेवाले विषय। इस योजनामें पाठ्यक्रम स्थायी नहीं है। वह आवश्यकतानुसार बदला जा सकता है। इस योजनामें प्रत्येक छात्रको अपनी रुचि और समर्थताके अनुसार ज्ञान संचय करनेकी सुविधा रहती है। वह अपनी रुचिके अनुसार जो विषय चाहे उसे सीख सकता है। प्रत्येक विद्यार्थीको निश्चित कार्य दे दिया जाता है और उसके साथ एक लक्ष्य-पत्रक (गोल-कार्ड) भी दे दिया जाता है जिसपर उस कार्यका ब्यौरा लिखा होता है और जिसपर वह कार्य पूरा होनेका संकेत भी बना देता है। निर्धारित कार्य पूर्ण करनेके लिये उसे पुस्तकें, वस्तुएँ आदि सब प्रकारकी सहायता मिल जाती है और वह अपनी सुविधाके अनुसार जिस समय चाहे कार्य पूर्ण कर सकता है। इस योजनामें अधिक मेधावी छात्र अन्य छात्रोंकी सहायता भी करते हैं और जो छात्र अपना कार्य पहले कर चुकते हैं उनको और भी कठिन कार्य दे दिया जाता है जिससे वे अपना समय न नष्ट कर सकें। इसके अतिरिक्त अन्य सामूहिक कार्य भी दे दिए जाते हैं जिन्हें वे सब

मिलकर करते हैं और जिससे सहयोगकी भावना उत्पन्न होती है। इस योजनाको डाल्टन-प्रयोगशाला-योजनाका ही दूसरा रूप समझना चाहिए।

गैरी प्रणाली

उत्तरी अमरीकाके शिकागो नगरके पास ही नये बसाए हुए लोहेके प्रसिद्ध व्यावसायिक नगर गैरीमें वहाँके शिक्षा-विभागसे सम्बद्ध श्री बर्टने यह प्रणाली निकाली कि अधिकसे अधिक विद्यार्थियोंको पढ़नेकी सुविधा देनेके लिये ऐसी व्यवस्था की जाय कि जिस समय एक वर्गके आधे छात्र पढ़नेमें लगे हों उस समय शेष आधे छात्र खेती-बारी या अन्य किसी बाहरके काममें लगा दिए जायँ। इससे थोड़े व्ययमें और थोड़े परिवाप (फ़र्नीचर) से ही अधिक विद्यार्थियोंको शिक्षा दी जा सकेगी। इस प्रणालीमें पढ़नेके साथ-साथ व्यायाम, बाहरी खेल तथा हस्तकौशल और उद्योगपर विशेष ध्यान दिया जाता है जिससे विद्यार्थियोंका मन एक प्रकारके कामसे ऊबे नहीं। इस प्रणालीमें पढ़नेवाले सब विद्यार्थी नागरिकताकी पूर्ण व्यावहारिक शिक्षा प्राप्त कर लेते हैं। यह वास्तवमें कोई शिक्षा-प्रणाली नहीं है वरन् एक व्यवस्था मात्र है।

बटेविया पद्धति

अमरीकाके न्यूयार्क जनपदमें बटेविया नगरके विद्यालय-व्यवस्थापक जौन कैनडीने सन् १८९८ में व्यक्तिगत और सामुदायिक शिक्षाका समन्वय करते हुए यह योजना बनाई कि विद्यालयकी सामुदायिक शिक्षाके साथ-साथ प्रत्येक छात्रकी व्यक्तिगत शिक्षा भी चलती रहे, प्रत्येक अध्यापक पढ़ानेके अतिरिक्त प्रत्येक छात्रपर व्यक्तिगत ध्यान भी दे और व्यक्तिगत शिक्षाके लिये एक विशेष शिक्षण-पद्धति भी चलाई जाय। इस पद्धतिमें प्रत्येक छात्रका परीक्षण करके उसकी योग्यता और समर्थताके अनुसार उसे सहायता दी जाती है जिससे सब प्रकारके छात्र समान रूपसे उन्नति कर सकें। किन्तु व्यापक रूपसे सामुदायिक विद्यालयोंमें इस प्रकारका व्यक्तिगत शिक्षण सम्भव

हो सकेगा या नहीं इसमें सन्देह है, यद्यपि शिक्षाकी दृष्टिसे यह है बहुत आवश्यक।

इन सब प्रणालियोंका व्यापक लक्ष्य यही है कि बालक अधिकसे अधिक स्वतन्त्र हों और सुविधाके साथ अध्ययन करते हुए ऐसा ज्ञान-संस्कार, व्यवहार-संस्कार और चरित्र-संस्कार प्राप्त कर लें कि वे देश और समाजके लिये उपयोगी सिद्ध होते हुए स्वच्छ जीविकासे अपना और अपने परिवारका पालन-पोषण करते हुए अपने पैरोंपर खड़े हो सकें। इस समय विश्वमें लोक-शिक्षाकी जितनी योजनाएँ बनाई जा रही हैं सबका व्यापक लक्ष्य यही है कि कमसे कम समयमें अधिकसे अधिक लोगोंको सस्तीसे सस्ती शिक्षा देकर मनुष्य मात्रके व्यक्तिगत और सामाजिक ज्ञान तथा शीलका स्तर समुन्नत कर दिया जाय।

तृतीय खण्ड

शिक्षाके सिद्धान्त और मानस-शास्त्र

१

शिक्षा और उसके उद्देश्य

किसी भी देशकी आर्थिक, सैनिक, व्यावसायिक या कलात्मक विभूति उसकी लोकशिक्षा-पद्धतिपर ही अवलम्बित होती है। किसी भी समाजके नैतिक नियमोंका पालन भी तभी सम्भव है जब उन नियमोंको दृष्टिमें रखकर वहाँकी शिक्षा-व्यवस्था स्थिर की गई हो। इसीलिये वैदिक युगके महर्षियोंने 'यतोऽभ्युदय-निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।' [इस जन्ममें सांसारिक सुख और इससे छूटनेपर मुक्तिकी सिद्धि ही वास्तविक धर्म है।] कहकर धर्मकी व्याख्या की और धर्मके अनुसार आचरण करना ही मानव जीवनका परम लक्ष्य स्थिर किया। उस जीवन-लक्ष्यको साधनाके लिये उन्होंने उस वर्णाश्रम-धर्मकी विशेष प्रतिष्ठा की जिसके कारण ब्रह्मचर्याश्रमके सब संस्कार उन गुरुकुलोंमें पनपे, जहाँ धनी-निर्धनका कोई भेद नहीं था, सबको निःशुल्क शिक्षा दी जाती थी, आचरणपर विशेष ध्यान दिया जाता था, स्वस्थ प्राकृतिक वातावरणमें सेवा और सहयोगकी भावना पुष्ट की जाती थी, निश्चिन्त होकर अध्ययन-अध्यापन होता था, निश्चित अवधिसे अधिक भी छात्र अपना अध्ययन चला सकते थे, गुरुके प्रति आदर और श्रद्धा तथा शिष्यके प्रति वात्सल्य और उदारता थी और जहाँकी व्यवस्थामें शासकगण किसी प्रकारका हस्तक्षेप नहीं कर सकते थे। उस शुद्ध, निर्बाध, सात्विक, प्रबुद्ध तथा उदार प्राकृतिक वातावरणमें शिक्षा पाए हुए छात्र पवित्र वाणी और निष्कलंक कर्मसे समाजकी नागरिकताको सुशोभित करते थे।

किन्तु भारतके साथ अन्य देशोंकी शिक्षा-प्रणालियोंका अध्ययन कर चुकनेपर सहसा कई प्रश्न उठ खड़े होते हैं—शिक्षा किसे कहते हैं? उसके कितने रूप हैं? क्या प्रत्येक व्यक्तिको शिक्षा देनी चाहिए? शिक्षाका उद्देश्य क्या हो? पाठ्य-विषय क्या हो? शिक्षा-नीतिका निर्धारण कौन करें?

शिक्षा किसे कहते हैं ?

किसी पुराने सूक्तिकारने कहा है—

> शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खाः
> यस्तु क्रियावान् पुरुषः स विद्वान् ।
> सुचिन्तितं चौषधमातुराणां
> न नाम-मात्रेण करोत्यरोगम् ॥

[शास्त्रका केवल अध्ययन कर लेना ही पर्याप्त नहीं होता क्योंकि शास्त्र पढ़कर भी लोग मूर्ख रह जाते हैं । वास्तविक विद्वान् वही है जो क्रियावान् हो, पढ़े हुए शास्त्रका व्यवहार भी कर सके । क्योंकि भली प्रकार निर्णय की हुई औषधि भी केवल नाम लेने-भरसे रोगीको अच्छा नहीं कर सकती ।] इसी व्यवहार-ज्ञानको ही वास्तवमें शिक्षा कहते हैं । इस शिक्षाके अन्तर्गत विभिन्न प्रकारके ज्ञानकी प्राप्तिके साथ-साथ हमारी सम्पूर्ण व्यक्तिगत चेष्टाओंका संस्कार तथा हमारे पारस्परिक, पारिवारिक, नागरिक, राष्ट्रिय, मानवीय तथा आध्यात्मिक सम्बन्धोंका संयत परिष्कार भी समाविष्ट है अर्थात् शिक्षाके द्वारा शिक्षार्थीका व्यक्तित्व इस योग्य बन जाना चाहिए कि वह दूसरेको कष्ट दिए बिना ऐसी जीविकाके द्वारा जीवन-यापन करे कि वह स्वयं अपना पोषण करते हुए अन्य प्राणियोंका भी पालन या उनकी सेवा-सहायता कर सके । शिक्षाके द्वारा वह ऐसे रक्षा-कौशल जान जाय कि वह दूसरोंको कष्ट न देकर अपनी भी रक्षा कर सके और अपने पड़ोसियोंकी भी रक्षा कर सके और शिक्षासे उसके मनमें परसेवा, परोपकार और पररक्षाकी ऐसी भावना भी उदित हो कि वह 'पर'के लिये 'स्व'का बलिदान करनेमें अपने जीवनकी सार्थकता समझे ।

अतः, व्यक्तिके सब प्रकारके व्यावहारोंको स्वहित और लोकहितकी दृष्टिसे संयत और विवेकशील बनानेवाली सब क्रियाओंका संस्कार डालनेवाली प्रक्रियाको शिक्षा कहते हैं ।

शिक्षा और शासन

शिक्षा (एजुकेशन) और शासन (इन्स्ट्रक्शन) समानार्थी शब्द नहीं हैं। व्यायामचक्र (सरकस) वाले अपने हाथी, घोड़े, कुत्ते, सिंह, बकरी, बन्दर, सुग्गे आदिको अनुशासित करके ऐसा साध लेते हैं कि वे अपने मनुष्य शिक्षकके आदेशके अनुसार उसका अनुकरण करने लगते हैं। यही अनुशासन कहलाता है। वे उनको ऐसा सधा देते हैं कि विशेष शब्दध्वनि या संकेतपर वे विशेष प्रकारकी आंगिक प्रतिक्रिया करने लगते हैं। किन्तु आप उन्हें रामायण और भागवत नहीं पढ़ा सकते, ज्यौतिष तथा आयुर्वेदके तत्त्व नहीं समझा सकते, जीव और जगत्के रहस्योंका बोध नहीं करा सकते। आप उन्हें कुछ करना सिखा सकते हैं, उसका ज्ञान या तत्त्वबोध नहीं करा सकते। हमारा सम्पूर्ण ज्ञान, विज्ञान, दर्शन, साहित्य, इतिहास, पुराण, इसी विद्या या तत्त्वबोधके अन्तर्गत है। यह विद्या तो उपदेश, अनुभव, अध्ययन और अभ्याससे आती है किन्तु इस विद्याका प्रयोग करना, जीवनमें अवसरके अनुकूल कल्याणकारी रूपमें उसका व्यवहार करना ही इसका व्यवहार-पक्ष है जो शिक्षासे आता है। इस शिक्षाके अतिरिक्त एक शासन भी होता है जिसमें किसी व्यक्ति या वर्गको किसी विशेष शारीरिक संयम या क्रियाके आधारपर किसी विशेष कार्यके लिये अभ्यस्त करा दिया जाता है जैसे सैनिक व्यायाम, हस्त-कौशल, संगीत आदि विषयोंमें शासन (इन्स्ट्रक्शन) किया जाता है, अभ्यास कराया जाता है। अतः, मनुष्यको कोई विद्या या क्रिया सिखानेके दो उपाय होते हैं—गुरुके द्वारा शिक्षण (शिक्षा) या शासन (इन्स्ट्रक्शन)।

शिक्षाके प्रकार

यद्यपि अन्य देशोंमें बालकको शिक्षित करनेके लिये शिक्षा (एजुकेशन) और इन्स्ट्रक्शन (शासन) दो ही रूप प्रधानतः मान्य किए गए हैं किन्तु हमारे यहाँ इसके लिये निम्नांकित रूप व्यवहारमें आते थे—

(क) उपदेश : अपने शिष्यों या उपदेशके लिये आए हुए

व्यक्तियोंको पात्र देखकर शास्त्र और नीतिका तथा ब्रह्म-ज्ञानका गोपनीय उपदेश करना ही उपदेश कहलाता था।

(ख) अध्यापन : किसी ग्रन्थका उच्चारण-पूर्वक अर्थ-ज्ञान करा देना अध्यापन कहलाता था जैसे प्रारंभिक छात्रको वेद पढ़ाया जाता है।

(ग) शासन : विशेष प्रकारके शारीरिक और मानसिक संयमके साथ किसी प्रकारके जीवनके लिये अभ्यास करानेकी क्रियाको शासन कहते हैं।

(घ) अनुशासन : अनुशासनका अर्थ है अन्धानुकरण अर्थात् छात्र-द्वारा आँख मूँदकर गुरुके कथनानुसार या क्रियानुसार कार्य करना। इसी कारण आगे चलकर यह शब्द 'आज्ञा' के अर्थमें बँध गया—

जौ राउर अनुसासन पावौं। कन्दुक इव ब्रह्माण्ड उठावौं।'
अनुशासनमें विवेकके बदले अन्धानुकरणकी भावना रहती है।

(ङ) पाठन : किसी पुस्तकमें लिखे हुए पाठको अर्थ और व्याख्या सहित समझा देना।

(च) बोध और प्रबोध : किसी बातका पूर्ण ज्ञान करा देना या किसी बातका पूर्वापर पक्ष भलीभाँति खोलकर, उससे हानि-लाभका विस्तृत, स्पष्ट विवेचन करके जिज्ञासुको पूर्णतः तुष्ट कर देना। (मोरे मन प्रबोध जेहि होई।)

(छ) प्रतिबोध : किसी जिज्ञासुके प्रश्नों, तर्कों, शंकाओं और समस्याओंका युक्तियुक्त समाधान करके ज्ञान देना जैसे—श्रीकृष्णने अर्जुनको प्रतिबोध किया था। इसीलिये गीताके लिये कहा गया है—'पार्थाय प्रतिबोधिताम्'। [अर्जुनको प्रतिबोधित की गई।]

(ज) आदेश : जो शिष्य सब प्रकार अपना कहना माननेके लिये आत्मसमर्पण कर दे उसे ज्ञान प्राप्त करनेका क्रम बताना ही आदेश कहलाता है। उस आदेशके अनुसार वह स्वयं ज्ञान सीखता है जैसे व्यासजीने शुकको जनकसे ब्रह्मज्ञान सीखनेका आदेश दिया था।

(झ) निर्देश या निदेश : किसी विशेष प्रकारका ज्ञान प्राप्त करनेकी

प्रक्रिया बतानेको निर्देश या निदेश कहते हैं जैसे श्रीकृष्णने अर्जुनको पाशुपत अस्त्र प्राप्त करनेकी प्रक्रिया बताई।

(ञ) चोदन : किसी विशेष उत्तेजक उपदेश या क्रिया-द्वारा कोई विशेष उत्साहपूर्ण कार्य करनेकी प्रेरणा देना - जैसे, विदुलाने अपने पुत्रको कहा था—'क्षणं प्रज्वलितं श्रेय, न च धूमायितं चिरम्' कहकर युद्धमें भेजा था या कुन्तीने पांडवोंको प्रेरणा दी थी--'यदर्थे क्षत्रिया सूते स कालस्तु समागतः।' [क्षत्रिय महिला जिस दिनके लिये पुत्रको जन्म देती है वह समय आ गया है।]

(ट) नियोग : शिष्यको किसी काममें लगा देना नियोग कहलाता है जैसा स्वयं-प्रयोग प्रणाली (ह्यूरिस्टिक मैथड) में होता है। यही क्रिया बालोद्यान और मौन्तेस्सौरी प्रणालियोंमें होती है।

(ठ) विधि : आज्ञा देकर यह कहना कि केवल अमुक कार्य ही करो।

(ड) निषेध : आज्ञा देकर कहना कि अमुक-अमुक कार्य न करो।

क्या प्रत्येक व्यक्तिको शिक्षा देनी चाहिए ?

प्रत्येक मानवको शिक्षा देना तो प्रत्येक समाजका कर्त्तव्य है किन्तु प्रत्येक मानवको विद्या दान भी करना समाजका कर्त्तव्य नहीं। क्योंकि न तो प्रत्येक मनुष्य विद्याका पात्र ही होता है, न सबकी बुद्धि और प्रवृत्ति ही विद्याके अनुकूल होती है। इसलिये विद्या तो पात्रता और योग्यता देखकर ही देनी चाहिए जिससे विद्या-दानमें व्यर्थ परिश्रम और समय न नष्ट हो तथा कुपात्रको विद्यादान देनेसे वह उसका दुरुपयोग न कर बैठे। नीति, सदाचरण, अक्षर-ज्ञान और व्यावहारिक ज्ञान देकर तो प्रत्येक व्यक्तिको शिक्षित कर दिया जाय किन्तु विभिन्न विद्याएँ तो बहुत सोच समझकर केवल गिने-चुने, योग्य, सच्चरित्र सुपात्रोंको ही देनी चाहिएँ जिससे वे फलवती हों। किन्तु शिक्षा बालककी रुचि या अरुचिपर न छोड़ दी जाय? शिक्षा अनिवार्य तो हो किन्तु उसमें परीक्षा न हो। एक विशेष प्रारंभिक पाठ्यक्रम ऐसा बना लिया जाय कि उसमें साधकर सबको अलग-अलग ज्ञान-क्षेत्रों या जीवन-क्षेत्रोंमें प्रविष्ट होनेके लिये बाँट दिया

जाय। पाठ्यक्रमकी बहुलता, पाठ्यप्रणालीकी अव्यवस्था, पाठशालाकी रूक्षता, अर्थ-भार और परीक्षा-प्रणाली ये सब मिलकर छात्रोंमें इतनी विरक्ति उत्पन्न करते रहे हैं कि यदि इन परिस्थितियोंमें परिवर्तन हो जाय, पाठ्यक्रम सरल, आवश्यक और क्रमिक कर दिया जाय, पाठ्यप्रणाली स्पष्ट हो जाय, अध्यापक भी सदय और सहृदय हो जायँ, पाठशालाका वातावरण भी अधिक सरस, आकर्षक और अनुरंजक हो जाय, अर्थ-भार सरकार वहन करने लगे और परीक्षा बन्द कर दी जाय तो बालक सिरके बल दौड़े चले आवेंगे और शिक्षा वास्तविक अर्थमें शिक्षा बन जायगी।

शिक्षाके क्षेत्रमें शिक्षण और विद्यादान दोनोंके लिये योजना बनानी आवश्यक है अतः, अनिवार्य प्रारंभिक शिक्षाके अतिरिक्त विद्यार्जनके लिये भी प्रत्येक अवस्थामें उसके अनुरूप शिक्षा अपेक्षित है।

शिक्षाका सैद्धान्तिक आधार

शिक्षाके सम्बन्धमें केवल यही नैतिक सिद्धान्त पर्याप्त नहीं है कि प्रत्येक मानवका अधिकार है शिक्षा प्राप्त करना और प्रत्येक राष्ट्रका कर्तव्य है राष्ट्रके प्रत्येक व्यक्तिके लिये शिक्षा सुलभ करना। इस अनिवार्य शिक्षाकी एक सीमा होनी चाहिए और उसका क्रम भी इस प्रकार बन जाना चाहिए कि उस अनिवार्य शिक्षाकी अवस्थामें बालककी रुचि, प्रवृत्ति और मनोवृत्ति इतनी परिपक्व कर दी जाय कि उस अवस्थाको पार करनेके पश्चात् वह निश्चित रूपसे अपने भविष्यकी वृत्ति चुन सके। अतः, एक विशेष अवस्थातक प्रत्येक बालकको ऐसी आवश्यक मौलिक शिक्षा दी जाय कि अपनी रुचि, प्रवृत्ति, मेधा, योग्यता और सामर्थ्यके अनुसार यह निर्णय किया जा सके वह किस वृत्तिका आश्रय लेकर अपनी जीविका कमाता हुआ राष्ट्र और समाजका उपयोगी अंग बनकर देशकी आर्थिक समृद्धिमें योग देता हुआ अपने आचरणसे दूसरोंको सुख भी दे सके और निर्भयता, सचाई, शील, आत्मत्याग तथा सदाचारके साथ अपना जीवन-निर्वाह करता हुआ समाज और देशकी सेवा भी कर सके—

न धर्मशास्त्रं पठतीति कारणं न चापि वेदाध्ययनं दुरात्मनः।
स्वभाव एवात्र तथातिरिच्यते यथा प्रकृत्या मधुरं गवां पयः॥

[धर्मशास्त्र पढ़ लेनेसे ही कोई दुष्ट व्यक्ति धार्मिक नहीं बन जाता और न वेद पढ़नेसे ऋषि बन जाता है। अच्छा-बुरा बनना तो स्वभावपर निर्भर है जैसे गौका दूध स्वभावसे ही मधुर होता है।] इसका तात्पर्य यह हुआ कि हमें प्रारंभिक शिक्षाकी अवस्थामें ही बालकोंका स्वभाव समझकर आगे बढ़ना चाहिए जिसके लिये इतनी बातोंकी योजना करनी पड़ेगी—

१. विद्यालयका वातावरण ऐसा बना दिया जाय कि बालक पारस्परिक सहयोग, सेवा, उदारता, शील, सभ्यता और सदाचारका महत्त्व समझकर अपने व्यवहारका संस्कार कर सकें।

२. इतने विभिन्न विषयोंसे उसका निकटतम परिचय करा दिया जाय कि उनके आधारपर वह अपनी भावी वृत्ति निश्चय कर सके।

३. अध्यापन-शैली तथा शिक्षणके अन्य साधन इतने आकर्षक हों कि बालक स्वत प्रवृत्त होकर रुचिके साथ ज्ञान अर्जन करनेके लिये उत्सुक हों।

४. जिन बालकोंको पारिवारिक या अन्य किन्हीं परिस्थितियोंके कारण विद्यालयमें शिक्षा पाना संभव न हो उनके लिये ऐसी व्यवस्था की जाय कि वे छुट्टीके समय ज्ञानार्जन कर सकें। कारीगरोंकी सन्ततिके लिये भी ऐसी व्यवस्था कर दी जाय कि वे स्वभावतः अपने पैतृक व्यवसायको बचपनसे सीखते हुए घरके व्यवसायमें योग भी देते रहें और छुट्टीके समय ज्ञानार्जन भी करते रहें।

किसी भी राष्ट्रके बालकके लिये इतनी सुविधा होनी ही चाहिए। इस सिद्धान्तके अनुसार केवल एक ही प्रकारकी अनिवार्य तथा निःशुल्क पाठशालाएँ स्थापित की जायँ। किन्तु इससे आगेकी शिक्षा देनेवाली संस्थाओंको यह छूट अवश्य रहे कि वे यदि चाहें तो किसी विशेष उद्देश्यके अनुसार किसी विशेष वृत्ति या विशेष प्रयोजनके लिये शिक्षा दें और उसकी व्यवस्था करें, किन्तु राष्ट्रकोषपर उसका भार न हो।

भारत तथा विदेशी शिक्षाका इतिहास पढ़नेसे स्पष्ट हो जायगा कि विभिन्न आचार्योंने विभिन्न युगोंमें अपने देश और समाजकी आवश्यकता और परिस्थितिके अनुसार शिक्षाके आदर्श, उद्देश्य और प्रयोजन भी भिन्न-भिन्न माने हैं।

उद्देश्य

भारतीय दृष्टिसे विद्या-दान और शिक्षाका उद्देश्य है—

'विद्ययाऽमृतश्नुते' [विद्यासे अमृत या मोक्ष प्राप्त होता है]।

'सा विद्या या विमुक्तये' [विद्या वही है जो मोक्ष दिलावे ।]

'अर्थंकरी च विद्या' [विद्या अर्थंकरी होनी चाहिए]।

विद्याके द्वारा जिस क्रमसे जो गुण प्राप्त होते हैं उसका उल्लेख भी नीचे दिए हुए श्लोकमें किया गया है—

विद्या ददाति विनयं विनयाद्याति पात्रताम्।
पात्रत्वाद्धनमाप्नोति धनाद्धर्मः ततः सुखम् ॥

[विद्यासे विनय प्राप्त होता है, विनयसे योग्यता आती है, योग्यतासे धन मिलता है, धनसे धर्मकार्य होते हैं और धर्मसे सुख मिलता है।] इस प्रकार भारतीय दृष्टिसे विद्यादान और शिक्षाके उद्देश्य विनय (शील) अर्थात् चरित्रकी अभ्युन्नति, धन-प्राप्ति तथा मुक्तिकी प्राप्ति तीनों है ।

योरप तथा अमरीकाके शिक्षा-शास्त्रियोंने विभिन्न युगोंमें शिक्षाके विभिन्न आदर्श, उद्देश्य या प्रयोजन बताए हैं—

१. मिस्रमें आचार-सिद्धि और ज्ञान-संचय ही शिक्षाका उद्देश्य था।

२. बाबुली, असीरी, हिब्रू और फ़िनीशी जातियोंमें भगवान्की स्तुति और ज्ञान-संचय करनेके लिये विद्या सिखाई जाती थी और कुछ विषय जीविका चलानेके उद्देश्यसे पढ़ाए जाते थे।

३. ऐथेन्स और रोमवालोंकी शिक्षाका उद्देश्य था सुन्दरता तथा सुखके साथ पूर्ण जीवनका उपभोग करना इसलिये वहाँ कलाओंका विकास हुआ।

४. स्पार्ता-वालोंका उद्देश्य था साहस और विनयका इस प्रकार संवर्द्धन

करना कि प्रत्येक व्यक्ति सब प्रकारसे अपने राज्यके लिये आत्म-समर्पण कर सके। इसलिये वहाँ सैनिक शिक्षाको ही अधिक प्रोत्साहन मिला।

५. ईसाई पादरियोंने प्रारम्भमें शिक्षाका उद्देश्य रक्खा—'परलोककी साधनाके लिये तैयारी करना', क्योंकि उनके अनुसार जीवनका उद्देश्य था साधु-वृत्ति धारण करके संसारकी सब वस्तुओंसे विरक्त हो जाना।

६. पादरियोंके धार्मिक व्यूहसे मुक्त व्यक्तियोंने ज्ञानविस्तारक कलाओं-को सीखना ही शिक्षाका उद्देश्य समझा।

७. ईसाई धर्म तथा महिलाओंकी रक्षाके लिये सन्नद्ध करनेके उद्देश्यसे कुलीन वर्गको साहसपूर्ण नागरिकता 'शिवैलरी' या सामंतवादकी शिक्षा दी जाने लगी थी जिसके अन्तर्गत सैनिक पटुता, संगीत, सदाचार और नीतिशास्त्रका ज्ञान आवश्यक था।

८. विद्वद्वादी ईसाई विद्यालयोंका उद्देश्य था 'धर्मकी समुन्नतिके निमित्त यूनानी भाषाका अध्ययन करना और तर्कवादका अध्ययन करके नये ज्ञानतत्त्वोंकी खोज करनेके बदले प्राचीन ज्ञानतत्त्वोंका समर्थन करते हुए उन्हें सत्य प्रमाणित करना।'

९. ग्यारहवींसे तेरहवीं शताब्दी-तक कारीगरों, मिस्त्रियों और व्यापारियोंने अपने भावी सदस्योंको व्यावसायिक शिक्षामें निष्णात करना ही अपनी शिक्षाका उद्देश्य माना।

१०. मध्यकालीन युगमें शिक्षाका उद्देश्य हुआ 'व्यक्तित्वका संवर्द्धन', जिसमें कला, सौन्दर्यशास्त्र, साहित्य और कविताका प्राधान्य हुआ।

११. सुधार और प्रतिसुधारके युगमें मार्टिन लूथर और मैलांख्थौनका उद्देश्य था 'शिक्षाके लिये सबको अनिवार्य शिक्षा देना जिससे प्रत्येक बालक भाषा तथा व्यावहारिक विषयोंसे अभिज्ञ हो जायँ।'

१२. प्रत्यक्ष ज्ञानवादी या यथार्थवादी (सेन्स रीअलिस्ट्स) विद्वानोंने साहित्यके शब्द-रूपों और व्याकरण-सम्बन्धी प्रयोगोंपर माथापच्ची करनेके बदले उसके भाव और अर्थको समझना ही शिक्षाका उद्देश्य माना और शिक्षाका फल यही समझा कि छात्र पढ़ने या ज्ञान-संचयकी क्रियाके साथ-साथ

विनय या आत्मसंयम भी सीखता चले अर्थात् उन्होंने सदाचार, इहलौकिक समस्त विषयोंका ज्ञान, मनकी उदारता और विद्या-प्राप्तिको ही शिक्षाका उद्देश्य माना। [जौन लौक]

१३. राबैल्ल और मलकास्टर आदि मानवतावादियोंने शिक्षाका उद्देश्य माना 'वास्तविक जीवनसे सम्बन्ध रखनेवाले विषयोंका ज्ञान प्राप्त करना।'

१४. बेकनसे प्रभावित राटिल्लके अनुसार शिक्षाका मूल मन्त्र है 'प्रकृतिके अनुसार चलो, प्रयोग और परिणामके द्वारा प्रत्येक बात सीखो, रटकर कुछ कंठाग्र न करो।'

१५. कर्मानियसके अनुसार शिक्षाका आदर्श है 'स्वाभाविक रीतिसे ज्ञान, सदाचार और पवित्रताका अर्जन।'

१६. वाल्तेयाके अनुसार शिक्षाका उद्देश्य है 'ऐसे विवेकका संवर्द्धन जिससे एकतन्त्रवाद और अन्धविश्वास मिटे तथा उसके स्थानपर धार्मिक सहिष्णुता, आचार-व्यवहारका स्वातन्त्र्य और सामाजिक न्याय स्थापित हो।'

१७. रूसोके अनुसार शिक्षाका उद्देश्य है 'बच्चेके मन, मस्तिष्क और शरीरको स्वतन्त्रता-पूर्वक समुन्नत होनेका अवसर देनेके लिये उसे कृत्रिमतासे हटाकर स्वाभाविकताकी ओर मोड़ देना जिससे उसके निर्मल मनपर समाजके विचारोंकी छाया न पड़ पावे।' इसीलिये उसने कहा—'प्रकृतिकी ओर लौट चलो। प्रकृतिका अनुसरण करो। बालककी रुचि, बुद्धि, योग्यता तथा समर्थताके अनुसार उसकी शिक्षा-विधि बनाई जाय, न कि शिक्षा-विधिके अनुरूप बालक बनाए जायँ।'

१८. बेसडोके अनुसार सम्पूर्ण शिक्षाका उद्देश्य है—'प्रकृतिके अनुकूल बच्चोंकी सहज प्रवृत्तियों और रुचियोंको प्रोत्साहन तथा निर्देश।'

१९. अट्ठारवीं शताब्दीमें धर्मार्थ विद्यालयोंका उद्देश्य था 'बालकोंके मनसे सब अवगुण और दुराचरण निकालकर उन्हें पढ़ना, लिखना और गणित सिखाना।'

२०. पेस्टालौज़ीने शिक्षाका उद्देश्य बताया है—'बालककी सब शक्तियों और समर्थताओंका स्वाभाविक और सर्वांग विकासात्मक संवर्द्धन करना।'

२१. हरबार्टके अनुसार 'बालकोंमें नैतिकता और बहुमुखी रुचिका संवर्द्धन करना' ही शिक्षाका उद्देश्य होना चाहिए।

२२. फ्रोबेलके अनुसार 'शिक्षा निर्बाध तथा सक्रम हो और यह विकास सामाजिक संसर्गसे अन्धानुकरणके बदले सजीव आत्मप्रेरित स्वतःक्रिया-द्वारा हो।' अतः, वह शिक्षाका उद्देश्य 'सफल सामाजिकता' ही मानता था।

२३. जौर्ज कौम्बेके अनुसार 'शिक्षा व्यावहारिक और अर्थकरी होनी चाहिए।'

२४. हरबर्ट स्पेन्सरके अनुसार 'बालकको ऐसी शिक्षा देनी चाहिए कि वह स्वयं अपनेको शिक्षित करता हुआ जीवनको पूर्ण सफल बना सके। यह सफलता विज्ञान और इतिहासके द्वारा ही संभव है।' जीवनकी पूर्णता ही वह शिक्षाका उद्देश्य मानता है।

२५. व्यावसायिक क्रान्तिके पश्चात् शिक्षाका उद्देश्य हो गया 'जीवनके विभिन्न क्षेत्रोंके उपयुक्त नागरिक बनाना।'

२६. जौन ड्यूईने कहा कि 'शिक्षा स्वयं जीवन है, वह जीवनके लिये तैयारी नहीं है। शिक्षाका उद्देश्य सामाजिक है, व्यक्तिगत नहीं। अतः, प्रत्येक बालककी रुचि और समर्थता समझकर उन्हींकी पूर्त्तिके निमित्त शिक्षा दी जाय और उन्हें इस योग्य बना दिया जाय कि वे तथ्यको पहचानकर उसे ग्रहण कर सकें क्योंकि तथ्य ही उपयोगी ज्ञान है।'

२७. मौन्तेस्सौरीके मतसे शिक्षाका उद्देश्य है—'भावी जीवनको सरलतासे ज्ञान संचय कर सकनेकी योग्यता करनेके लिये बालकोंके अंग और ज्ञानेन्द्रियोंको साध देना।'

२८. ईसाई पादरियोंने अट्ठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दीमें भारतमें जो विद्यालय खोले उनका उद्देश्य था 'हिन्दू बालकोंको ईसाई धर्ममें दीक्षित करना।'

२९. ईस्ट इंडिया कम्पनीने इसलिये शिक्षा प्रारंभ की कि उसे कम्पनीका काम चलानेके लिये अच्छे सेवक मिल सकें।

३०. चीन और भारतमें शिक्षाका एक उद्देश्य यह भी रहा कि 'प्राचीन

विद्याको ज्योंका त्यों सुरक्षित रक्खा जाय' इसीलिये कुछ परिवार केवल विद्या-संरक्षणका व्रत ले लेते थे ।

३१. उन्नीसवीं शताब्दीमें अधिकांश लोगोंने अपने पुत्रोंको अँगरेज़ी शिक्षा इसलिये दी कि उन्हें अच्छी राजकीय नौकरियाँ मिल सकें ।

३२. सन् १९२८ में सर्वप्रथम भारतीय वैधानिक मंडल (इंडियन स्टैचूटरी कमीशन) की शिक्षा-समितिने स्पष्ट रूपसे निर्देश किया कि शिक्षाका उद्देश्य है 'जनताको ऐसी नागरिकताकी शिक्षा देना जिससे वह विवेकके साथ अपना प्रतिनिधि चुन सके, मतदानकी प्रणाली समझ सके और कुछ लोगोंको नेतृत्वकी शिक्षा दे सके ।'

३३. सन् १९३४ में सप्रू बेकारी समितिने यह निर्देश किया कि 'छात्रोंकी शिक्षा ऐसी व्यावहारिक हो कि वे उसका प्रयोग भावी जीवनमें कर सकें और छोटे व्यवसायको भी बुरा न समझें ।'

३४. वर्धा शिक्षा-योजनाके अनुसार शिक्षाका उद्देश्य है 'श्रमका आदर करते हुए सच्चाईके साथ जीविका प्राप्त करने-योग्य ज्ञान प्राप्त करके आत्मनिर्भर होना ।'

३५. सन् १९४४ में सर राधाकृष्णन्‌को अध्यक्षतामें विश्वविद्यालय-शिक्षा-समीक्षण-मंडलने कहा कि 'हमें सामाजिक उद्देश्योंके आधारपर ही अपनी शिक्षा-नीति स्थापित करनी चाहिए जिससे हम अपने समाजमें दीनोंके लिये दया, महिलाओंके लिये आदर, मनुष्यमात्रके लिये भ्रातृत्व, स्वातंत्र्यके लिये प्रेम, निर्दयताके लिये घृणा और न्याय-प्राप्तिके लिये अनवरत भक्तिको भावना संचित कर सकें ।'

उपर्युक्त उद्देश्योंका विश्लेषण करनेपर शिक्षाके निम्नांकित उद्देश्य प्राप्त होते हैं—

१. जीविका-निर्वाहमें सहायता देना । (ब्रेड ऐंड बटर एम) ।

२. बौद्धिक विकासके लिये शिक्षा देना (इंटेलेक्चुअल डेवलपमेंट एम) ।

३. मनुष्यको सुसंस्कृत और सभ्य बनानेके लिये शिक्षा देना और कुछ गिने-चुने पात्रोंको ही शिक्षा देना (कल्चरल एम) ।

४. जीवनकी पूर्णता (कम्प्लीटनेस औफ़ लाइफ़ एम)।

५. नैतिकताका विस्तार (मौरल एम)।

६. सामाजिक योग्यता उत्पन्न करना (सोशल एम)।

७. बालकको इस योग्य बनाना कि वह प्रत्येक परिस्थितिमें अपनेको ठीक बैठा सके (फ़िटनैस इन औल सिचुएशन्स या एडैप्टिबिलिटी एम)।

८. बालककी सर्वांगीण उन्नति और विकास (औलराउंड डेवलपमेंट एम)।

९. स्वस्थ शरीरमें स्वस्थ मन (साउंड माइंड इन ए साउंड बौडी)।

१०. फुर्तीले शरीरमें व्यवहारशील मस्तिष्क (प्रैक्टिकल माइंड इन एन् एजाइल बौडी)।

११. मोक्षकी प्राप्तिके लिये आवश्यक ज्ञान।

इन उद्देश्योंका विश्लेषण करनेपर प्रतीत होगा कि बालककी शिक्षा—

क. ऐसी व्यक्तिगत हो कि वह स्वस्थ शरीर, संयत मन, सांस्कृतिक वृत्ति, कलात्मक भावना, सुशील स्वभाव, व्यावहारिक बुद्धि प्राप्त करके भले कामसे अपनी जीविका कमा सके।

ख. ऐसी सामाजिक हो कि वह उदार, सेवाभावयुक्त, देशप्रेमी, परहितकारक, सच्चरित्र, शिष्ट तथा सद्भावनायुक्त होकर राष्ट्र तथा समाजका सफल तथा उपयोगी सदस्य हो सके।

ग. ऐसी आध्यात्मिक हो कि वह इस लोकमें सब प्रकारका भौतिक सुख प्राप्त करके शरीर छोड़नेपर मुक्ति प्राप्त कर सके।

इन उद्देश्योंका विवेचन कर चुकनेपर यह स्पष्ट हो जायगा कि हमारी सम्पूर्ण शिक्षा उपर्यंकित व्यक्तिगत, सामाजिक और आध्यात्मिक दृष्टिसे व्यवस्थित की जानी चाहिए। आजकलके शिक्षाशास्त्री आध्यात्मिक उद्देश्यकी पूर्णतः उपेक्षा करते हैं इसीलिये आज समाजमें इतना अविनय और इतनी अव्यवस्था फैली हुई है। अतः, समाज और राष्ट्रको संयत करनेके लिये भौतिक शिक्षाके साथ-साथ आध्यात्मिक शिक्षा भी आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है।

२

शिक्षाकी व्यवस्थाके सिद्धान्त

शिक्षाके अनेक उद्देश्योंमेंसे किसी एकको ग्रहण करनेके बदले उनकी समष्टि ग्रहण करना ही अधिक हितकर है। सभी मानते हैं कि प्रत्येक व्यक्तिको शील, सदाचार, निर्भयता, सत्यता, उदारता, स्वार्थ-त्याग, आत्मत्याग तथा सदाचारके साथ उपयोगी नागरिक बनाना चाहिए किन्तु यह तभी संभव है जब प्रत्येक व्यक्ति स्वस्थ, सशक्त, सदाचारी, नैतिक, विवेकशील, व्यवहारशील तथा पठित हो। अतः, शिक्षाका उद्देश्य होना चाहिए बालकको शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, नैतिक तथा सामाजिक भावनासे समृद्ध करना। किन्तु परीक्षा-प्रणाली ऐसे भयंकर रूपसे हमारी शिक्षा-पद्धतिका गला चाँपे बैठी है कि शिक्षाका उद्देश्य केवल परीक्षा उत्तीर्ण करना और उपाधि लेकर नौकरी खोजना मात्र रह गया है।

पाठ्यविषय कितने और किस क्रमसे हों ?

उक्त उद्देश्योंकी पूर्त्तिके लिये शिक्षाके व्यक्तिगत और सामाजिक विकासकी दृष्टिसे छह मुख्य प्रयोजन स्थिर होते हैं—

१. व्यक्तिगत ज्ञानकी नींव स्थापित करना या ज्ञानका प्रारंभिक आधार पक्का करना (आधार ज्ञान)।

२. विभिन्न विद्याओंसे परिचित कराना (बौद्धिक विकास)।

३. नैतिकताका भाव भरना (आध्यात्मिक तथा चारित्रियक विकास)।

४. शारीरिक संस्कार उत्पन्न करना (शारीरिक सुन्दरता, स्वस्थता तथा स्वच्छताका विकास)।

५. सांस्कृतिक वृत्ति उत्पन्न करना (सौन्दर्यप्रियता और कलात्मकताका विकास }

६. सामाजिक व्यवहार-ज्ञान तथा नागरिकताका भाव बढ़ाना (मानसिक तथा सामाजिक विकास)।

भावी ज्ञानका आधार स्थापित करनेवाले विषयोंमें भाषाकी शिक्षा (लिखना, पढ़ना, बोलना, समझना) और गणित ये दो मुख्य हैं। भाषाका ज्ञान प्राप्त करके हम संसारका इतिहास, देश-विदेशका वर्णन, साहित्य तथा अन्य शास्त्र पढ़ सकते हैं। गणितके ज्ञानके आधारपर हम बीजगणित, रेखागणित, ज्योतिष, विज्ञान तथा शिल्प आदि विषय सीख सकते हैं।

कुछ ऐसे विषय हैं जो दूसरे विषयोंका परिचय करा देते हैं जैसे भूगोलका अध्ययन करनेसे हम संसारके विभिन्न क्षेत्रोंके जीवनसे परिचित हो जाते हैं। इसी प्रकार इतिहासमें वर्णित विशिष्ट महापुरुषोंके चरित्र पढ़कर उन महापुरुषोंसे भी हमारा परिचय हो जाता है और किसी देशके सामाजिक विकासकी श्रृंखलाओंका ज्ञान भी हो जाता है।

व्यवहार-ज्ञान करानेवाले विषयोंमें वे सभी विषय आते हैं जिनके द्वारा हम अपनी रक्षा करते हैं, जीविका चलाते हैं और समाज तथा राष्ट्रके विभिन्न कार्योंमें परस्पर व्यवहार करते हैं। मनुष्य अपने अनुभवसे ही इस प्रयोजनकी सिद्धि कर लेता है किन्तु कक्षामें भी अध्यापकोंके आचरण, सामूहिक उत्सव, नाट्य, भाषण आदिके द्वारा उसकी व्यवस्था की जा सकती है।

सामाजिकताका भाव बढ़ानेवाले वे सभी विषय हैं जिनसे हम अपने पूर्व पुरुषोंके सामाजिक व्यवहार तथा संस्कारका ज्ञान प्राप्त करते हैं, विभिन्न देशोंके आचार-विचार, नीति-नियमका परिचय पाते हैं और अपने देशकी राज्यव्यवस्थाके अनुसार तथा अपने समयकी समाजनीतिके अनुसार व्यक्तिगत और सामाजिक आचरणका व्यवहार सीखते हैं। इसके अन्तर्गत इतिहास, भूगोल, नागरिक-शास्त्र, काव्य, उपन्यास, हस्तकौशल, चलचित्र आदि अनेक विषय हैं जिनसे हम अपना सामाजिक ज्ञान बढ़ा सकते हैं और जो हमारे सामाजिक व्यवहारमें सहायक हो सकते हैं।

नैतिक शिक्षा देनेके लिये कोई निर्दिष्ट विषय नहीं हैं। नैतिक कथा, प्रवचन, आख्यान, काव्य, जीवनचरित तथा अध्यापकोंके आचरण-द्वारा नैतिक शिक्षाका कुछ रूप उपस्थित किया जा सकता है किन्तु उसके

लिये व्यवस्थित शिक्षाका कोई पाठ्यक्रम नहीं निर्धारित किया जा सकता। यों साधारणतया कहा जा सकता है कि विज्ञान-द्वारा सत्यताका, इतिहासके द्वारा आत्मत्याग, वीरता, लगन और साहसका, कलाकौशल-द्वारा सुरुचि और संलग्नताका थोड़ा-बहुत भाव बढ़ता ही चलता है और वह बालकोंके नैतिक विकासमें भी सहायक होता ही है।

६. कुछ विषय किसी विशेष जाति या वर्गके संस्कारोंसे भी सम्बद्ध होते हैं। हमारे देशमें प्रत्येक हिन्दूके सब संस्कार संस्कृतमें होते हैं और धर्मग्रन्थ तथा सांस्कृतिक महाकाव्य सभी संस्कृतमें हैं। अतः, प्रत्येक हिन्दूके लिये अपने रूढिगत संस्कारका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये संस्कृत पढ़ना आवश्यक है।

७. सांस्कृतिक विषयोंमें दार्शनिक ग्रन्थ तथा वे सभी ललित कलाएँ आ जाती हैं जिनसे हमारी भावना उदात्त होती है, रुचि परिष्कृत होती है, जीवनमें कलात्मकता और सुन्दरता आती है, सुरुचिपूर्ण कल्पनाका विकास होता है, आत्मतुष्टिके साथ दूसरोंको भी सुख दिया जा सकता है और उदात्त वृत्तियोंका संरक्षण तथा पोषण होता है। इनमें संगीत, चित्रकला, काव्यकला, नाट्यकला, दर्शन आदि विषयोंका समावेश होता है।

हमारे यहाँ एक पुरानी सूक्ति है—

> अद्भिर्गात्राणि शुद्ध्यन्ति मनः सत्येन शुद्ध्यति।
> विद्या-तपोभ्यां भूतात्मा, बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्ध्यति॥

[जलसे शरीर, सत्यसे मन, विद्या और तपसे आत्मा तथा ज्ञानसे बुद्धि शुद्ध होती है।] हमें भी शरीर, मन, बुद्धि और आत्माकी शुद्धिके लिये अपनी शिक्षा-पद्धतिकी व्यवस्था करनी ही होगी।

व्यवस्था

इन सभी प्रयोजनोंको सिद्ध करनेवाले सब विषय एक साथ नहीं पढ़ाए जा सकते। प्रारंभमें हम इस क्रमसे उपर्यंकित विषयोंके शिक्षणकी व्यवस्था कर सकते हैं—

१. मातृभाषामें पढ़ना और लिखना; २. गणित; ३. सामाजिक आचरण, इतिहास तथा भूगोल; ४. संगीत तथा चित्र।

भारतकी वर्तमान सामाजिक और आर्थिक अवस्थाके अनुसार हमें ऐसे विषय भी पढ़ाने चाहिएँ जिनसे हमारी दरिद्रता दूर हो, हमारी जीवन-शक्ति बढ़े और हम अपने प्राचीन संस्कारोंकी रक्षा करते हुए नये ज्ञान-विज्ञानका समुचित लाभ उठा सकें। इस उद्देश्यसे हमें अपने पाठ्य विषयोंमें निम्नलिखित विषय और बढ़ा देने होंगे—

१. व्यावसायिक शिक्षा।
२. सैनिक शिक्षा तथा फुर्तीले व्यायाम।
३. विज्ञान।

पाठ्यक्रमका नियम

इतने सब विषयोंको पाठ्यक्रममें ढालते समय हमें किन्हीं नियमोंके अनुसार व्यवस्था करनी होगी।

सक्रमता (लौ औफ़ ग्रेडेशन)

बालकके कोमल मस्तिष्कपर सहसा बहुतसा बोझ नहीं लाद देना चाहिए। एक साथ सब विषय प्रारंभ कर देनेसे सभी विषय कच्चे रह जायँगे, पढ़ानेकी व्यवस्था भी न हो सकेगी और छात्रोंको भी शिक्षासे अरुचि हो जायगी। अतः विषय धीरे-धीरे बढ़ाने चाहिएँ। इसे सक्रमताका नियम कहते हैं।

पर्याप्तता (लौ औफ़ सफ़िशेन्सी)

जो विषय एक बार एक समयमें पढाए जायँ, उनके लिये इतना पर्याप्त समय दे दिया जाय कि बालक उनका ठीक प्रकारसे अध्ययन कर सकें। इसे पर्याप्तताका नियम कहते हैं।

संबद्धता (लौ औफ सीक्वेन्स या कोऑर्डिनेशन)

प्रत्येक नया विषय पहले विषयके साथ उपयुक्त रीतिसे सम्बद्ध होना चाहिए। उसमें एक प्रकारकी क्रमिक और नियमित वृद्धि होनी चाहिए अर्थात् किसी भी विषयका आगेका ज्ञान पिछले ज्ञानसे इस प्रकार सम्बद्ध होना चाहिए कि बालकको आगेका ज्ञान प्राप्त करनेमें

भी कठिनाई न हो और उसका बौद्धिक ज्ञान भी विकसित होता चले। इसे सम्बद्धताका नियम कहते हैं।

निरन्तरता (लौ ऑफ़ कंटिनुइटी)

जो ज्ञान एक बार प्रारंभ किया जाय उसकी धारा निर्बाध रूपसे बहती चलनी चाहिए, उसमें किसी प्रकारका व्यतिक्रम या व्याघात नहीं होना चाहिए। वह ज्ञानधारा इस प्रकार व्यवस्थित की जानी चाहिए कि बालक क्रमसे धीरे-धीरे निर्बाध रूपसे उस विषयका अध्ययन निरन्तर करते चलें। इसे निर्बाधता या निरन्तरताका नियम कहते हैं।

इन नियमोंपर ध्यान रखकर ही हमें पाठ्य विषयोंका क्रम निर्धारित करना चाहिए।

शिक्षाका संचालन कौन करे ?

शिक्षाका सम्बन्ध मनुष्यके नैतिक और सामाजिक जीवनसे है और इसलिये शिक्षाको सदा राजनीतिज्ञोंकी परिवर्तनशील, कुटिल और अनिश्चित नीतिसे मुक्त रखना चाहिए। राजनीतिके सिद्धान्त और आदर्श सदा परिवर्तित होते चलते हैं। आज एक दल शक्तिशाली हुआ तो उसने अपनी सनकके अनुसार शिक्षाके लिये एक योजना गढ़ी, दूसरा दल आया उसने दूसरी गढ़ी। इस प्रकार शिक्षाका सम्पूर्ण क्रम राजनीतिज्ञोंकी स्वेच्छाचारिता और सनकपर इधर-उधर ठोकर खाता फिरता है। इस अनियमितताको रोकनेके लिये दो ही उपाय हैं—या तो अध्यापक ही राजनीतिका भी संचालन अपने हाथमें ले लें या वे राजनीतिज्ञोंके हाथसे शिक्षाका भार ले लें। जबतक शिक्षाको राजनीतिसे मुक्ति नहीं मिलेगी तबतक स्वतंत्र शिक्षा-शास्त्रियोंको न तो अपना स्वतंत्र प्रयोग करनेकी सुविधा होगी और न शिक्षा व्यवस्थित हो पावेगी।

क्या सबको शिक्षा देनी चाहिए ?

आजकलकी शिक्षाको देखकर बहुतसे लोग प्रश्न उठा रहे हैं कि क्या सभीको समान रूपसे एक-सी शिक्षा देनी चाहिए। इसका उत्तर मानसशास्त्र और प्राणि-विज्ञानने भलीभाँति दे दिया है। कुछ आधार-

ज्ञान तो प्रत्येक व्यक्तिको समान रूपसे मिलना ही चाहिए किन्तु उस आधार-ज्ञानके आगेका समुन्नत ज्ञान देनेसे पूर्व शिक्षा-शास्त्रियोंको विवेकसे काम लेना चाहिए। बहुतसे देशोंमें अब व्यवस्था कर दी गई है कि बालकोंकी रुचि, प्रवृत्ति और क्षमताकी परीक्षा लेकर उनके लिये भावी वृत्ति और पाठ्य-सरणी निर्धारित की जाय और उसीके अनुसार उनकी आगेकी शिक्षा चलाई जाय। हमारे देशमें भी आवश्यक है कि बालकोंके घरेलू जीवन, व्यवसाय, उनकी प्रवृत्ति और उनकी शारीरिक तथा बौद्धिक क्षमता देखकर ही उनकी आगेकी शिक्षा-योजना निर्धारित की जाय। कन्याओंका शिक्षा-क्रम भी ऐसा होना चाहिए कि वे अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तिकी रक्षा करते हुए राष्ट्रके सुखमय विकासमें उचित और व्यावहारिक सहयोग दे सकें।

अब व्यापक रूपसे यह सिद्धान्त मान लिया गया है कि बालककी रुचि, प्रवृत्ति तथा क्षमताकी दृष्टिसे ही उसे शिक्षा दी जाय। इस रुचि और प्रवृत्तिका सम्बन्ध बालकके मनसे है। इसका अर्थ यह हुआ कि हमें बालकके मनका भली भाँति अध्ययन करके उसकी प्रवृत्ति और सामर्थ्यके अनुसार उसे शिक्षा देनी चाहिए। मनका अध्ययन मानसशास्त्रका विषय है इसलिये स्वाभाविक रूपसे शिक्षा और मानसशास्त्रका गठबन्धन हो गया।

३

मन क्या और कहाँ है ?

आजतक योरोपीय चिकित्साशास्त्री और मानसशास्त्री यह नहीं स्थिर कर पाए कि मन है क्या और शरीरमें रहता कहाँ है। वे केवल इतना भर कहते हैं कि 'शरीरके किसी अन्य भागकी अपेक्षा हमारी स्नायु-प्रणाली (नर्वस सिस्टम) से हमारा मन (माइंड) अत्यन्त निकटसे सम्बद्ध है और हमारा मस्तिष्क (ब्रेन) हमारे मनसे अत्यन्त अधिक सम्बद्ध है।' किन्तु भारतके दार्शनिक, आयुर्वेदके आचार्य तथा ज्यौतिष-शास्त्रियोंने शरीर, मन और बुद्धिके स्वरूप, स्थान, क्रिया और उसके सम्बन्धोंका अत्यन्त विस्तारसे विचार किया है। हमारे यहाँ मनको स्वतन्त्र रूपसे वह महत्ता नहीं दी गई जो योरपके मानस-शास्त्रियोंने मनको दी है। यह आश्चर्यकी बात है कि योरपमें मनोविज्ञानका आरंभ तो आत्माके अध्ययनसे हुआ किन्तु पीछे चलकर मनुष्यके व्यवहार, मन और मानसिक क्रियाओंका अध्ययन ही मानसशास्त्रका विषय बन गया। किन्तु भारतीय आचार्योंने आत्मा और मनके सम्बन्धको कभी विच्छिन्न नहीं किया।

भारतीय आयुर्वेदमें मन

भारतीय आयुर्वेदमें मनकी गणना ग्यारह इन्द्रियोंमें की गई है और ये इन्द्रियाँ सब भौतिक मानी गई हैं—

भौतिकानि चेन्द्रियाण्यायुर्वेदे वर्ण्यन्ते। [सुश्रुत शारीर० अध्याय १, सूत्र १४]

भारतीय आयुर्वेदका विश्वास है कि महाभूतोंके पंचीकरण या एकत्र होनेसे ही मनकी उत्पत्ति होती है, इसलिये मन भी सत्त्व, रज और तम गुणोंसे युक्त होनेके कारण त्रिगुणात्मक और पंचीकृत है। मनको ग्यारह इन्द्रियोंमें गिनाते हुए उसे उभयेन्द्रिय अर्थात् ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों माना गया है—'उभयात्मकं मनः।' [सुश्रुत शारीर० अध्याय १, सूत्र ३]

मनको ज्ञानेन्द्रिय या बुद्धीन्द्रिय इसलिये कहा गया है कि हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ तभी अर्थ ग्रहण करती हैं जब मन उनमें अधिष्ठित होता है और मनको कर्मेन्द्रिय इसलिये बताया गया है कि मन ही कर्मेन्द्रियोंको प्रेरित करके उनसे काम कराता है। इसका अर्थ यही है कि मन वह व्यापक इन्द्रिय है जो हमारे सारे शरीरमें व्याप्त होकर हमारी ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियोंसे काम कराता है और जिसे हमारे दर्शन-शास्त्रोंने केवल मनस् या मन न कहकर मनोमय कोष कहा है।

मनोमय कोष

तैत्तिरीय उपनिषद्की ब्रह्मानंद वल्लीके दूसरे अनुवाकमें पाँचों कोषोंका वर्णन करते हुए कहा गया है कि यह हमारा पांचभौतिक शरीर ही अन्नमय कोष है। इस अन्न-रससे बने हुए शरीरके भीतर ही किन्तु इस शरीरसे भिन्न हमारा प्राण-तत्त्व या प्राणमय कोष है।

तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयादन्योन्तर आत्मा प्राणमयः। तेनैष पूर्णः।

इसके आगे मनोमय कोषका वर्णन करते हुए कहा गया है—

तस्माद्वा एतस्मात्प्राणमयादन्योन्तर आत्मा मनोमयः। तेनैष पूर्णः।

[प्राणमय कोषके भीतर ही किन्तु उससे अलग मनोमय तत्त्व है जिससे यह प्राणमय कोष पूर्ण अर्थात् व्याप्त है।] इसी व्यापक मनके तत्त्वको कपिलने अपने सांख्य-शास्त्रमें महत्तत्त्व या अन्तःकरण कहा है और इसीको नवीन मानसशास्त्री लोग 'विश्वमानस' कहते हैं।

मनका स्वरूप

वेदान्तसारने माना है कि यह मन भी लिंग या सूक्ष्म शरीरके सत्रह अवयवों [पाँच ज्ञानेन्द्रिय (रसना, नेत्र, नासिका, श्रवण, त्वचा), पाँच कर्मेन्द्रिय (मुख, हाथ, पैर, गुदा और लिंग या योनि), पाँच वायु (प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान), मन और बुद्धि] मेंसे एक है। वेदान्तका मत है कि यह मन संकल्प-विकल्पसे भरी हुई अन्तःकरणकी एक वृत्ति है जो कर्मेन्द्रियोंसे मिलकर मनोमय कोष बन जाती है—

मनो नाम संकल्पविकल्पात्मिका अन्तःकरण-वृत्तिः । मनस्तु कर्मेन्द्रियैः सहितं सत् मनोमयकोषो भवति । [वेदान्तसार]

सुखबोधमें लिखा है कि गर्भमें स्थित बालकके सातवें महीनेमें मन उत्पन्न हो जाता है किन्तु सुश्रुतका मत है पाँच ही महीनेमें मन प्रकट हो जाता है—

पचमे मनः प्रतिबुद्धतरं भवति । [सुश्रुत शारीर० अ० ३]

न्यायशास्त्रके अनुसार मन

नैयायिकोंका मत है कि मन भी द्रव्य पदार्थ है—

> द्रव्यं गुणस्तथाकर्म सामान्यं सविशेषकम् ।
> समवायः तथाभावः पदार्थाः सप्तकीर्तिताः ॥
> क्षित्यप्तेजो मरुद्व्योमकालदिग्देहिनो मनः ।
> द्रव्याणि.................... । [भाषा-परिच्छेद]

[संसारके सब पदार्थ सात भागोंमें विभक्त हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय, और अभाव । इनमें द्रव्य पदार्थ नौ हैं—क्षिति, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन ।] द्रव्यका अर्थ ही यह है कि मनके भी कुछ गुण और धर्म होते हैं । गुण चौबीस माने गए हैं – रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, शब्द, बुद्धि, सुख, दु ख, इच्छा, द्वेष प्रयत्न, धर्म, अधर्म, और संस्कार । संस्कार चार प्रकारके होते हैं—वेग, भावना, स्थिति, स्थापक ।

परत्व, अपरत्व, संख्या, परिमिति पृथक्त्व, संयोग, वियोग, वेग, ऊपर गिनाए हुए गुणों से सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, बुद्धि और यत्न नामक गुणोंसे युक्त वायवीय परमाणु ही मन है जिसे एक बार एक ही बातका ज्ञान होता है—

> परापरत्वं संख्याद्याः पंचवेगश्च मानसे ।
> मनोग्राह्यसुखं दुःखमिच्छाद्वेषौ मतिः कृतिः ॥
> अयौगपद्याज्ज्ञानानां तस्याणुत्वमिहेष्यते ॥

[भाषापरिच्छेद]

नैयायिकोंका कहना है कि मन नित्य और अवयवरहित है। अवयव न होनेसे ही उसकी कोई उपाधि भी नहीं है अर्थात् उसे अच्छा-बुरा, मोटा-पतला नहीं कह सकते। अवयव न रहनेके कारण ही मनकी वृद्धि या उसका ह्रास नहीं होता। इसीलिये अवयवरहित होनेसे मनका कभी नाश नहीं होता। यह मन एक प्रकारका अवयवरहित द्रव्य है और द्रव्य होनेके कारण मनके भी कुछ गुण और धर्म हैं।

नैयायिकोंके अनुसार मन सूक्ष्म है और वायवीय परमाणुके समान है। वह एक समयमें दो या अधिक वस्तुएँ ग्रहण नहीं कर सकता अर्थात् एक समयमें उसे एकसे अधिक विषय या वस्तुका ज्ञान नहीं हो पाता। इसीलिये मन एक समय एक इन्द्रियमें संलग्न रहता है और उसी इन्द्रियका ज्ञान प्राप्त करता है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण तो हमारा अपना अनुभव है क्योंकि हम प्रायः कह ही दिया करते हैं—'अन्यत्र मना अनुभवं नाश्रौषम्' (मेरा मन कहीं और था इसलिये मैंने सुना नहीं।) कहा जा सकता है कि जब हम किसी नर्तकीका नृत्य देखते हैं तो हमें आँखसे उसके रूप और उसकी गति दोनोंका ज्ञान होता है और कानसे हम उसके घुँघरुओंकी ध्वनि भी सुनते हैं। किन्तु यह भ्रम है। यह ज्ञान क्रमशः, बारी-बारीसे होता है और चलचित्रकी पट्टीपर बने हुए अलग-अलग चित्रोंकी तीव्र गतिके समान यह क्रम इतने वेगसे चलता है कि जान पड़ता है हम दोनों ज्ञान साथ प्राप्त कर रहे हैं।

सांख्यके अनुसार मनका स्वरूप

सांख्यवालोंने भी मनको द्रव्य पदार्थ ही माना है। कुछ लोगोंका कहना है कि त्रिगुणात्मिका प्रकृतिसे उत्पन्न होनेके कारण वह द्रव्य पदार्थ नहीं है, गुण पदार्थ है। इसका उत्तर देते हुए सांख्य-शास्त्रने कहा है कि प्रकृति स्वयं गुण पदार्थ नहीं, द्रव्य पदार्थ है इसलिये प्रकृतिसे उत्पन्न मन भी गुण पदार्थ नहीं, द्रव्य पदार्थ है।

सांख्यकारिकाके अनुसार मनका लक्षण यह बताया गया है—

उभयात्मकमत्रमनः संकल्पकमिन्द्रियं च साधर्म्यात्।
गुण-परिणाम-विशेषान्नानात्वं बाह्यभेदाश्च॥ [सांख्यकारिका अ० २७]

[मन भी इन्द्रिय है किन्तु यह ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों है। मन संकल्पात्मक है अर्थात् संकल्प या विचार करना मनका असाधारण धर्म है। इसका जन्म सत्त्वगुणके किसी विशेष परिणामसे होता है।] सांख्य-शास्त्रका मत है कि प्रकृतिका पहला कार्य है—महत्तत्व। इसी महत्तत्त्वसे मनकी उत्पत्ति हुई है—

महदाख्यं आद्यं कार्यं तन्मनः। [सांख्य सूत्र १-७१]

यह मन मनन करता है अर्थात् किसी बातका निश्चय करता है इसीलिये इसका नाम 'मन' है। यह मन हमारे अन्नमय कोषसे अर्थात् हम जो कुछ पदार्थ खाते हैं उसके परिणामसे उत्पन्न होता है। सांख्य दर्शनका मत है कि मनका जन्म होता है और इसलिये उसका भी वर्द्धन, ह्रास, परिवर्तन और विनाश होता है। यह बड़े महत्त्वकी बात है।

मनके रूपका वर्णन करते हुए महर्षि कपिलने कहा है कि हमारा मन हमारी देहपर आश्रित है किन्तु वह इस प्रकार आश्रित नहीं है जैसे हमारे शरीरमें हड्डी और मांस है। यद्यपि हमारा मन अहंके विशेष परिणामके स्वरूपमें उत्पन्न होता है फिर भी यह क्षणभरमें ध्वंस नहीं हो जाता, यहाँतक कि स्थूल शरीर नष्ट हो जानेपर भी मन बना रहता है। वह मरे हुए शरीरमें रहनेवाली हड्डी और मांसके समान उसीमें रह नहीं जाता।

सांख्यवालोंका मत है कि मन अनित्य है क्योंकि वह भी उत्पन्न होता है। फिर भी वह घड़े आदिके समान क्षण भरमें नाश नहीं हो जाता। वह जीवकी मुक्तितक बना रहता है। जबतक हम यह सिद्धान्त नहीं मान लेते तबतक हम उन अनेक भाव-संस्कारों और स्मृतियोंका ठीक विवेचन नहीं कर पा सकते जो हमें स्वप्नमें या विशेष गुणवाले व्यक्तिमें प्राप्त होते रहते हैं और जिसके लिये कुल-संस्कार (हेरिडिटी) और वातावरण (एन्वायरनमेंट) की सब सीमाएँ और सब लक्षण निरर्थक सिद्ध हो जाते हैं।

सांख्यवालोंका मत है कि मन सावयव है क्योंकि यदि वह अवयव-रहित होता तो किसीके साथ संयुक्त न हो पाता। नैयायिकोंका खंडन करते हुए सांख्यवाले कहते हैं कि मन सूक्ष्म तो है किन्तु

परमाणुके समान नहीं है। केवल आँखोंसे दिखाई न देनेके कारण ही उसे परमाणुके समान सूक्ष्म और अवयव-रहित कहना ठीक नहीं है क्योंकि वायु भी आँखोंसे तो नहीं दिखाई देता फिर भी वह अवयव-सहित है, अनेक परमाणुओंसे बना है। नैयायिकोंका यह कहना भी ठीक नहीं है कि एक समय दो या अधिक विषयोंका ज्ञान नहीं होता क्योंकि कुछ इन्द्रिय-विषय-ज्ञान तो क्रमशः होता है और कुछ स्थानपर एक समयमें ही हो जाता है।

आयुर्वेदवालोंका मत है कि मन एक साथ एकसे अधिक ज्ञानका अनुभव नहीं करता।

मन सावयव है या अवयव-रहित, नश्वर है या अनश्वर, उसे एक समयमें एक ही ज्ञान होता है या कई, इन प्रश्नोंपर हमारे यहाँ बहुत शास्त्रार्थ हुआ है। किन्तु नैयायिकोंका आधार तर्क है और सांख्यवादियोंका आधार वेद है। वेदने मनको सावयव माना है इसलिये अधिकांश दार्शनिक मनको सावयव मानते हैं। छान्दोग्य-उपनिषद्के छठे अध्यायमें इस सम्बन्धमें एक आख्यायिका ही दी गई है—

एक दिन उद्दालक मुनिने श्वेतकेतुसे कहा—'बेटा! हमारे वंशमें किसीने कभी यह नहीं कहा कि मैं कोई बात नहीं जानता। वे सभी सर्वज्ञ थे। इसपर श्वेतकेतुने कहा कि यह कैसे हो सकता है? इस बातको समझाते हुए उद्दालकने कहा कि 'देखो श्वेतकेतु! हमारा मन तो अन्नमय या खाद्य पदार्थोंका परिणाम है अर्थात् जो हम खाते हैं उसीसे हमारा मन बनता है। हमारा प्राण जलमय है और हमारी वाणी तेजोमय है। इसे समझाते हुए उन्होंने कहा कि पृथ्वी-धातु, जल-धातु और तेज-धातु, ये तीनों धातुएँ तथा आकाश और वायुको मिलाकर पाँचों धातुएँ संसारके सारे पदार्थोंके पोषक हैं। मनुष्य जो कुछ भोजन करता है वह जठराग्निमें पचकर पहले तीन भागोंमें बँट जाता है—स्थूल भाग तो मल बन जाता है, मध्य भाग मांस बन जाता है और तीसरा सूक्ष्म अंश ही इन्द्रिय और मन बन जाता है। जैसे दही मथनेसे उसका सार नवनीत ऊपर उठता है उसी प्रकार जठरानल और वायु भी तेज, जल और अन्नवाले

तीनों प्रकारके खाद्योंको मथकर उनके सारांशको ऊपर उठा देते हैं और वही नाड़ीके मार्गसे सब शिराओंमें पहुँचकर उन्हीं पदार्थोंकी उत्पत्ति, स्थिति और पोषण करता है। इसीलिये मनको अन्नमय, प्राणको जलमय और वाणीको तेजोमय माना गया है। यदि तुम इसका प्रत्यक्ष ज्ञान करना चाहो तो अन्न, जल और तेज छोड़कर सोलहवें दिन मेरे पास आना। पन्द्रह दिन अनाहार रहकर जब श्वेतकेतु लौटा तो उद्दालक मुनिने पूछा—कहो! तीनों वेदका अध्ययन कैसा चल रहा है?

श्वेतकेतुने कहा—'पिताजी! मुझे तो कुछ स्मरण ही नहीं रह गया है?

इसपर उद्दालक मुनिने कहा—'जैसे लकड़ी न पानेसे अग्निकुण्ड बुझ जाता है, उसी प्रकार भोजन न पानेसे तुम्हारी इन्द्रियाँ भी क्षीण हो गई हैं। भोजन पाकर जब तुम्हारी जठराग्नि प्रज्वलित हो जायगी तब तुम्हारे मस्तिष्ककी सारी स्मृति जाग उठेगी। इसलिये आहारके होने या न होनेसे मनका ह्रास और वृद्धि होती है।'

इसी आधारपर सांख्यने मनको अवयव-संयुक्त माना है और यह भी माना है कि वह नश्वर तो है पर मोक्ष और महाप्रलयमें ही उसका नाश होता है, उससे पहले नहीं। वह साक्षात् मूल प्रकृतिसे उत्पन्न होकर सबके आत्मामें विराज रहा है।

पर नैयायिक लोगोंका कहना है कि जिसे मनकी वृद्धि और ह्रास बताया गया है वह मनका नहीं वरन् जिस स्थानमें मन रहता है उस स्थान (गोलक)की वृद्धि और ह्रास होता है।

मनके पाँच रूप

ऐतरेय उपनिषद्‌में कहा गया है—

चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत्।

[चन्द्रमा ही मन बनकर हृदयमें पैठ गया।] यही तत्त्व 'ज्योतिषां ज्योतिः' (ज्योतियोंकी ज्योति) बताया गया है जो हृदयमें रहकर काम करता है। उसी उपनिषद्‌में इस हृदयमें रहनेवाले मनके दो रूप बताए गए हैं—दैवमन

और यक्षमन। इनमेंसे दैव मन तो हमारी पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंपर और यक्षमन हमारी पाँचों कर्मेन्द्रियोंपर शासन करता है। शरीरमें व्याप्त रहनेवाले मनोमय तत्त्वका जो अंश मस्तिष्कमें है उसके दो अंग हैं—एक बुद्धि, जिसका काम है सब बातोंको निश्चय करना। इसीको ऐतरेय उपनिषद्‌ने विज्ञान बताया है। मस्तिष्कमें ही स्थित मनके दूसरे अंगका काम है सब अनुभव की हुई बातोंका स्मरण रखना। मनके इसी अंगमें सब सस्कार रहते हैं इसीलिये यह अंग चित्त कहलाता है इसीको ऐतरेय उपनिषद्‌में चेतस् कहा गया है। इस प्रकार प्रकट मनके चार रूप हैं—दैव मन, यक्ष मन, बुद्धि और चित्त। इनकी क्रियाएँ प्रत्यक्ष रूपसे आत्माके शासनमें होती हैं, इसीलिये इस प्रकट मनको उद्‌बुद्ध मन भी कहते हैं।

मनोमय तत्त्वके ऊपर बताए हुए चार रूपोंके अतिरिक्त एक पाँचवाँ रूप भी है जिसे धृति कहते हैं। इस धृति मनमें ऐसी अनेक शक्तियाँ, विषय और क्रियाएँ भरी रहती हैं जिनका प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो पाता। इसी धृति मनपर जब जीवात्माका प्रकाश पड़ता है तब अहंकार उत्पन्न होता है इसीपर जब परमात्माका प्रकाश पड़ता है तब सारे विश्व और तीनों कालोंका ज्ञान होता है। उसमें भी जब सबको नियंत्रित करनेकी शक्ति आ जाती है तब वशीकरणकी शक्ति आ जाती है। इन पाँच रूपोंमें रहनेपर भी मन वास्तवमें एक ही व्यापक तत्त्व है जो हमारे शरीरमें विभिन्न कार्य करनेके कारण अनेक नामवाला हो गया है।

मन ही आत्मा

चार्वाक्‌ने मनको ही आत्मा बताया है। उसका कहना है कि ज्ञान और इच्छा आदि चेतन हैं क्योंकि गुण, संकल्प-विकल्प और अवधारण आदि क्रियाएँ सब चेतनके कार्य हैं। ये सभी कार्य मनके विषयोंमें दिखाई देते हैं, दूसरे स्थानमें नहीं। यहाँतक कि जब इन्द्रियाँ शिथिल होकर निश्चेष्ट हो जाती हैं उस समय भी मन अपना काम करता रहता है और स्वप्न, स्मृति और अनुध्यानमें लगा रहता है। इससे यही जान पड़ता है कि मन ही आत्मा है।

मन और आत्मा

किन्तु सभी दर्शनशास्त्रोंने इसका खंडन करते हुए कहा है कि मन जड है और इस कारण वह स्वयं—प्रेरित हो ही नहीं सकता। इसके अतिरिक्त ऋषियोंने ध्यान, धारणा, समाधि और प्रज्ञाके द्वारा जान लिया था कि हमारा आत्मा नित्य, शुद्ध और चित्स्वरूप है और वह मन तथा बुद्धिसे स्वतन्त्र और अलग है क्योंकि जब मन स्थिर भावसे अपनेको देखता है तब उसे ज्ञान होता है कि 'मैं आत्मा नहीं, वरन् आत्माके अधीन हूँ। मैं आत्माकी भोग-सामग्री हूँ, सविकार हूँ, सक्रिय भी हूँ। किन्तु आत्मा निष्क्रिय और निर्विकार है।' संशय, निश्चय, विपर्यय, सन्धान और निर्वाचन सब मनमें ही होते हैं। आत्मा तो इन सबको देखनेवाला या साक्षी होता है। जब मन अपना निर्णय या निर्वाचन करने लगता है तब वह आत्मासे पृथक् हो जाता है क्योंकि यदि वह आत्मासे पृथक् न हो तो वह अपना निर्वाचन नहीं कर सकता। इस दृष्टिसे आत्मा द्रष्टा है और मन दृश्य, आत्मा चेतन है और मन जड। यदि मन भी आत्माके समान प्रकाश करनेवाला होता तो मनुष्यको सुषुप्ति, मूर्च्छा और मुग्धताकी अवस्थाका अनुभव ही न होता। आत्मा ही मनके द्वारा विषयोंको ग्रहण करता है।

आत्माका जब मनसे संयोग होता है तभी ज्ञान होता है। पाणिनीय शिक्षामें कहा गया है—

आत्मा बुद्ध्या समेत्यर्थान्मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति: स प्रेरयति मारुतम्॥
सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतः वक्त्रमापद्य मारुतः वर्णाञ्जनयते………।

[आत्मा ही बुद्धिसे अर्थ लेकर मनको बोलनेके लिये नियुक्त करता है। तब मन शरीरकी अग्निको धक्का देता है और वह अग्नि फिर वायुको प्रेरित करती है, वह वायु ऊपर उठकर मस्तिष्कपर आकर टकराता है और वही मुखके विभिन्न भागोंसे रुकता हुआ वर्णोंकी उत्पत्ति करता है।]

इसमें स्पष्ट रूपसे मनको इन्द्रियके रूपमें व्यक्त कर दिया गया है। मुक्तावलीमें भी कहा है—

त्वङ्मनःसंयोगमेव ज्ञान-सामान्यं कारणम्।

[त्वचा और मनके संयोगसे ही ज्ञान होता है।] इसका क्रम है कि आत्माका मनके साथ, मनका इन्द्रियके साथ और इन्द्रियका किसी विषयके साथ जब सम्बन्ध होता है तब ज्ञान होता है। इसीलिये न्याय-दर्शनने कहा है—

आत्मा मनसा युज्यते, मन इन्द्रियेण, इन्द्रियं विषयेण, तस्मादध्यक्षं इत्युक्तदिशा ज्ञानं जायते।

[आत्मा तो मनसे मिलता है, मन इन्द्रियसे और इन्द्रिय विषयोंसे। इस क्रमसे अन्तमें आत्मा ही ज्ञान प्राप्त करता है।] इस प्रकार मनका सीधा सम्बन्ध आत्मासे है। मन ही आत्मा-तक ज्ञान और सुख-दुःखकी प्रतीति पहुँचाता है । विषयके साथ इन्द्रियका, इन्द्रियके साथ मनका और मनके साथ आत्माका यह सम्बन्ध इतने वेगसे होता है कि वह वर्णन नहीं किया जा सकता। इस प्रकार हमारा मन या मनोमय कोष ही आत्मा और इन्द्रियके बीच सम्बन्ध स्थापित करता है। जब कोई मनुष्य औषधि सुँघाकर मूर्च्छित कर दिया जाता है तब उसका मनोमय कोष या मन ही निष्क्रिय कर दिया जाता है। इसी प्रकार शरीरके किसी विशेष स्थलको सूई देकर जब संज्ञा-सून्य कर दिया जाता है तब उतनी दूरका अन्नमय कोष स्तब्ध हो जानेके कारण मनोमय कोष ही लुप्त हो जाता है जिससे शरीरकी वेदना जीवात्मातक नहीं पहुँच पाती। इसीलिये हमारे यहाँ कहा गया है कि मनका निग्रह करना चाहिए। यदि वह बाँध दिया जा सके और इन्द्रियोंके संसर्गसे अलग कर दिया जा सके तो जीवात्माको कोई भौतिक संस्कार न लग सके, सुख, दुःख, गर्मी, सर्दी, यश, अपयश, काम, क्रोध, द्वेष, मोह आदि कुछ भी आत्माको व्याप्त न कर पावें और वह शुद्ध और मुक्त हो जाय।

इस मनको वशमें करना अत्यन्त कठिन समझकर ही अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णसे कहा था—

चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रह मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥

[हे कृष्ण ! यह मन चंचल, हठीला, बलवान् और दृढ है । इसे

बाँध रखना मुझे वैसा ही कठिन प्रतीत होता है जैसे वायुको बाँध रखना।]

किन्तु कृष्णजीने उसका समाधान करते हुए कहा था—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥

[इसमें सन्देह नहीं कि मन चंचल है और उसका निग्रह करना कठिन है किन्तु अर्जुन ! अभ्यास तथा वैराग्यसे उसे वशमें कर लिया जा सकता है।]

मीमांसिक लोग मनको विभु मानते हैं और मायावादी वेदान्ती मनको इन्द्रिय भी नहीं मानते किन्तु योरोपीय मानसशास्त्री तो विभु न मानते हुए भी मनको इतना महत्त्व दे रहे हैं कि उसे ही भोक्ता और कर्ता मान बैठे हैं। यही उनकी सबसे बड़ी भूल है।

मन और आत्मा

उपर्युक्त विवेचनसे स्पष्ट हो गया होगा कि मन स्वतंत्र नहीं है। इसपर आत्माका शासन होता है। साधारणतः हमारी इन्द्रियोंसे जो कुछ ज्ञान निश्चय होता है वह मनके ही द्वारा होता है इसलिये यह भ्रम हो जानेकी संभावना रहती है कि मन ही सर्वेसर्वा है। संभवतः इसी भ्रमसे पाश्चात्य मानसशास्त्रियोंने आत्माका विचार ही पूर्णतः छोड़ दिया। वे आँख मूँदकर मनके पीछे ही दौड़ पड़े और उसीको सारे अनुभवों और क्रियाओंका एकमात्र प्रयोक्ता मान बैठे। इस भ्रमका समाधान करते हुए महर्षि कपिलने कहा है कि मनकी यह अधीन सत्ता साधारण प्रणिधान करनेपर प्रकट हो जाती है। जब हम आत्मा और मनके विषयकी चिन्ता करने लगते हैं तब मन और आत्मा भिन्न-भिन्न प्रकट होने लगते हैं क्योंकि जो लोग मन और आत्माको एक ही मानते हैं वे भी आत्मा और मनका विचार करते समय आत्मा और मनपर अलग-अलग विचारते हैं। आत्माका रूप न पहचान सकनेके कारण ही वे कह बैठते हैं कि मनका ही दूसरा नाम आत्मा है और आत्माका ही दूसरा नाम मन है।

मनका स्थान

ऐतरेय उपनिषद्‌ने हृदय और मस्तिष्कमें जो मनका स्थान बताया है वह इसी रूपमें बताया है कि विभिन्न अंगोंमें जो मन स्थित है वह अलग-अलग प्रकारका कार्य करता हुआ भी है एक ही। अष्टांगहृदयमें बताया गया है—

सत्त्वादिधाम हृदयं स्तनोर्हि कोष्ठमध्यगम्।

[शरीरके भीतर हृदयमें मनका निवास है।] कुछ पुराणों और तंत्रोंमें दोनों भौंहोंके बीच मनका स्थान माना गया है। उन्होंने मनका स्थान समझाते हुए बताया है कि शरीरमें इडा, पिंगला और सुषुम्ना नामकी तीन प्रधान नाड़ियाँ हैं। ये नाडियाँ त्रिनाभि हैं और हृत्पिण्डसे उत्पन्न होकर मूलाधारमें चली गई हैं। वहाँसे ये तीन शाखाओंमें चलकर दोनों ओर मेरुदंडका आश्रय लेकर मस्तक-तक फैल गई हैं। इन तीन प्रधान नाडियोंकी इतनी शाखा-प्रशाखाएँ फैल गई हैं कि सारा शरीर ही शिरामय हो गया है। इन तीनों नाडियोंमें कमलकी नालके तोड़नेपर निकलनेवाले पतले तंतुओंसे भी सूक्ष्म चिकने गुच्छेके आकारके तंतु हैं जो उन नाडियोंके साथ ब्रह्मरंध्रके पीछे जाकर समाप्त हो गए हैं। जहाँ ये चिकने तंतुओंके गुच्छे समाप्त हुए हैं वह स्थान गाँठके समान बन गया है। यही गाँठकी डंठल या वृंत ही आज्ञाचक्र है और उसीके ऊपरका भाग सहस्रार चक्र है। हमारा मन इस आज्ञा-चक्रमें ही रहकर ही अपना काम करता है। जब मन कुछ सोचने लगता है तब मस्तिष्कके सारे स्नायु काँप उठते हैं और इसी कारण आँख, मुँह, भौंह, गाल आदि कुछ सिकुड़-फैल जाते हैं।

कुछ लोगोंका मत है कि हृदयके भीतर जो मालपुएके आकारका मांस-खंड है और जिसे हृत्पद्म कहते हैं उसीके उदराकाशमें मन रहता है। उनका कहना है कि मनुष्य जो कुछ ध्यान या चिंतन करता है सब हृदयमें ही करता है और जिस वस्तु या बातका ध्यान करता है वह हृदयाकाशमें ही प्रतिबिंबित होता है। इसलिये मन मस्तकमें नहीं, हृदयमें है। किन्तु इन दोनों मतोंसे भिन्न उपनिषत्कार ऋषियोंका मत ही ठीक और शुद्ध है कि मन अन्तःकरण-

वृत्ति है जो मनोमय कोषके रूपमें हमारे सारे शरीरमें व्याप्त है और वह वेगसे शरीरकी विभिन्न इन्द्रियोंमें पहुँच-पहुँचकर विभिन्न प्रकारका कार्य करता रहता है।

मनका इन्द्रियोंसे सम्बन्ध

मनका सम्बन्ध इन्द्रियोंसे न हो तो मनुष्यको किसी बातका ज्ञान ही न हो। चरकने मनका लक्षण बताते हुए कहा है--

लक्षणं मनसो ज्ञानस्याभावो भाव एव च।
सति ह्यात्मेन्द्रियार्थानां सन्निकर्षेन वर्तते ॥ [चरकशास्त्र अ० १ श्लो० १७]
वैवृत्यान्मनसो ज्ञानं सान्निध्यात्तच्च वर्तते। [चरकशास्त्र अ० १ श्लो० १८]

[एक समयमें एक ही ज्ञान होना और दूसरा ज्ञान न होना ही मनका लक्षण है। क्योंकि जिस समय एक इन्द्रियसे मनका सम्बन्ध रहेगा उस समय दूसरी इन्द्रियसे मनका सम्बन्ध न रहनेके कारण एक समय एक साथ दो प्रकारका ज्ञान नहीं हो सकता।] यह मन अणु है और एक है। इन दो गुणोंके कारण उसका कई इन्द्रियोंसे एक साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता। यदि अनेक मन होते तो एक साथ अनेक इन्द्रियोंसे उसका सम्पर्क हो सकता और एक साथ कई विषयोंका ज्ञान भी हो सकता। उसीकी व्याख्या करते हुए चरक ने कहा है—

अणुत्वमथ चैकत्वं द्वौ गुणौ मनसः स्मृतौ।

[मनके दो गुण हैं--अणुत्व और एकत्व अर्थात् मन अत्यन्त सूक्ष्म है और एक है।] [चरकशास्त्र अ० १ श्लोक १८]

मायावादी वेदान्ती मनको इन्द्रिय नहीं मानते किन्तु सांख्यवादी और नैयायिक दोनों ही मनको इन्द्रिय मानते हैं।

मनकी वृत्तियाँ

किसी विषयके साथ सम्पर्क होते ही हमारा मन जो उस विषयका रूप धारण कर लेता है उस रूप धारण करनेकी क्रियाको ही वृत्ति कहते हैं अर्थात् देहमें रहनेवाली इन्द्रियों और बाहर रहनेवाले विषयोंका जैसा सम्बन्ध

होता चलता है वैसी ही मनकी अवस्था होती चलती है। इसीको क्रोचेने सात्विक अभिव्यंजना (सब्जेक्टिव एक्सप्रेशन) कहा है। मनके इसी परिणाम या वृत्तिको ही ज्ञान कहते हैं। संसारमें जितने विषय हैं या हो सकते हैं उतनी ही वृत्तियाँ भी हैं या हो सकती हैं।

पातंजल दर्शनने कहा है—'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।' चित्त अर्थात् मनोवृत्तिके समूहको रोकनेका नाम ही योग है। ये मनोवृत्तियाँ इतनी अगणित हैं कि इनकी गिनती नहीं हो सकती। किन्तु इन वृत्तियोंको दो श्रेणियोंमें बाँधा जा सकता है—क्लिष्ट और अक्लिष्ट। जिन वृत्तियोंसे क्लेश मिलता हो उन्हें क्लिष्ट कहते हैं जैसे—राग, द्वेष, काम, क्रोध, आदि; जिन वृत्तियोंसे क्लेश दूर होता हो और सुख मिलता हो उन्हें अक्लिष्ट कहते हैं जैसे—श्रद्धा, भक्ति, वैराग्य, मैत्री और करुणा आदि। इनमेंसे क्लिष्ट वृत्तियाँ तो त्याज्य हैं और अक्लिष्ट वृत्तियाँ उपादेय हैं।

वृत्तियों के प्रकार

इन सब वृत्तियोंके पाँच प्रकार हैं—प्रमाण-वृत्ति, विपर्यय-वृत्ति, विकल्प-वृत्ति, निद्रा-वृत्ति और स्मृति-वृत्ति।

हमारी मनोवृत्ति जब किसी वस्तुका अवलम्बन करके उसका ज्योंका त्यों रूप लेकर उत्पन्न होती है तब वह प्रमाण या सत्यवृत्ति कहलाती है। ये प्रमाणवृत्तियाँ भी तीन प्रकारकी होती हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम। इसी वृत्तिको साधनेसे सत्य ज्ञान होता है।

जो ज्ञान मिथ्या होता है और विषयके दर्शनके पश्चात् कुछ और प्रकारका हो जाता है उसे विपर्यय कहते हैं, अर्थात् जब मनकी वृत्ति, वस्तु या विषयसे भिन्न प्रकारकी बन जाती है तभी विपर्यय (उलटा या भ्रम हो जाता है। इसी वृत्तिके कारण रस्सीको साँप, सीपको चाँदी और मरीचिकाको जल समझ लिया जाता है।

जब वास्तवमें कोई वस्तु होती तो नहीं किन्तु केवल शब्द कहनेसे ही एक प्रकारकी मनकी वृत्ति उत्पन्न हो जाती है उसे विकल्प कहते हैं, जैसे आकाश-कुसुम कोई वस्तु नहीं है फिर भी आकाश-कुसुम कहनेसे मनमें जो वृत्ति उत्पन्न होती है वही विकल्प-वृत्ति या कल्पना-वृत्ति है।

मनकी जिस वृत्तिमें सब पदार्थ लीन हो जाते हैं वह अज्ञानका आश्रय लेकर उदित होनेवाली मनकी वृत्ति ही निद्रा या सुषुप्ति कहलाती है अर्थात् प्रकाशमय स्वभाववाले सत्त्वगुणको ढकनेवाली तमोगुणकी अवस्थाको ही निद्रा कहते हैं। इसके उदय होनेपर सब वस्तुओंका प्रकाशक सत्त्वगुण दब जाता है। इसीलिये लोग कहते हैं—'मुझे स्मरण नहीं है, मैंने नींदमें कह दिया होगा।'

जिस विषय या वस्तुका एक बार अनुभव हो गया हो अर्थात् जो वस्तु या विषय एक बार प्रमाण-वृत्तिपर चढ़ गया हो वह संस्कार बनकर जम जाता है। इस संस्कार जमनेको ही स्मृति-वृत्ति कहते हैं। पातंजल दर्शनके अनुसार इन पाँचोंके अतिरिक्त मनकी और कोई वृत्ति नहीं है। इन पाँचों प्रकारकी मनोवृत्तियोंको यदि कोई रोक सके तो सांसारिक दु:ख दूर हो जाता है। ये मनोवृत्तियाँ इतनी प्रबल हैं कि सरलतासे वशमें नहीं लाई जा सकतीं, केवल अभ्यास और वैराग्य ही इन्हें वशमें ला सकते हैं।

मनकी अवस्थाएँ

योगशास्त्रवालोंका कहना है कि यद्यपि मनोवृत्तियाँ असंख्य हैं पर उनकी अवस्थाएँ केवल पाँच ही हैं—क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। मनकी अस्थिरता और चंचल अवस्थाको ही क्षिप्तावस्था कहते हैं। जोंकके समान एकको छोड़कर दूसरेको और दूसरे को छोड़कर तीसरेको पकड़नेके फेरमें मनके रहनेको ही क्षिप्तावस्था कहते हैं। साधारणतः मन क्षिप्तावस्थामें ही रहता है इसीलिये मनको चंचल बताया गया है।

जब कर्तव्य और अकर्तव्यका विवेक छोड़कर मनुष्य काम, क्रोध, निद्रा, तन्द्रा, आलस्य आदि तमोमय या अज्ञानमय अवस्थामें रहता है उसे मूढावस्था (नासमझीकी अवस्था) कहते हैं।

जब अपनी चंचलताके बीचमें मन कुछ कालके लिये स्थिर हो जाता है और वह दुःखजनक विषयोंका परित्याग करके सुखजनक वस्तुमें स्थिर होकर निरवलम्बके समान हो जाता है या केवल सुखके आस्वादनमें ही मग्न रहता है, उसे विक्षिप्तावस्था (सनकीपन) कहते हैं।

जब मन किसी बाहरी वस्तु या मनके भीतरकी किसी भावनाका आश्रय लेकर निश्चल दीपककी लौके समान स्थिर होकर उसीमें लग जाता है अर्थात् मन जब रज और तम भाव दूर करके केवल सात्त्विक वृत्तिमें रम जाता है, उस समय मनकी एकाग्र या एकतान अवस्था होती है। अध्ययनके लिये मनकी यही अवस्था चाहिए।

जब मन पूर्ण रूपसे निश्चेष्ट हो जाता है और जले हुए डोरेके समान केवल संस्कार भर रह जाता है तब मनकी निरुद्धावस्था होती है। एकाग्र-अवस्था और निरुद्धावस्थामें यही अन्तर होता है कि एकाग्र अवस्थामें तो मनका कोई न कोई अवलम्ब रहता है अर्थात् वह किसी एक वस्तुकी ओर लगा रहता है किन्तु निरुद्धावस्थामें वह भी नहीं रहता। इसे यों समझना चाहिए कि इस अवस्थामें मनका लोप हो जाता है।

मनके धर्म

भारतीय वैद्यक शास्त्रमें मनकी उत्पत्ति और उसके धर्मका विवरण देते हुए कहा गया है कि त्रिगुणात्मक महत्तत्त्वसे तीन प्रकारका त्रिगुणान्वित अहंकार उत्पन्न होता है—सात्त्विक, राजसिक और तामसिक। राजस अहंकारके साथ सात्त्विक अहंकारके मेलसे ग्यारह इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं—पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय और मन। मनके सहारे ही सब इन्द्रियाँ अपना-अपना काम करती हैं। इसलिये मनको बुद्धीन्द्रिय (ज्ञानेन्द्रिय) और कर्मेन्द्रिय दोनों कहते हैं। मनका विषय ज्ञान है। वह इन्द्रियोंके सहारे बाह्य ज्ञान प्राप्त करता है अर्थात् आँख, कान आदि इन्द्रियाँ जो देखने-सुननेका काम करती हैं वह भी मनकी प्रेरणासे करती हैं और जो देखती-सुनती हैं उसे भी मनके पास पहुँचा देती हैं और मन उसे आत्माके पास पहुँचा देता है।

तीन प्रकारका मन

त्रिगुणात्मिका प्रकृतिसे उत्पन्न होनेवाला यह मन तीन प्रकारका होता है—सात्त्विक, राजसिक और तामसिक।

सात्त्विक मनके लक्षण हैं—

आस्तिक्यं प्रविभज्य भोजनमनुत्तापश्च तथ्यं वचो-
मेधाबुद्धिधृतिक्षमाश्च करुणा ज्ञानश्च निर्दम्भता ।
कर्मानिन्दितमस्पृहञ्च विनयो धर्मः सदैवादरा-
देते सत्त्वगुणान्वितस्य मनसो गीता गुणा ज्ञानिभिः ॥
[भावप्रकाश पूर्व खंड]

[आस्तिकता (मोक्ष और परलोक आदिमें श्रद्धा), सदसद्-विवेचनाके साथ भोजन, अक्रोध, सत्यवाक्यका प्रयोग, मेधा, बुद्धि, धृति, क्षमा, करुणा, आत्मतत्त्व-ज्ञान, दम्भका अभाव, काम, क्रोध और लोभ आदिसे दूर रहकर पवित्र कर्मका आचरण, अस्पृहा, विनय और यत्नपूर्वक धर्मका अनुष्ठान, ये सब सात्त्विक मनके कार्य हैं ।]

राजसिक मनका लक्षण

क्रोधस्ताडनशीलता च बहुलं दुःखं सुखेच्छाधिका ।
दम्भं कामुकताप्यलीकवचनं चाधीरता दुष्कृतिः ॥
ऐश्वर्यादभिमानितातिशयितानन्दोऽधिकश्चाटनम् ।
प्रख्याता हि रजोगुणेन सहितस्यैते गुणाश्चेतसः ॥
[भावप्रकाश पूर्व खंड]

[क्रोध, मारपीट, अत्यन्त दुःख देने और सुख पानेकी इच्छा, दम्भ, कामुकता, झूठ बोलना, अधीरता, अहंकार, ऐश्वर्यमें अतिशय अभिमान, अधिक आनन्द और परिभ्रमण—ये सब राजसिक मनके लक्षण हैं । जिनका मन रजोगुणवाला होता है वे इन सब कार्योंमें प्रवृत्त होते हैं ।]

तामसिक मनका लक्षण

नास्तिक्यं सुविषण्णतातिशयितालस्यञ्च दुष्टा मतिः ।
प्रीतिर्निन्दितकर्मशर्मणि सदा निद्रालुताहर्निशम् ॥
अज्ञानं किल सर्वतोऽपि सततं क्रोधान्धता मूढता ।
प्रख्याता हि तमोगुणेन सहितस्यैते गुणाश्चेतसा ॥
[भावप्रकाश पूर्व खंड]

[नास्तिकता, अतिशय दुखी रहना, अधिक आलस्य, दुष्ट बुद्धि, सदा

निन्दित कर्मसे उत्पन्न सुखमें प्रीति, दिनभर सोना, अज्ञानता, सदा क्रोध और मूर्खता करना, ये सब तामसिक मनके लक्षण हैं। जिनके मन तमोगुणवाले होते हैं, वे ही ऐसे कर्म करते हैं।]

जीवात्मा और मन

जीवात्मा जब मनसे संयुक्त होता है तभी पाप-पुण्य तथा सुख-दुःख आदिका अनुभव करता है। मनसे संयुक्त जीवमें इसीलिये इच्छा, द्वेष, दुःख, सुख, विषयोंका ज्ञान, प्रयत्न, संकल्प, विचारणा, स्मृति, बुद्धि, कलाविज्ञता, प्राण-वायुका ऊपर उठाना, अपान वायुको नीचे भेजना, नेत्र खोलना और बन्द करना तथा कोई काम करनेका उत्साह आदि गुण पाए जाते हैं। इसलिये योरोपीय मानस-शास्त्रियोंका यह कथन नितान्त भ्रामक है कि कुल-परम्परा और वातावरणके ही आधारपर मनका संस्कार होता है।

सुश्रुतने लिखा है कि अहंकारसे ग्यारह इन्द्रियोंकी उत्पत्ति होती है और प्रत्येक इन्द्रियका अधिष्ठातृ देवता चन्द्रमा है। ज्यौतिष शास्त्रमें भी चन्द्रमाको ही मन माना है और मनके शुभ और अशुभका निश्चय चन्द्रमाकी स्थितिके कारण ही निश्चय किया जाता है।

.........कलात्मा दिनकृन्मनस्तु हिमगुः सत्त्वं कुजो ज्ञो वचः।

[बृहज्जातक]

[आत्मा सूर्य है, मन चन्द्रमा है, बल मंगल है और बुध वाणी है।]

उपर्यंकित विवरणसे स्पष्ट हो जायगा कि वैद्यक ग्रन्थोंने मनकी उत्पत्ति-स्वरूपका विवरण वही दिया है जो सांख्य शास्त्रमें है। वैद्यक शास्त्रके अनुसार गर्भमें स्थित भ्रूण जब पाँच मासका हो जाता है तब उसमें मन उत्पन्न हो जाता है और तभीसे वह भ्रूण जीव कहलाने लगता है क्योंकि जीव मनकी सहायतासे ही काम करता है।

मनके गुण

महाभारतमें मनके नौ गुण बताए गए हैं—

धैर्योपपत्तिर्व्यक्तिश्च विसर्गः कल्पना क्षमा।
सदसच्चाशुता चैव मनसो नव वै गुणाः॥

अध्यात्मनं मनः इत्याहुः पंचभूतात्मधारकम् ।
अधिभूतञ्च संकल्पश्चन्द्रमाश्चाधिदैवतम् ॥

[महाभारत अश्वमेध पर्व अ० ४२

[धैर्य, उपपत्ति, स्मरण, भ्रान्ति, कल्पना या मनोरथ वृत्ति, क्षमा, सत् या वैराग्य आदि अच्छे गुण, असत् या रागद्वेष आदि बुरे गुण और स्थिरता ये मनके नौ गुण हैं। यह मन अध्यात्म-तत्त्व है। यह पंचभूतोंको धारण करता है। इसीसे संकल्प होते हैं और इसका दैवत चन्द्रमा है।] इसके स्वरूपका वर्णन करते हुए ब्रह्मवैवर्त-पुराणके प्रकृति खंडके तेईसवें अध्यामें कहा गया है—

अनिरूप्यमदृश्यं च ज्ञानभेदं मनः स्मृतम् ।

[जिसका निरूपण नहीं किया जा सकता और जिसे देखा नहीं जा सकता और केवल ज्ञान-द्वारा ही जिसका अनुमान किया सकता है वही मन है।]

नैयायिकोंके मतसे मनके आठ गुण हैं—संख्या, परिमिति, पृथक्त्व, संयोग, वियोग, परत्व, अपरत्व और वेग।

मनका विषय

चरकने मनके विषयोंका निरूपण करते हुए लिखा है—

चिन्त्यं विचार्यमूह्यंच धैर्यं संकल्पमेव च ।

[चरकशास्त्र अ० १, श्लोक १६]

[चिन्ता करना, विचार करना, तर्क करना, ध्यान करना, संकल्प करना और सुख-दुःख आदिका अनुभव ही मनके विषय हैं।]

मनका कर्म

चरकने मनके कार्योंका विवरण देते हुए कहा है—

इन्द्रियाभिज्ञः कर्म मनसस्त्वस्य निग्रहः ।
ऊहो विचारश्च......... [चरक शास्त्र अ० १ श्लोक २०।]

[इन्द्रियोंमें अधिष्ठित होना, उन्हें अहित विषयसे रोकना, तर्क-वितर्क करना और विचार करना ये मनके कर्म हैं।]

इसी प्रसंगमें चरकने बताया है कि मन स्वयं चेतन नहीं है। चेतन शक्ति तो आत्मामें ही है। आत्मा और मनका सम्बन्ध बताते हुए उन्होंने कहा है—

अचेतनं क्रियावच्च मनश्चेतयिता परः।
युक्तस्य मनसस्तस्य निर्दिश्यन्ते विभो क्रिया॥
चेतनावान् यतश्चात्मा ततः कर्त्ता निरुच्यते।
अचेतनत्वात् मनः क्रियावदपि नोच्यते॥

[चरक शास्त्र अ० १, श्लोक ७४-७५]

[मन अचेतन या जड है किन्तु क्रियावाला है। आत्मा चेतन है, चेतना देनेवाला है। वह विभु आत्मा ही जब मनसे संयुक्त होता है तब उसकी क्रिया ही आत्माकी क्रिया कहलाती है। चेतनायुक्त होनेके कारण आत्मा ही कर्त्ता है और जड होनेके कारण क्रियायुक्त होनेपर भी मन कर्त्ता नहीं माना जाता।]

ऊपर बताया जा चुका है कि शरीरमें सुख-दुःख आदिकी उत्पत्ति मनके कारणसे ही होती है।

वेदनानामधिष्ठानं मनो देहश्च सेन्द्रियः।

[चरक शास्त्र अ० १, श्लोक १३५]

[इन्द्रियसे युक्त देह अर्थात् यह जीवित शरीर और मन ही वेदनाओंके आश्रय-स्थल हैं। ये वेदनाएँ ही प्रज्ञापराधके कारण प्रकुपित होकर मनुष्यको कष्ट दिया करती हैं

प्रज्ञापराध

धीधृतिस्मृतिविभ्रष्टः कर्म यत् कुरुतेऽशुभम्।
प्रज्ञापराधं तं विद्यात् सर्वदोषप्रपोषणम्॥

[चरकशास्त्र अ० १, सूत्र ११]

[जिस मनुष्यकी धी, धृति और स्मृति भ्रष्ट हो जाती हैं वह जो अनेक अशुभ कर्म करने लगता है वे ही प्रज्ञापराध कहलाते हैं और उन्हींसे अनेक प्रकारकी शारीरिक और मानसिक व्याधियाँ हो जाती हैं।]

योरोपीय मानसशास्त्री भी इतना तो मानते ही हैं कि मनकी विशेष ग्रन्थियोंके कारण और मानसिक अतृप्तियोंके कारण अनेक प्रकारके मानसिक रोग होते हैं किन्तु जिस विस्तारके साथ हमारे यहाँके आयुर्वेदाचार्योंने इस विषयकी मीमांसा की है उतने विस्तार और सूक्ष्मताके साथ विदेशियोंने नहीं की। हमारे यहाँ धी-भ्रंश, धृति-भ्रंश और स्मृति-भ्रंशका स्पष्ट विवेचन करके उनसे उत्पन्न होनेवाली वृत्तियोंके साथ होनेवाले कर्मका भी स्पष्ट विवेचन कर दिया गया है।

धी-भ्रंश

बुद्धिका काम ही है नित्यको नित्य, अनित्यको अनित्य, हितको हित और अहितको अहित समझना। इस सम अर्थात् यथार्थ ज्ञानको ही धी या बुद्धि कहते हैं। जब इस कार्यमें विपर्यय होता है अर्थात् जब मनुष्य हितको अहित, अहितको हित, नित्यको अनित्य और अनित्यको नित्य समझने लगता है तब समझना चाहिए कि उसे बुद्धि-विभ्रंश हो गया है—

विषमाभिनिवेशो यो नित्यानित्ये हिताहिते।
ज्ञेयः स बुद्धिविभ्रंशः समं बुद्धिर्हि पश्यति॥

[चरक शास्त्र, अ० १, सूत्र ९९]

स्मृतिविभ्रंश

रज और मोहसे आच्छादित आत्मावाले पुरुषकी स्मृति जब तत्त्वज्ञानके पास नहीं आती तब वह अवस्था स्मृतिभ्रंश कहलाती है। अमुक कार्य करनेपर मुझे यह लाभ हुआ, अमुक पाप या दुष्कर्म करनेपर मुझे यह कष्ट हुआ, इस प्रकारके ज्ञानको ही स्मृति कहते हैं। जिस व्यक्तिकी स्मृति भ्रष्ट हो जाती है, वह बार-बार दुःखप्रद कार्य करके स्वयं दुखी होता है। ऐसे स्मृति-भ्रष्ट पुरुष जो कार्य करते हैं वे सब प्रज्ञापराध कहलाते हैं।

स्मृति

स्मृति या स्मरण उस संस्कार-जन्य ज्ञानको कहते हैं जो किसी कार्यके समय संस्कार रूपसे चित्तमें बँध जाता है और आगे चलकर किसी विशेष

कारणसे उस संस्कारका पुनः ज्ञान हो जाता है। भाषा-परिच्छेदमें लिखा है कि ज्ञान दो प्रकारका होता है—अनुभूति या अनुभव तथा स्मृति या स्मरण। पूर्व संस्कारजन्य किसी विशेष ज्ञानको स्मरण कहते हैं। जिस विषयका अनुभव नहीं होता उसका स्मरण भी नहीं होता। स्मरण केवल उसीका होता है जिसका अनुभव हो चुका होता है। पातंजल दर्शनने स्मृति या स्मरणको एक चित्तवृत्ति माना है अर्थात् अनुभूत वस्तुके सम्बन्धकी वृत्तिको ही उन्होंने स्मृति कहा है—

अनुभूतविषया सम्प्रमोक्षः स्मृतिः।

[पातंजल दर्शन १०११]

विपर्यय, निमित्तरूप ग्रहण, सादृश्य, तत्त्वानुबंध, अभ्यास, ज्ञानयोग, पुनःश्रुत और देखे-सुने हुएका प्रसंग (दृष्टश्रुतानुबंध) इन आठ कारणोंसे स्मृति या स्मरण होता है। भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें कहा है—

क्रोधाद्भवतिसम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥

[क्रोधसे सम्मोह होता है अर्थात् मनुष्यकी समझ जाती रहती है, समझ जाती रहनेसे स्मृति-विभ्रम हो जाता है, स्मृति नष्ट होनेसे बुद्धिका नाश होता है और बुद्धिनाशसे मनुष्य नष्ट हो जाता है।]

धृतिविभ्रंश

धृतिका काम है मनको वशमें रखना। इसे फ्रौयडकी भाषामें 'इगो' कह सकते हैं। चरकका मत है कि जब धृतिभ्रंश होता है तब विषयोंकी ओर झुका रहनेवाला चित्त अहित विषयोंकी ओरसे रोका नहीं जा सकता—

विषयप्रवणं चित्तं धृतिभ्रंशान्न शक्यते।
नियंतुमहितादर्थाद्धृतिर्हि नियमात्मिका॥

[चरकशास्त्र अ० १ सू० ६९]

ऊपर जो लक्षण दिए गए हैं उनसे स्पष्ट हो जाता है कि धी, धृति और स्मृतिभ्रंश किन अवस्थाओंमें होता है। इनसे जो अहित होता है और इनसे

जो अशुभ कर्म मनुष्य करने लगता है उसका विवरण भी वहीं इस प्रकार दिया गया है—

उदीरणं मतिमतामुदीर्णानाञ्च निग्रहः ।
सेवनं साहसानांच नारीणां चापि सेवनम् ॥
कर्मकालातिपातश्च मिथ्यारम्भश्च कर्मणाम् ।
विनयाचारलोपश्च पूज्यानां चाभिधर्षणम् ॥
ज्ञातानां स्वयमर्थानामहितानां निषेवणम् ।
अकालादेशसंचारो मैत्री संक्लिष्टकर्मभिः ॥
इन्द्रियोपक्रमोत्कस्य सद्वृत्तस्य च वर्जनम् ।
ईर्ष्या-मान-भय-क्रोध-लोभ-मोह मद-भ्रमः ॥
तज्जं वा कर्म यत्क्लिष्टं यद्वा तद्देहकर्म च ।
यच्चान्यदीदृशं कर्म रजोमोहसयुक्तिकम् ॥
प्रज्ञापराधं तं शिष्टा ब्रुवते व्याधिकारकम् ।

[चरक शास्त्र अ० १ श्लोक १०२ से १०७]

[बुद्धिमानोंके बताए हुए मार्गसे उलटा चलना, बुरे काम करना, स्त्रियोंका अधिक सेवन करना, ठीक समयपर ठीक काम न करना, दिखावटी काम करना, विनय और आचार छोड़ देना, पूज्योंकी निन्दा करना, अपने मनसे निश्चय किए हुए अहित कामोंमें लगना, बिना समयके अनुचित देशोंमें घूमना, बुरे काम करनेवालोंसे मित्रता करना, अच्छे काम छोड़ देना, ईर्ष्या, अभिमान, भय, क्रोध, लोभ, मोह, मद और भ्रममें पड़ना, इन दोषोंसे उत्पन्न कर्म करना अथवा ऐसे कर्म करना जो रजोगुण और तमोगुणसे उत्पन्न हों। ये सब कर्म प्रज्ञापराध और कष्ट देनेवाले होते हैं।]

यह प्रज्ञापराध उसी समय होता है जब मन वशमें नहीं रहता और ऐसी स्थितिमें—

आत्मेन्द्रिय-मनोरथां सन्निकर्षात्प्रवर्तते ।
सुखदुःखं.......... [चरक शास्त्र अ० १, श्लोक १३७]

[जब मनका सम्पर्क इन्द्रियसे होता है और इन्द्रियका सम्पर्क विषयसे

हो जाता है तब प्रज्ञापराध हो जाता है और यह प्रज्ञापराध ही दुःखका कारण है। इसलिये यदि दुःखसे बचना हो और अनन्त सुख प्राप्त करना हो तो मनको स्थिर करना होगा और मनको अपने वशमें करके आत्मरतिकी ओर लगाना होगा।]

सुखदुःखमनारम्भात् आत्मस्थे मनसि स्थिरे।
निवर्तते तदुभयं वशित्वं चोपजायते॥
सशरीरस्य योगज्ञास्तं योगं मुनयो विदुः।

[चरक अ० १, श्लोक १३७–१३८]

मनकी शुद्धि

[जब मन स्थिर भावसे आत्मामें स्थित हो जाता है और वह स्वयं कोई कार्य नहीं करता तब सुख मिलता है और दुःख दूर हो जाते हैं और तब वह पुरुष शरीरयुक्त होनेपर भी वशी हो जाता है। मुनि लोग चित्तकी इस वृत्तिके निरोधको ही योग कहते हैं] और जब मनुष्य मनको वशमें कर लेता है तब—

योगमोक्षे च सर्वासां वेदनानामवर्तनम्।
मोक्षे निवृत्तिर्निःशेषा योगो मोक्षप्रवर्तकः॥

[चरक अ० १ श्लोक १३९]

[योग और मोक्षमें सारे दुःख समाप्त हो जाते हैं। योग ही मोक्षका प्रवर्तक है और मोक्षमें पूरी निवृत्ति हो जाती है।]

मनको आत्मामें स्थिर करनेका उपाय बताते हुए कहा गया है कि मनकी शुद्धि कर लेनी चाहिए अर्थात् मनमे रज और तम गुण निकालकर मनको सत्त्वगुणसे युक्त कर लेना चाहिए और इसके लिये अपने गुरुके कथनानुसार चलना, उनका अभिगमन करना, अग्निसेवा, धर्मशास्त्रका अध्ययन, उसमें बताई हुई बातोंका ठीक ज्ञान, उससे अपनी इन्द्रियका निग्रह, उसमें बताए हुए काम करना, सज्जनोंके पास बैठना, दुष्टोंसे दूर रहना, दुर्जनोंकी संगति छोड़ देना, सत्य व्यवहार करना, सब प्राणियोंकी सेवा करना, कोमल व्यवहार

करना, समय देखकर बात करना और सब प्राणियोंको अपने समान समझना आवश्यक है।

[चरक अ० ५ सूत्र ११]

जैसे तेल, वस्त्र और राल आदिसे माँज देनेपर दर्पण शुद्ध हो जाता है वैसे ही ऊपर बताए हुए उपायोंसे मन शुद्ध हो जाता है अर्थात् मनसे रज और तम नष्ट हो जाते हैं और सत्त्व गुण प्राप्त हो जानेसे मन अपने स्वरूपको प्राप्त हो जाता है क्योंकि सत्त्वगुणमय होना ही मनका वास्तविक स्वरूप है इसीलिये मनको सत्त्व भी कहते हैं। शुद्ध सत्त्व हो जानेपर मनुष्यके भीतर सत्त्व बुद्धि आ जाती है जिससे मनुष्य महामोहमय अन्धकारको नष्ट कर डालता है और वह सब भावोंके स्वभावका ज्ञाता, निःस्पृह और सत्या बुद्धिके द्वारा योगकी सिद्धि और तत्त्वज्ञान प्राप्त करता है, अहंकार-हीन होकर कारण-रहित या उत्पत्ति-रहित हो जाता है और प्रकृतिसे अलग हो जाता है। इसके पश्चात् वह सबको छोड़-छाड़कर नित्य, अजर शान्त और अक्षर ब्रह्मको प्राप्त कर लेता है। इस सत्या बुद्धिके ही अनेक नाम है—विद्या, सिद्धि, मति, मेधा, प्रज्ञा और ज्ञान। जो इस प्रकार शुद्ध सत्त्व या शुद्ध मनवाला मनुष्य होता है उसके शरीर और इन्द्रियोंमें कोई सयोग नहीं रह जाता अर्थात् वह पुनर्जन्म नहीं प्राप्त करता।

रज और तम ही बन्धनके कारण हैं। यदि ये दोष न रहें तो पुरुष मुक्त हो जाय और अनेक प्रकारके व्याधि-जन्य कष्टोंसे छुटकारा पा जाय।

इस प्रकार आयुर्वेदके मतानुसार सब दुःख और व्याधियोंका कारण दूषित मन ही है। यदि मन शुद्ध हो तो सब ज्ञान प्राप्त हो जाता है। यह मन सत्या बुद्धिसे ही शुद्ध होता है।

बुद्धि

बुद्धि तीन प्रकारकी बताई गई है—सात्विक, राजसिक और तामसिक। जिसके द्वारा प्रवृत्ति, निवृत्ति, कर्तव्य, भय, अभय, बन्धन और मोक्ष जाना जा सके उसे सात्त्विकी बुद्धि; जिसके द्वारा धर्म, अधर्म, कार्य और अकार्यको भली भाँति बिना जाने-सुने ठीक-ठीक ज्ञान न हो उसे राजसी बुद्धि और

जिसके द्वारा अधर्मको धर्म और अकर्तव्यको कर्त्तव्य समझ लिया जाय उसे तामसी बुद्धि कहते हैं।

बुद्धिके गुण

महाभारतके मोक्ष पर्वमें बुद्धिके पाँच गुण बताए गए हैं—१. इष्ट और अनिष्ट, २. वृत्तियोंका नाश या निद्रावृत्ति, ३. व्यवसाय (उत्साह) और समाधिकता या चित्तकी स्थिरता, ४. संशय ५. प्रतिपत्ति। हेमचन्द्रने बुद्धिके सात गुण बताए हैं—शुश्रूषा, श्रवण, ग्रहण, धारण, ऊह, अपोह और अर्थविज्ञान और उसकी पाँच वृत्तियाँ बताई हैं—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति।

बुद्धिके भेद

बुद्धि दो प्रकारकी मानी गई है—नित्या और अनित्या। परमात्माकी बुद्धि नित्या कहलातो है और जीवकी बुद्धि अनित्या। इन दोनोंके भी दो-दो प्रकार हैं—स्मृति-बुद्धि और अनुभव-बुद्धि। इनके भी दो दो प्रकार हैं—यथार्थ और अयथार्थ। अनुभवके चार भेद हैं—प्रत्यक्ष, अनुमति, उपमिति और शब्द। सांख्यके मतसे त्रिगुणात्मिका प्रकृतिकी प्रथम विकृति ही बुद्धि है जिसे महत्तत्त्व कहते हैं।

बु"का नाश

कालिका पुराणमें बुद्धिक्षय और बुद्धिके नाशका कारण लिखा है—शोक, क्रोध, लोभ, काम, मोह, ईर्ष्या, मान, विचिकित्सा, कृपा, असूया और जुगुप्सिता। ये बारह मनके मैल ही बुद्धिनाशके कारण बताए गए हैं।

चित्त

वेदान्त-सारमें लिखा है कि निश्चयात्मिका अन्तःकरण-वृत्तिको ही बुद्धि और संकल्प-विकल्पात्मिका अन्तःकरण-वृत्तिको ही मन कहते हैं। वास्तवमें चित्त और अहंकार दोनों ही बुद्धि और मनकी दो वृत्तियाँ है। अनुसंधानात्मक अन्तःकरण-वृत्तिको चित्त और अभिमानात्मक अन्तःकरण-वृत्तिको मन कहते हैं। चार्वाकने तो मनको ही आत्मा मान लिया है किन्तु उसका मत अन्य किसीने नहीं माना। पंचदशीका मत है कि ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियोंपर नियमन करनेवाला मन हृत्पद्म-गोलकमें है। इसीको अन्तःकरण कहते हैं। यह मन आन्तरिक कार्यमें तो स्वतंत्र है किन्तु बाह्य विषयोंमें यह इन्द्रियोंके अधीन रहता है। यह मन सत्त्व, रज और तम गुणोंसे युक्त होता

है और इन्हींके कारण उसमें विकृति भी होती है। वैराग्य, क्षमा, उदारता आदि सत्त्वगुणके विकार हैं। काम, क्रोध, लोभ और विषयोंके व्यापार रजोगुणके विकार हैं। आलस्य, भ्रान्ति और तन्द्रा आदि तमोगुणके विकार हैं। पंचभूतके सत्त्वगुणकी समष्टिसे ही अन्तःकरणकी उत्पत्ति होती है। इस अन्तःकरणके संशयात्मक भावको मन और निश्चयात्मक वृत्तिको बुद्धि कहते हैं।

योगवाशिष्ठके अनुसार असम्यक् दर्शनसे अनात्म शरीर आदिमें जो आत्मदर्शन होता है और अवस्तुमें जो वस्तुका ज्ञान प्रतीत होता है वही चित्त है। भाव-अभावकी अवस्था, दुःख और आशाके वशमें रहनेवाले इस शरीरका बीज ही चित्त है। इस चित्तके दो बीज हैं—प्राण-स्पन्दन और कठिन भावना। प्राणस्पन्दनसे चैतन्य रुद्ध हो जाता है और दुःख बढ़ता है। भावनाके द्वारा भव्य वस्तुका बोध होता है और पुरुष वासना-विह्वल होकर उस वस्तुके तत्त्वज्ञानमें उलझ पड़ता है। इसीलिये योगी लोग प्राणायाम और ध्यानसे प्राणस्पन्दन रोकते हैं। प्राणका स्पन्दन रोकनेसे चित्तको विमल शान्ति मिलती है। इसी प्रकार चित्तसे यदि सांसारिक भावना निकल जाय और उसके बदले मायातीत परम पुरुषकी भावना की जाय तो अचित्-तत्त्व या चित्त-शून्यता हो जाती है। इस प्रकार भावना और प्राणस्पन्दनमेंसे किसी एकका भी लोप हो जाय तो दोनों नष्ट हो जाते हैं।

क्षणिकवादी बौद्धोंका कहना है कि जैसे अग्नि अपने-आपको प्रकाशित करके दूसरी वस्तुको भी प्रकाशित करती है वैसे ही चित्त भी स्वप्रकाश और विषय-प्रकाश दोनों है। इस चित्तसे भिन्न कोई आत्मा नहीं होता।

पतंजलिका मत है कि चित्त स्वप्रकाश नहीं हो सकता क्योंकि चित्त दृश्य है और इन्द्रिय या शब्द आदिकी भाँति दृश्य होनेके कारण वह स्वप्रकाश नहीं हो सकता। उसका प्रकाशक आत्मा ही है। वैयासिक भाष्यकारका मत है कि चित्त और प्राणके पारस्परिक सहयोगसे ही मन योगसाधन करता है।

मन, बुद्धि, चित्त और आत्माका यह परिचय और उनका सम्बन्ध समझ लेनेपर ही मानस-शास्त्रका ठीक परिज्ञान हो सकता है। योरोपीय मानस-शास्त्र इस दृष्टिसे अत्यन्त पिछड़ा हुआ और अपूर्ण है।

४

योरोपीय मानस-शास्त्र

अँगरेज़ोके साइकौलौजी शब्द का अर्थ है 'आत्माका विज्ञान' [साइक = आत्मा, लोगस = विज्ञान] इसीलिये प्रारंभमें मनोविज्ञान (साइकोलौजी) के अन्तर्गत इसी बातपर विचार होता था कि आत्मा क्या है, कहाँसे आया है, शरीरसे उसका क्या संबंध है, उसकी प्रकृति क्या है और उसका क्या होता है। इस प्रकार मनोविज्ञान प्रारंभमें आध्यात्मिक ही था और इसीलिये वह तर्कपूर्ण या बुद्धिपरक विज्ञान (रेशनल साइन्स) था किंतु आजका मनोविज्ञान प्रयोगात्मक (एम्पिरिकल) है जो आत्माके संबंधमें विचार न करके मानसिक प्रक्रियाओंका विवेचन करता है और व्यक्तिके अनुभव और व्यवहारका ही अध्ययन करता है। अनुभवकी अभिव्यक्ति ही व्यवहार है और इस अनुभवका संबंध किसी विषय या प्रयोगसे अर्थात् कार्य-कारण संबंधसे ही होता है। अतः, वर्तमान मनोविज्ञानमें अनुभव और व्यवहारकी प्रकृति और उसके विस्तारको ही समझनेका प्रयत्न किया जाता है।

क्या मानस-शास्त्र विज्ञान है ?

मानस-शास्त्रियोंका कहना है कि मानस-शास्त्र भी मनका विज्ञान है क्योंकि इसमें भी मनकी अभिव्यक्तियों तथा मनकी प्रक्रियाओंका विवेचन किया जाता है। निरीक्षण (औब्ज़र्वेशन), प्रयोग (एक्स्पैरिमेंट), तुलना (कम्पैरिज़न) और वर्गीकरण (क्लासिफ़िकेशन) के द्वारा अनुसंधान करके किसी भी विषयके सत्य और व्यवस्थित ज्ञानकी स्थापनाको ही विज्ञान कहते हैं। किंतु जब मानस-शास्त्री लोग आजतक यही नहीं निश्चय कर पाए कि मन है क्या और शरीरके किस भागमें रहता है तब वे उसकी स्थितियों और प्रक्रियाओंका क्या अध्ययन करेंगे? नास्ति मूलः कुतो शाखा। जिसकी जड़ नहीं उसकी शाखा कहाँसे आवेगी। इसके उत्तरमें वे कहते हैं कि

मनकी प्रक्रियाएँ तो हमें ज्ञात होती ही हैं। अतः उन प्रक्रियाओंका विवेचन करना ही मनका विज्ञान हो गया है। मनोविज्ञानको वे प्राकृतिक विज्ञान (नेचुरल साइन्स) मानते हैं और कहते हैं कि उसमें एक निश्चित विषय 'मन'का अध्ययन होता है, अतः यह प्राकृतिक विज्ञान है, दर्शन नहीं। किंतु जब मनका ही कोई ठिकाना नहीं और उसके संबंधमें यही निर्णय नहीं हो पाया कि मन है कहाँ तब उसकी प्रक्रियाओंके संबंधमें जो विवेचन किया जाता है वह कहाँतक वैज्ञानिक होगा ? अतः, यह विज्ञान तो है ही नहीं।

मानस-शास्त्रकी परिधि

मानसशास्त्रमें मनकी जिन प्रक्रियाओंका अध्ययन होता है, वे व्यवहारसे जानी जाती हैं। ये सब प्रक्रियाएँ कभी तो शारीरिक प्रक्रियाओंपर अवलंबित होती हैं और कभी-कभी बाहरी वस्तुओंपर भी। अतः, मनोविज्ञानके अन्तर्गत मानसिक प्रक्रियाएँ, मनके व्यवहार, शारीरिक प्रक्रियाएँ और मानसिक प्रक्रिया उत्पन्न करनेवाले बाह्य साधन सभीका अध्ययन होता है। मानसशास्त्रके अन्तर्गत मानव-मनकी विभिन्न श्रेणियों—बाल-मन, किशोर-मन, युवक-मन, वृद्ध-मन, जीव-मन, साधारण और असाधारण मन, व्यक्ति और सामाजिक मनो-भावना (रीति-नीति आचार आदि) सबका अध्ययन होता है। इस प्रकार मानसशास्त्रके अध्ययनके अन्तर्गत निम्नांकित क्रियाएँ आ जाती हैं—१. मानसिक प्रक्रियाएँ और व्यवहारमें उनकी अभिव्यक्ति, २. उनसे सम्बद्ध शारीरिक प्रक्रियाएँ, ३. मानसिक प्रक्रियाओंको उत्तेजना देनेवाली बाह्य सामग्री या विषय, ४. मनकी सभी स्थितियाँ और प्रकार, ५. पशुमन, मानव-मन, साधारण और असाधारण मन तथा सामूहिक मनके विशेष लक्षण और उनके बाह्य उपादान।

मानस-शास्त्रकी परिभाषाएँ

विभिन्न आचार्योंने मानसशास्त्रकी विभिन्न परिभाषाएँ दी हैं। कुछ लोगोंका मत है कि—१. मानसशास्त्र तो मनका विज्ञान (साइन्स ऑफ़ माइंड) है। कुछका कहना है कि यह २. चेतनाका विज्ञान (साइन्स ऑफ़ कौन्शसनेस)

है। कुछ कहते हैं कि ३. व्यवहारका विज्ञान (साइन्स औफ़ बिहेवियर) ही मनोविज्ञान है और कुछका कथन है कि ४. कोई भी व्यक्ति अपने वातावरणमें जो क्रियाएँ करता है उनका विज्ञान ही मनोविज्ञान है। किंतु इन सबका तात्पर्य यही है कि मनोविज्ञान मनुष्यकी मानसिक क्रियाओं और उनकी अभिव्यक्तियोंके अध्ययनसे संबंध रखनेवाला विज्ञान है। किन्तु हम ऊपर बता चुके हैं कि यह विज्ञान नहीं है शास्त्र है।

मानसशास्त्रकी शाखाएं

मानसशास्त्रकी विभिन्न शाखाओंमें १. विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान (एनिलिटिकल साइकोलौजी) २. स्रौतिक मनोविज्ञान (जैनेटिक साइकोलौजी), व्यक्ति या जातिके मानसिक विकास और विस्तारका विवेचन, जिसके अन्तर्गत बाल-मनोविज्ञान, किशोर मनोविज्ञान तथा युवक मनोविज्ञान आदि आते हैं, ३. पशु-मनोविज्ञान, जिसे तुलनात्मक मनोविज्ञान भी कहते हैं, ४. बाल-मनोविज्ञान, ५. व्यक्तिगत मनोविज्ञान, ६. भिन्नता मनोविज्ञान (वैरिएशन साइकोलौजी), ७. सामाजिक मनोविज्ञान (सोशल साइकोलौजी), ८. लोक मनोविज्ञान (फ़ोक साइकोलौजी), ९. असाधारण मनोविज्ञान (ऐबनौर्मल साइकोलौजी), १०. मनोविश्लेषण-शास्त्र (साइको-एनैलिसिस), ११. शारीरिक मनोविज्ञान (फ़िज़ियोलौजिकल साइकोलौजी), १२. भौतिक मनोविज्ञान (साइकोफ़िज़िक्स) और १३. प्रयोगात्मक मनोविज्ञान (एप्लाइड साइकोलौजी), जिसके अन्तर्गत शिक्षा-मनोविज्ञान, (एजुकेशनल साइकोलौजी), वाणिज्य मनोविज्ञान (कौमर्शियल साइकोलौजी), व्यावसायिक मनोविज्ञान (इण्डस्ट्रियल साइकोलौजी), विधिगत मनोविज्ञान (लीगल साइकोलौजी) तथा भैषज्य मनोविज्ञान (मेडिकल साइकोलौजी यों साइकिएट्री) की गणना की जाती है।

मानसशास्त्रका अन्य विज्ञानोंसे सम्बन्ध

ज्योतिष, भौतिक विज्ञान, रसायन शास्त्र आदि भौतिक हैं। वनस्पति-शास्त्र और जीव-शास्त्र आदि सब प्राणिशास्त्र (बायोलौजिकल साइन्स) के अन्तर्गत

हैं किन्तु मनोविज्ञान मनका विज्ञान है जिसमें यह विचार किया जाता है कि हमारा मन किस प्रकार काम करता है अर्थात् वह किस प्रकार जानता, अनुभव करता और निश्चय करता है। तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र और सौन्दर्य-शास्त्र भी मानसिक शास्त्र ही है किंतु ये विधि-परक (नौर्मेटिव) हैं अर्थात् ये कर्तव्य निर्धारित करते हैं। तर्कशास्त्र बताता है कि मनको किस प्रकार सोचना चाहिए; नीतिशास्त्र (ईथिक्स) बताता है कि मनको किस प्रकार निश्चय करना चाहिए; सौन्दर्य-शास्त्र बताता है कि किसी वस्तुके प्रति मनकी क्या भावना होनी चाहिए। ये तीनों हमारे जीवनको व्यवस्थित करनेवाले आदर्शोंसे सम्बद्ध हैं। तर्क ही सत्यका निश्चय करता है। नीति ही शिव या हितकर का निश्चय करती है और सौन्दर्यशास्त्र ही सुन्दरताके आदर्शका निश्चय करता है। अतः, शिक्षाशास्त्रमें कोरे मानसशास्त्रसे काम नहीं चल सकता। उसमें तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र और सौन्दर्यशास्त्रका भी समावेश होना चाहिए, क्योंकि शिक्षामें हमें केवल यही नहीं अध्ययन करना है कि बालकका मन कैसे काम करता है वरन् यह भी जानना है कि बालकको किस प्रकार सोचना, किस प्रकार निश्चय करना और किस प्रकार अपनी भावनाका परिष्कार करना सिखाया जाय।

मानसशास्त्रका सम्बन्ध भौतिक विज्ञान, प्राणिशास्त्र, शरीर-विज्ञान, विधिपरक विज्ञान, तर्क, नीतिशास्त्र और सौन्दर्यशास्त्रसे भी है। शिक्षा-शास्त्रकी पूर्णताके लिये ज्ञानाप्ति-शास्त्र (एपिस्टेमौलौजी) भी आवश्यक है जिसमें यह बताया जाता है कि किन परिस्थितियोंमें ज्ञान प्राप्त करना संभव होता है और किन प्रक्रियाओंसे कोई तथ्य अपनाया जाता है। मनोविज्ञानका समाज-विज्ञानसे भी सम्बन्ध है क्योंकि मनुष्य सामाजिक प्राणी है। अतः, हमें यह भी जानना ही चाहिए कि समाजकी प्रकृति, मूल और विस्तार क्या है, जंगलीपनसे सभ्य अवस्थामें आनेतककी विभिन्न श्रेणियोंमें मानव-समाजकी क्या गति, रीति-नीति और व्यवस्था रही है। सामाजिक मनोविज्ञानमें ही सामूहिक मनपर विचार किया जाता है। अतः, समाज-शास्त्र भी मनोविज्ञानसे सम्बद्ध है क्योंकि समाजके लिये ही तो बालककी शिक्षा होती है।

शिक्षा और मानसशास्त्र

शिक्षाका व्यापक उद्देश्य यही है कि शिष्यकी सब अन्तर्हित शक्तियाँ इस प्रकार जगा दी जायँ और उसके चरित्र तथा व्यवहारको इस प्रकार ढालकर नियन्त्रित कर दिया जाय कि वह समाजका हितकर तथा सुव्यवस्थित सदस्य बन सके। इसके अन्तर्गत व्यक्तिगत विकास और सामाजिक परिस्थितिमें व्यक्तिकी सटीक प्रतिष्ठा दोनों बातें आ जाती हैं। शिक्षा-मनोविज्ञानका तात्पर्य ही यह है कि शिक्षाकी व्यावहारिक आवश्यकताओंकी पूर्त्तिके लिये मनोविज्ञानके व्यापक सिद्धान्तका प्रयोग किया जाय जिससे शिक्षा-पद्धति मनोवैज्ञानिक होकर अधिक पक्की और स्वाभाविक हो जाय।

शिक्षण-प्रक्रियाके प्रत्यक्षतः दो स्तम्भ होते हैं—एक अध्यापक दूसरा अध्येता या शिष्य। अध्यापकका कर्तव्य है कि वह शिष्यके मन, रुचि और प्रवृत्ति आदिको भली प्रकार जान ले, अन्यथा वह उसे ठीक प्रकारसे शिक्षा दे नहीं सकता। बालककी विभिन्न अवस्थाओंमें उसके मनकी प्रक्रिया विभिन्न प्रकारकी होती है। यदि इन प्रक्रियाओंके अनुरूप शिक्षा न दी गई तो वह शिक्षा व्यर्थ हो जायगी। उसे इन मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तोंका भली भाँति ज्ञान होना चाहिए कि बालककी निरीक्षण-शक्ति, एकाग्रता, स्मृति, कल्पना, चिन्तन, संवेग, संकल्प तथा चरित्रका किस प्रकार विकास किया जाय।

मनोविज्ञानके अध्ययनसे अध्यापक यह जान सकता है कि बालककी मौलिक शक्ति या उसका मानसिक सामर्थ्य क्या है, उसके मनका विकास किस प्रकार होता है, विभिन्न परिस्थितियोंमें मन किस प्रकार काम करता है, किस प्रकार उसके चरित्रका निर्माण होता है, किस प्रकार कोई व्यक्ति या कोई समूह किसी व्यक्तिको प्रभावित करता है और किस प्रकार विद्यालयके सामूहिक वातावरणसे छात्रका चरित्र बनता है। मनोविज्ञानके अध्ययनसे यह भी अनुभव होता है कि ज्ञान प्राप्त करनेकी क्या प्रक्रिया होती है और किस प्रकार पहलेसे संचित ज्ञानके क्षेत्रमें नया ज्ञान प्राप्त करके आत्मसात् किया जाता है।

शिक्षा भी विधिपरक (नौर्मेटिव) ज्ञान है। उसमें शिक्षाका उद्देश्य निहित होता है। मनोविज्ञान यह नहीं निश्चय कर सकता कि शिक्षाका उद्देश्य क्या होना चाहिए किन्तु यह अवश्य बता सकता है कि उन उद्देश्योंको प्राप्त करनेके लिये किन साधनोंका प्रयोग किया जाना चाहिए। इसीलिये शिक्षा देनेवालोंको मनोविज्ञानका अध्ययन करके यह जानना चाहिए कि क्रिया, सहज-वृत्ति (आजके मनोवैज्ञानिक सहज वृत्तिका अस्तित्व नहीं मानते), संवेग तथा भाव आदि कैसे उत्पन्न होते हैं। अतः, मनोविज्ञानसे शिक्षाको बड़ी सहायता मिल सकती है क्योंकि शिक्षाका उद्देश्य है छात्रके व्यवहारको संयत और व्यवस्थित करना।

शरीर और मस्तिष्क

शरीर और मस्तिष्कमें क्या सम्बन्ध है, इस प्रश्नने दार्शनिकोंको बहुत उलझनमें डाल रक्खा था। प्रसिद्ध दार्शनिक देकार्तेने मस्तिष्कका स्थान पीनियल ग्लैंडमें माना था। यही नहीं, बहुतोंने तो और भी विचित्र कल्पनाएँ कीं। किसीने हृदयमें, किसीने पाचन-नलिकामें, किसीने तिल्लीतकमें माना। किन्तु अब यह अधिक स्पष्ट हो गया है। मनुष्यकी व्यवहार-प्रक्रियामें मस्तिष्क वैसे ही मुख्य केन्द्रके रूपमें कार्य करता है जैसे—टेलीफ़ोन एक्स्चेन्ज एक स्थानसे ही सम्पूर्ण नगरको नियन्त्रित किए रहता है। स्नायु-प्रणालीके दो भाग माने गए हैं—मस्तिष्क-सुषुम्ना प्रणाली (सेरिब्रो-स्पाइनल सिस्टम) तथा स्वतन्त्र प्रणाली (औटोनौमिक सिस्टम)।

स्नायु संस्थान (नर्वस सिस्टम)

मनुष्यके शरीरमें सुषुम्ना, मस्तिष्क तथा उससे निकलनेवाली अनेक स्नायुएँ हैं। मेरुदंड (वर्टिब्रल कौलम) की रीढ़नली (न्यूरल कैनाल) में सुषुम्ना (स्पाइनल कौर्ड) स्थित है और मस्तिष्क-वास या कर्पर (क्रेनियम) में मस्तिष्क स्थित है। मस्तिष्कके तीन मुख्य भाग हैं—मस्तिष्क-पुच्छ (मेडुला-औब्लौंगाटा), निमस्तिष्क (सेरेबेलम) और प्रमस्तिष्क (सेरेब्रम)।

मनुष्यके मस्तिष्कसे जो बारह जोड़ी स्नायुएँ (नर्व्ज़) निकलती हैं उनमेंसे

अधिकतर तो सिरमें स्थित ज्ञानेन्द्रियोंमें जाती हैं और कुछ अन्य अंगोंमें। सुषुम्ना (स्पाइनल कौर्ड) से इकतीस जोड़ी स्नायुएँ निकलकर हमारे शरीर भरमें फैली हैं। इसके अतिरिक्त एक स्वायत्त स्नायु-संस्थान होता है। मेरुदंडके दोनों ओर मेरुदंडके समानान्तर एक-एक पतली स्नायु चलती है जिसमें स्थान-स्थानपर सहभावक स्नायु प्रणाली (सिम्पैथेटिक नर्वस सिस्टम) की ग्रन्थियाँ होती हैं। ये सब ग्रन्थियाँ सुषुम्नासे जुड़ी हुई हैं और इनमेंसे प्रत्येकमेंसे एक सहभावक स्नायु (सिम्पैथेटिक नर्व) निकलती है। ये स्नायुएँ हृदय, रक्त-नलिका, आमाशय, आँत, गुर्दे, यकृत तथा प्रजनन अंगोंतक पहुँची रहती हैं।

स्नायु-संस्थानका कार्य

स्नायु-संस्थानके भिन्न-भिन्न भाग मिलकर शरीरके सभी अंगोंकी क्रियाओं-पर शासन करते हैं। भिन्न-भिन्न अंगोंकी आन्तरिक क्रियाओंपर और बाहरी संसारके प्रति व्यक्तिके व्यवहारपर स्नायु-संस्थानका पूर्ण अधिकार होता है। इसके अतिरिक्त शरीरके विभिन्न अंगोंके बीच सहयोग और सामंजस्य स्थापित करनेका काम भी स्नायु-संस्थान-द्वारा ही होता है। विश्लेषण करनेपर स्नायु-संस्थानके मुख्य कार्योंको निम्नलिखित भागोंमें बाट सकते हैं—

१. उद्दीपन (स्टिमुलस) ग्रहण करना और प्रतिक्रिया (रिएक्शन) करना।

२. प्रत्येक परिस्थितिको समझना और उसके अनुसार कर्त्तव्य निश्चित करना।

३. ऐच्छिक (वौलंटरी) और अनैच्छिक (इन्वौलंटरी) कार्य करना।

४. आन्तरिक अंगों (इन्टर्नल औरगंन्स) को विभिन्न कार्योंके लिये उत्तेजित करना।

५. आन्तरिक अंगोंके कार्योंपर नियन्त्रण रखना।

६. शरीरके भिन्न-भिन्न अंगोंके कार्योंके बीच सामंजस्य और सहयोग स्थापित करना।

७. ज्ञानेन्द्रियोंको चेतना और ज्ञानकी शक्ति प्रदान करना।

उपर्यंकित सभी कार्य एक दूसरेसे अत्यन्त सम्बद्ध हैं यहाँतक कि कई कार्य तो वास्तवमें एक ही प्रकारके होते हैं। इन सबमें प्रथम महत्त्वपूर्ण कार्य

वास्तवमें उद्दीपनोंको ग्रहण करना और उनके अनुसार क्रिया करना है। हम जानते हैं कि कुछ स्नायु तो संवेदी (सेन्सरी) और कुछ प्रेरक (मोटर) होती हैं। सुषुम्ना और मस्तिष्क दोनोंसे निकलनेवाली स्नायुएँ दोनों प्रकारकी हो सकती हैं। संवेदी स्नायुएँ मस्तिष्क या सुषुम्नाको उद्दीपनोंकी सूचना ले जाती हैं। ये उद्दीपन बाहरी भी हो सकते हैं जैसे कोलाहल, भयानक दृश्य आदि और आन्तरिक भी हो सकते हैं जैसे भोजनका पाचन-नलिकामें पहुँचना। दोनों ही प्रकारके उद्दीपनोंसे कोई प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है। इनमेंसे कुछ प्रतिक्रियाएँ बाहरसे भी देखी जा सकती है, कुछ केवल आन्तरिक ही होकर रह जाती हैं। भयानक दृश्य देखकर हम भागते भी हैं, साथ ही रक्तमें कुछ ग्रंथियोंके रसकी मात्रा भी बढ़ जाती है, जिससे रक्त जमने लगता है। इसी प्रकार ग्रहणीमें भोजन पहुँचनेपर पित्त और क्लोम-रस आ जाता है।

इच्छित कार्यों द्वारा भी प्रतिक्रिया हो सकती है और अनिच्छित कार्यों-द्वारा भी। जब हम किसी कार्यको सोच-समझकर इच्छानुसार करते हैं तो वह इच्छित कहलाता है। इसकी सूचना मस्तिष्क तक जाती है और मस्तिष्कसे ही आदेश होता है। जब कोई कार्य बिना इच्छाके अपने आप होता है तो अनिच्छित कहलाता है जैसे हृदयका धड़कना या सोते हुए हाथ-पैर चलना आदि।

स्वतःक्रिया (रिफ़्लैक्स ऐक्शन)

जब कोई उद्दीपक क्रिया होनेपर मस्तिष्कके सहयोगके बिना ही तुरन्त प्रतिक्रिया या प्रतिचार होता है तब वह क्रिया स्वतःक्रिया या प्रतिक्षिप्त क्रिया कहलाती है। स्पष्ट है कि ऐसी क्रिया अनिच्छित होती है। यदि हमारी उँगली अचानक किसी बहुत गर्म वस्तुसे छू जाय तो हम तुरन्त अपनी उँगली उस वस्तुसे हटा लेंगे। किसी सोते या जागते हुए व्यक्तिके पैरमें एक सुई धीरेसे चुभोई जाय तो वह अपना पैर हटा लेगा। इस प्रकारकी क्रियाओंमें मस्तिष्क कोई भाग नहीं लेता और सुषुम्नासे ही कार्य-निर्देशन होता चलता है। अतः, कोई भी उद्दीपन मिलते ही उसकी सूचना संवेदी स्नायु-द्वारा सुषुम्नातक पहुँच जाती है और तुरंत सुषुम्नासे निकलनेवाली प्रेरक स्नायु

मांसपेशियोंको प्रतिक्रियाका आदेश दे आती है जिसका पालन मांसपेशियाँ तत्काल करती हैं और प्रतिक्रिया होती है। इस प्रकार स्वतःक्रियाका एक चक्र बन जाता है। मस्तिष्क नष्ट हो जानेपर भी ये क्रियाएँ होती रहती हैं इसीलिये योद्धा सिर कट जानेपर भी लड़ते रहते हैं। इससे प्रकट होता है कि स्वतःकार्यमें मस्तिष्क भाग नहीं लेता।

ये स्वतःक्रियाएँ या प्रतिक्षिप्त क्रियाएँ प्रतिक्षण होती रहती हैं और उनसे कई लाभ हैं—

१. प्रति क्षिप्त कार्योंमें मस्तिष्कके भाग न लेनेके कारण प्रतिक्रिया शीघ्र होती है, सोचने-समझनेमें समय नहीं लगता और क्रिया-चक्र छोटा रहता है।

२. प्रत्येक व्यक्ति बिना जाने ही अपने शरीरके प्रत्येक भागकी रक्षा करता रहता है।

३. मस्तिष्कपर प्रतिक्षण उद्दीपनोंकी प्रतिक्रिया निश्चय करनेका भार नहीं रहता जिससे अन्य कार्योंके लिये तथा विश्रामके लिये अवकाश रहता है।

तीव्र प्रकाश होनेपर आँखोंकी पुतलियोंका अपने आप सिमिट जाना, भोजनकी सुगन्ध नाकमें आते ही मुँहमें पानी आना, छींकना, खाँसना आदि सभी प्रतिक्षिप्त कार्य हैं।

सुषुम्नाका मुख्य कार्य स्वतः प्रतिक्षिप्त क्रिया ही है। शेष इच्छित कार्य मस्तिष्क-द्वारा ही होते हैं। जिन इच्छित कार्योंमें सोचने-समझनेकी आवश्यकता पड़ती है वे अग्रमस्तिष्क (फ़ोर-ब्रेन) के द्वारा होते हैं। साँस लेना और इस कार्यको नियमपूर्वक करना, हृदयकी धड़कन वशमें रखना आदि काम मस्तिष्क-पुच्छ (मेडुलाऔब्लौंगाटा) द्वारा होते हैं। कोई क्रिया करनेमें भिन्न-भिन्न मांस-पेशियोंकी गतिमें सामंजस्य उत्पन्न करनेका काम निमस्तिष्क (सेरेबेलम) और मस्तिष्क-पुच्छ (मेडुला-औब्लौंगाटा) द्वारा होता है। अग्र मस्तिष्कके अर्धपिंड (सेरेब्रल हेमिस्फीअर्स) ही भावना (इमोशन) और बुद्धि (इन्टेलिजेन्स) आदिके परिचालक हैं। सहभावक स्नायु-संस्थान (सिम्पैथेटिक नर्वस सिस्टम) शरीरके किसी अंगकी अवस्थाकी सूचना अन्य अंगोंको देकर उनके कार्योंपर प्रभाव डालता है। घबराहटकी दशामें इन्हीं स्नायुओंके

द्वारा आमाशय या गुर्दोंके कामोंपर प्रभाव पड़ता है और व्यक्तिको अपच या बराबर मूत्र त्यागकी इच्छाका अनुभव होता है। मस्तिष्कके नष्ट होजानेपर त्वचाके अतिरिक्त अन्य कोई ज्ञानेन्द्रिय (आँख, नाक, कान, रसना) कार्य नहीं करती। वास्तवमें स्नायु-संस्थान ही शरीर-भरका शासक है जिसके बिना कोई भी अंग ठीक काम नहीं कर सकता।

इसका तात्पर्य तो यह हुआ कि सुषुम्ना और मस्तिष्क ही हमारे सब कार्यों और व्यवहारोंके लिये उत्तरदायी हैं। यदि यह बात है तो मन (माइंड) कहाँसे आ टपका और उसका अस्तित्व कहाँ और किस प्रकारका है ? उपर्यंकित विवरणका अर्थ तो यह हुआ कि ज्ञानेन्द्रियोंमें स्वयं चेतना है और वे सचेत होकर कुछ कार्य तो स्वतः अपने आन्तरिक स्नायु-चक्रके द्वारा करती रहती हैं और कुछ मस्तिष्क-द्वारा होता है। तो क्या मस्तिष्क ही हमारे सम्पूर्ण चेतन व्यवहारका उत्तरदायी है? किन्तु स्वप्नमें भी जो क्रिया होती है उसका भी हमारे मस्तिष्कमें स्मृति-संस्कार बना रहता है। वह निश्चित रूपसे अनिच्छित होती है फिर भी उसका संस्कार रहता है, उसकी स्मृति रहती है, उसके साथ शारीरिक क्रिया भी होती है, वह चाहे सूक्ष्म ही क्यों न हो। यह कौन कराता है? इसका अर्थ यह है कि सचेत और अचेत दोनों स्थितियोंमें हमारी ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियोंको प्रेरित करते रहनेवाली एक और शक्ति है और यही हमारे शरीरमें व्याप्त मनोमय कोष, मनस्तत्त्व या मन है।

चेतन और अचेतन

चेतनाका ठीक-ठीक रूप अभीतक कोई निश्चित नहीं कर पाया। कुछ लोगोंका कहना है जब हम ध्यान लगाते या एकाग्र होते हैं उस समयकी मनःस्थिति चेतना कहलाती है। चेतनाकी अनुभूति सभीको होती है। स्पीयरमैनका कथन है कि 'हम केवल अनुभव ही नहीं करते वरन् यह भी जानते हैं कि क्या अनुभव कर रहे हैं। हम केवल कार्य-मात्र ही नहीं करते, यह भी जानते हैं कि क्या कर रहे हैं।' किन्तु चेतनाकी सीधी परिभाषा यह है कि 'जिस अवस्थाका स्मृति-संस्कार स्थिर हो जाय वही अवस्था चेतना कहलाती है।'

चेतनाके तीन विभाग हैं—ज्ञानात्मक, अनुभवात्मक और क्रियात्मक। ज्ञानात्मकके अन्तर्गत प्रत्यक्षीकरण, स्मृति, कल्पना, तर्क, तथा ज्ञान आता है। अनुभवात्मक पक्षके अन्तर्गत प्रसन्नता-अप्रसन्नताके अनुभव, संवेद, मनोभाव, तथा स्वभाव आता है। क्रियात्मक पक्षके अन्तर्गत शारीरिक आवश्यकता, अभ्यास, संवेग तथा चरित्र इत्यादि आते हैं। एक अन्य मत भी है जो चेतनाके तीन मूल तत्व १. संवेदन, २. भावना तथा ३. संवेग मानता है।

चेतन प्रक्रिया

चेतना केवल एक स्थिति मात्र नहीं है। वह घटना-क्रम भी है जिसे जेम्सने चेतनाधारा (स्ट्रीम ऑफ़ कौन्शसनेस) माना है अर्थात् चेतना स्वतः एक पूर्ण तत्त्व है और इसका सम्बन्ध है स्नायु-संस्थानसे। ये बने हुए सम्बन्ध सरलताके साथ तोड़े भी जा सकते हैं।

प्रत्येक मनुष्य अपने विषयमें चेतन रहता है। हम देखते हैं कि अचेतन स्थितिके पश्चात् भी वह यह जानता रहता है कि मैं वही मनुष्य हूँ जो पहले था। यह आत्मज्ञान दो बातोंपर निर्भर होता है—१. स्वतःचालित संवेदनोंपर, क्योंकि इनकी प्रक्रिया मनुष्यके अचेतन रहनेपर भी चलती रहती है और ये एक पृष्ठभूमि बनाए रखते हैं; तथा २. स्मृतिपर। चेतना इतनी व्यापक होती है कि इसका प्रारम्भ गर्भसे ही हो जाता है और मृत्युसे या किसी विशेष रोगसे ही इसका अन्त होता है। यह बराबर चलती और बदलती रहती है। लोग चेतनाको केन्द्रित (फ़ोकल) और पार्श्वस्थ (मार्जिनल) दो क्षेत्रोंमें विभाजित करते हैं। अभी हमारे सम्मुख या केन्द्रित चेतनामें एक चित्र है, दूसरे क्षण उसका स्थान रेडियो ले लेता है और वह चित्र पार्श्व (मार्जिन)में चला जाता है और रेडियो केन्द्रमें आ जाता है। व्यक्ति अपनेको विचार, भावना और क्रियाके तीन रूपोंमें उपस्थित करता है। इस प्रकार चेतनाका प्रवाह हमें ज्ञान और क्रियाकी ओर उन्मुख करता है।

साहचर्य (एसोसिएशन)

साहचर्यका अर्थ है कुछ सम्बद्ध स्मृतियोंका निर्माण। पुराने मनोवैज्ञानिक यह मानते ही नहीं थे कि दो विचारोंका भी साहचर्य हो सकता है किन्तु आज यह माना जाने लगा है कि विचारोंके बीच भी साहचर्य हो सकता है जैसे मेज़ कहनेपर कुर्सीका भी स्मरण होना। लड़का-लड़की, कुत्ता-बिल्ली आदिके सम्बन्धके जो विचार एक ही समय अनुभव किए गए हों उनमेंसे एककी स्मृति होनेपर दूसरेका स्वभावतः स्मरण हो आता है। हमारा प्रत्येक प्रत्यक्ष अनुभव इन्हीं साहचर्योंपर निर्भर है। इसी प्रकार विचार अथवा प्रत्यक्ष ज्ञान भी भावों तथा संवेगोंसे सम्बद्ध हो सकते हैं। इसीलिये कभी-कभी सुखकी घड़ियोंमें घटित होनेवाली पीड़ाका अनुभव भी सुखपूर्ण होता है।

साहचर्यकी भाँति ही पृथक्त्व भी होता है जब चेतनाके बन्धन टूट जाते हैं और अनुभवका विचारसे सम्बन्ध नहीं हो पाता या विषयकी क्रिया रुक-सी जाती है। इस प्रकार कभी-कभी असाधारण चेतना (हाइपर-कौन्शसनेस) और आच्छन्न चेतना (क्लाउडेड कौन्सशनेस) भी देखनेमें आती है। यह अवस्था दुर्घटना, रोग या नाड़ियोंकी विकृतिके फलस्वरूप आ सकती है।

उपचेतन या अचेतन

कुछ प्राकृतिक व्यवहारों तथा मस्तिष्क-रोगोंको लोग अचेतनकी श्रेणीमें मानते हैं और उन्हें चेतनाके बाहरकी क्रियाएँ मानते हैं। स्वचालित लेखन इत्यादि क्रियाएँ इसीके अन्तर्गत आ सकती हैं। किन्तु इनमें भी चेतनाका अंश बहुत कुछ रहता है क्योंकि ऐसी स्थितिमें लिखनेवाला यह तो जानता है कि वह लिख रहा है किन्तु क्या लिख रहा है इसे वह नहीं जानता। यहीं तक नहीं, स्मृति भी अचेतन तत्त्वोंपर निर्भर है और प्रत्यक्षीकरण भी एक रूपमें अचेतन क्रिया ही है। क्योंकि कोई भी घटना किसी व्यक्तिपर प्रभाव डाल सकती है फिर भी वह उस घटनासे

अनभिज्ञ रहता है। यह प्रभाव पीछे चलकर चेतनामें आ सकता है और उस समय व्यक्ति यह सोच भी नहीं पाता कि ऐसा हुआ कब था।

अचेतनके सिद्धान्तके प्रवर्तक फ्रौयड तथा यूंग हैं। फ्रौयडने मस्तिष्कको तीन भागोंमें विभाजित किया है—चेतन, उपचेतन तथा अचेतन। ये उस भागको उपचेतन मानते हैं जिसमें पहुँची हुई वस्तुको स्मृति-द्वारा तत्काल प्राप्त किया जा सके। किन्तु अचेतनमें पहुँची हुई वस्तु साधारण क्रियासे प्राप्त नहीं हो सकती। इसके लिये फ्रौयडने मनोविश्लेषण-पद्धतिका प्रवर्त्तन किया है।

फ्रौयडका कथन है कि दबी हुई कामनाएँ वास्तवमें पूर्णतया दब नहीं जातीं। वे अचेतन मनमें बनी रहती हैं और सांकेतिक स्वप्नों इत्यादिमें प्रकाशित होती रहती हैं। ये कहते हैं कि मनोविश्लेषकोंको इसकी खोज करके समाजकी रक्षा करनी चाहिए।

किन्तु यह सिद्धान्त भी ठीक नहीं है। चेतनाका एक रूप जाग्रत अवस्थामें दिखाई पड़ता है जिसमें किसी प्रकारकी इच्छित मानसिक क्रियाके बिना ही चेतनाके लक्षण विद्यमान रहते हैं जैसे सिरका सीधा बना रहना। किन्तु चेतनाका दूसरा रूप है एकाग्र चेतना जो अवधान अर्थात् मनको अन्य विषयोंसे हटाकर किसी एक कार्यकी ओर लगा देनेसे स्पष्ट होती है। इस चेतनामें ही स्मृति-संस्कार होता है।

उपचेतन तो तीव्र स्मृतिका ही दूसरा पर्याय है। जहाँतक अचेतनकी बात है, वह फ्रौयडका भीषण भ्रम है क्योंकि मनुष्य की सम्पूर्ण दबाई हुई या अतृप्त वासनाएँ उसके मनमें बराबर बनी रहती हैं—सजीव होकर। वह केवल समाजके भयसे उन्हें प्रकट नहीं कर पाता और भीतर ही भीतर उसी चिन्तामें घुल-घुलकर अनेक रोगों तथा सांकेतिक स्वप्नोंका आखेट बन जाता है।

शिक्षाके चार रूप और मानस शास्त्र

योरोपीय दृष्टिसे मानस-शास्त्र के विशेष आधारोंका ज्ञान कर चुकनेपर उनकी व्यवहार-क्रिया तथा इस व्यवहार-क्रियाका शिक्षासे क्या सम्बन्ध है, इसका विवेचन करना आवश्यक है। हम पीछे देख चुके हैं कि शिक्षाके चार रूप प्रत्येक व्यक्तिके लिये आवश्यक हैं—१. शारीरिक शिक्षा, जिससे

बालकका शरीर स्वस्थ, स्फूर्तिमय और प्रसन्न रहे; २. बौद्धिक शिक्षा, जिससे बालकका ज्ञान-संस्कार बढ़े, अनेक विषयोंका परिचय हो और उनके आधारपर उन्हें अच्छे बुरे, ग्राह्य-अग्राह्य, उचित-अनुचितका विवेक हो; ३. चारित्र्यिक, शिक्षा, जिससे बालक अपने व्यक्तिगत और सामाजिक जीवनमें सुयश और लोकप्रियता प्राप्त कर सके; ४. आध्यात्मिक शिक्षा, जिससे बालक, ईश्वरके अस्तित्व, परलोक तथा जीवनके लिये मोक्षकी आवश्यकता और उसकी प्राप्तिके उपाय सोच सके। आजकल बहुतसे शिक्षा-शास्त्री मोक्षके सम्बन्धमें विचार करनेको प्रस्तुत नहीं हैं किन्तु भारतीय दृष्टिसे यह तत्त्व अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि यही ऐसा पुष्ट आधार है जिसके बलपर ही हम विश्व-शान्ति और विश्व-बन्धुत्वकी भावनाका भी अभिवर्द्धन कर सकते हैं और मानव-जीवनकी सार्थकता भी सिद्ध कर सकते हैं। मानस-शास्त्रका भारतीय उद्देश्य तो पतंजलिके मतसे यही है कि हम मनको ऐसा साध लें कि वह सब ओरसे हटकर केवल एक ब्रह्ममें ही लग जाय।

अतः, मनके व्यवहार और उसकी प्रक्रियाओंके अध्ययनको केवल भौतिक ज्ञान-प्राप्तिका ही आधार मानकर मौन नहीं हो जाना चाहिए, उसका प्रयोग आध्यात्मिक शक्तिके विकासके लिये अधिक करना चाहिए।

५

बालकका सामाजिक विकास

विदेशी मानसशास्त्रियोंका कहना है कि बालकके विकासपर उसकी कुल-परम्परा और वातावरणका ही प्रभाव पड़ता है। कुल-परम्परासे उनका तात्पर्य यह है कि बालकके जैसे माता-पिता होंगे, उनका रहन-सहन, शरीरकी बनावट, स्वभाव, विद्या, गुण आदि जो कुछ होंगे सब बालकमें आ जायँगे। साथ ही वे यह भी मानते हैं कि जिस वातावरणमें बालककी शिक्षा-दीक्षा होगी उसी प्रकारका स्वभाव बालकका हो जायगा। किन्तु यह मत नितान्त भ्रामक है।

कुल-परम्परा

यद्यपि गाल्टन और विंशिपने बहुतसे व्यक्तियों, बालकों और परिवारोंका अध्ययन करके यह परिणाम निकाला कि बालकके स्वभावपर कुल-परम्पराका बहुत प्रभाव पड़ता है। किन्त यह मत नितान्त भ्रामक है। जहाँतक कुल-परम्पराकी बात है उस सम्बन्धमें केवल इतना ही सत्य है कि बालकको जो शरीर मिलता है वह और उससे सम्बद्ध क्रियाओंमें तो कुल-परम्पराका आभास मिलता है किन्तु स्वभाव कुल-परम्परासे नहीं प्राप्त होता। बालक अपनी कुल-परम्परासे प्राप्त शरीरके कारण अपने माता या पिताके समान लिखता, हँसता, बोलता, चलता या बैठता है पर इनमेंसे भी अधिकांश क्रियाएँ अनुकरणसे प्राप्त होती हैं किन्तु सुशीलता, अक्रोध, अद्वेष क्षमा आदि गुण कुल-परम्परासे प्राप्त नहीं होते, ये पिछले जन्मके संस्कारसे आते हैं।

व्यापक रूपसे देखा जाता है कि विद्वान्‌के पुत्र प्रायः मूर्ख होते हैं। गाँधीजी—जैसे महापुरुषके पुत्र उदात्त कुल-परम्परा और श्रेष्ठतम वातावरण पानेपर भी गाँधीजीके गुण नहीं प्राप्त कर सके। ऐसे एक नहीं सैकड़ों

उदाहरण हैं जहाँ माता-पिता दोनों योग्य, गुणी और भले हैं किन्तु उनकी सन्तति अत्यन्त निकम्मी हुई।

वातावरण

जो बात कुल-परम्पराके सम्बन्धमें हैं वही वातावरणके सम्बन्धमें भी कही जा सकती है। एक ही परिवारमें, एक प्रकारका वातावरण प्राप्त करनेवाले दस व्यक्ति दस स्वभावके मिलते हैं। यह ऐसी बात है जिसे घूमकर अध्ययन करनेकी आवश्यकता नहीं है। प्रत्येक परिवारमें यह बात देखी जा सकती है। डगडेल और इस्टाबुकने अमरीकाके जिस ज़िउक परिवारका अध्ययन किया था वह तो पूरी जातिकी जाति ही निम्न आचार-विचारवाली थी। हमारे यहाँ राजस्थानमें प्रत्येक व्यक्ति अपनी आनपर मर मिटनेको प्रस्तुत रहता था। पर यह जाति-परम्परा और जाति-संस्कारकी बात थी। इसे एक प्रकारका परम्परागत संस्कार कह सकते हैं और उस गुणको भी व्यक्तिका गुण न कहकर एक विशेष समाजका गुण कह सकते हैं। यदि किसी उच्च सभ्य परिवारका बालक अपने व्यवहारमें मृदु, कोमल और सभ्य दिखाई पड़ता है तो वह उसका वास्तविक या व्यक्तिगत व्यवहार नहीं वरन् औपचारिक व्यवहार समझना चाहिए। हम एक ऐसे परिवारको जानते हैं जिसके सब सदस्य बाहरसे अत्यन्त नम्र, विनीत और शिष्ट हैं किन्तु सबके सब परम कुटिल, द्वेषी और परनिन्दक हैं। अतः, स्वभाव आँकनेके लिये तो यह देखना चाहिए कि पूर्णतः व्यक्तिगत जीवनमें कोई व्यक्ति कितना क्रोध या क्षमा करता है, उत्तेजित या सहनशील रहता है, दया या निर्दयताका व्यवहार करता है, अपने पास पड़ोस, सम्बन्धी, सेवक, सबके प्रति सब परिस्थितियोंमें किस प्रकारका व्यवहार करता है। यही वास्तवमें उसका व्यक्तित्व है और यह व्यक्तित्व आप परीक्षक बनकर कभी नहीं जान सकते। यह तो नित्य नियमित रूपसे किसी व्यक्तिके साथ बरसों रहकर जीवनकी विभिन्न स्वाभाविक परिस्थितियोंमें उसकी प्रतिक्रियाओंका अध्ययन करके ही जान सकते हैं। व्यक्तिकी अच्छाई और बुराईका ज्ञान उसके

व्यक्तिगत व्यवहारसे ही हो सकता है सामाजिक या औपचारिक व्यवहारसे नहीं।

कुछ भ्रामक धारणाएँ

लौकका कथन है कि 'बालक जब जन्म लेता है तब उसका मस्तिष्क पोंछी हुई स्लेटके समान होता है। उसपर जैसे-जैसे समाजके संस्कार पड़ते जाते हैं वैसे-वैसे उसका स्वभाव बनता जाता है।' हल्वासियाने भी इसी मतका समर्थन करते हुए बताया है कि 'दो व्यक्तियोंमें जो भेद दिखाई पड़ता है वह वातावरण और शिक्षाकी भिन्नताके कारण है।' इसीका समर्थन रौबर्ट औवेन, हेवार्ड और कैंडलने भी किया है। कैंडलका मत तो स्पष्ट रूपसे भ्रान्तिपूर्ण है क्योंकि उसने लंदनकी रौयल सोसाइटी, पैरिसकी अकादमी और बर्लिनकी रौयल अकादमीके सदस्योंका अध्ययन करके बताया कि वातावरणके कारण ही वे विद्वान् बने। वास्तवमें तो उन लोगोंका संस्कार ही ऐसा था कि उन्होंने अपने अनुकूल वातावरण खोज लिया। अध्ययन करनेवालोंको यह देखना चाहिए था कि ठीक एक-जैसे वातावरणमें पले हुए सभी व्यक्तियोंके भाव, स्वभाव, रीति, वृत्ति, संवेदन, उद्वेग और चरित्र क्या एक ही प्रकारके होते हैं। यदि होते हों तब तो समझना चाहिए कि वातावरणका प्रभाव पड़ता है। यदि नहीं होते तो समझना चाहिए कि कुल-परम्परा और वातावरणसे भी ऊपर कोई दूसरी वस्तु जिसके अनुसार मनुष्य कुल-परम्परा और वातावरणके प्रभावोंको लाँघकर स्वयं कुछका कुछ बन जाता है।

सामाजिक परिस्थिति और वातावरण

समाज-शास्त्रियों और नर-शास्त्रियोंका मत है कि व्यक्तित्वके विकासमें परिस्थिति और वातावरणका बहुत महत्त्व होता है। विलियम आई० टौमस और फ्लोरियन ज़्नानिएकीने पोलैंडसे संयुक्त राज्य अमेरिकामें आए हुए कुछ ग्राम-प्रवासियोंका अध्ययन करके देखा कि अमरीकाके नये वातावरणमें आते ही उनके व्यक्तित्व, उनकी प्रवृत्ति और उनके सामाजिक व्यवहारमें बड़ा परिवर्तन हो गया। टौमस और उसके साथी समाजशास्त्री अर्नेस्ट डब्ल्यू० बर्गेस

और एल्सवर्थ फ़ारिसका विश्वास है कि मनुष्य जिन संस्कृतियोंके वातावरणमें रहते हैं और जिन सांस्कृतिक परिवर्तनोंका अनुभव करते हैं उनका भी उनके व्यक्तित्वपर बड़ा प्रभाव पड़ता है।

प्रसिद्ध अमरीकी नर-शास्त्रिणी मार्गरेट मीडने प्रशांत महासागरके समोआ द्वीपकी बारहसे सोलहके बीचकी अवस्थावाली कुछ कुमारियोंकी परीक्षा करके देखा कि अमरीकाकी उस अवस्थाकी कन्याओंमें जो मानसिक क्षुब्धता या कामोत्तेजना मिलती है वह उन लड़कियोंमें नहीं है क्योंकि वहाँकी प्रथाके अनुसार बचपनमें ही उनका विवाह हो जाता है। वहाँ प्रत्येक सयानी लड़कीका समाजमें अपना विशेष स्थान और सम्मान है। वे अपने मनमें काम-भावना आते ही उसकी तृप्तिके लिये जिसे चाहें उसे वर सकती हैं। किन्तु अमरीकी संस्कृतिके अनुसार कन्याके अधिकार और सुविधाओंपर माता-पिताका नियंत्रण होता है और वे ही अच्छे-बुरे तथा उचित-अनुचित वरका निर्णय करते हैं। यद्यपि अमरीकामें कुछ कन्याएँ तो चौदह वर्षकी अवस्थामें ही मिलने-जुलने लगती हैं किन्तु अधिकांश कन्याओंके अभिभावक बीस वर्षकी अवस्थातक उन्हें किसीसे मिलने-जुलने नहीं देते। इसीलिये उनमें अत्यन्त तीव्र कामोत्तेजना होती है। पर समोआकी सयानी लड़कियाँ अपनी रजस्वला या परिपक्व अवस्थाको बिना किसी मानसिक संघर्षके ही पार कर लेती हैं। इससे यह स्वाभाविक परिणाम निकलता है कि सयानेपनमें जो विशेष प्रकारकी मानसिक व्याधियाँ होती हैं वे शारीरिक कारणोंके बदले सामाजिक कारणोंपर अधिक अवलंबित हैं। डा० मीडने अपने पड़ोसके उन तीन प्रदेशोंके समाजोंके पुरुषों और स्त्रियोंके मानसिक स्तरका अध्ययन किया जो सांस्कृतिक दृष्टिसे पूर्णतः परस्पर विरोधी थे। इस अध्ययनसे उन्होंने परिणाम निकाला कि पुरुष या स्त्रीका स्वभाव स्थानीय परंपरा तथा रीति-नीतिपर बहुत कुछ अवलंबित होता है। वे कहती हैं—'आरापेशके लोगोंका नियम है कि नम्र और सहयोगपूर्ण स्वभाववाले पुरुषका विवाह नम्र और सहयोग-शील स्त्रीसे किया जाय; मुंडुगुमोरके लोगोंका आदर्श है कि अत्यन्त क्रोधी और असहनशील पुरुषका विवाह वैसी ही क्रोधी और असहनशील स्त्रीसे किया जाय;

और चाम्बुलीमें देखा गया कि वहाँकी नरनारी-भावना अमरीकी संस्कृतिकी नरनारी-भावनासे पूर्णतः विपरीत है। वहाँ स्त्री तो प्रबल, प्रभावशाली, असुंदर और शासक होती हैं और पुरुष अत्यन्त कम उत्तरदायित्व वहन करनेवाला, दीन तथा पराश्रित होता है। इन तीनों परिस्थितियोंसे यह परिणाम निकला कि नम्रता, सहनशीलता और बच्चोंका पालन-पोषण करनेकी प्रवृत्ति आदि जिन गुणोंको हम लोग स्त्रियोचित माने बैठे हैं वे एक जातिमें पुरुषोचित्त भी बनाए जा सकते हैं और दूसरीमें पुरुष और स्त्री दोनोंके लिये पूर्णतः त्याज्य भी किए जा सकते हैं। अतः, यह मानना ठीक नहीं है कि स्त्रियों या पुरुषोंके स्वभाव कुछ अलग-अलग होते हैं, विशेषतः जब कि चाम्बुलीके नर और नारी दोनों हमारी भावनासे ठीक उलटे स्वभावके मिलते हैं।'

दूसरे प्रसिद्ध अमरीकी नर-शास्त्री रथ बैनेडिक्टने बताया है कि 'विभिन्न संस्कृतिवालोंमें अत्यन्त विशेष प्रकारका व्यक्तित्व-भेद होता है। न्यू मैक्सिकोके ज़ूनीं इंडियनोंके अनुसार प्रत्येक व्यक्तिको जातीय संस्कारोंमें बँधकर ही रहना चाहिए, उसके विरुद्ध कोई काम नहीं करना चाहिए। इसीलिये उनमें न तो व्यक्तिवाद ही है न अपना कार्य करनेका उत्साह ही है। इससे ठीक उलटे न्यू गायनाके दोबुवाँ लोग हैं जो मंत्र-तंत्र और जादू-टोनेमें विश्वास करते हैं। अतः, वे अत्यन्त प्रतिस्पर्धी, धूर्त और प्रपंची होते हैं। क्वाकिउत्लके लोग कीर्ति, महत्ता और आत्मप्रतिष्ठाको बहुत महत्त्व देते हैं। अतः, समाजके व्यक्तियोंके व्यक्तित्व-निर्माणमें जातीय प्रभाव भी कुछ कम महत्त्वपूर्ण नहीं होते यद्यपि इसके अपवाद भी कुछ कम नहीं हैं।' व्यक्तित्वपर परिस्थिति या वातावरणके प्रभावकी परीक्षा करते हुए मैंडेल शेरमनने यह खोज निकाला कि 'वर्जीनियाकी सुदूर पहाड़ी खोहोंमें रहनेवाले बच्चोंमें कल्पना और आत्मस्फूर्ति अर्थात् स्वतः कोई काम करनेकी वृत्ति बहुत कम होती है, यहाँ-तक कि न तो वे कोई खेल खेलते हैं, न उनका कोई सामाजिक संघटन है, न उनमें किसी बातकी प्रतियोगिता ही होती है और न उन्हें किसी बातपर निराशा ही होती है। वहाँके बच्चे और बूढ़े दोनों एकसे ही हैं और ज्यों ज्यों

बच्चे बड़े होते जाते हैं त्यों-त्यों अपने सयाने संबंधियोंके समान स्फूर्तिहीन, उदासीन और अन्धविश्वासी होते जाते हैं।

येल विश्वविद्यालयके श्री जौन डौलर्डका मत है कि व्यक्तित्वका विकास समझनेके लिये कोई निश्चित सांस्कृतिक और सामाजिक कसौटी काममें लानी चाहिए अर्थात् किसी व्यक्तिका व्यक्तित्व समझनेके लिये उसकी सामाजिक परिस्थितिकी रीति-नीति तथा उसके परिवारका सावधानीसे अध्ययन कर लेना चाहिए क्योंकि उसके व्यक्तित्वपर परिवारका भी कुछ कम प्रभाव नहीं पड़ता। इसीके साथ-साथ उसकी शारीरिक तथा सामाजिक शक्तियोंके पारस्परिक प्रभावका संबंध भी समझ लेना चाहिए क्योंकि जीवन भर उसका व्यक्तित्व उसके विशेष सामाजिक वातावरणसे ही सम्बद्ध रहता है। लौरेन्स-वासी श्री फ्रैंकका कथन है कि वास्तवमें बालकके शरीरमें ही उसकी संस्कृति अन्तर्हित रहती है क्योंकि संस्कृति या व्यावहारिक रीति-नीति ही यह निश्चय करती है कि भोजन कितनी-कितनी देरसे करना चहिए, अपना बनाव-श्रृंगार कैसे करना चाहिए आदि। मनुष्यकी वे सब परिस्थितियाँ भी इसीके अन्तर्गत आ जाती हैं जिनमें मनुष्य भावात्मक उत्तेजना या उद्वेगके साथ काम करता है। इसके अतिरिक्त माता-पिता अपने बच्चोंको व्यवहारकी जो प्रणालियाँ सिखाते हैं वे सभी सांस्कृतिक देन ही हैं जिनमें नैतिक विचार, सामाजिक प्रवृत्तियाँ और रुचियाँ प्रमुख होती है। फ्रैंकका मत है कि संस्कृतिकी आधार-भूमिसे ही व्यक्तित्व फूटकर निकलता है।

संस्कार

हमारे यहाँ माना गया है कि मनुष्य जो कुछ है वह अपने पूर्व जन्मके संस्कारके कारण है। किसी विशेष योनिमें, किसी विशेष परिवारमें, किसी विशेष वातावरणमें उत्पन्न होना और पालन-पोषण होना सब कुछ पूर्व जन्मके संस्कारपर अवलम्बित है। एक ही कुलमें एक ही प्रकारके वातावरणमें दुर्योधन, युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन सभीका पालन हुआ किन्तु सबके स्वभावमें भेद था। अपने दुःशील व्यवहारका कारण पूछनेपर दुर्योधनने ठीक ही उत्तर दिया था—

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः ।
केनापि देवेन हृदि स्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि ॥

[मैं जानता हूँ कि धर्म क्या है; मुझे क्या करना चाहिए । मैं यह भी जानता हूँ कि अधर्म क्या है, मुझे क्या नहीं करना चाहिए; किन्तु न जाने क्यों धर्मकी ओर मेरा मन नहीं जाता और अधर्मकी ओरसे मेरा मन हटता नहीं । बात यह है कि कोई देव मेरे हृदयमें बैठकर जैसा कराता चलता है वैसा मैं करता चलता हूँ ।]

स्वभाव-भेदकी समस्याका यही वास्तविक उत्तर है । मनुष्य अपने पिछले जन्मोंमें जिस प्रकारका कार्य करता रहा है उनके कारण मनके साथ उसकी क्रियाओंके जो भाव-संस्कार लगे रह जाते हैं वे ही अगले जन्ममें आकर प्रकट होते हैं । उन्हीं भाव-संस्कारोंके आधारपर एक ही कुल-परंपरा और एक ही वातावरणमें उत्पन्न हुए कई बालक भिन्न-भिन्न स्वभावके होते हैं और यह स्वभाव बड़े होनेपर ही नहीं, बहुत प्रारम्भमें ही दिखाई पड़ने लगते हैं । इसी कारण यह रूढोक्ति ही प्रचलित हो गई है—'पूतके पाँव पालनेमें दिखाई पड़ने लगते हैं ।' बहुत छोटे-छोटे बच्चोंमें भी, जिनका कोई ज्ञान-संस्कार नहीं होता, कोई तो बचपनमें ही क्रोधी, चिड़चिड़ा, क्रूर और लड़ाका प्रतीत होता है, कोई शान्त, हँसमुख, दयालु, उदार, और मृदु दिखाई पड़ता है । उस अवस्थातक तो वातावरणका प्रभाव नहीं पड़ता फिर यह भेद क्यों होता है ? इसका तात्पर्य यह है कि बालक पूर्वजन्मसे संस्कारतः जो कुछ भाव लाता है उन्हींसे उसका व्यक्तित्व बनता है ।

दुहरा व्यक्तित्व

प्रत्येक मनुष्यके दो व्यक्तित्व होते हैं । एक तो सामाजिक या औपचारिक होता है जो बनावटी होता है । यह व्यवहार तो मनुष्य वातावरणसे ही सीखता है । किन्तु दूसरा व्यक्तिगत चरित्र पूर्व जन्मके संस्कारसे आता है । यह व्यापक अनुभव है कि बहुतसे व्यक्ति जो बाह्य व्यवहारमें बड़े मृदु दिखाई

पड़ते हैं और देवता जान पड़ते हैं वे अपने परिवारवालोंके लिये राक्षससे भी अधिक भयंकर सिद्ध होते हैं। उनका यही आन्तरिक व्यक्तित्व ही उनका वास्तविक व्यक्तित्व है जिसका अध्ययन कोई मानसशास्त्री कभी कर नहीं पा सकता। यह स्वभाव उनके पूर्व जन्मके संस्कारपर अवलम्बित है।

यह सत्य है कि समाजमें रहनेके लिये सामाजिक संस्कार बहुत आवश्यक है और उसके लिये उचित शिक्षा भी देनी चाहिए किन्तु वही सब कुछ नहीं है। जिसका व्यक्तिगत संस्कार ठीक होगा वह समाजके लिये भी हितकर होगा किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि जिसका सामाजिक संस्कार ठीक हो उसका व्यक्तिगत संस्कार भी ठीक हो। इसीलिये हमारे यहाँ दैवी संपत्ति पर अधिक बल दिया गया और व्यक्तिगत संस्कारका अधिक महत्त्व बताया गया। पूर्व जन्मसे पाया हुआ यह संस्कार यदि बुरा हुआ तो केवल सत्संग, सद्ग्रन्थके अध्ययनसे ठीक हो सकता है और यदि इस जन्ममें वातावरण ठीक न मिला तो अगले जन्ममें उसके जीवनपर प्रभाव डालेगा।

घरके वातावरणका प्रभाव

सब मानस-शास्त्री अब इस बातपर प्रायः एकमत हैं कि हमारे व्यक्तिगत स्वभाव या व्यक्तित्वके लक्षण स्थिर करनेमें सामाजिक कारण सबसे अधिक महत्त्वके होते हैं। इन सामाजिक कारणोंमें सबसे पहले आता है परिवार। प्रायः सभी कुटुम्बियोंमें माता-पिता और घरकी परिस्थितियाँ मिलकर बच्चेके प्रारम्भिक वर्षोंमें बालककी प्रवृत्तियोंका निर्माण करती हैं। जिस परिवारके माता-पितामें परस्पर सद्भाव तथा प्रेम होता है और वे बच्चेसे स्नेह करते तथा बच्चा उनसे स्नेह करता है, उस शान्त वातावरणमें बालकके व्यक्तित्वका अधिक व्यवस्थित विकास होता है। जिन घरोंमें माता पिता दिनरात लड़ाई-झगड़ा और गाली-गलौज करते रहते हैं, बच्चोंको दिनरात डाँटते-फटकारते और मारते-पीटते रहते हैं उस अशान्त वातावरणमें उत्पन्न होने और पलनेवाले बालक बड़े अटपटे चरित्रवाले होते हैं।

सिरिल बर्ट नामक अँगरेज मानसशास्त्रीने बहुतसे अपराधी बच्चोंके

घरेलू वातावरणका अध्ययन करके परिणाम निकाला कि 'अट्ठावन प्रतिशत अकर्मण्य और अपराधी बालक उन परिवारोंसे आते हैं जिनमें या तो लड़ाई-झगड़ा होता रहता है या माता-पितामेंसे कोई एक मर गया रहता है, या दोनोंमेंसे एक परित्याग करके छोड़ गया रहता है या दोनोंमेंसे कोई एक प्रायः अनुपस्थित रहता है, जिससे घरमें बालककी देखभाल ठीक नहीं हो पाई। शेषमेंसे केवल २५ प्रतिशत बालक कलहपूर्ण घरोंमें उत्पन्न होनेपर भी अकर्मण्य नहीं निकले।' इस प्रकारके बारह अध्ययनोंसे लगभग यही परिणाम निकला। इन सब अध्ययनोंमें व्यापक बात यह मिली कि जहाँ माता-पितामेंसे कोई एक नहीं था उस परिवारके बालकका व्यक्तित्व और चरित्र अवश्य बिगड़ा पाया गया। इन परिणामोंके आधारपर अनेक मानसशास्त्रियोंने व्यापक सम्मति दी है कि 'परित्याग (तलाक)की प्रथा समाजके लिये अत्यन्त हानिकारक सिद्ध हुई है।' यह कम दुःखकी बात नहीं है कि इस सम्बन्धमें इतना मनोवैज्ञानिक अध्ययन हो चुकने और परिणाम प्रकट होनेपर भी आज हमारे देशमें ऐसे लोग जन्म ले रहे हैं जो परित्याग (तलाक) का समर्थन करके समाजको नष्ट करनेपर तुले हुए हैं। इसीलिये हमारे यहाँ बालकका सामाजिक संस्कार बनानेके लिये और माता-पिताके प्रभावसे उसे दूर रखनेके बचपनमें ही उसे गुरुकुलमें भेज देते थे।

हौनैल हार्ट और ई० बी० हार्ट नामक समाज-शास्त्रियोंने समझाया है सब बच्चे अपने माता-पिताके साथ अलग-अलग अत्यन्त निकटतम भाव-संबंध बना लेते हैं। अतः, जब माता-पितामें झगड़ा होता है तब बच्चेके व्यक्तित्वमें भी स्वतः गंभीर संघर्ष उठ खड़ा होता है, जिसके कारण वह असामाजिक (अनैतिक) या असाधारण व्यवहार करने लगता है। वियनाके मानसशास्त्री आउगुस्ट आइख़हौर्नने बताता है कि 'मेरी संस्थामें जितने भी कामचोर, भगोड़ और दुष्ट लड़के हैं वे सबके सब अनमेल या कलहपूर्ण घरोंसे आए हैं। विन्नेत्काकी बाल-मानसशास्त्रिणी ला बेर्ता डब्ल्यू० हाटविकने अनेक बच्चोंका परीक्षण करके बताया कि 'अत्यन्त प्रारंभिक कक्षाओंमें शान्त और सुखी परिवारोंसे आए हुए बच्चे परस्पर बड़े

सद्भावसे व्यवहार करते, एक दूसरेका बहुत ध्यान रखते और परस्पर एक दूसरेसे बड़ा स्नेह करते हैं। उनमें ईर्ष्या, भय, घबराहट या उदासी कुछ भी नहीं दिखाई देती। इसके विपरीत जो बच्चे झगड़ालू परिवारोंसे आए हैं वे विद्यालयमें भी लड़ते-झगड़ते हैं, एक दूसरेसे ईर्ष्या करते हैं, हल्ला मचाते हैं, डरते हैं, घबराते हैं और एक दूसरेकी भावनाओंका आदर नहीं करते।' लुई एन्० टर्मन तथा शिकागो विश्वविद्यालयके समाज-शास्त्री अर्नेस्ट डब्ल्यू० बर्गेस और लियोनार्ड एस० कौट्रेलने प्रयोग करके बताया है कि 'बचपनमें जिन लोगोंके परिवारोंका वातावरण अशान्त नहीं रहा और जिनके माता-पिताका दाम्पत्य-जीवन सुखी और स्नेहपूर्ण रहा है उनका अपना दम्पत्य जीवन भी निश्चित रूपसे सुखी रहता है।'

माता-पिता और बच्चेका संबंध

सिगमण्ड फ्रौयडका मत है कि 'माता-पिता अपने बच्चेके साथ जैसा व्यवहार करेंगे उसीके अनुसार बालकमें भी स्नेह, चिन्ता या घृणा उत्पन्न हो सकती है। माता-पिताके अत्यधिक लाड़-प्यारसे बालक ऐसे बिगड़ जाते हैं कि आगे चलकर उन बालकोंको अनेक प्रकारकी स्नायविक बीमारियाँ हो जाया करती हैं।' मनुने तो स्पष्ट कह दिया है—

लालने बहवो दोषास्ताडने बहवो गुणाः।
तस्मात्पुत्रं च शिष्यं च ताडयेन्न तु लालयेत्॥

[लाड़ करनेमें बहुतसे दोष हैं और ठीक देख-भाल करनेमें बहुतसे गुण हैं। इसलिये बच्चोंको लाड़-प्यारमें न रखकर डाँट-फटकारमें रखना चाहिए।]

मनोविश्लेषणात्मक अध्ययनोंसे भी अधिक वैज्ञानिक अध्ययन करके यह जाननेका प्रयत्न किया गया कि बालकके व्यक्तित्वके विकासपर पारिवारिक परिस्थितिका क्या प्रभाव पड़ता है। सिरिल बर्टने अनेक बालकोंका अध्ययन करके परिणाम निकाला कि '६१ प्रतिशत अपराधी या भगोड़ बालक उन घरोंसे आए थे जिनका पारिवारिक वातावरण दोषपूर्ण था और केवल १२

प्रतिशत बालक ऐसे थे जो अच्छे शान्त सुखी परिवारोंसे आनेपर भी अपराधी प्रकृतिके थे।' आउगुस्ट आइख़होर्नने अपने परीक्षणके आधारपर यह सिद्धान्त निकाला कि 'बालकोंमें जो व्यवहारको अनेक जटिल समस्याएँ दिखाई पड़ती हैं वे ठीक देखभाल न होनेके कारण भी उतनी ही होती हैं जितनी, अधिक देखभाल या अधिक सँभाल करनेके कारण। बालकोंमें अपराधकी भावना मुख्यत: तब उत्पन्न होती है जब माता-पिता उससे चिढ़ते रहते और उसे दुत्कारते रहते हैं। यह अपराध-वृत्ति अत्यधिक प्यारके कारण नहीं होतो क्योंकि अत्यधिक प्यारसे तो बालकोंमें लड़कपन और भोंदूपन ही आता है।' किन्तु यह मत भी ठीक नहीं है। ऐसे अनेक बच्चे देखे गए हैं जिनके माता-पिता चिढ़ते या दुतकारते भी नहीं फिर भी उनकी प्रकृति मारपीटकी होती है।

रिचार्ड एच्० पेंटर और फ़िलिप ब्लैंकार्ड नामक चिकत्सक मानस-शास्त्रीने कुछ अपराधी बालकों तथा कुछ अत्यन्त समस्यापूर्ण व्यवहारवाले बालकोंको अपनी प्रयोगशालामें ले जाकर वहाँ उनके घरेलू वातावरणकी सब परिस्थितियोंका परीक्षण करके परिणाम निकाला कि ९० प्रतिशत बालकोंकी घरेलू परिस्थितियाँ, घरपर दी हुई शिक्षा और देखरेखकी शैली अत्यन्त दोषपूर्ण थी। शैल्डन और इलियानोर ग्लूएक नामक मानस-चिकित्सकोंने अपने अध्ययनसे परिणाम निकाला कि '७० प्रतिशत अपराधी बालकोंके माता-पिता अपने घरेलू व्यवहारमें उनके प्रति या तो अत्यधिक कठोर रहते हैं या अत्यधिक शिथिल और उदासीन।'

व्यक्तित्वके अध्ययनके विशेषज्ञ रौस स्टैग्नरने बताया है कि 'जो माता-पिता अपने बालकोंको अधिक दंड देते हैं, उनके बालक विद्रोही, अपराधी, अत्यन्त दीन, बैठे-बैठे कल्पनाके स्वप्न देखनेवाले, गुम-सुम होकर दिनरात सोचते रहनेवाले और बाहरसे अत्यन्त नम्र और आज्ञाकारी प्रतीत होते हुए भी हृदयसे अपने माता-पितासे शत्रुता रखनेवाले होते हैं। ये सभी बातें व्यक्तित्वके विकासपर बहुत बुरा प्रभाव डालती है।

न्यूयौर्कके मानस-चिकित्सक मैरियन केनवर्दी और डैविड एम० लैवीने बालकके सामाजिक व्यवहार और व्यक्तित्व-निर्माणके लिये माता-पिताको

उदासीनता या अधिक लाड़-प्यारको अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कारण बताया है। लैवीका कथन है कि 'जहाँ अधिक देखभाल इस सीमातक पहुँच जाती है कि बालक सदा शासनमें ही रहनेके लिये विवश किया जाता है वहाँ बालक अत्यन्त विनम्र, दीन और पराश्रित हो जाता है। यह अत्यधिक देखरेख जहाँ लाड़-प्यारके रूपमें बदल जाती है वहाँ भी उसका परिणाम यही होता है कि बालक चौपट होकर नटखट और अपराधी बन जाता है।' जज बेकर फाउण्डेशनके सदस्य विलियम हीली और आउगुस्टा ब्रोनरने अधिक उद्विग्न बालकोंका परीक्षण करके परिणाम निकाला कि 'भावात्मक या मनोवेगात्मक अस्थिरताका सबसे बड़ा कारण माता-पिता-द्वारा उपेक्षा (रिजेक्शन) या उदासीनता है।' कोलंबिया विश्वविद्यालयके परसिवल एम्० सिमन्ड्सने ३१ तो ऐसे बच्चे लिए जिन्हें उनके माता-पिता प्यार-दुलार करते थे, ३१ बच्चे ऐसे लिए जिन्हें उनके माता-पिता उपेक्षाकी दृष्टिसे देखते थे और ३१ बच्चे ऐसे लिए जिन्हें न उनके माता-पिता बहुत प्यार ही करते थे न बहुत देख-भालमें ही रखते थे। इनका अध्ययन करनेपर व्यापक रूपसे देखा गया कि 'जिन बच्चोंको माता-पिता प्यार करते थे वे अधिक स्थिर भाववाले, अधिक सामाजिक, शान्त तथा सब बातोंमें अधिक रस लेते थे और जिनके माता-पिता प्यार नहीं करते थे उनमें भाववेगोंकी अस्थिरता, अशान्ति, उदासीनता और विद्रोह भरा हुआ था। इसीके साथ-साथ सिमन्ड्सने २८ ऐसे बच्चे लिए जिनके माता-पिता उनपर कड़ा शासन रखते थे और २८ ऐसे बच्चे लिए जिनके माता-पिता सब बातोंमें उन बच्चोंकी ही कही करते थे। इन बालकोंके व्यक्तित्वका अध्ययन करके उसने देखा कि जो बालक माता-पिताके दबावमें रहे वे अधिक नम्र, सुशील, विश्वस्त और शीघ्र वशमें आनेवाले तो थे किन्तु साथ ही वे बड़े चौकन्ने, लजालू, और स्फूर्तिहीन भी थे। इसके विपरीत अपने बच्चोंकी मनचाही करनेवाले माता-पिताओंके बच्चे दुःशील, उद्दंड, झगड़ालू और हठी तो थे किन्तु साथ ही वे स्वतंत्र भावनावाले, मनस्वी, व्यवहारकुशल और चलते-पुरज़े भी थे। इन दोनों अच्छे और बुरे परिणामोंका सन्तुलन करके सिमन्ड्सने यही

परिणाम निकाला कि बच्चोंपर न तो बहुत कड़ाई रखनी चाहिए और न बहुत उनकी मनचाही करने देनी चाहिए, वरन् दोनोंके बीचका व्यवहार रखना चाहिए और कुछ भयकी भावना बनाए रखकर उनका लाड़ करना चाहिए क्योंकि भय बिनु होइ न प्रीति।

परिवारमें बालककी स्थिति

ऐल्फ्रेड ऐडलरका मत है कि मनुष्यकी एक ही मुख्य वृत्ति है और वह है बड़ा बननेके लिये निरंतर प्रयास, जो वास्तवमें मनुष्यकी आत्म-हीनताकी भावनाओंकी प्रतिक्रिया है। घरके छोटे बच्चे अपने बड़े भाइयों और बहनोंसे अपनेको छोटा समझते रहते हैं अतः वे अपने छोटे होनेकी कमी पूरी करनेके लिये सदा उनसे किसी न किसी बातमें बड़े होनेका प्रयास करते रहते हैं। तात्पर्य यह है कि बच्चेका व्यक्तित्व इस बातपर बहुत अवलंबित है कि परिवारमें उसका क्या पद है अर्थात् वह सबसे बड़ा है, सबसे छोटा है या केवल बच्चा है।

किन्तु यह मत भी ठीक नहीं है। पंडित मदनमोहन मालवीयजी अपने आठ भाई-बहनोंमें पाँचवें थे किन्तु वे सबसे अधिक प्रसिद्ध, बुद्धिमान्, यशस्वी, धर्मनिष्ठ, त्यागी और उदारचेता सिद्ध हुए। योरपमें भी इस सम्बन्धमें जितने अध्ययन किए गए उनके परिणाम परस्पर-विरोधी और अपूर्ण रहे। गार्डनर मर्फी, लुई मर्फी और थियोडोर न्यूकूम्बने अपने 'ऐक्सपेरिमेंटल सोशल साइकोलौजी' (प्रयोगात्मक सामाजिक मानसशास्त्र) में ५० बालकोंका अध्ययन करके यह परिणाम निकाला कि 'परिवारमें किसी बालकका कौनसा क्रमिक स्थान है इसका कोई प्रभाव व्यक्तित्वपर नहीं पड़ता। इसकी अपेक्षा परिवारका मानस व्यवहार अधिक महत्वका होता है अर्थात् परिवारमें माता-पिता और भाई-बहन उसके साथ कैसा व्यवहार करते हैं और उसका अपने परिवारके सदस्योंके प्रति कैसा भाव है इसका अधिक प्रभाव पड़ता है। अतः, सामाजिक मानसशास्त्रकी दृष्टिसे परिवार और बालकका पारस्परिक सम्बन्ध अवश्य विचारणीय होता है।

बालकका सामाजिक संस्कार

वियनाके मानस-शास्त्री कार्ल ब्यूह्लरने रोनेवाले नन्हें-नन्हें बच्चोंपर प्रयोग करके देखा कि यदि रोते हुए बच्चोंके पास गरम पानीकी बोतल या कोमल तकिया उसी प्रकार रख दिया जाय जैसे माँ उसके शरीरसे लगकर लेटती है तो वे चुप हो जाते हैं। इस प्रयोगके आधारपर उन्होंने परिणाम निकाला कि मानव शिशु प्रारम्भमें तो पूर्णतः असामाजिक होता है अर्थात् उसे किसीके मेल-जोलकी पहचान और परख नहीं होती किन्तु तीसरे ही महीनेमें वह बच्चा सामाजिक होने लगता है। उसके पश्चात् वह अपने माता-पिता या अन्य सम्पर्कमें आनेवालोंके प्रति निश्चित रूपसे अपनी रुचि या अरुचि प्रकट करने लगता है। किसीको देखकर वह उसकी गोदमें नहीं जाता, किसीको देखकर झट हँसकर उसकी गोदमें चढ़ जाता है, किसीको देखकर डरकर रोने लगता है, किसीको देखकर खिल उठता है, किसी वस्तुको देखकर उसे पानेके लिये ललकता है और किसी वस्तुको देखते ही डरसे चिल्ला उठता है।

कार्ल ब्यूह्लरकी पत्नी श्रीमती शार्लोटे ब्यूह्लरने इस बातका अत्यन्त ध्यानसे अध्ययन किया कि बच्चे किस अवस्थामें अन्य बच्चोंके साथ मेलजोल बढ़ाते हैं तथा उन्हें देखकर क्या कहते या करते हैं। इस प्रयोगमें उन्होंने देखा कि 'चार या पाँच मास तककी अवस्थाका बच्चा अन्य बच्चोंको देखकर केवल मुस्करा भर देता है। आठ या नौ महीनेकी अवस्थामें वह अन्य बच्चोंको अपना खिलौना देने लगता है और दूसरे बच्चेका रोना-चिल्लाना सुनकर उसकी ओर आकृष्ट होने लगता है। नौ या दस महीनेकी अवस्थामें वह अन्य बच्चोंका चलना-फिरना, हँसना-बोलना, उठना-बैठना देखकर वैसा ही करने लगता है अर्थात् वह उनका अनुवर्तन तो करता है किन्तु दूसरे बालकोंको अपना खिलौना नहीं देना चाहता और खिलौना देनेमें आनाकानी भी करता है।' किन्तु यह परिणाम भी व्यापक और सार्वदेशिक नहीं है।

बच्चोंका सामाजिक व्यवहार और प्राक्तन जन्म-संस्कार

छोटे बच्चोंके सामाजिक व्यवहारमें भी उन्होंने अत्यन्त भिन्नता पाई। उन्होंने देखा कि छहसे अट्ठारह महीनेके बीचकी अवस्थावाले बहुतसे बच्चे

असमिल या सामाजिकता-शून्य थे और वे अन्य बच्चोंकी ओर या तो बहुत थोड़ा ध्यान देते थे या तनिक भी ध्यान नहीं देते थे। कुछ ऐसे भी पराश्रित बालक निकले जो अपने आप तो कुछ नहीं करते थे पर दूसरे बालकोंके आ जानेपर उनमें भी मिलने-जुलनेकी चेतनता आ जाती और वे भी उनके हँसने-बोलने, खेलने-कूदने आदि व्यवहारोंसे प्रेरणा पाकर वैसा ही करने लगते। कुछ ऐसे भी बालक निकले जो स्वयं मेलजोल बढ़ाते, खेलनेके लिये साथी ढूँढते अर्थात् स्वतः सामाजिक थे। ये बच्चे अपने साथियोंको भली-भाँति जानते-पहचानते भी थे और उनकी बातचीत तथा हँसी-खेलमें भी हाथ बँटाते थे, किन्तु उनकी उछल-कूद, बोलना-हँसना किसीके भरोसे नहीं था। श्रीमती ब्यूह्लरका विश्वास है कि बच्चोंमें जो ऐसी स्वभावगत भिन्नता पाई जाती है इसका यह कारण नहीं है कि कुछ पहलेसे उनका ऐसा सामाजिक अनुभव हो या घरकी परिस्थितियोंने उन्हें वैसा बनाया हो या उनकी जातिमें ही ऐसे व्यवहारका चलन हो।' श्रीमती ब्यूह्लरने कारण नहीं बताया कि ऐसा है क्यों? किन्तु कारण है वही — पूर्व जन्मका संस्कार। आजकलके जो मानसशास्त्री कुल परम्परा (हैरिडिटी) तथा वातावरण (एन्वारनमेंट)के घेरेमें चक्कर काटते हुए मानव-मानसकी परख करना चाहते हैं वे इस रहस्यको समझ ही नहीं सकते। किन्तु भारतीय दर्शनोंने इसका स्पष्ट कारण बता दिया है कि यह पूर्व जन्मके संस्कारका परिणाम है।

यद्यपि सिद्धान्त रूपसे तो अभीतक प्रमाणित नहीं किया जा सकता है किन्तु प्रयोगसे देखा गया है कि प्रायः बालकका सामाजिक व्यवहार कई वर्षोंतक एक-सा रहता है। रथ डब्ल्यू० वौशबर्न और आर्थर टी० जेरसिल्ड नामक दो प्रसिद्ध बाल-मानस-शास्त्रियोंने बच्चोंके सामाजिक व्यवहारोंका स्वतन्त्र अध्ययन करके यह परिणाम निकाला कि जो बच्चे शिशु-अवस्थामें देखा-देखी काम करनेवाले या दूसरोंके पीछे चलनेवाले या अनुवर्ती, मुखिया या नेता, एकान्तप्रिय, डरपोक, झोंकमें काम करनेवाले या उद्वेगशील अथवा सबको ढकेल या पछाड़कर आगे बढ़ानेवाले होते हैं उन सबके विद्यालय जानेसे पूर्वकी अवस्था अर्थात् शिशु विद्यालयकी अवस्था-तक सामाजिक

व्यवहार निरन्तर ज्योंके त्यों रहते हैं, उनके व्यवहारमें कोई अन्तर नहीं आता। अतः, हमारा सामाजिक व्यवहार स्थिति-सापेक्ष अर्थात् प्रत्येक स्थितिके अनुसार रंग पकड़ता चलता है और इसीलिये मनुष्यके सामाजिक व्यवहारके सम्बन्धमें आजतक न तो कोई तुला या कसौटी बन पाई है, न बन सकती है। फिर भी बच्चेकी सामाजिक प्रगतिका विवरण प्राप्त करनेके लिये के० एम्० बी० ब्रिजेज़ने एक मोटा-सा मानदंड स्थापित किया है जिसके अनुसार निम्नांकित बातें देखकर किसी बच्चेके सामाजिक व्यवहारका लेखा मिल सकता है—

१. अन्य बच्चेसे बातें करना, २. उनके खेलमें सम्मिलित होना, ३. दूसरे बच्चेसे सहायता माँगना, ४. खेलमें अपनी बारी आनेकी प्रतीक्षा करना, ५. दूसरोंको सहायता देनेका प्रयत्न करना, ६. किसी दूसरे बच्चेको कष्टमें पाकर उसे सान्त्वना देना या चुप करना, ७. अन्य बच्चोंसे मेलजोल बढ़ानेका प्रयत्न करना, ८. दूसरेके खिलौने न लेना, ९. दूसरेके काम या खेलमें हस्तक्षेप न करना, १०. अन्य बच्चोंके साथ अपने खिलौने और मिठाई बाँटकर खेलना या खाना, ११. छोटे बच्चोंके अधिकारोंकी रक्षा करना और १२. सामूहिक कार्य या खेल स्वतः प्रारम्भ करना। यदि इन क्रियाओंको परख करके कोई मानदंड बनाया जाय तो उसके सहारे साधारण बालक भी विद्यालय जानेसे पूर्वके वर्षोंमें भी सामाजिक भावनासे समृद्ध हो सकता है।

बालकके व्यक्तित्व-विकासमें सामाजिक योग

विलियम जेम्स तथा जेम्स एम्० बाल्डविन आदि अनेक प्रारम्भके मानसशास्त्रियोंने प्रयोग करके अंकित किया है कि बच्चेके प्रारम्भिक सामाजिक संसर्गसे उसके सामाजिक 'स्व' या व्यक्तित्वके निर्माणमें अत्यन्त सहायता मिलती है। समाज-शास्त्रके प्रसिद्ध आचार्य चार्ल्स एच्० कूलीने कहा है कि 'माता-पिता या अन्य जिन व्यक्तियोंके संपर्कमें बच्चा निरन्तर रहता है उनका ही बालकपर सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है।' कूलीका मत है कि 'विचार, प्रवृत्ति, यहाँ तक कि मेधायुक्त निजत्व या व्यक्तित्व भी अधिकांश

इस बातपर अवलम्बित होता है कि बच्चा जिसके साथ रहता है वे किस स्वभावके हैं और वे बालकके साथ किस प्रकारका व्यवहार करते हैं।

दर्शन-शास्त्री जौर्ज एच्० मीडका विश्वास है कि 'बालक जब पहले पहल समाजके संपर्कमें आता है तब वह अभिनेता बनकर अपने सम्पर्कमें आनेवाले लोगोंका अभिनय करने लगता है। अतः, पहले तो वह माता या पिताका अनुकरण करता है, फिर आगे चलकर पुलिसमैन, रसोइए, दूकानदार या ग्वालेका अभिनय करता है। इन्हीं वास्तविक या काल्पनिक व्यक्तियोंका अनुकरण करनेसे उसके व्यक्तित्वके व्यापक व्यवहारका रूप या साँचा ढल निकलता है।'

बाहरी समाजका प्रभाव

सभ्य देशोंके अधिकांश बालकोंका सामाजिक सम्पर्क परिवारके पश्चात् पहले विद्यालयसे ही होता है किन्तु बालकका व्यक्तित्व निर्माण करनेमें घरकी अपेक्षा विद्यालयका बहुत कम हाथ रहता है। जिन देशोंमें सामाजिक शिक्षा अनिवार्य है या जहाँ पढ़ने-लिखनेकी प्रवृत्ति अधिक है, वहाँ अधिकांश बच्चोंको दस या बारह वर्ष-तक विद्यालयमें पढ़ना पड़ता है। अतः, उनकी बौद्धिक (इन्टेलेक्चुअल), भावात्मक (इमोशनल) और सामाजिक अभिवृद्धिपर उनके विद्यालय और अध्यापकका अधिक प्रभाव पड़ता है। न्यूयौर्ककी प्रसिद्ध मानस-चिकित्सिका ईरा एस० वाइलने सिद्ध किया है कि 'विद्यालयके ज्ञानस्तर-तक पहुँचनेमें मन्द बालकोंको बड़ी कठिनाई होती है। यदि उसपर व्यक्तिगत ध्यान न दिया जाय और उसे विशेष वर्गमें न रक्खा जाय तो वह अपनी पढ़ाईकी अशक्तताके कारण या तो खुला सक्रिय विद्रोह करेगा या निष्क्रिय रूपसे बैठा शेखचिल्लीके स्वप्न देखा करेगा। व्यक्तित्वके विकासमें इन दोनों ही बातोंका बहुत बुरा परिणाम होता है और इसीलिये अध्यापकोंको जब छात्रोंके व्यक्तित्वकी जटिलताओंसे उलझना पड़ता है तब उनका काम बड़ा टेढ़ा हो जाता है।' इसलिये शिक्षा-शास्त्रकी दृष्टिसे यह आवश्यक है कि छात्रोंके ज्ञानके आधारपर ही उनका वर्गीकरण किया जाय।

बाल-मानस-शास्त्री जौन जे० बी० मौर्गन और कैरोलाइन जाखरीने बच्चोंके व्यक्तित्वमें असंगत मेल (मैलएडजस्टमेंट्स) पर लिखी हुई पुस्तकोंमें बार-बार कहा है कि 'जिन बालकोंका व्यक्तित्व ठीक-ठीक नहीं विकसित हो पाता, वे उद्दण्ड (ऐग्रैसिव), झगड़ालू, दुष्ट, भयातुर, दिनरात कल्पनामें डूबे रहनेवाले, अत्यधिक पराश्रित तथा चिन्ताशील हो जाते हैं और अभाग्यवश अधिकांश अध्यापकोंको ऐसी शिक्षा ही नहीं मिलती कि वे ऐसे छात्रोंकी व्यवहार-समस्याओंका ठीक-ठीक समाधान कर सकें।' ई० के० विकमैनने अनेक अध्यापकोंसे बातचीत करके यह परिणाम निकाला कि 'व्यभिचार, असत्य भाषण, धोखा देना, दुःशीलता, भगोड़पन और कामचोरीको ही अधिकांश अध्यापक बहुत बड़ी समस्या मानते हैं। वे बच्चोंके अकेलेपन और सबसे दूर हटकर रहनेकी प्रवृत्तिको कुछ दोष ही नहीं मानते हैं।' किन्तु अधिकांश मानस-चिकित्सकोंका मत है कि 'असामाजिक व्यवहार अर्थात् अकेले रहने या किसीसे मिलने-जुलनेसे जी चुरानेका अभ्यास भी बड़ा गम्भीर रोग है और यही सिद्ध करता है कि उसका व्यक्तित्व कुछ गड़बड़ है, अव्यवस्थित है।'

अध्यापकका प्रभाव

छात्रोंपर अध्यापकोंका बहुत प्रभाव पड़ता है, चाहे वह प्रत्यक्ष हो या अप्रत्यक्ष। मार्क ए० मे और ह्यू हार्ट्सहौर्नने कुछ छात्रोंकी सद्वृत्ति या ईमानदारीका अध्ययन करके देखा कि अत्यन्त सम्मानित, लोकप्रिय और प्रशंसित अध्यापकोंके शिष्य अन्य लोगोंके साथ बहुत कम प्रवंचनाका व्यवहार करते हैं और जो अध्यापक लोकप्रिय नहीं हैं, जिनसे विद्यार्थी घृणा करते हैं या जिनकी पढ़ाई वे ठीक नहीं समझते, उनके शिष्य अधिकांश सबको धोका देते हैं। विलियम सी० ट्राउने एक अत्यन्त उत्तेजनशील छोटी-सी बालिकाका उदाहरण देकर बताया है कि 'उसे प्रतिवर्ष जैसा अध्यापक मिलता था वैसी ही उसकी मानसिक वृत्ति हो जाया करती थी। यदि उसे अधीर, हड़बड़िया, रोबदाबवाला या चिल्लानेवाला अध्यापक मिल जाता तो वह बालिका भी अत्यन्त भयभीत हो जाती और घबरा उठती थी। जब उसने देखा कि

उसके विद्यालयके आठ अध्यापकोंमेंसे केवल एक ही अध्यापक सहानुभूतिशील है तो उसने निश्चय कर लिया कि अब मैं अपना उपाधिपत्र लेकर फिर कभी किसी विद्यालयमें पैर ही नहीं रक्खूँगी।'

शिक्षाका प्रभाव

मनुष्यके व्यक्तित्वपर शिक्षाका भी बड़ा प्रभाव पड़ता है। शिक्षासे विशेषतः उच्च शिक्षासे उसकी प्रवृत्तियाँ बहुत बदल जाती हैं। डैनियल काल्स और फ्लौएड एच० औलपोर्ट ने विद्यालयके कुछ विद्यार्थियोंका परीक्षण करके परिणाम निकाला कि 'उच्च कक्षाके विद्यार्थियोंके धार्मिक विचार अधिक उदार थे और छोटी कक्षावालोंके कम।' इसी प्रकार परसिवल सिमन्ड्स आदिने परीक्षण करके यह परिणाम निकाला कि 'ज्यों-ज्यों छात्र विद्यालयकी कक्षाओंमें ऊपर चढ़ते चले जाते हैं त्यों-त्यों उनकी सामाजिक और आर्थिक भावनाएँ अधिक उदार होती चली जाती हैं।'

मार्क ए० मे और लियोनार्ड डूबने सिद्ध किया है कि 'विद्यालयोंमें परीक्षा, कक्षा-विधान, अच्छे बच्चोंके प्रति विशेष व्यवहार और खेल-कूदकी अतिस्पर्धाएँ निरन्तर उनकी सांस्कृतिक भावनाएँ बढ़ाती रहती हैं। छात्रोंकी दैनिक क्रियाओंका परीक्षण किया जाय तो उनमें एक दूसरेको सहयोग देनेकी अपेक्षा एक दूसरेसे प्रतियोगिता करने या एक दूसरेसे आगे बढ़नेकी भावना अधिक रहती है, फिर भी अध्यापक लोग उन छात्रोंको दिनरात सहयोग करनेका ही उपदेश देते चले जाते हैं।' प्रसिद्ध मनोविश्लेषण-शास्त्री कारेन हौर्नीका मत है कि 'इस प्रकारकी परस्पर विरोधी बातोंसे बच्चोंके व्यक्तित्वके भीतर ऐसा संघर्ष उत्पन्न हो जाता है कि उनके व्यक्तित्वमें बड़ी असंगति आ जाती है।'

मित्र और समाज

अपने विद्यालयके जीवनमें बालक विशेष रूपसे अपने साथियोंके साथ उठना-बैठना, बातचीत, लेन-देन, हँसी-खेल करता, उन्हींकी क्रियाओंके अनुसार व्यवहार करता और जहाँ रहता है उस समाजके जिस वातावरणमें

दूसरोंको जैसा करते देखता है वैसा ही स्वयं भी करने लगता है। शिकागोके मानसशास्त्रियोंने इन साथियों और समाजोंके प्रभावोंका भी अध्ययन किया क्योंकि कुछ बच्चोंमें जो बचपनसे ही अपराध करनेकी प्रवृत्ति पाई जाती है उसका इन प्रभावोंसे बहुत सम्बन्ध है। क्लिफर्ड शौने इसी प्रकारका परीक्षण करके परिणाम निकाला कि जैसा अच्छा या बुरा पड़ोस होगा उसीके अनुपातमें वहाँके अपराधी बालकोंकी संख्या भी कम या अधिक होगी। शिकागोके बाहर गन्दे मुहल्लों, खुले कोठों, कारखानों और टूटे गोदामोंमें रहनेवाले बालकोंमें बाल्यापराधोंका बोलबाला है और ज्यों-ज्यों आप भले आदमियों और गृहस्थोंके बँगलोंकी ओर बढ़ चलेंगे त्यों त्यों बाल्यापराध कम मिलेगा। सिरिल बर्टने भी ठीक यही दशा लन्दन, फ़िलेडेल्फ़िया, बोस्टन, क्वीनलैंड तथा अन्य नगरोंमें भी पाई।

साथियोंके सम्पर्कसे बालकके नैतिक विचार और आचरणपर किस प्रकार प्रभाव पड़ता है इसपर विलियम हीलीने अनेक बच्चोंकी परीक्षा करके परिणाम निकाला कि 'शिकागो और बोस्टनमें जितने बाल्यापराधी मिले उनमेंसे दो तिहाई केवल कुसंगके कारण अपराधी बने थे।' न्यूयॉर्क विश्वविद्यालयके समाजशास्त्री फ़्रैडरिक एम० थ्रेशरने शिकागोकी लगभग १३०० बदनाम टोलियोंका अध्ययन करके देखा कि उन दलोंका प्रभाव उनके सभी सदस्योंपर बुरा नहीं पड़ा। उन्होंने देखा कि इन दलोंके लोग अपने छोटेसे छोटे सदस्योंके साथ भी बहुत घुल-मिलकर रहते हैं और ज्यों ही वह सदस्य सक्रिय भाग लेने लगता है त्यों ही उसे बड़ा पद दे देते हैं। ऐसी सब टोलियाँ बुरे मुहल्लोंमें ही अधिक फलती-फूलती हैं और ये अपने संपर्कमें आनेवाले बच्चोंको पहले तो कामचोर या भगोड़ बनाती हैं, फिर धीरे-धीरे उन्हें गुंडा, चोर, डाकू, लुटेरा और हत्यारा-तक बना डालती हैं।

अल्पसंख्यक दलकी सदस्यताका प्रभाव

किसी बदनाम या असमर्थित अल्पसंख्यक जाति या राष्ट्रीय दलके सदस्य होनेका भी व्यक्तित्वपर बड़ा प्रभाव पड़ता है। अमरीकाके लोग यहूदी और हब्शी जातिके प्रति जो निरन्तर भेद-भाव, पक्षपात और घृणा दिखाते हैं

इसका प्रभाव वहाँके यहूदियों और हब्शियोंके व्यक्तित्वमें अत्यन्त स्पष्ट दिखाई देता है। अभी हालमें जौन डौलर्ड, ई० फ्रैंकलिन फ्रेज़ियर आदि जिन अन्वेषकोंने अमरीकी यूथ कमीशनकी ओरसे हब्शी युवकोंके व्यक्तित्वके विकासका अध्ययन किया था उन्होंने अनेक परीक्षणोंसे देखा कि जिन हब्शियोंके व्यक्तित्वमें प्रत्यक्ष रूपसे कोई त्रुटि नहीं है वे भी अपनेको हीन ही समझते हैं। जहाँ एक ओर कुछ ऐसे प्रचंड हब्शी हैं कि अवसर पड़नेपर श्वेत लोगोंसे बदला लेनेमें भी नहीं चूकते वहीं कुछ ऐसे भी लोग हैं जो अत्यन्त आज्ञाकारी और विनम्र हैं। अतः, हब्शीका व्यवहार पूर्णतः इस बातपर अवलंबित है कि श्वेत लोग उसके साथ कैसा व्यवहार करते हैं, उसकी पारिवारिक शिक्षा कैसी हुई है, उसकी अवस्था, बुद्धि और आर्थिक स्थिति कैसी है और उसकी जातिमें किस प्रकारकी प्रवृत्तियाँ प्रचलित हैं। किन्तु अन्य सामाजिक प्रभावोंकी अपेक्षा इस बातका बहुत कम अध्ययन हुआ है कि किसी भी हीन समाज या जातिका सदस्य होनेसे उसके व्यक्तित्वपर क्या प्रभाव पड़ता है।

आर्थिक कारणोंका प्रभाव

आर्थिक कारणों और परिस्थितियोंका व्यक्तित्वपर कितना प्रभाव पड़ता है यह कहना तो कठिन है किन्तु उनका प्रभाव होता है बहुत अधिक। हमारे यहाँ यह उक्ति ही प्रसिद्ध है—

> त्यजेत्क्षुधार्त्ता महिला स्वपुत्रं खादेत्क्षुधार्त्ता भुजगी स्वमंडम्।
> बुभुक्षितः किं न करोति पापं क्षीणा जना निष्करुणा भवन्ति॥

[भूखी स्त्री अपने बच्चेको छोड़ देती है। भूखी साँपिन अपने अंडे खा जाती है। भूखा मनुष्य कौन-सा पाप नहीं कर डालता? सचमुच निर्धन मनुष्य बड़ा निर्दयी होता है।]

बहुतसे लोगोंको तो निर्धनता ही अपराध करनेके लिये बाध्य करती है किन्तु शिक्षा या कुल-संस्कारके कारण जिनकी वृत्ति नैतिक तथा धार्मिक हो जाती है उन्हें कम बाध्य करती है। बर्ट, हीली और ग्लूएक बन्धुओंने जो

परीक्षण किए उनके आधारपर मानस-चिकित्सक सी० एम० लाउटिटका कथन है कि 'निर्धनताकी अपेक्षा निर्धनताके साथ-साथ आनेवाली परिस्थितियों— कंगालोंका पड़ोस, घरपर बहुतसे लोगोंका जमघट, माता-पिताकी चिन्ता और घरके लड़ाई-झगड़े आदि—के कारण बालकमें अपराधकी वृत्ति बहुत बढ़ जाती है। न्यू जर्सीज़ एसेक्स काउन्टी जुवेनाइल क्लिनिकके मानस-चिकित्सक जेम्स एस्० प्लान्टने परीक्षण करके देखा कि दरिद्रताके साथ-साथ जिन लोगोंको रहनेको असुविधाएँ भी होती हैं उनके व्यक्तित्वपर भी बड़े बुरे प्रभाव पड़ते हैं क्योंकि अधिक लोगोंके साथ रहनेसे न तो व्यक्तिगत एकान्तता ही मिल पाती है न अपने व्यक्तित्वकी भावनाके विकास अथवा उन्नति करनेका पूरा अवसर ही मिल पाता है। सबसे बड़ी विपत्ति तो यह हो जाती है कि उसे अनिच्छापूर्वक अनेक विरोधी प्रकृतिवालोंके साथ बलपूर्वक मेल बैठाते हुए चलनेको विवश होना पड़ता है।

किन्तु निर्धनतासे कुछ लाभ भी हो सकते हैं। येल क्लिनिक ऑफ़ चाइल्ड डेवलपमेंटके संचालक आर्नोल्ड गेसेल और उनके एक सहयोगीने परीक्षण-द्वारा देखा कि अपनी अवस्थाके धनी बालकोंकी अपेक्षा निर्धन बालक अपनी देखभाल स्वयं कर लेते हैं, यद्यपि इन निर्धन बालकोंमें बुद्धि-वैभव, बातचीतका ढंग, आत्मस्फूर्ति, लगन, सहयोगिता और मानसिक सन्तुलन कुछ कम होता है। रौस स्टैग्नरने परीक्षण करके देखा कि विद्यालयके धनी छात्रोंकी अपेक्षा वहाँके निर्धन छात्र अधिक भावाविष्ट होनेके साथ-साथ अधिक एकान्तप्रिय और आत्मविश्वाससे हीन भी होते हैं। स्टैग्नरने यह भी परिणाम निकाला कि 'निर्धन व्यक्ति सदा कठिनाईमें पड़े रहते हैं इसलिये दरिद्रता और कठिनाइयाँ प्रायः चरित्रको समुज्वल नहीं बनने देतीं।'

येल विश्वविद्यालयके अर्थशास्त्री ई० डब्लू बक्के और कोलंबिया विश्वविद्यालयके पौल एफ़० लज़ार्सफेल्ड दोनोंका यह अनुभव और मत है कि मनुष्यके व्यक्तित्वपर बेकारीका ऐसा बुरा प्रभाव पड़ता है कि उसकी वैयक्तिक शक्ति जाती रहती है, उसका आत्मविश्वास कम हो जाता है, उसमें अपने

मान-सम्मानका ध्यान नहीं रह जाता और निरंतर बेकार रहते-रहते वह अपनेको व्यर्थ समझने लगता है ।

व्यक्तित्वका साँचा

उपर्युक्त विवरणसे यह स्पष्ट हो जाता है कि बच्चेपर जो और जैसे प्रभाव पड़ते हैं उनके अनुसार उसके व्यक्तित्वका ढर्रा बनता चलता है। यद्यपि व्यक्तिका स्वभाव अर्थात् उसकी अन्तर्हित शक्ति और उसकी भावात्मक वृत्ति आदि प्रायः उसकी अन्तःप्रसविणी ग्रन्थि, स्नायविक प्रणाली तथा अन्य भौतिक या शारीरिक परिस्थितियों-द्वारा भी प्रभावित होती हैं किन्तु जैसा गार्डन औलपोर्टने कहा है—'इन सब कारणोंसे व्यक्तित्वका पूर्ण चित्र अभिव्यक्त नहीं होता । किसी भी व्यक्तिके व्यक्तित्वकी रूपरेखा अर्थात् उसके गुण, लक्षण, प्रवृत्ति, रुचि, चरित्र और आदर्शकी समष्टि अधिकांशतः उसके वातावरणसे बनती है । इस व्यक्तित्वके निर्माणमें बालकके घर और परिवारकी वृत्ति सबसे अधिक उत्तरदायी है किन्तु उसके विद्यालय-जीवन, मित्र-मंडली समाज, जाति, सामाजिक पद, आर्थिक स्थिति और उसके उस पूर्ण सांस्कृतिक साँचेका भी कम महत्त्व नहीं है जिनमें वह रहता है ।' किसी भी मानसशास्त्रीके लिये यह कहना कठिन है कि इनमेंसे अपेक्षाकृत महत्त्वकी कौनसी बात है क्योंकि अभीतक इस सम्बन्धमें जितने भी प्रयोग हुए हैं वे तो मुख्य भवन-निर्माणके लिये धरती खुरचने मात्रके प्रयासके समान अत्यन्त नगण्य हैं ।

——

६

बालकका शारीरिक संस्कार

यद्यपि बालकके व्यक्तिपर उसके घर, परिवार, मित्र, विद्यालय, पड़ोस, जाति, स्वामी और राष्ट्रका भी बड़ा प्रभाव पड़ता है किन्तु बालकके व्यक्तित्वपर उसके शरीरका भी कम प्रभाव नहीं पड़ता। किसी भी व्यक्तिका व्यक्तित्व (उसकी रुचि, प्रवृत्ति, कामना, वासना, आकांक्षा आदिका समूह) उसकी शारीरिक और सामाजिक शक्तियोंका परिणाम है। शरीरकी बनावट तो सभी-को प्रायः अपने माता-पितासे मिलती है। मोटे-ढोल माता-पिताओंके बच्चे मोटे, दुबले-पतले मरियल लोगोंके दुबले-पतले, लम्बोंके लम्बे और नाटोंके नाटे होते हैं, यहाँतक कि मुँह नाक, कान, आँख आदि अंगोंकी बनावट भी माता-पिता या कुल-परम्पराकी ढलनपर ही बनी होती है। अतः, शरीर तो शुद्ध रूपसे हमें माता-पितासे ही मिलता है। हाँ, कभी-कभी किसी भौतिक कारणसे गर्भमें या जन्म लेनेपर विकृति भी आ जाती है। मनुष्यके व्यक्तित्व और साधारण व्यवहारपर शारीरिक प्रभाव अधिक पड़ता है या सामाजिक, इस विषयपर बहुत सी गवेषणाएँ भी हुई हैं और इस सम्बन्धमें बड़ा विवाद और मतभेद भी बना हुआ है।

जर्मन मानस-चिकित्सक अर्न्स्ट क्रैश्मैरने शारीरिक बनावटकी दृष्टिसे तीन प्रकारके मानव-शरीर निर्धारित करते हुए कहा है कि '१. घुमन्तू (पिकनिक) प्रकृतिवाले लोग नाटे, गठीले और पक्के होते हैं। २. दुर्बल प्रकृतिवाले लम्बे और पतले होते हैं, ३. कसरती शरीरवाले भरे और सुडौल अंगवाले होते हैं। किन्तु साधारणतः मनुष्योंमें शरीरकी बनावट और उनके व्यक्तित्वमें कोई परस्पर सम्बन्ध दिखाई नहीं पड़ता।'

शरीर और व्यक्तित्वका सम्बन्ध

सन् १९२८ में गिलबर्ट जे० रिचने शरीरकी क्षारता (आल्केलिनिटी)

और भावोद्वेगात्मक उत्तेजनीयता (इमोशनल एक्साइटेबिलिटी) का पारस्परिक सम्बन्ध जाननेका प्रयत्न किया। किन्तु ऐसे प्रयत्न सभी निष्फल सिद्ध हुए जिनमें भावावेगकी उत्तेजनाके साथ शारीरिक रसोंका सम्बन्ध जोड़नेका प्रयास किया गया था। इसी सनकमें लुई बर्मनने यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया कि 'मानव शरीरके भीतर ही भीतर रस रिसानेवाली गाँठ (अन्तः-प्रस्रविणी ग्रन्थियाँ या इंडोक्राइन ग्लैंड्स) जितनी मात्रामें रस छोड़ती हैं उसी अनुपातसे मनुष्य भला-बुरा, सुस्त-फुर्तीला, मोटा या पतला होता है।' पर उसका यह मत न तो मानस-शास्त्रियोंने माना न अन्तर्ग्रन्थिवादियों (एंडोक्राइनौलौजिस्ट्स) ने ही।

इस सम्बन्धमें एल्फ्रेड ऐडलरका मत है कि 'यद्यपि व्यक्तित्वपर शरीरकी बनावट, रक्तकी प्रकृति और अन्तः प्रस्तविणी ग्रन्थियोंका तो सीधा प्रभाव नहीं पड़ता किन्तु शारीरिक बनावट और व्यक्तित्वमें परस्पर सम्बन्ध अवश्य है।' ऐडलरका मत है कि 'जो लोग हीनांग या विकलांग होते हैं वे अपनेको हीन समझने लगते हैं और उनमें आत्महीनताकी भावनाएँ आ ही जाती हैं।' लँगड़े, नाटे, कुरूप या विकृत अंगवाले बच्चे अपनेको हीन समझ बैठते हैं और वे अपनी इन शारीरिक त्रुटियोंको पूर्ण करनेके लिये वास्तविक या काल्पनिक प्रयास भी करने लगते हैं। अतः, यह सम्भव है कि उनका संपूर्ण व्यक्तित्व इसी कमीकी पूर्ति करनेका प्रयास मात्र ही हो।' किन्तु ऐडलरका यह मत भ्रामक है। वास्तवमें यह आत्महीनता उनकी शारीरिक हीनताके कारण नहीं उत्पन्न होती। यह तो तब होती है जब वे अन्य सर्वांगपूर्ण व्यक्तियोंसे अपनी तुलना करके उन्हें अपनेसे अधिक समर्थ पाते हैं। क्योंकि यदि सारा संसार ही लूला होता तो कोई अपनेको हीन न समझता और अपनी पूँछ कटनेपर दूसरोंकी पूँछ कटवानेकी सम्मति भी न दिया करता। यदि सभी स्त्रियाँ सुन्दरी हुआ करतीं तो कोई भी व्यक्ति उनके असुन्दर होनेकी कल्पनाके फेरमें क्यों पड़ता? अतः, शारीरिक गुण भी व्यक्तित्वको प्रभावित करते हैं और उन गुणोंका महत्त्व भी इसीलिये है कि समाज उन गुणोंका इतना आदर करता है।

फ्रौयडका मत

स्नायविक रोगोंसे पीडित (न्यूरोटिक) व्यक्तियोंकी चिकित्साके लिये मनोविश्लेषणात्मक उपचारका विधान समझाते हुए सिगमण्ड फ्रौयडने 'व्यक्तित्वका सिद्धान्त' निर्धारित करते हुए कहा कि 'प्रत्येक व्यक्तिमें एक मौलिक विस्फूर्ति, स्वाभाविक झोंक (फंडामेंटल ड्राइव) या शक्तिस्रोत होता है जिसे 'लिबिडो' कहते हैं और जो मुख्यतः काम-वासनाको प्रेरित करता है। यह शक्तिस्रोत हमारे मानसिक जीवनके विस्तृत अचेतन खंड (अनकौन्शस पार्ट ऑफ़ अवर मेंटल लाइफ़) से उत्पन्न होता है । हमारे पूर्ण स्वको यदि विभक्त करके देखा जाय तो उसके तीन पक्ष मिलेंगे —१. आदिम जीव-प्रकृति (प्रिमिटिव एनिमल नेचर) या 'इड' जिसे बहुतसे लोगोंने केवल ध्वनिसाम्यके कारण भूलसे 'इदम्' कहना प्रारंभ किया है, २. विवेक (ईगो) और ३. नैतिकता या धर्म (सुपर ईगो)। इनमेंसे हमारी आदिम जीव-प्रकृति या 'इड' तो हमारे अचेतन (अन्कौन्शस) में स्थित होकर सदा शक्तिस्रोत या कामशक्ति (लिबिडो) को तृप्त करनेका प्रयत्न करती रहती है। हमारा विवेक (ईगो) आदिम जीव-प्रकृतिकी पाशविक उत्प्रेरणाओंपर नियंत्रण करता चलता है और उनमेंसे अनैतिक या असामाजिक उत्प्रेरणाओंको दबाकर अचेतनमें ढकेलकर सामाजिक उत्प्रेरणाओंको व्यक्त होनेका अवसर देता रहता है। चैतन्य (कौन्सस) से मिलता-जुलता हमारा नैतिक 'स्व' या धर्म (सुपर ईगो) उन नैतिक भावोंका भंडार है जिन्हें समाजने मान्य कर लिया है। यही नैतिक 'स्व' हमारे विवेकको प्रेरणा देकर हमारी आदिम प्रकृतिकी असामाजिक प्रवृत्तियोंको दबानेमें योग देता है। इस प्रकार हमारे नैतिक 'स्व' या धर्म-भावना (सुपर ईगो) और आदिम प्रकृतिमें जो निरंतर संघर्ष चलता रहता है उसे हमारा 'विवेक' सुलझाता चलता है। साधारण व्यक्तियोंमें यह संघर्ष बड़ी विषमता उत्पन्न कर देता है जिसके कारण उन्हें अनेक प्रकारके रोग-दुःख, संकट और क्लेश आ सताने लगते हैं।

व्यक्तित्वके विकासका विवरण देते हुए फ्रौयडने समझाया है कि 'बच्चेका शक्तिस्रोत (लिबिडो) अनिर्दिष्ट होता है। आत्ममोह या स्वयं अपनेपर ही

रीझ उठनेकी (नार्सिसिस्टिक) अवस्थामें बच्चेका शक्तिस्रोत स्वत: उसीकी ओर घूम जाता है जैसे नार्सिसस स्वयं अपनी ही परछाहीं देखकर उसीपर लट्टू हो गया था । जब बच्चा चार-पाँच बरसका होता है तब उसका शक्तिस्रोत अपनेसे भिन्न व्यक्तियों अर्थात् अपने माता-पितामेंसे किसीकी ओर मुड़ जाता है ।' इसी आधारपर फ्रौयडका मत है कि 'बाल्यावस्थामें ही बच्चेमें काम-प्रवृत्तिका विस्फोट हो जाता है । इस कारण छोटा बालक तो अपनी माँपर आसक्त होकर अपने पितासे घृणा करने लगता है और छोटी बालिका अपने पितापर रीझकर अपनी माँसे घृणा करने लगती है । यह व्यवहार ओडिपस ग्रंथि (ओडिपस कौम्प्लेक्स) कहलाता है और यह ग्रंथि कुमार अवस्थामें तबतक बनी रहती है जबतक वह अपनेसे भिन्न लिंगोंको (लड़का-लड़कीको और लड़की लड़केको) प्रेम नहीं करने लगता या उसकी ओर आकृष्ट नहीं हो जाता ।'

यद्यपि सुसान आइज़ाक्स, गिल्बर्ट बी० हैमिल्टन आदि आचार्योंने फ्रौयडके मतका समर्थन अवश्य किया है किन्तु अनेक प्रयोग करके देखा गया कि यह मत अत्यन्त अप्रमाणिक है । टर्मनने स्वयं कहा है कि 'मैंने परीक्षण करके देखा तो किसी भी लड़केको अपनी माताके प्रति और किसी भी कन्याको अपने पिताके प्रति आसक्त नहीं पाया वरन् विचित्र बात यह पाई गई कि लड़के और लड़कियाँ दोनों ही माँको अधिक प्यार करते हैं ।' अतः, बालकोंके व्यक्तित्वके विकासके संबंधमें फ्रौयडके शक्तिस्रोत (लिबिडो) के विकासका समर्थन यदि होता भी है तो अनेक अपवादोंके साथ ।

शरीर और मन

पहले यह सिद्धान्त माना जाता था कि स्वस्थ शरीरमें स्वस्थ मन (साउंड माइंड इन ए साउंड बौडी) होना चाहिए किन्तु इधर इस सिद्धान्तमें थोड़ासा परिवर्तन कर दिया गया है और यह माना जाने लगा है कि 'फुर्तीले शरीरमें व्यवहारशील मन (प्रैक्टिकल माइंड इन ऐन एजाइल बौडी) होना चाहिए । यद्यपि स्वस्थ मनका अर्थ ही है 'विवेकशील मन और स्वस्थ

शरीरका भी अर्थ फुर्तीला शरीर ही है किन्तु प्रायः हट्टे-कट्टे शरीरको ही लोग स्वस्थ मान बैठते हैं, इसलिये नई परिभाषा और स्पष्ट कर दी गई। यह निश्चय है कि यदि शरीर स्वस्थ न हो तो मन स्वस्थ नहीं हो सकता। अतः, मनकी स्वस्थताके लिये शरीरकी स्वस्थता नितांत आवश्यक है। स्वस्थ शरीरकी पहचान यह नहीं है कि वह मोटा, हट्टाकट्टा और लंबा-चौड़ा भर हो। स्वस्थ शरीरका लक्षण यह है कि 'वह फुर्तीला, आलस्यहीन, शीत, वर्षा और धूप सहन कर सकनेवाला, मानसिक और शारीरिक परिश्रम कर सकनेवाला, सुडौल, नीरोग और नियमित हो।'

शरीरकी स्वस्थताके लिये उचित भोजन

छान्दोग्य उपनिषद्‌में कहा गया है—

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः, सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः,
स्मृतिलंभे सर्वग्रंथीनां विप्रमोक्षः॥

[भोजन शुद्ध होनेसे मनकी शुद्धि होती है, मनकी शुद्धि होनेसे स्मृति स्थिर होती है और स्मृति स्थिर होनेसे मनके सब विकार और सब गाँठें दूर हो जाती हैं।] यदि हम मांस आदि तमोगुणी, विकार बढ़ानेवाली, बासी और सड़ी-गली वस्तुएँ न खाएँ तो हमारा शरीर और मन पवित्र तथा स्वस्थ रह सकता है। कुछ विद्वानोंने 'आहार' को केवल मुखका भोज्य न मानकर सब इन्द्रियोंका ग्राह्य साधन बताया है। उनका कहना है कि आँखोंसे बुरी वस्तुएँ न देखकर केवल अच्छी वस्तुएँ देखना ही आँखका शुद्ध आहार है। कानोंसे बुरी बातें न सुनकर अच्छी बातें तथा संगीत सुनना ही कानोंका आहार है, नाकसे बुरी वस्तुओंकी गन्ध न लेकर सुगंधिका सेवन करना ही नाकका आहार है। इसी प्रकार सात्त्विक, अनुत्तेजक, बल-वीर्य-मेधा बढ़ानेवाले खाद्य पदार्थोंका सेवन करना ही मुखका शुद्ध आहार है। भोजनका शरीरपर ऐसा प्रभाव पड़ता है कि जिस प्रकारका भोजन होगा वैसा ही हमारा शरीर बनेगा और उसीके अनुसार हमारा मन भी बनेगा। इसीलिये हमारे यहाँ सिद्धान्त था कि भोजनकी प्रशंसा करके, हाथ-पैर धोकर, एकान्तमें बैठकर शुद्धताके साथ शुद्ध और सात्त्विक भोजन ही करना चाहिए।

भोजनके संबंधमें आजकल संजीवन-तत्त्वों (विटामिन्स) का सिद्धान्त चला है। भोजनशास्त्रके आचार्योंका कहना है कि प्रत्येक व्यक्तिको संतुलित भोजन करना चाहिए। यद्यपि उस संतुलित भोजनके सिद्धान्तका पालन तो न कोई करता न कर सकता है किन्तु इतना अवश्य है कि प्रत्येक बालकको गरम दूध, समयसे हित और मित सात्त्विक भोजन, समयसे निद्रा और पर्याप्त व्यायामका अवसर मिलना ही चाहिए। बालकोंके लिये अँकुए निकले हुए चने और दूधका प्रयोग अत्यन्त लाभकारी सिद्ध हुआ है। इसकी व्यवस्था राष्ट्रकी ओरसे होनी चाहिए। बहुत स्थानोंपर व्यायाम और खेलकी व्यवस्था तो की जाती है किन्तु उसके ऊपर उचित खाद्यकी व्यवस्था नहीं की जाती जिसका परिणाम सदा घातक होता है।

शारीरिक शिक्षा

मनकी शुद्धिके लिये शरीरकी शुद्धि और स्वस्थताकी आवश्यकताका अर्थ यह है कि जहाँ हम बौद्धिक शिक्षाके लिये इतने विद्यालय और महाविद्यालय खोल रहे हैं वहाँ हमें उसी परिमाणमें उन्हीं विद्यालयोंके साथ-साथ प्रत्येक छात्रके लिये शारीरिक संस्कारकी भी व्यवस्था करनी चाहिए। हमारे यहाँ प्रायः अत्यन्त अवैज्ञानिक तथा अस्वास्थ्यकर ढंगसे तत्काल घरसे भोजन करके विद्यालय आए हुए छात्रोंसे भरी धूपमें व्यायाम कराया जाता है या खेलके घंटे रख दिए जाते हैं। यह अत्यन्त हानिकर और अस्वास्थ्यकर है। इससे यद्यपि विद्यालयके सभी छात्रोंको खेलनेका अवसर तो मिल जाता है किन्तु इस खेलसे लाभके बदले हानि ही अधिक होती है।

शारीरिक संस्कार बनाए रखनेके लिये प्रत्येक स्वतंत्र राष्ट्रके शिक्षा विभागको यह देखना चाहिए कि सब छात्रोंको उचित भोजन, उचित मात्रामें शुद्ध सात्त्विक संजीवन-तत्त्वोंसे पूर्ण शुद्धताके साथ बना हुआ भोजन मिल रहा है या नहीं। दूसरी बात यह देखनी चाहिए कि विद्यार्थियोंमें नियमित रूपसे अपने शरीरके भीतर और बाहरकी शुद्धिका अभ्यास है या नहीं अर्थात् वे ठीक समयसे शौच जाते, स्नान करते, केश, नख, इत्यादिका संस्कार कराते, स्वच्छ वस्त्र पहनते, समयसे सोते

और उठते और नियमित रूपसे व्यायाम करते हैं या नहीं। तीसरी बात उन्हें यह देखनी चाहिए कि सब विद्यार्थी नियमित रूपसे इस प्रकारके व्यायाम खेल और कार्य करते हैं या नहीं जिनसे शरीरमें फुर्ती, सहनशीलता, तप और व्रतकी शक्ति उत्पन्न हो। चौथी बात यह देखनी चाहिए कि उनका वेश स्वस्थ, शुद्ध, स्वच्छ और व्यवस्थित है या नहीं। पाँचवीं बात यह देखनी आवश्यक है कि वे नियमित रूपसे प्राणायाम करते हैं या नहीं क्योंकि प्राणायामसे शरीरमें स्फूर्ति आती है, आत्मबल बढ़ता है, एकाग्रता-शक्ति बढ़ती है और मनमें स्थिरता आती है। अतः, प्राणायाम अत्यन्त आवश्यक है। अंतिम किन्तु आवश्यक बात यह है कि सब बालकोंको इस प्रकार व्यवस्थित रूपसे देख-रेखमें रखना चाहिए कि वे ब्रह्मचर्य-व्रतका भलीभाँति पालन कर सकें।

फुर्तीले खेल

शरीरको फुर्तीला बनाए रखनेके लिये अनेक प्रकारके फुर्तीले खेलोंका विधान किया गया है किन्तु उनके लिये निर्धारित समय होना चाहिए। वे खेल ऐसे होने चाहिएँ जिनमें एकाग्रता, सहयोग और शारीरिक अंग-संचालनका अधिकाधिक अवसर हो और उसके पश्चात् दूध आदि पौष्टिक पदार्थका सेवन करनेकी व्यवस्था हो। गौका दूध पूर्ण भोजन है और उसके लिये कहा गया है—सद्यः बलकरं पयः। [दूध तत्काल बल बढ़ानेवाला होता है।]

संकल्प-शक्ति और उदाहरण

इस प्रकारकी शारीरिक स्वस्थता और स्वच्छताका पालन करनेके लिये संकल्प और उदाहरणकी बड़ी आवश्यकता होती है। इसके लिये विद्यार्थियोंको इस प्रकारकी उत्तेजना दी जाय, उनके सम्मुख ऐसे लोगोंके उदाहरण रक्खे जायँ कि वे स्वतः शारीरिक संस्कारकी ओर प्रवृत्त हों और उन्हें मल्लयुद्ध, मुष्टिक-युद्ध तथा व्यायामचक्र (सर्कस) इत्यादिसे परिचित कराया जाय जिन्हें देखकर उनमें शरीर-संस्कारकी प्रवृत्ति बढ़े। अध्यापकका आचरण स्वयं

इसके लिये अत्यन्त आवश्यक है। इतने सब कारण उपस्थित करनेपर बालककी संकल्प-शक्ति निश्चित रूपसे प्रबुद्ध हो सकती है और वह शरीर-संस्कारके लिये समुद्यत हो सकता है। यह इसलिये भी आवश्यक है कि यदि बालकमें चाय, सिगरेट पान-तमाखू जुआ सिनेमा आदि देखने या चटपटी वस्तुएँ खानेका दुरभ्यास पड़ गया हो तो वह अपनी संकल्प-शक्तिके प्रयोगसे उसे छोड़ दे।

शरीर-संस्कारके अन्तर्गत अपने वस्त्र, आवास, पास-पड़ोस, पुस्तक, कक्षा आदि सभीकी शुद्धि स्वभावतः आ जाती है। अतः, छात्रोंको ऐसे अवसर और निर्देश भी देते रहने चाहिएँ जिससे वे अपने वस्त्र, आवास, कक्षा तथा पास-पड़ोसको स्वच्छ और व्यवस्थित रख सकें। यह वृत्ति तभी अधिक उत्पन्न होती है जब बालकोंमें कलात्मक संस्कार डाले जायँ। इसीलिये उन्हें सौन्दर्य-शास्त्रका तथा कलाओंका परिचय कराना चाहिए क्योंकि सौन्दर्य-शास्त्रका अध्ययन करके ही वे समझेंगे कि जीवन ही कला है, कलात्मक रूपसे ही जीवन व्यतीत करना ही मानव-जीवनके लिये श्रेयस्कर है, सृष्टिकी प्रत्येक वस्तुका सौन्दर्य-पक्ष हमारे आनन्दकी सामग्री है, मनको तृप्त और तुष्ट रखनेका साधन है और मनकी यह तुष्टि ही आनन्द है। यह सौन्दर्य देखते-देखते और उसका रस लेते-लेते ही वह भी अन्तमें परम सौन्दर्य या परमानन्द प्राप्त करनेमें समर्थ हो सकेगा।

कलात्मक जीवनका तात्पर्य यह है कि हमारी उँगलियाँ सुन्दर चित्रों, कलात्मक वस्तुओं मूर्तियों तथा वाद्ययन्त्रोंसे संगीतकी सृष्टि करें, हमारे कान सुन्दर कलात्मक राग और ध्वनियाँ सुने और उनको पहचान करें, हमारा कंठ संगीतमय हो, हमारी वाणीमें माधुर्य हो, हमारे नेत्र सुन्दरताकी परख और उनका आदर करना सीखें, हमारा शरीर स्वतः आकर्षणका केन्द्र हो। यह सब शरीर-संस्कारके अन्तर्गत हो आ जाता है। अतः, स्वभावतः शरीरका संस्कार और सौन्दर्यशास्त्र एक दूसरेसे सम्बद्ध है।

आजकल हमारे विद्यालयोंमें शारीरिक संस्कारकी बड़ी कमी है। इसका कारण कुछ तो पुष्ट भोजनकी कमी है किन्तु अधिक कारण है पाठ्य-

विषयोंकी बहुलता, परीक्षाका भूत, विद्यालयका समय, व्यायाम-शालाओंकी कमी तथा शिक्षा-विभागकी ओरसे शारीरिक संस्कारकी ओर कम ध्यान। जिस प्रकार यह विधान बना दिया गया है कि सब विषयोंमें अनुत्तीर्ण होनेपर छात्र अगली कक्षामें नहीं चढ़ाया जायगा वैसे ही यह भी नियम होना चाहिए कि अमुक ऊँचाई और अवस्थाका जो बालक इतना भारी नहीं होगा और स्वस्थ, फुर्तीला तथा सक्रिय नहीं होगा वह अगली कक्षामें नहीं चढ़ाया जायगा, फिर देखिए स्वास्थ्य बढ़ता है नहीं। किन्तु व्यायामके साथ ही राष्ट्रकी ओरसे पुष्ट भोजनकी व्यवस्था भी होनी चाहिए।

मानस-शास्त्रीय दृष्टिसे शरीरको स्वस्थ रखनेके लिये मानसिक निश्चिंतता अत्यन्त आवश्यक है। जो बालक घरमें रहते हैं वे घरके वातावरण, दरिद्रता, अनेक प्रकारके दुर्व्यवहार, रोग, शोक आदि न जाने कितने कारणोंसे चिन्तित रहते हैं। हमारे देशमें इसीलिये यह व्यवस्था थी कि बचपनमें ही बालकको गुरुकुलमें भेज देते थे जिससे न तो उसपर घरके कुप्रभावके संस्कार पड़ते थे न उसे भोजन-वस्त्रको चिन्ता होती थी। वह निश्चिन्त होकर ब्रह्मचर्य-व्रत लेकर शुद्ध प्राकृतिक वातावरणमें सेवा और सहनशीलताके वातावरणमें निश्चिन्त होकर ज्ञानार्जन करता था। इसीलिये वह स्वस्थ रहता था, शरीरसे भी, मनसे भी। बालकोंको स्वस्थ रखनेका यही मानस-शास्त्रीय उपचार है कि परीक्षाका आतंक दूर किया जाय, शिक्षा निःशुल्क दी जाय और छात्रोंके लिये स्फूर्ति-शाली व्यायाम और पुष्ट भोजनकी राष्ट्रकी ओरसे पर्याप्त व्यवस्था की जाय।

७

बौद्धिक विकास और ज्ञानार्जन

बालकको विद्यालयमें भेजने या शिक्षा देनेका साधारणतः यही अर्थ समझा जाता है कि वह विभिन्न प्रकारके ज्ञानका अर्जन करे। इस ज्ञानके अन्तर्गत जहाँ समाजिक व्यवहार और पास-पड़ोसकी वस्तुओं आदिका ज्ञान समाविष्ट है वहीं उसका उद्देश्य है उस संपूर्ण ज्ञान-भांडारसे परिचित होना, जो मानवके पूर्वजोंने विभिन्न देशोंमें अपने अनुभव, विद्या, बुद्धि, प्रयोग, अनुसंधान, विचार-विमर्श और चिंतनके बलपर हम लोगोंके लिये रख छोड़ा है। भारतीय सामाजिक दर्शनके अनुसार प्रत्येक व्यक्तिका धर्म है कि वह इन ज्ञानसिद्ध ऋषियोंका ऋण चुकानेके लिये स्वयं उस ज्ञानका अर्जन करे और पुस्तक लिखकर अथवा अध्यापन करके उस ज्ञानका विस्तार और वितरण करे। भारतके बाहर जितने देश हैं उन्होंने इस दृष्टिसे विद्याध्यन और ज्ञानार्जनको आवश्यक नहीं समझा। उनका विचार है कि मनुष्यको सभ्य समाजका सदय होनेके लिये और जीविका चलानेके लिये ऐसा ज्ञान अर्जित करना ही चाहिए कि वह समाजमें उचित रूपसे व्यवहार करता हुआ अच्छी जीविकाके द्वारा अपना और अपने परिवारका पोषण कर सके।

ज्ञानार्जनका उद्देश्य

मानव-समाजमें रहनेवाले प्रत्येक व्यक्तिको कुछ ज्ञान तो आवश्यक रूपसे अर्जित करना ही चाहिए जैसे भाषा, गणित, इतिहास, भूगोल और व्यावहारिक शिष्टाचारका इतना ज्ञान जो सामाजिक व्यवहारके निर्वाहमें सहायक हो सके। शिष्टाचार तो वह समाजमें रहकर तथा अन्य लोगोंका व्यवहार देखकर भी भलीभाँति सीख सकता है किन्तु भाषा, गणित इतिहास, भूगोल आदि ऐसे विषय हैं जो बिना

अध्ययनके नहीं आ सकते। इन आवश्यक ज्ञातव्य विषयोंके अतिरिक्त उसे कुछ ऐसी विद्या भी पढ़नी चाहिए जिनके द्वारा वह अपनी जीविका भी चला सके। किन्तु ज्ञानका अंत यहीं नहीं होता। कुछ लोग किसी एक विषयका संपूर्ण ज्ञान अर्थात् उस विषयका पांडित्य इसलिये प्राप्त करना चाहते हैं कि वे उस विषयके आचार्य होकर अत्यन्त योग्यता-पूर्वक अन्य जिज्ञासुओंको उस विषयका विस्तृत ज्ञान करा सकें। यह विशेषता कोई एक विषयमें प्राप्त करता है कोई अनेक विषयोंमें। यह अपनी-अपनी बुद्धि, शक्ति, समय और अवसरपर अवलंबित है। कुछ लोग केवल ज्ञानके लिये ही ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं। यह सत्त्वशुद्धिके लिये किया जाता है। ऐसे लोग या तो निरंतर ज्ञानकी पिपासा बढ़ाकर उसे तृप्त करना चाहते हैं अथवा ज्ञानके लिये ज्ञानसंग्रह करके उस ज्ञानके द्वारा मुक्ति, मानसिक शान्ति और तत्त्वज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं। ज्ञान प्राप्त करनेके केवल इतने ही उद्देश्य हैं।

ज्ञानार्जनकी रीति

ज्ञान प्राप्त करनेका सबसे बड़ा साधन हमारी बुद्धि है। हमारे यहाँ शास्त्रोंमें बताया गया है—

शुश्रूषा श्रवणं चैव ग्रहणं धारणं तथा।
ऊहापोहार्थ-विज्ञानं तत्त्वज्ञानञ्च धी-गुणाः॥

[सुननेकी इच्छा, सुनना, सुनकर उसे पकड़ना या समझना, फिर उसे स्मृतिमें धारण करना, उसके संबंधमें विचार करना, उसका अर्थ भलीभाँति समझ लेना और यथार्थ ज्ञानको आत्मसात् करना ये ही बुद्धिके गुण हैं।] और यही ज्ञान प्राप्त करनेका क्रम भी है। हरबार्टने अपनी पंच-पदीके द्वारा यह बताया है कि जब किसी विषयका नया ज्ञान करना हो तो वह इन पाँच पदोंके द्वारा सिद्ध होता है—१. प्रस्तावना या पिछले ज्ञानसे नया ज्ञान संबद्ध करना, २. व्याख्या, ३. तुलना, ४. आवृत्ति और ५. प्रयोग। साधारणतः मानसशास्त्रियोंका मत है कि ज्ञानार्जनके लिये बुद्धिकी दो वृत्तियाँ आवश्यक

हैं—१. समझना और २. उसे स्मरण रखना। बालक किसी भी नई बातको तभी समझ सकता है जब वह उसके पूर्वज्ञानसे संबद्ध हो अथवा वह पूर्वज्ञानके साहचर्यसे समझाई जाय। यह भी तब संभव है जब उस विषयकी ओर उसकी एकाग्रता हो। यह तभी संभव है जब उस ज्ञानकी ओर बालककी रुचि हो। रुचि उत्पन्न करनेके लिये कुछ ऐसे साधनोंका प्रयोग करना चाहिए जिनकी ओर स्वभावतः छात्रोंकी कुतूहल-वृत्ति उद्दीप्त हो जाती हो। किन्तु बालककी बुद्धि या बालकका मन प्रायः चंचल होता है और एक बार भली-भाँति समझ लेनेपर भी वह स्मृतिमें स्थायी नहीं हो पाता। इसलिये केवल एक बार बताकर ही मौन नहीं हो जाना चाहिए, बार-बार उसकी आवृत्ति और प्रयोग कराकर उसका अभ्यास करा देना चाहिए। रुचि उत्पन्न करना ही भारतीय सिद्धान्तवाली शुश्रूषा-वृत्ति है अर्थात् बालकमें पहले सुननेकी इच्छा उत्पन्न करनी चाहिए। इसके पश्चात् सुनना, समझना, स्मृतिमें धारण करना आदि क्रियाएँ आती हैं। हमारे यहाँ ऊहापोह या मननको अधिक महत्त्व दिया गया है। हमारे यहाँके शिक्षा-शास्त्रियोंका विश्वास था कि कोई भी ज्ञान या कोई भी बात 'बाबा-वाक्यं प्रमाणम्'के आधारपर स्वीकार नहीं करनी चाहिए। प्रत्येक छात्र और जिज्ञासुको अपने गुरुकी कही हुई प्रत्येक बातपर अपने साथियोंके साथ बैठकर विचार और तर्क करना चाहिए, उसकी संभावनाओं और असंभावनाओंपर वाद-विवाद करना चाहिए। इस वाद-विवादसे ही वास्तविक तत्त्वबोध संभव है। इसीलिये प्राचीन कालमें हमारे यहाँ कहा जाता था—

आचार्यात्पादमाधत्ते पादं शिष्यः स्वमेधया।
पादं सब्रह्मचारिभ्यः पादं कालक्रमेण तु॥

[गुरु जिस समय ज्ञान देता है उस समय उसका केवल एक चौथाई भाग ही शिष्य ग्रहण कर पाता है, दूसरा चौथाई उस समय पक्का होता है जब शिष्य स्वयं उसके ऊपर मनन करता है, तीसरा चौथाई तब सिद्ध होता है जब छात्र अपने साथियोंके साथ बैठकर उसपर विचार करता है और शेष चौथाई तो अनुभवके साथ बहुत समयमें पूरा होता है।]

भारतीय और विदेशी दोनों सिद्धान्तोंके अनुसार यह आवश्यक है कि विद्यार्थीमें ज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छा, श्रवण करनेकी इच्छा या शुश्रूषा उत्पन्न की जाय अर्थात् उसमें ज्ञानके प्रति रुचि उत्पन्न की जाय। इसीसे एकाग्रता उत्पन्न होगी। यह एकाग्रता जिस रुचिके आधारपर साधी जाय वह बालकके पूर्व संचित ज्ञानके साहचर्यसे ही साधी जाय अन्यथा वह उसकी ओर प्रवृत्त ही नहीं होगा। रुचि होनेसे ही वह एकाग्र होगा। एकाग्रतासे ही वह नये ज्ञानको आत्मसात् कर सकेगा। उसे स्मृतिमें स्थापित करनेके लिये बार-बार उसकी आवृत्ति या अभ्यास कराना होगा। उस ज्ञानको दृढ करनेके लिये उसका व्यावहारिक प्रयोग कराना होगा। इतना होनेपर ही कोई ज्ञान इस प्रकार स्थिर हो सकता है कि आवश्यकता पड़नेपर जीवनके किसी भी क्षणमें उसका प्रयोग किया जा सके।

ज्ञानके रूप

ज्ञानार्जनके जितने भी विषय हैं उनमेंसे कुछ तो कंठस्थ करनेके योग्य हैं जैसे व्याकरणके नियम, गणितके गुर, गिनती, पहाड़े आदि; कुछ ऐसे हैं जिन्हें अभ्यास करके ही सीखा जा सकता है जैसे संगीत, तैरना, लोहे लकड़ीका कार्य, कृषि आदि; कुछ ऐसे हैं जिनपर चिंतन और विचारकी आवश्यकता है जैसे दर्शन, तर्क आदि; कुछ ऐसे विषय हैं जिनके निरन्तर अभ्यासकी आवश्यकता होती है जैसे भाषण या लेखन, कुछ ऐसे विषय हैं जिन्हें प्रयोग करके ही हम समझ सकते हैं जैसे विज्ञान आदि। किन्तु इन सबके लिये स्मृति और बुद्धिकी तो आवश्यकता है ही और वे तभी सफल हो सकते हैं जब रुचि, एकाग्रता और साहचर्यका प्रयोग भलीभाँति समझ लिया जा सके। अतः, बौद्धिक विकासके लिये जिन मानस तत्त्वोंकी आवश्यकता है उनपर यहाँ विचार कर लेना चाहिए।

संवेदन (सेन्सेशन) और प्रतीति (पर्सेप्शन)

विदेशी मानसशास्त्री कहते हैं कि जो ज्ञान हम प्राप्त करते हैं वह दो प्रकारका होता है—एक तो केवल अस्पष्ट प्रतीत होनेवाला संवेदन (सेंसेशन)

मात्र होता है जैसे अचानक प्रकाश देखकर केवल इतना भर बोध होना कि प्रकाश हुआ। यह ज्ञान केवल अस्पष्ट प्रतीति है किन्तु जब थोड़ा सावधान होनेपर हम यह भी समझ लें कि यह प्रकाश लालटेनका है या दीपकका है या मोटरगाड़ीकी बत्तीका है तब वह पक्का ज्ञान प्रतीति (पर्सेप्शन) कहलाने लगता है, अर्थात् हमें जो भी ज्ञान होता है उसका प्रारंभ अस्पष्ट इंद्रियानुभवसे होता है। किन्तु इस अनुभवके पश्चात् जब हमारे मस्तिष्कमें पहलेसे बने हुए संस्कारोंके कारण वस्तुओंको पहचाननेकी शक्तिके आधारपर वह ज्ञान पक्का हो जाता है तब वह स्पष्ट प्रतीति हो जाती है। प्रायः दोनों प्रकारके ज्ञानमें इतना कम अंतर होता है कि साधारणतः किसीको यह अनुभव भी नहीं हो पाता कि हमें अस्पष्ट प्रतीति भी हुई थी। यह अस्पष्ट प्रतीतिकी अवस्था प्रायः बचपनकी अवस्थामें ही रहती है। जैसे-जैसे बालक बढ़ता जाता है वैसे-वैसे उसकी अस्पष्ट प्रतीतिकी शक्ति भी बढ़ती जाती है। इसीलिये बालकोंमें अस्पष्ट प्रतीति ही होती है अर्थात् वे जब कोई वस्तु देखते, सूँघते, छूते या सुनते हैं तब उनके लिये वह ज्ञान वैसा ही निरर्थक होता है जैसे भैंसके आगे बीन बजावै भैंस खड़ी पगुराय। वीणा बजाइए तो, वंशी बजाइए तो, उनके लिये दोनोंमें कोई भेद नहीं हैं, किन्तु जब बड़े होनेपर वे वंशीकी ध्वनि सुनकर कहते हैं यह वंशीका स्वर है तब उनका ज्ञान सार्थक हो जाता है। यही स्पष्ट प्रतीति (पर्सेप्शन) है।

पूर्वार्जित ज्ञान (एपर्सेप्शन)

स्पष्ट प्रतीति और पूर्वार्जित ज्ञान (एपर्सेप्शन)में थोड़ा सा अन्तर है। पूर्वार्जित ज्ञान तो अपने पुराने अनुभवोंके आधारपर नये अनुभवोंके समझनेकी प्रक्रिया है। बालकने यदि अपने पास-पड़ोसमें कोई टीला देखा है तो उसके आधारपर अथवा उसके इस पूर्वार्जित ज्ञानके आधारपर उसे हिमालय या विन्ध्य पर्वतका परिचय कराया जा सकता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि ज्ञानकी प्राप्तिमें पूर्वार्जित ज्ञानका जितना महत्त्व है उतना ही कल्पनाका भी है। अस्पष्ट प्रतीतिके आधारपर तो स्पष्ट प्रतीति होती है किन्तु पूर्वार्जित ज्ञानके आधारपर नया ज्ञान ग्रहण किया जाता है या नया अनुभव समझा जाता है।

एकाग्रता या अवधान (एटेन्शन)

ऊपर बताया जा चुका है कि किसी प्रकारका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये भी एकाग्रता या अवधान अत्यन्त आवश्यक है। लौयड मौर्गनका कथन है कि 'हम जितनी देर जागते रहते हैं उतनी देर हमारा मन निरन्तर एकाग्र नहीं रहता। हमारी यह चेतना कभी तो केन्द्रित रहती है और कभी तटस्थ।' हम नित्य अनुभव करते हैं कि जब हम जप करने बैठते हैं तब कुछ देर तो हमारा मन उसमें लगता है किन्तु फिर अन्य-अन्य बातोंकी ओर घूम जाता है। जितनी देर मन उस ओर लगा रहता है उतनी देर तो केन्द्रित रहता है और उससे हटकर दूसरी ओर लगते ही तटस्थ हो जाता है। किन्तु लौयड मौर्गनकी यह बड़ी भूल है। वास्तवमें यह चेतनाके दो रूप नहीं हैं वरन् मन ही निरन्तर एक वस्तुसे दूसरी वस्तुमें केन्द्रित होता चलता है। इस प्रकार मनका ही एक वस्तुमें केन्द्रित होना एकाग्रता है। मनकी वृत्ति बड़ी चंचल है। वह प्रायः एकाग्र नहीं होती। उसे एकाग्र करनेके लिये मनको इस प्रकार वशमें करना चाहिए कि वह किसी भी एक वस्तुपर उस वस्तुके अध्ययन करनेतक टिकी रह सके। हमारे यहाँ योगमें इसके लिये अष्टांग मार्ग ही निर्धारित किया है—यम, नियम, आसन प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, समाधि। योगसूत्रके भाष्यकारने बताया है कि क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, निरुद्ध और एकान्त ये पाँच चित्तकी वृत्तियाँ होती हैं। इनमेंसे क्षिप्त, मूढ और विक्षिप्त अवस्थाओंमें योग नहीं हो सकता, केवल एकाग्र और निरुद्ध अवस्थाओंमें ही होता है। इसी प्रसंगमें यह भी बताया गया है कि एक विषयमें ज्ञानधारा चलते रहनेका नाम ही एकाग्रता या अवधान है और यही वास्तवमें अवधानकी ठीक परिभाषा है। लौयड मौर्गन जिसे तटस्थ (मार्जिनल) चेतना कहते हैं वह कोई वस्तु नहीं है। उसका तात्पर्य तो यही है कि एकाग्रता एक विषयसे हटकर दूसरे विषयकी ओर हो गई है। हमारे यहाँ एकाग्रताके लिये जितने साधन बताए गए हैं उनमें शिक्षाके क्षेत्रमें सब तो नहीं किन्तु प्राणायाम और ध्यानका प्रयोग तो किया ही जा सकता है। किन्तु योरोपीय मानस-शास्त्रियोंने इस अवधानके लिये उपाय

बताते हुए कहा है कि मनको साधकर वशमें रखनेके बदले मनको फुसलाकर वशमें रखना चाहिए अर्थात् रुचि उत्पन्न करके एकाग्रता लानी चाहिए।

योरोपीय मानस-शास्त्रियोंका कहना है कि एकाग्रता लानेके लिये उस विषयकी तीव्रता या वेग होना चाहिए। धीमी ध्वनिके प्रति एकाग्रता नहीं हो सकती किन्तु पटाखेकी ध्वनिकी ओर हो सकती है। दूसरा उपाय यह है कि एक वस्तु या कार्य बदलकर उसके बदले दूसरी वस्तु या कार्य ला रखनेसे भी एकाग्रता होती है। हरबार्टने भी किसी नये विषयके शिक्षणके सम्बन्धमें यही कहा है कि पहले कोई ऐसा कार्य या प्रश्न करना चाहिए जिससे बालकका मन पिछले पाठसे हटकर नयेमें आ लगे। एकाग्रताका तीसरा उपाय है कुछ नई वस्तु उपस्थित करना, क्योंकि नई वस्तुकी ओर कुतूहल स्वाभाविक रूपसे आकृष्ट होता है। चौथा उपाय यह है कि एक बात जो हो रही हो उससे विरोधी कोई बात कह दी जाय। पाँचवाँ उपाय है निरन्तर गतिशीलता उपस्थित करना अर्थात् कुछ करते रहना, स्थिर न रहना, स्थिर होकर एक ही कार्य न करते रहना। कुछ लोगोंका विचार है कि आकार-प्रकारका भी एकाग्रतापर बड़ा प्रभाव पड़ता है। बड़ी वस्तुकी ओर अधिक एकाग्रता होती है छोटीकी ओर कम। इसी प्रकार बार-बार कही हुई बातकी ओर भी एकाग्रता होती है। किन्तु यह बात है नहीं। वास्तवमें एकाग्रता होती है किसी नवीन, सुन्दर, अद्भुत और असाधारण वस्तुको देख या सुनकर जिसका पहले कभी बालकने अनुभव न किया हो अथवा जिसमें क्रीडनीयकता या अलौकिकता हो।

रुचि इन्टेरेस्ट)

इसी एकाग्रता साधनेके उपायोंके आधारपर रुचिका सिद्धान्त उठ खड़ा होता है क्योंकि ये सब उपाय किए ही इसलिये जाते हैं कि जिससे बालककी रुचि उधर प्रवृत्त हो। रुचि भी मानसशास्त्रकी दृष्टिसे एक प्रकारकी भावना (फीलिंग) है। प्रत्येक कार्यकी सिद्धिके लिये रुचि अत्यन्त आवश्यक है। यह रुचि कई प्रकारकी होती है—एक तो स्वाभाविक

होती है जो अपने आप उत्पन्न हो जाती है, दूसरी अर्जित होती है। जिस वस्तुको बार-बार देखने या करनेसे उसके प्रति रुचि होने लगती है वह अर्जित कहलाती है। यह रुचि तीन बातोंसे प्रभावित होती है या यों कहना चाहिए कि इसका विकास तीन प्रकारसे होता है—१. प्रत्येक व्यक्तिको अपनेमें सबसे अधिक रुचि होती है और इसलिये अपनेसे संबद्ध प्रत्येक व्यक्ति और वस्तुमें रुचि होती है। २. जिस विषयका ज्ञान पहलेसे हो उसमें रुचि होती है। इसी आधारपर ज्ञातसे अज्ञातकी ओर चलनेका और पूर्वार्जित ज्ञानसे नया ज्ञान जोड़नेका सिद्धान्त स्वीकार किया गया है। किन्तु यह सिद्धान्त भी ठीक नहीं है। जिस वस्तुका हमें कुछ भी ज्ञान नहीं है वह भी यदि नवीन और अद्भुत हो तो उसमें भी रुचि हो सकती है। ३. तीसरी बात है नवीनता। किन्तु रुचिके लिये पूर्वजन्मका संस्कार ही सबसे प्रधान कारण है। उसके बिना किसी कार्यमें, किसी विषयमें रुचि हो नहीं सकती। किन्तु जो तीन बातें ऊपर लिखी जा चुकी हैं इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी विषय और साधन हैं जो सदा सबके लिये रुचिकर होते हैं जैसे—रंग, संगीत, खेल, कहानी, चित्र, आदि। इनका उचित उपयोग करके छात्रोंकी एकाग्रता बाँधी जा सकती है।

स्वाभाविक रुचि और अर्जित रुचिके आधारपर एकाग्रताके भी दो भेद किए जाते हैं--एक तो स्वतः और दूसरी इच्छित। इनमेंसे स्वतः एकाग्रता तो स्वाभाविक रुचिपर और इच्छित एकाग्रता हमारी अर्जित रुचिपर अवलंबित होती है। यह एकाग्रता हमारी अवस्था और मनकी वृत्तिपर बहुत अवलंबित होती है। कुछ लोगोंका कहना है कि एक बार एक ही वस्तुकी ओर एकाग्रता हो सकती है किन्तु हमारे यहाँ अष्टावधानी, दशावधानी और शतावधानी लोग एक साथ आठ दस या सौ वस्तुओंकी ओर एक साथ एकाग्र रह सकते हैं। किन्तु मानस-शास्त्रियोंने जो प्रयोग किए हैं उनका कहना है कि केवल पाँच वस्तुओंतक ही एकाग्र रहा जा सकता है। प्रायः, कथावाचक लोग अपनी कथाके

बीचमें 'बोल दे राजा रामचन्द्रकी जय' कहकर लोगोंका ध्यान एकाग्र करते हैं। कक्षामें जय तो बुलवाई नहीं जा सकती किन्तु कोई नई कहानी, कोई विचित्र चित्र, रंगीन वस्तु, गीत, कविता, अभिनय आदिका प्रयोग करके बालकोंको एकाग्र अवश्य किया जा सकता है।

एकाग्रताकी अवधि

यद्यपि बहुतसे लोग कहते हैं कि हम घंटों एकाग्र रह सकते हैं पर मानसशास्त्री यह बात नहीं मानते। उनका कहना है कि साधारणतः पाँच या छह सेकेंडसे अधिक ध्यान एकाग्र नहीं रह सकता। अनेक प्रयोगोंसे उन्होंने सिद्ध किया है कि कमसे कम तीन सेकेंड और अधिकसे अधिक पच्चीस सेकेंडतक किसी एक वस्तुपर ध्यान केन्द्रित रह सकता है। अतः, जो लोग कहते हैं कि हम घंटों एकाग्र रहे वे वास्तवमें एक विषयके विभिन्न अंगोंपर विचार करते रहे। यह एकाग्रताका संचरण कहलाता है और इसलिये शिक्षाके क्षेत्रमें यह संचरण आवश्यक भी है क्योंकि किसी एक विषयपर एकाग्र रखनेके लिये उसके विभिन्न अंगोंपर विचार चलाए रखना चाहिए। अध्यापकको कभी दो कार्य छात्रोंको नहीं देने चाहिएँ अन्यथा उनकी एकाग्रता स्थिर नहीं रहेगी। स्वाभाविक रुचिवाले कई कार्य तो साथ भी किए जा सकते हैं पर साधारणत इच्छित एकाग्रताके लिये एक ही विषय देना चाहिए क्योंकि एकाग्रतामें बाधा होनेसे उस वस्तुके ज्ञानकी धारा बन्द हो जाती है। किन्तु यदि रुचि हुई तो बालक बलपूर्वक उस बाधाको दूर कर देता है। अतः, ऐसा अभ्यास कराते चलना चाहिए कि जिससे एकाग्रतामें पड़नेवाली बाधाओंसे बालक युद्ध कर सके और अपनी संकल्प-शक्ति दृढ कर सके। कुछ मानस-शास्त्रियोंका कहना है कि यदि किसी विषय, वस्तु या कार्यका उद्देश्य पहलेसे बता दिया जाय तो छात्र उसकी ओर ध्यानस्थ हो सकते हैं। किन्तु यह सिद्धान्त मान्य नहीं है क्योंकि यदि प्रयोजन बता देनेपर भी बालककी रुचि उसमें न हो तो प्रयोजन मात्र बता देना पर्याप्त नहीं होता।

थकावट

यों तो किसी विषयमें रुचि न होनेसे भी उस विषयपर ध्यान एकाग्र नहीं होता किन्तु कभी-कभी थकावटके कारण अर्थात् शारीरिक और मानसिक परिश्रमसे थक जानेके कारण भी एकाग्रता नष्ट हो जाती है। कोई काम करते-करते हमारे शरीरके भीतर रक्तमें कारबोनिक एसिड इतना मिल जाता है कि शरीर थकने लगता है और काम करनेकी गति मन्द पड़ जाती है। इस शारीरिक थकावटके पश्चात् ही मानसिक थकावट भी होने लगती है और मनुष्यका जी ऊबने लगता है। मनुष्यके मस्तिष्कके भूरे पदार्थमें रासायिनिक परिवर्तनके कारण यह मानसिक थकान होती है जिससे ऐसा विष उत्पन्न हो जाता है कि थकावट होने लगती है। इस थकावटको दूर करनेके लिये नींद लेना, पौष्टिक भोजन करना, एक काम बदलकर दूसरा काम करने लगना आवश्यक है। कुछ लोगोंने रुचि उत्पन्न करने और काम करनेका अभ्यास डालनेको भी थकावट दूर करनेका उपाय बताया है। पर यह उनकी बड़ी भारी भ्रान्ति है। रुचिकर कार्य भी देरतक करनेसे उसमें थकावट होने लगती है और काम करनेका चाहे जितना भी अभ्यास डाला जाय किन्तु अधिक काम करनेपर थकावट तो होगी ही। अतः, थौर्नडाइक-का यह मत अत्यन्त भ्रान्तिपूर्ण है कि यदि कार्यमें रुचि रहे तो मनुष्य बारह घंटेतक कार्य कर सकता है।

थकावटकी पहचान

जब कक्षामें बालक जँभाते हों, इधर-उधर करते हों, अँगड़ाई लेते हों, झुके जाते हों, नींद लेते हों तो समझ लेना चाहिए कि अब इनका मन एकाग्र नहीं है। उस समय या तो पाठ बन्द कर देना चाहिए या इस प्रकारका कोई दूसरा कार्य कराना चाहिए जिसमें उसकी रुचि हो।

कल्पना

ज्ञानार्जनमें कल्पना भी बड़ी सहायता देती है। पीछे बताया जा चुका है कि जिस बालकने अपने गाँव या नगरके आसपास टीला देखा है उसे

किसी पहाड़की कल्पना कराई जा सकती है। हम आकाशमें बादलोंको एकत्र होते हुए देखते हैं और सहसा किसीसे कह देते हैं कि देखो यह ऐसा जान पड़ता है जैसे भेड़ोंका झुण्ड हो। यही कल्पना है। आप अच्छा जल पीते हैं। वह शीतल है, सुस्वादु है। आप कहते हैं यह साक्षात् अमृत है। यही कल्पना है। स्मृति और कल्पनामें यही अन्तर है कि स्मृतिमें तो हम किसी भी अपने पुराने अनुभवको ज्योंका त्यों देखते या समझते हैं किन्तु कल्पनामें किसी पुराने अनुभवको नये ढंगसे प्रस्तुत करते हैं। यह कल्पना भूत, भविष्य, वर्त्तमान सबकी हो सकती है अर्थात् हम दस वर्ष पश्चात्की भी कल्पना कर सकते हैं कि हम कैसे होंगे, हमारा घर कैसा होगा। स्मृतिके लिये विचारका और कल्पनाके लिये बिंब (इमेज) का होना आवश्यक है। यदि बिंब न हो तो कल्पना हो नहीं हो सकती अर्थात् कल्पना वह मानसिक अनुभव है जो बिंबके आधारपर नया रूप निर्माण करता है और जो त्रिकालाबाधित है। मैकडूगलने दो प्रकारकी कल्पनाएँ बताई हैं—एक तो पुनरुत्पादक (रिप्रोडक्टिव) और दूसरी उत्पादक (प्रोडक्टिव)। पुनरुत्पादक कल्पना तो स्मृति ही है क्योंकि इसमें पुराने अनुभवके बिंब प्रस्तुत होते हैं। उत्पादक कल्पना किसी पुराने अनुभवके आधारपर नई सृष्टि करती है। यह उत्पादक कल्पना भी दो प्रकारकी होती है— रचनात्मक (कन्स्ट्रक्टिव) और सर्जनात्मक (क्रिएटिव)। रचनात्मक कल्पनाके द्वारा तो भौतिक वस्तुओंकी ही कल्पना की जाती है जैसे यदि हम कोई घर बनाना चाहें तो हम उस घरकी कल्पना करके उसी कल्पनाके आधारपर घर बना सकते हैं किन्तु कवि जो कल्पना करता है वह सर्जनात्मक होती है। उसका कोई स्थूल आधार नहीं होता। ड्रैवरने दो प्रकारकी कल्पना बताई है—ग्रहणात्मक और सर्जनात्मक। उसका मत है कि जिस कल्पनाके सहारे हम अनुभूत वस्तुओंकी मानसिक सृष्टि करते हैं वह तो ग्रहणात्मक होती है। इसी कल्पनाके आधारपर अध्यापक बालकोंको ऐसी वस्तुओंका ज्ञान करा सकता है जो उसने पहले कभी देखी-सुनी नहीं, जैसे टीलेको दिखाकर पहाड़की कल्पना कराना। किन्तु सर्जनात्मक कल्पनाके द्वारा तो नवीनता उत्पन्न होती है। य

सर्जनात्मक कल्पना दो प्रकारकी होती है—एक तो प्रयोगात्मक कल्पना और दूसरी सौन्दर्यात्मक कल्पना। प्रयोगात्मक तो वही है जिसे मैकडूगलने रचनात्मक कल्पना कहा है और जिसमें किसी वस्तुके निर्माणकी कल्पना की जाती है किन्तु सौन्दर्यात्मक कल्पनासे संगीत, चित्र, मूर्ति और काव्यकी सृष्टि होती है।

प्रायः बालकोंकी कल्पना अत्यन्त परिमित होती है और वह इन्द्रियोंके अनुभवपर ही अवलम्बित होती है, इसलिये वे उन्हीं वस्तुओंकी कल्पना करते हैं जिनके सम्पर्कमें रहते हैं। सम्भवतः इसीलिये बालककी कल्पनामें तीव्रता और सक्रियता अधिक होती है। वह डंडेको ही घोड़ा समझ लेता है और राक्षसों तथा परियोंकी कहानियोंमें ही अधिक रस लेता है क्योंकि वह इन सबको सत्य समझ लेता है। किन्तु जैसे-जैसे बालकमें सोचने-विचारनेकी समझ आने लगती है वैसे-वैसे वह सत्य और कल्पनामें अन्तर समझने लगता है। अतः, बालककी शिक्षामें कल्पनाका प्रयोग इस प्रकार करना चाहिए कि उसके मनमें प्रत्यक्ष ज्ञानके बिंब ऐसे स्पष्ट बनें कि वह अपनी कल्पनाका आधार भी स्पष्ट और शुद्ध करके उसके सहारे भौतिक या सर्जनात्मक कल्पना प्रौढ करे और अर्जित ज्ञानके आधारपर मौलिक रचना कर सके। इसके लिये बालकोंको अनेक प्रकारकी वस्तुओं, स्थानों, व्यक्तियों और दृश्योंका ज्ञान अवश्य करा देना चाहिए। इसीलिये मदाम मौन्तेसौरीने अपनी शिक्षा-पद्धतिमें अवयवसिद्धि (सेंस-ट्रेनिंग) को अधिक महत्त्व दिया है।

स्मृति

बालक जितना ज्ञान प्राप्त करता है वह सब उसको स्मृतिमें सञ्चित नहीं होता। स्मृतिमें केवल वही ज्ञान संचित होता है जिसे वह एकाग्रतापूर्वक और रुचिपूर्वक संग्रह करता है। वुडवर्थने स्मृतिकी परिभाषा देते हुए लिखा है कि 'जो कुछ सीखा जा चुका है उसका सीधा प्रयोग करनेको ही स्मृति कहते हैं' किन्तु स्टाउटका मत है कि 'पुराने विचारोंको फिरसे जगाने, जीवित करने और स्मरण दिलानेकी उस क्रियाको ही स्मृति कहते हैं जिसमें पिछले अनुभवके विषय ठीक उसी ढंग और क्रमसे सामने लाए जाते हों जैसे वे पहले

उपस्थित हुए थे।' किन्तु स्मृतिकी सीधी परिभाषा यह है कि 'जो अनुभव पहले किया जा चुका है वह अनुभव पुनः ध्यानमें आ जाना ही स्मृति है।'

विदेशी मानस-शास्त्रियोंने अच्छी स्मृतिवालेके ये लक्षण बताए हैं—१. शीघ्र स्मरण कर लेना, २. आवश्यकता पड़ते ही किसी बातका स्मरण हो आना, ३. देरतक स्मरण रखना और ४. अनावश्यक बातोंको भूल जाना। उनका कहना है कि स्मृतिके चार लक्षण हैं—सीखना, धारण करना, पुनः स्मरण करना और पहचानना। हम जो भी कुछ सीखते हैं सब तीन प्रकारसे सीखते हैं—रटकर, अनुभव करके और विचार करके। मानसशास्त्रियोंका मत है कि रटना अच्छी बात नहीं है किन्तु वे इतना अवश्य मानते हैं कि पहाड़े आदि बिना रटे नहीं आ सकते, इसीलिये नवीन शिक्षा-शास्त्रमें रटाईको निषिद्ध माना जाता है। वे मानते हैं कि विचारपूर्वक सीखी हुई बात स्मरण रखनी चाहिए अर्थात् जो बात सीखी जाय वह यों ही न रटकर समझकर सीखी जाय। किन्तु सीखी हुई बात सबको समान रूपसे स्मरण नहीं रहती क्योंकि सबकी धारणा-शक्ति या मेधा समान नहीं होती। यह धारणा-शक्ति स्वास्थ्यपर अधिक अवलंबित रहती है। मानसशास्त्रियोंका मत है कि धारणाशक्ति बढ़ाई नहीं जा सकती किन्तु हमारे यहाँ ऐसी अनेक औषधियोंके प्रयोग हैं जिनसे निश्चित रूपसे धारणा-शक्ति बढ़ाई जा सकती है और ऐसे उदाहरण भी मिले हैं कि लोगोंकी धारणा-शक्ति बढ़ी भी है। यह धारणा-शक्ति रुचिपर भी अवलम्बित है अर्थात् जिस विषयमें अधिक रुचि होगी वह अधिक दिनोंतक स्मृतिमें बनी रहती है और वह किसी भी समय आवश्यकता पड़नेपर स्मरण की जा सकती है क्योंकि यह स्मरण हो आना (रिकौल) भी आवश्यक है। यदि समयपर कोई बात स्मरण न हो पावे तो उसका होना या न होना बराबर है। इस सम्बन्धमें अरस्तू आदि पुराने मानसशास्त्रियोंका मत है कि एक बातका दूसरी बातके साथ सम्बन्ध स्थापित कर लेना चाहिए। यह सम्बन्ध तब स्थापित होता है जब पुराना अनुभव और तात्कालिक अनुभव समान हो अथवा

विरोधी हो या देश और कालकी दृष्टिसे उनमें कोई सम्बन्ध हो अर्थात् उनमें समानता, या विरोध समीपता हो। इन्हींपर विचारोंका साहचर्य अवलंबित है क्योंकि जबतक पुराने अनुभवोंसे तात्कालिक अनुभवका संबंध स्थापित नहीं होता तबतक पुरानी बातका स्मरण नहीं होता। किन्तु यह सिद्धान्त भी अयुक्त है। अचानक बैठे-बैठे अकारण ही हमें कोई बात स्मरण हो आती है। अतः, सदा यह आवश्यक नहीं कि समानता, विरोध और समीपता हो ही। कुछ लोग यह भी मानते हैं कि विचारोंके साहचर्यको और भी बातें प्रभावित करती हैं जैसे किसी बातका बार-बार होना (फ्रीक्वैन्सी), कुछ दिन पहले हो चुकना (रीसेंसी) और स्पष्ट होना (विविडनेस)। प्रायः मानसशास्त्री समानता और विरोधके सिद्धान्तको न मानकर अनुभवकी समीपताको ही प्रधान मानते हैं। यह स्मरण पहचान (रिकग्निशन) के रूपमें होता है अर्थात् व्यक्ति या वस्तुको देखकर उससे संबद्ध या उस-जैसी अन्य वस्तु या व्यक्तिके संबंधमें सब बातें स्मरण हो आती हैं।

हमारे संपूर्ण ज्ञानार्जनमें स्मृति ही हमारी सबसे प्रमुख सहचरी है। जिस विषयको बालक रुचिपूर्वक सीखता है, जिसका वह बार-बार प्रयोग करता है, कई विषयोंसे जिसका साहचर्य जोड़ लेता है, वे उसे निश्चित रूपसे स्मरण रह सकते हैं। गाँवोंकी अनपढ़ स्त्रियाँ अपने गाँव-भरके बालकोंके जन्मदिवस, विवाह-दिवस तथा अन्य बातोंको भली भाँति स्मरण रखती हैं और वह केवल इसी साहचर्यके कारण ही। वास्तवमें हम जो कुछ एकाग्रता-पूर्वक सीखते हैं वह स्मरण रहता ही है। इसके लिये गैस्टाल्टने उपाय बताया है कि संपूर्णसे खंडकी ओर चलो अर्थात् विश्लेषण प्रणालीसे अध्ययन कराओ किन्तु पाइन और सिंडर समझते हैं कि यह उपाय ठीक नहीं है। उनका मत है कि मननपूर्वक अध्ययन करना चाहिए। कुछ लोगोंका यह भी विचार है कि स्वतः आवृत्तिकी रीति (रेसिटेशन मैथड) से स्मरण करनेसे मनुष्य बार-बार रटनेके बदले स्वयं मानसिक परीक्षण करता चलता है और वह धीरे-धीरे आत्मविश्वासके साथ उसे आत्मसात्

कर लेता है। इस रीतिके द्वारा उसे अपनी भूलोंका ज्ञान हो तो जाता है, उसमें आत्मविश्वास बढ़ता है और उसकी भ्रमात्मक धारणाएँ दूर हो जाती हैं।

विस्मृति

मानसशास्त्रियोंने कुछ प्रयोग करके सिद्ध किया है कि किसी विषयको एक या दो बार ठीक-ठीक दोहरा देनेपर विस्मृति या भूलना आरंभ हो जाता है। इसलिये पिछले दिनके कार्यको निरंतर दुहराते रहना चाहिए। बड़े होने-पर यह दुहरानेका क्रम एक सप्ताहमें भी किया जा सकता है। बहुतसे लोग अधिक संवेगशील होते हैं। उनकी स्मृति ठीक काम नहीं कर पाती। जिस व्यक्तिको सदा संशय रहता हो उसकी भी स्मृति ठीक नहीं रहती। इसीलिये वर्त्तमान मानसशास्त्रियोंने कुछ ऐसी प्रणालियाँ सुझाई हैं जिनका आश्रय लेनेसे ज्ञान अवश्य ही स्थिर रहता है और कभी विस्मृत नहीं हो पाता।

ज्ञानार्जनकी नवीन प्रणालियाँ

विश्लेषण-संश्लेषण तथा परिणाम-सिद्धान्त प्रणाली

हम दो प्रकारोंसे शिक्षा दे सकते हैं—(१) विश्लेषण-प्रणाली (ऐनेलिटिक मैथड) से तथा (२)संश्लेषण-प्रणाली (सिन्थेटिक मेथड) से। इन्हीं दोनोंको हम विषय-भेदसे क्रमशः (१) परिणाम-प्रणाली (इण्डक्टिव मेथड) तथा (२) सिद्धान्त-प्रणाली (डिडक्टिव मेथड) प्रणाली भी कहते हैं।

विश्लेषण-प्रणाली

१. विश्लेषण-प्रणाली (ऐनेलिटिक मेथड) में किसी वस्तुके संपूर्ण रूपके अध्ययनसे प्रारंभ करते हैं और फिर क्रमशः उसके विभिन्न तत्त्वों तथा भागोंका अध्ययन और विवेचन करते हैं। यदि हमें इस प्रणालीसे भूगोल पढ़ाना हो तो पहले हम संपूर्ण पृथ्वीके अध्ययनसे प्रारम्भ करेंगे और समान जलवायुके खंडोंमें पृथ्वीका विभाजन कर देंगे। फिर इन खंडोंके मानव, पशु तथा वनस्पति-जीवनका पूरा ब्यौरा दे देंगे और फिर उसी आधारपर विभिन्न महाद्वीपों और देशोंका अध्ययन करेंगे। इस प्रकार हमने विश्लेषण-

प्रणालीसे पूरी पृथ्वीके भूगोलकी शिक्षा दो। यदि हमें रामचरितमानस पढ़ना हो तो इस प्रणालीके अनुसार पहले हम पहले समूची कथा कहेंगे, उसके मुख्य चरित्रोंका अध्ययन करेंगे, भाषाकी विशेषताएँ समझेंगे और तब एक-एक कांडका अलग-अध्ययन करेंगे। इस प्रणालीका प्रयोग हम वहाँ करते हैं जहाँ कोई ऐसा विषय पढाना हो जिसके खंड किए जा सकें या जो भागोंमें विभाजित किया जा सके अर्थात् तत्त्वों या खंडोंसे निर्मित सभी भौतिक विषयोंके शिक्षणमें इस प्रणालीका प्रयोग किया जा सकता है जैसे भूगोल, ज्यामिति, चित्रकला आदि।

सिद्धान्त-प्रणाली (डिडक्टिव मेथड)

जैसे विश्लेषण-प्रणालीमें पूर्ण वस्तुसे प्रारम्भ करते हैं वैसे ही सिद्धान्त-प्रणालीमें सिद्धान्त या नियम पहले बता देते हैं और फिर विद्यार्थी अपने अनुभव तथा अन्य पाठ्य सामग्रीके आधारपर उन नियमोंकी व्यापकता सिद्ध कर लेता है। एक व्याकरणका नियम लीजिए—संज्ञा-विशेषण वह शब्द है जो किसी संज्ञा शब्दकी विशेषता बताता हो।' इस व्याकरणके नियमको विद्यार्थी रट लेता है और फिर 'भला बालक, सुन्दर सुमन, मनोहर वेश, भव्य भवन, आकर्षक रूप, पावन चरित्र' इत्यादि उदाहरणों-द्वारा वह उपर्युक्त नियमको समझ लेता है कि 'भला, सुन्दर, मनोहर, भव्य, आकर्षक तथा पावन' शब्द संज्ञा-विशेषण हैं क्योंकि ये क्रमशः 'बालक, सुमन, वेश, भवन, रूप तथा चरित्र' शब्दोंकी विशेषता बताते हैं। इस प्रणालीका प्रयोग वहाँ होता है जहाँ हमें सिद्धान्तों या नियमोंसे काम पड़ता है जैसे व्याकरण, तर्कशास्त्र, दर्शन, नीति, धर्मशास्त्र आदिकी शिक्षामें।

संश्लेषण-प्रणाली (सिन्थेटिक मेथड)

२. संश्लेषण-प्रणाली (सिन्थेटिक मेथड) में हम किसी विषय अथवा वस्तुके तत्त्वों अथवा भागोंसे प्रारम्भ करके उसके पूर्ण रूपके अध्ययनकी ओर बढ़ते हैं। जैसे, अक्षर-रचनाकी शिक्षा देने समय पहले खड़ी, पड़ी, आड़ी तथा गोल रेखाएँ सिखाते हैं और फिर इनका अभ्यास कराकर इन्हें मिलाकर

'अ' का स्वरूप सिखाते हैं। इस प्रणालीका प्रयोग उन विषयोंकी शिक्षाके लिये किया जाता है जिनके अंगोंका विभाजन किया जा सके जैसे भूगोल, ज्यामिति, चित्रकला आदि।

परिणाम-प्रणाली (इंडक्टिव मेथड)

जिस प्रकार संश्लेषण-प्रणालीमें किसी विषय या वस्तुके भागोंसे प्रारम्भ करके क्रमशः पूर्ण विषय या वस्तुकी शिक्षा दी जाती है उसी प्रकार परिणाम-प्रणालीमें उदाहरणों तथा अनुभूत प्रयोगोंसे प्रारम्भ करके उनके आधारपर एक व्यापक नियम निकलवा लेते हैं। अर्थात् यदि हमें व्याकरणकी शिक्षा देनी हो तो हम सीधे नियम न बतलावें वरन् बालकोंके सम्मुख यह उदाहरण रक्खें—

राम अयोध्यासे रथपर चढ़कर चले।

इस वाक्यमें राम एक विशेष-व्यक्तिका नाम, अयोध्या एक विशेष स्थानका नाम तथा रथ एक विशेष वस्तुका नाम है। ये सब संज्ञाएँ हैं। अतः, यह नियम निकला कि किसी व्यक्ति, स्थान या वस्तुके नामवाले शब्दोंको संज्ञा कहते हैं। इस प्रणालीका प्रयोग सार्वभौम सिद्धान्तों या व्यापक नियमोंकी शिक्षाके लिये होता है जैसे तर्कशास्त्र, दर्शन, नीति, धर्मशास्त्र आदि।

विश्लेषण-संश्लेषण प्रणाली (ऐनेलिटिको-सिन्थेटिक मेथड)

ऊपर विश्लेषण तथा संश्लेषण-प्रणालीकी अलग-अलग व्याख्या करके उसका प्रयोग भी समझा दिया गया है किन्तु वास्तवमें ये दोनों परस्पर संबद्ध हैं क्योंकि चाहे हम पूर्णसे भागोंकी ओर चलें चाहे भागोंसे पूर्णकी ओर, हमें विश्लेषण और संश्लेषण अर्थात् तोड़ना और मिलाना दोनों क्रियाएँ करनी ही पड़ेंगी। संश्लेषणमें तो मिलानेकी क्रिया स्वाभाविक क्रमसे आ ही जाती है किन्तु विश्लेषण करते समय जब हम खंडों या भागोंतक पहुँच जाते हैं तब हम उसे वहीं नहीं छोड़ सकते, हमें उन खंडोंका संश्लेषण करके उसकी पूर्णताका विवेचन करना ही चाहिए। इसीलिये कुछ आचार्योंका कथन है कि विश्लेषण-प्रणाली ग्राह्य भी है और श्रेष्ठ भी किन्तु उसकी पूर्णता संश्लेषण करनेपर

ही सिद्ध होती है । अतः, वास्तवमें विश्लेषण-संश्लेषण-प्रणाली (ऐनेलिटिको-सिन्थेटिक मेथड) ही ग्राह्य है ।

विश्लेषण तथा परिणाम-प्रणाली ग्राह्य हैं

मनोवैज्ञानिक विवेचनकी दृष्टिसे विश्लेषण तथा परिणाम-प्रणालीका ग्रहण और संश्लेषण तथा सिद्धान्त-प्रणालीका त्याग करना चाहिए। अध्यापकका कर्त्तव्य है कि वह विद्यार्थीका ज्ञान अपने प्रभावसे नहीं वरन् ऐसी विधिसे बढ़ावे कि बालक रुचि, कुतूहल, उत्साह तथा स्फूर्तिसे उसे ग्रहण करनेकी आकांक्षा करे। अतः, अध्यापकको पाठ-ज्ञान कराते समय निम्नलिखित क्रमसे चलना चाहिए—

१. बालकके प्रस्तुत ज्ञानको परखो।

२. पठन, प्रयोग तथा अनुभवके द्वारा इस ज्ञानको उचित रूपसे फैलनेका अवकाश दो।

३. इस अर्जित ज्ञानको क्रमशः नियमित और व्यवस्थित करो।

इन प्रणालियोंके आधारपर शिक्षा देनेके अतिरिक्त मानस-शास्त्रियोंका यह भी कथन है कि भर्त्ती करते समय प्रत्येक बालककी बुद्धि-परीक्षा ले लेनी चाहिए और उसके अनुसार उसे शिक्षा देनी चाहिए।

विचार

कुछ मानसशास्त्रियोंका मत है कि जिस मानसिक क्रियाके द्वारा मनुष्य अपने पूर्व अनुभवोंके सहारे अपनी प्रस्तुत समस्याओंका समाधान करता है उन्हें ही विचार कहते हैं। उनका कथन है कि विचारमें पाँच मानसिक परिस्थितियाँ होती हैं—१. किसी उद्देश्यको प्राप्त करनेकी इच्छा करना, २. उद्देश्य पूर्ण करनेके लिये प्रयत्न करना, ३. पहले किए हुए कार्यों और अनुभवोंको स्मरण करना, ४. प्राचीन अनुभवोंका प्रस्तुत कार्यमें प्रयोग करना और ५. मन ही मन बोलना या सोचना। वे लोग विचारकी प्रक्रियाको अत्यन्त जटिल प्रक्रिया मानते हैं। उनका कहना है कि मनुष्य अपनी स्मृति और कल्पनाके सहारे ही ज्ञान प्राप्त करता है। स्मृति तो पिछले अनुभवोंको स्मरण रखती है और कल्पना आगेकी बात सोचनेकी प्रेरणा

देती है, किन्तु विचार ही ऐसा तत्त्व है जो उसे कोई कार्य करनेको प्रेरित करता है । इस विचारकी क्रियामें तीन तत्त्व होते हैं—१. सामान्य भान या प्रतीति, २. निश्चय, और ३. तर्क-वितर्क। मनुष्यका प्रारंभिक भान या प्रतीति कई बातोंपर अवलंबित होता है जैसे पर्यवेक्षण, तुलना, विशेषीकरण (ऐब्स्ट्रैक्शन), व्याप्तीकरण (जनरलाइज़ेशन) और व्याख्या या परिभाषा। इसलिये अध्यापकको चाहिए कि वह बालकको ज्ञान देते समय प्रत्येक नई वस्तु या नये विषयका भली भाँति पर्यवेक्षण करावे, तुलना करावे, अन्य तत्सम वस्तुओंसे भिन्न उसकी विशेषता प्रकट करावे, उसकी व्यापकताका ज्ञान करावे, उसकी स्पष्ट व्याख्या या परिभाषा बतावे और उस ज्ञानकी निरन्तर आवृत्ति तथा उसका प्रयोग कराता रहे तो बालकका ज्ञान निश्चय ही पक्का हो सकता है ।

कलात्मक विकास

बौद्धिक विकास या बालकको ज्ञानकी अनेक शाखा-प्रशाखाओंसे परिचित करानेके साथ-साथ उसकी सौन्दर्य-वृत्तिका भी विकास कराना चाहिए। इस कलात्मक विकासके लिये प्रकृति-निरीक्षण, कलात्मक चित्रों, भवनों तथा स्थानोंका सौन्दर्य परखने और उनका अनुकरण करनेकी वृत्ति उत्पन्न करना अत्यन्त आवश्यक है। यह तभी संभव है जब सुन्दर वस्तुओंके पर्यवेक्षणके आधारपर बालककी कल्पना, स्मृति और चिन्तन-वृत्ति सुरुचिपूर्ण कर दी जाय, उसकी सम्प्रेक्षण-शक्ति तीव्र और एकाग्र कर दी जाय, उसमें सुन्दर वस्तु (चित्र, मूर्ति आदि) निर्माण करनेकी उत्कंठा जागरित कर दी जाय, उसे स्वयं स्वच्छताके साथ रहने, कपड़े पहनने, अपनी पुस्तक, वस्त्र, आवास तथा पड़ोसको स्वच्छ, सुन्दर, अलंकृत रखनेका अभ्यास कराया जाय, फूहड़पन और अस्वच्छतापर बराबर टोककर स्वच्छता और सुन्दरताके लिये प्रेरण और प्रोत्साहन दिया जाय और उसे संगीत-गोष्ठी, चित्रालय आदि कलापूर्ण स्थानोंमें ले जाया जाय। सामाजिक जीवन स्वस्थ रखनेके लिये बालकका कलात्मक विकास भी उतना ही आवश्यक है जितना चारित्रिक या बौद्धिक विकास, क्योंकि जीवन भी कला है ।

बुद्धि-परीक्षा

यह बात भली भाँति समझ लेनी चाहिए कि प्रत्येक व्यक्तिको शिक्षित करना अर्थात् उसकी इन्द्रियों और वृत्तियोंको साधकर इस योग्य बना देना आवश्यक है कि वह साक्षर हो और इतना शिक्षित हो जाय कि नियमित तथा कलात्मक जीवन व्यतीत करते हुए जो जीविका ग्रहण करे उसमें सफलता प्राप्त कर सके। इससे आगे बढ़नेपर विद्या ग्रहण करनेका, किसी शास्त्र या विज्ञानमें पारंगत होनेका प्रश्न उठता है। यह विद्यार्जन विशेष मेधावाला व्यक्ति ही कर सकता है। इसीलिए कहा गया है कि विद्या केवल पात्रको ही देनी चाहिए। उस पात्रताका एक लक्षण तो यह है कि वह सद्वृत्त हो अर्थात् वह विद्या प्राप्त करके उससे दूसरोंका कल्याण करनेकी वृत्तिवाला हो। दूसरा लक्षण है बुद्धिमत्ता। विद्यालयोंके संचालक तथा अधिकारी प्रारम्भिक कालमें ही बच्चेकी वास्तविक बुद्धि मापनेमें प्रायः असमर्थ होते हैं। इसलिये अनेक मनोवैज्ञानिकोंने बच्चोंकी बुद्धि मापनेके अनेक उपाय खोज निकालकर और लाखों बच्चोंपर उनका प्रयोग तथा परीक्षण करके कुछ परीक्षाएँ निर्धारित की हैं। जिनमेंसे सर्वश्रेष्ठ हैं—(१) व्यक्तिगत परीक्षाके लिये साइमन और बिने परीक्षाओंकी स्टेनफ़र्ड संस्करण और विस्तार तथा (२) एल्फ़ा परीक्षा अथवा समूह-परीक्षा, जो सेना तथा पुलिसमें रंगरूटोंकी परीक्षाके लिये तथा विभिन्न व्यवसायोंमें सम्मिलित होनेवाले व्यक्तियोंकी योग्यता अथवा अयोग्यताकी परीक्षाके लिये अमरीकामें अधिक व्यवहृत हो रही हैं। इनके अतिरिक्त सिम्प्लेक्स, नैशनल, ओटिस और नौर्थम्बरलैण्ड नामक परीक्षाएँ भी हैं। उपर्युक्त निर्धारित परीक्षाएँ कुछ मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तोंपर अवलंबित हैं। योरोप और अमरीकामें मनोवैज्ञानिकोंकी एक नई श्रेणी ही उठ खड़ी हुई है जिनका कार्य स्कूलके बच्चोंकी परीक्षा लेना तथा उनके लिये उचित बुद्धि-संबंधी चिकित्साका निर्देश करना होता है। वे नौकरीके इच्छुक व्यक्तियोंकी परीक्षाके लिये तथा उनमेंसे प्रत्येककी बुद्धिका सब व्यावहारिक दृष्टियोंसे यथार्थ ज्ञान प्राप्त करनेके लिये भी रक्खे जाते हैं। माता-पिता और अभिभावकोंका भी

इसमें लाभ है कि उनके आश्रित बालकोंकी मनोवैज्ञानिक परीक्षा हो जाती है और मनोवैज्ञानिकके कथनानुसार उन्हें शिक्षा देनेमें सुविधा होती है।

ये परीक्षाएँ इस सिद्धान्तपर अवलम्बित हैं कि बालककी स्वाभाविक बुद्धिका विकास सोलहवें वर्षतक ही होता है, उसके पश्चात् वह विकसित नहीं होती। कोई व्यक्ति उस अवस्थाके पश्चात् भी विद्यालयमें ज्ञानोपार्जन भले ही कर ले, किन्तु उसका स्वाभाविक विकास तो रुक ही जाता है। अतः, उन्होंने आयु-परिमाणको ही मानदंड स्वीकार कर लिया है। दूसरी बात यह है कि उन लोगोंका लक्ष्य तर्क-बुद्धि तथा मौलिकता आदि केवल उच्चतर मानसिक अवस्थाओंकी ही परीक्षा लेना है। किन्तु बिनेका उद्देश्य सर्वसाधारण बुद्धिकी परीक्षा लेना है, विद्यालयमें प्राप्त ज्ञान अथवा गृह-शिक्षाकी परीक्षा लेना नहीं।

बुद्धिफल निकालनेका नियम

ये परीक्षा-मालाएँ तीन वर्षसे लेकर पन्द्रह वर्षतकके बालकोंके लिये ही निर्धारित की गई हैं। जो बालक जिस वर्षवाली परीक्षामें उत्तीर्ण हो जाता है उसकी बुद्धि उतने वर्षकी ही मानी जाती है। मान लीजिए कि एक बालक आठ वर्षका हो चुका है और वह उस वर्षके लिये निर्धारित परीक्षामें सफल हो गया है, तो उस बालकमें आठ वर्षके बच्चेकी बुद्धि होती है। किन्तु यदि वही बालक नौ अथवा दस वर्षकी अवस्थावालोंकी परीक्षामें सफल हो तो उसका शारीरिक वय आठ वर्षका होते हुए भी मानसिक वय नौ या दस वर्षका समझा जायगा। इसके लिये १०० बुद्धिलब्धि (गुण्य) निश्चय कर ली गई है। मानसिक वयको वास्तविक वयसे भाग देकर १०० से गुणा करनेसे बुद्धि-गुण्य (बुद्धिलब्धि) प्राप्त हो जाता है। अतः, यदि उपर्युक्त ८ वर्षके बालकका मानसिक वय १० वर्षका हो तो उसका बुद्धिगुण्य $\frac{१०}{८} \times \frac{१००}{} = १२५$ होगा अर्थात् वह अत्यन्त प्रखर बुद्धिशाली होगा। यदि दस वर्षके शारीरिक वयके बालकका मानसिक वय ८ वर्ष हो तो उसका बुद्धिगुण्य (इन्टेलिजेन्स कोशेन्ट) $\frac{८}{१०} \times १०० = ८०$ होगा अर्थात् वह स्थूल बुद्धि होगा। अतः, जैसे वास्तविक वयसे अधिक मानसिक

आयुवाले बालक होते हैं वैसे ही कम मानसिक आयुके भी बालक होते हैं। इसीलिये मनोवैज्ञानिकोंने सहस्रों बालकोंकी परीक्षा लेकर और बुद्धिफल जानकर, बच्चोंको निम्नलिखित श्रेणियोंमें विभाजित किया है—

बुद्धिफल (इन्टेलिजेन्स कोशेन्ट)	श्रेणी
(१) १५० से ऊपर—	देव-बुद्धि।
१४० से १५०	देवप्राय बुद्धि।
(२) १२०—१४०	अत्यन्त प्रखर बुद्धि।
(३) ११०—१२०	प्रखर बुद्धि।
(४) ६६—११०	साधारण बुद्धि।
(५) ८०—६०	स्थूल बुद्धि।
(६) ७०—८०	मन्द बुद्धिकी सीमापर
(७) ७० से नीचे	निश्चित मन्दबुद्धि या जड़।

इस दिशामें की हुई खोजोंसे तीन तथ्य निश्चित रूपसे सम्मुख आते हैं—(१) मनुष्यकी स्वाभाविक बुद्धि प्राकृतिक होती है। शिक्षक लोग चाहे इस बातको स्वीकार न करें परन्तु यह सत्य है कि विद्यालयकी शिक्षा स्वाभाविक बुद्धिकी उन्नतिमें सहायक नहीं होती। (२) अर्जित ज्ञान प्राप्त करनेकी शक्ति स्वाभाविक बुद्धि-लब्धिपर अवलम्बित है। यदि बुद्धि-लब्धि १२५ निकलती है तो अर्जित ज्ञान प्राप्त करनेकी शक्ति $\frac{१२५}{१००} \times \frac{१२५}{१००} = १\text{'}५६२५$ अर्थात् ड्योढ़ेसे ऊपर निकलेगी। (३) बुद्धि-गुणय निश्चय करनेमें पैतृक गुणोंका महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। जड़-बुद्धि अथवा अल्प बुद्धिवाले मनुष्योंकी संततिका बुद्धिगुणय कम ही पाया जाता है।

———

८

चरित्रका विकास

पिछले दो अध्यायोंमें विस्तारसे विचार किया गया है कि बालकके शरीर और उसकी बुद्धिका किस प्रकार विकास किया जाय किन्तु शरीर और बुद्धिका संस्कार तबतक व्यर्थ है जबतक चरित्रका संस्कार न हो। अँगरेज़ीकी एक पुरानी उक्ति ही है—'यदि धन नष्ट हो गया तो कुछ नष्ट नहीं हुआ, यदि स्वास्थ्य नष्ट हो गया तो कुछ अवश्य नष्ट हुआ, किन्तु यदि चरित्र नष्ट हो गया तो सब कुछ नष्ट हो गया।' यह चरित्र ही बालकका वास्तविक व्यक्तित्व होता है। मानस-शास्त्रियोंने इस व्यक्तित्वकी व्याख्या करते हुए बताया है कि 'मनुष्यकी रुचि, प्रवृत्ति, कामना, वासना, आकांक्षा आदिका समूह ही व्यक्तित्व कहलाता है और यह व्यक्तित्व उसकी शारीरिक, मानसिक और सामाजिक शक्तियोंका परिणाम है।' मानस-शास्त्रियोंका मत है कि यह व्यक्तित्व कुल-परंपरा और वातावरणसे बनता है। पीछे बताया जा चुका है कि शरीर तो निश्चय ही माता-पिताके शारीरिक संस्कारके अनुसार मिलता है। किन्तु वातावरणका प्रभाव बाह्य आचरण मात्रपर पड़ता है आंतरिक मनोवृत्ति पर नहीं, क्योंकि आन्तरिक मनोवृत्ति तो पिछले जन्मके संस्कारसे बनी हुई आती है। यह मनोवृत्ति तभी बदल सकती है जब कोई विशेष चरित्रवान्, गुणवान् या ऐसा प्रभावशाली सद्‌गुरु मिल जाय जो उसके पिछले जन्मके संस्कारोंको ही धोकर उनके बदले नये संस्कार बना दे या जिसके व्यक्तित्वके प्रभावसे उसके जीवनकी धारा बदल जाय।

मूलवृत्ति (इन्स्टिन्क्ट)

मैकडूगलने कुछ समय पूर्व यह मत प्रतिपादित किया था कि हमारा संपूर्ण व्यक्तिगत तथा सामाजिक व्यवहार हमारी चौदह मूल-वृत्तियोंमेंसे किसी एक या अनेककी ही अभिव्यक्ति है। उसके अनुसार निम्नलिखित

चौदह मूल प्रवृत्तियाँ हैं—१. भय या पलायन (फ़ीयर या फ़्लाइट), २. झगड़ालूपन या कलहप्रियता (पग्नैसिटी), ३. विरति या चिढ़ (रिपल्शन), ४. कुतूहल या जाननेकी उत्कंठा (क्यूरियौसिटी), ५. आत्माधिकारत्व या अपनी सत्ता जमाना (सेल्फ़ एसर्शन), ६. आत्म-तुच्छता (सैल्फ़ एबेसमेंट), ७. कामवासना (सेक्स), ८. संग्रह (ऐक्विज़िटिवनेस), ९. जनकत्व (पैरेंटल इन्स्टिन्क्ट), १०. संघता (ग्रिगेरियसनेस), ११. आखेट (फूडसीकिंग), १२. अनुवर्तन या अनुकरण (इमिटेशन), १३. खेल (प्ले) और १४. भूख (हंगर)। इसके अतिरिक्त उसने मुख्य और गौण मूलवृत्तियोंकी अपनी लम्बी सूचीमें मैथुन, छींकना और हँसना-तक गिनवा दिया है। उसका मत है कि 'इन्हीं मूलवृत्तियोंके कारण ही मनुष्यको बाह्य विषयोंकी प्रतीति होती है, भावावेगका अनुभव होता है और मनुष्य एक निश्चित ढंगसे व्यवहार करने लगता है। इनमेंसे प्रतीति और व्यवहार तो बदले जा सकते हैं किन्तु भावावेग हमारी मूलवृत्तिका प्राण है। वह कभी नहीं बदलता और यदि बदलता भी है तो बहुत कम।'

सबसे पहले देकार्तेने कहा था कि जानवरोंका व्यवहार सहज (इन्स्टिंक्टिव) होता है और मनुष्यका व्यवहार सज्ञान होता है, किन्तु डारविनके पश्चात् यह मत अमान्य हो गया। इसके पश्चात् मनुष्यकी मूलवृत्तियाँ खोजी जाने लगीं और अनेक दार्शनिकोंने इन मूलवृत्तियोंकी अच्छी लम्बी सूची बना डाली जिनमें जैम्स और थौर्नडाइक अधिक प्रसिद्ध हैं। किन्तु आज तो आप किसी भी योरप या अमरीकाके मानसशास्त्रीसे कह भर दीजिए कि अमुक व्यक्ति अपनी मूलवृत्तिके अनुसार (इन्स्टिक्टिवली) काम कर रहा है तो वह तत्काल चिढ़कर कहेगा कि मूलवृत्तियाँ (इन्स्टिन्क्ट्स) तो पचीस बरस पहले खोद कर गाड़ दी गई हैं क्योंकि हम जितना भी व्यवहार करते हैं वह सब पूर्णतः या अंशतः सीखा हुआ ही होता है, माँके पेटसे कोई सीखकर नहीं आता।

मूलवृत्तिकी परिभाषा

मानसशास्त्रियोंने कहा है कि 'मूलवृत्ति वह जन्मजात और अन्य

व्यवहारोंकी अपेक्षा अधिक अपरिवर्तनीय व्यवहार है जो किसी एक जीव-जातिमें समान रूपसे व्याप्त हो, जैसे चिड़ियोंमें घोंसला बनानेकी और मकड़ियोंमें जाला बुननेकी मूल-वृत्तियाँ होती हैं।' मैकडूगलने यह भी स्थिर किया है कि 'प्रत्येक मूलवृत्तिके साथ एक निश्चित भावावेग (इमोशन) भी बँधा रहता है जैसे पलायनके साथ भय, विरति या चिढ़के साथ ऊबना, कुतूहलके साथ आश्चर्य, कलहप्रियताके साथ क्रोध, आत्मतुच्छताके साथ दैन्य, आत्माधिकारके साथ उल्लास तथा जनकत्वके साथ वात्सल्य आदि।' किन्तु जब मूलवृत्ति का ही कोई अस्तित्व नहीं है तब उसके साथके भावावेगका प्रश्न ही कहाँ उठता है। वास्तवमें मुख्य बात है प्राक्तन जन्मका संस्कार, जो प्रत्येक व्यक्तिको एक विशेष प्रकारसे व्यवहार करनेको सदा प्रेरित करता रहता है और जिसके कारण उसका चरित्र बनता है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने अच्छे और बुरे दो प्रकारके मनुष्योंका भेद करते हुए भले और बुरे चरित्रके संस्कारोंकी एक सूची ही दैवी और आसुरी सम्पत्तिके नामसे दे दी है—

> अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
> दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥
> अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
> दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥
> तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
> भवंति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत॥

[श्रीमद्भगवद्गीता १६।२,३]

[कभी किसीसे न डरना, मन शुद्ध रखना (मनमें छल, कपट, द्वेष, मोह आदि न रखना), ज्ञान प्राप्त करनेकी उत्कंठा, और भगवानमें मन लगानेकी इच्छा, दान करना, अपनी इन्द्रियोंको (विशेषतः जीभ और जननेन्द्रियोंको) वशमें रखना, यज्ञ करना, (देवता, ऋषि, पितर और जीवोंको अन्न आदि देकर संतुष्ट रखना), नित्य नियमसे अध्ययन करना, तपस्या करना (शरीरको ऐसा साध लेना कि सब प्रकारका कष्ट सहन कर सके , सीधेपनसे

व्यवहार करना, किसीको मन, वाणी या कर्मसे कष्ट न पहुँचाना, सत्य बोलना, कभी किसीपर क्रोध न करना, सब फलोंकी आशा छोड़कर काम करना, सदा सब अवस्थाओंमें शान्त रहना, किसीकी चुगली न करना, सब प्राणियोंपर दया करना, किसी बातका लोभ न करना या किसी विषयमें लोलुप न होना, कोमल स्वभावका होना, बुरे कामके लिये लज्जित होना, चपलता या नटखटपन न करना, तेज, क्षमा, धैर्य धरना, भीतर और बाहर पवित्र रहना, किसीसे बैर न रखना और अहंकार न करना, ये उस पुरुषमें स्वभावसे ही आ जाते हैं जो दैवी सम्पत्ति लेकर जन्म लेते हैं ।] इन गुणोंके समूहको ही शील कहते हैं ।

दंभो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ॥

[श्रीमद्भगवद्गीता १६।४]

[हे अर्जुन ! जो लोग आसुरी सम्पत्ति लेकर उत्पन्न होते हैं उनमें पाखण्ड, ऐंठ, अभिमान, क्रोध, वाणी और कर्मकी कठोरता और अविवेक (भले-बुरेका ज्ञान न होना) होता है ।] ये दुःशीलताके लक्षण हैं ।

शिक्षाका मुख्य उद्देश्य ही यह है कि हम सबको विद्यावान् भले ही न बना पावें क्योंकि विद्या तो भाग्य और मेधापर अवलम्बित है, किन्तु शीलवान् तो सबको बनाना ही चाहिए ।

यह बालकके मनकी वृत्तियोंपर निर्भर है । शिक्षाशास्त्रकी दृष्टिसे हमारा कर्तव्य होता है कि हम बालककी मानसिक वृत्तियोंका अध्ययन करके उसके मनसे बुरे संस्कार मिटाकर उसे दैवी संपत्तिकी ओर प्रेरित करें । किन्तु इस कार्यके लिये स्वयं अध्यापकको ऐसा उच्च चरित्रवान् और प्रभावशाली व्यक्तित्ववाला होना चाहिए कि वह अपने व्यवहार और चरित्रसे छात्रोंका श्रद्धा-पात्र बन जाय । यदि यह न होगा तो किसी प्रकारके भी बाह्य उपाय उसके व्यक्तित्व और चरित्रके विकासमें कोई योग नहीं देंगे ।

मानसिक विकास

मानसशास्त्रियोंने मानस-विकासके दो सिद्धान्त माने हैं—१. अवधिगत (पीरिऔडिकल) विकास और २. सहगामी (कौनकरेंट) विकास ।

अवधिगत विकासका सिद्धान्त यह है कि 'प्रत्येक गुण जीवनकी किसी निश्चित अवस्थामें उत्पन्न होता है और एक निर्धारित अवधिके भीतर ही उस गुणका पूर्ण विकास हो जाता है। यदि उस अवस्थामें उस गुणके विकासका अवसर नहीं मिल पाता तो उस गुणके उत्पन्न होनेकी संभावना ही लुप्त हो जाती है।' इसी आधारपर रूसोने कहा है कि 'स्मृतिका विकास बचपनमें होता है और बारह वर्षकी अवस्था बीत चुकनेपर तर्कबुद्धि जागरित होती है। अतः, इस अवस्थासे पूर्व तर्कशक्ति बढ़ानेका कोई प्रयास नहीं करना चाहिए।' किन्तु प्रसिद्ध मनोविश्लेषण-शास्त्री फ्रौयडका मत है 'किसी भी मानसिक गुणके विकासकी कोई निश्चित अवस्था या अवधि नहीं होती। सब मानसिक क्रियाएँ एक साथ चलती रहती हैं क्योंकि बालक अपनेमें पूर्ण होता है। जन्मकालसे ही सब गुण उसमें विद्यमान रहते हैं और वातावरणके संपर्कसे उनका विकास भी होता रहता है। इसलिये बालकको विकासके अधिकसे अधिक अवसर देते रहने चाहिएँ।

सहगामी विकासका सिद्धान्त यह है कि 'वृत्ति तथा भावावेग आदि सब एक साथ चलते रहते हैं क्योंकि बालकमें सब विशेषताएँ प्रारंभसे ही उपस्थित रहती हैं। यह संभव है कि किसी एक अवस्थामें किसी एक विशेष वृत्तिका अधिक विकास दिखाई पड़े और दूसरीका कम। परन्तु ऐसा नहीं होता कि एक वृत्ति उपस्थित रहे और दूसरी न रहे।' यह मानसिक विकास प्रत्येक व्यक्तिमें समान रूपसे नहीं होता। किसीका मानसिक विकास शीघ्र हो जाता है तो किसीका विलंबसे। अतः, इसी विकास-क्रमके अनुसार बालककी शिक्षा भी व्यवस्थित करनी चाहिए। यह मानसिक विकास इतने क्रमिक ढंगसे धीरे-धीरे होता है कि उसने विकासकी एक अवस्था पार करके कब दूसरीमें प्रवेश किया यह कहना कठिन होता है। यह मनका विकास भी शारीरिक विकासपर बहुत अवलंबित होता है। जैसे-जैसे शरीरका विकास होता है वैसे वैसे मनका भी विकास होता है। अतः, स्वस्थ और पुष्ट भोजन करनेसे मानसिक विकास भी तीव्र गतिसे होता है।

डौक्टर अर्नेस्ट जोन्सने मानसिक विकासकी दृष्टिसे मनुष्य-जीवनकी चार अवस्थाएँ बताई हैं—बाल्य, मध्य, किशोर और प्रौढ़। इनका विवरण देते हुए उसने लिखा है कि 'कौन व्यक्ति इनमेंसे किस अवस्थाको कब पार कर लेता है इसके सम्बन्धमें कोई नियम नहीं बनाया जा सकता। बाल्यावस्थाकी प्रारंभिक शिशु अवस्थामें बालक पूर्णतः माता या पितापर आश्रित रहता है। इसके पश्चात् कुछ समझ आनेपर अर्थात् लगभग तीन वर्षकी अवस्थासे वह स्वतन्त्र आचरण करनेका प्रयत्न करने लगता है। कुछ और बड़ा होनेपर वह साथी ढूँढने और कहानियाँ कहने-सुनने लगता है। इस अवस्थामें उसकी कल्पना कुछ अधिक वेगवती हो चलती है और वह कल्पना तथा तथ्यमें कुछ भेद नहीं समझता। उसकी कुतूहल-वृत्ति भी इसी अवस्थामें प्रकट हो जाती है किन्तु मस्तिष्कका विशेष विकास न हो पा सकनेके कारण उसे अधिक बातोंका ज्ञान नहीं हो पाता। इसीलिये उसकी तर्कशक्ति भी उस अवस्थातक विकसित नहीं हो पाती। किन्तु आगे चलकर जब वह बड़ा होने लगता है और उसका मानसिक विकास होने लगता है तब वह भाषाके द्वारा अपने मनकी बात कहना प्रारंभ कर देता है और प्रत्येक वस्तुके सम्बन्धमें उसकी धारणा बनने लगती है।

'मध्यावस्थामें स्मृतिशक्ति विशेष तीव्र रहती है और वस्तुओंके संग्रह करनेका, सर्जनात्मक वृत्तिका, संगी-साथी ढूँढ़कर साथ रहनेका और नैतिक भावनाएँ धारण करनेका अधिक विचार आने लगता है। इसी अवस्थामें उसकी साधारण योग्यताओंका विकास होता है।

'किशोरावस्था (११ और १७ वर्षके बीचकी अवस्था) में काम-वृत्ति, भावुकता, आदर्शवाद संवेगशीलता अधिक सक्रिय रहती है। इस अवस्थामें बालक कल्पनालोकमें विचरने लगता है और किसी भी प्रकारके संकटपूर्ण कार्यके लिये धारणाशील होकर कार्य करने लगता है। मानस-शास्त्रियोंका कहना है कि यह मानसिक विकास कुल-परंपरा और वातावरणपर ही अधिक अवलंबित होता है।'

कुल-परम्परा और वातावरण

गाल्टनका मत है कि किसी भी व्यक्तिका जीवन-क्रम 'कुलपरंपरा'के प्रभावसे ही निर्धारित होता है किन्तु हरबर्टने वातावरणको ही प्रमुख मानते हुए कहा है कि 'किसी बालकको किसी भी प्रकारकी शिक्षा देकर किसी प्रकारका भी बनाया जा सकता है।' किन्तु श्री ननने गाल्टन और हरबर्ट दोनोंका ही मत अमान्य करके कहा है कि 'न तो बालक पूर्ण रूपसे अपनी कुल-परंपराके प्रभावपर ही अवलंबित होता है और न पूर्णतः वातावरणपर। वास्तवमें बालक ही चाहे तो इनमेंसे किसी प्रभावका उपयोग करके उनके अनुसार बन सकता है और न चाहे तो नहीं बन सकता।' इस प्रकार ननने दूसरे रूपसे हमारे भारतीय सिद्धान्त अर्थात् प्राक्तन जन्मके संस्कारको ही दूसरे रूपसे मानव-जीवनका आधार स्वीकार कर लिया है।

मनोवृत्तियाँ

मानसशास्त्रियोंका मत है कि मनुष्यकी वृत्तियोंके अनुसार ही उसके मनमे इच्छाएँ उत्पन्न होती हैं और यह मनोवृत्ति जैसी प्रेरणा देती है उसीके अनुरूप वह व्यवहार करने लगता है। किसी भी कामके प्रति जो मनका झुकाव होता है उसीको मनकी धारणा या वृत्ति (ऐटीट्यूड) कहते हैं। जिस व्यक्तिकी जैसी मनोवृत्तियाँ होती हैं वह उन्हींके अनुसार जीवनमें व्यवहार करता है। बचपनमें ये वृत्तियाँ स्वाभाविक होती हैं जैसे भूख लगते ही बच्चोंका रो पड़ना। ज्यों-ज्यों उसकी इन मनोवृत्तियोंमें परिवर्तन होने लगता है त्यों-त्यों उसका व्यवहार भी बदलने लगता है और जिसकी वृत्तियाँ जितनी मँज जाती है उतना ही वह सभ्य और शीलवान् हो जाता है और जिसकी वृत्तियाँ जितनी ही कम मँज पाती हैं वह उतना ही असभ्य और असंस्कृत रह जाता है।

मनोवृत्तिके सम्बन्धमें तीन सिद्धान्त प्रसिद्ध हैं—१. प्रेरणा-सिद्धान्त, अर्थात् 'मनोवृत्ति ही वास्तवमें मूल शक्ति है और वही मनुष्यके प्रत्येक

व्यवहारमें प्रेरणा देती है।' कुछ मानस-शास्त्रियोंका मत है कि 'वृत्तियाँ बहुत-सी होती हैं और वे सभी मनुष्यके व्यवहारके लिये उत्तरदायी होती हैं।' किन्तु फ्रौयडने केवल एक कामवृत्तिका ही अस्तित्व माना है इसीलिये उसने कामशक्ति और मनःशक्ति दोनोंमें कोई अन्तर नहीं माना। किन्तु फ्रौयडका यह सिद्धान्त निर्मूल है। वास्तवमें काम तो मूत्र, शौच आदि शारीरिक उत्प्रेरणाओंके समान एक उत्प्रेरणा है और वह भी उतने वेगसे और उतनी अधिक मात्रामें उत्पन्न नहीं होती जितनी भूख या अन्य उत्प्रेरणाएँ होती हैं और फिर यदि कामको प्रेरित करनेवाले प्रसंग और साधन सामने न आवें और मन निरंतर अन्य कामोंमें लगाया रक्खा जा सके तो काम-भावनाके उत्पन्न होनेकी बात ही नहीं उठती।

२. जेम्सका सिद्धान्त है कि 'मनोवृत्ति थोड़ी देर-तक रहती है और फिर समाप्त हो जाती है। मनुष्यके विकासकी एक अवस्थामें एक प्रकारकी वृत्तियाँ रहती हैं और दूसरी अवस्थामें दूसरे प्रकारकी।' पर यह तो स्वयं-विरोधी सिद्धान्त हैं क्योंकि यदि वृत्तियाँ इतनी क्षणिक हैं तो वे हमारे व्यवहारपर शासन कैसे कर सकती हैं ?

३. 'जो कुछ पहले किया जा चुका है हमारी मनोवृत्ति उसीकी आवृत्ति मात्र करती है अर्थात् मनुष्य जातिमें पहले जो कुछ नई-नई बातें खोजने या आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिये प्रयास किए जा चुके हैं उन्हींकी आवृत्ति बालक भी करता है।' किन्तु यह मत ठीक नहीं है। वृत्ति तो वह जटिल मानसिक क्रिया है जिसमें हमारा मस्तिष्क निरन्तर काम करता रहता है। कुछ लोग पक्षीमें उड़नेकी या बत्तख़में तैरनेकी वृत्तिको जन्मजात बताते हैं किन्तु पीछे बताया जा चुका है कि ये सब वृत्तियाँ सीखी हुई होती हैं।

इन वृत्तियोंमें परिवर्तन करना और उन्हें ठीक मार्गपर लगाना ही शिक्षाकी दृष्टिसे आवश्यक है क्योंकि उन्हींसे मनुष्यका आचरण बनता है। यद्यपि एक कहावत प्रसिद्ध है कि चोर चोरीसे गया तो क्या हेराफेरीसे भी जायगा तथापि यदि आकर्षक व्यक्तित्ववाला प्रभावशाली गुरु मिल जाय तो वृत्तिमें सहसा परिवर्तन भी हो सकता है। ऐसे उदाहरणोंकी कमी

नहीं है। अत्यन्त भयानक चोर, डाकू और हत्यारे भी सहसा सन्त हो गए हैं। किन्तु ये सब किसी नियमित शिक्षा-द्वारा नहीं वरन् सहसा किसी विशेष व्यक्ति या महापुरुषके सत्सग, उपदेश, अथवा आकस्मिक घटना आदि किसी बातके कारण हुए हैं।

अभ्यास

कुछ विद्वानोंका मत है कि अभ्यासके द्वारा भी वृत्तिमें परिवर्तन कराया जा सकता है। इसके लिये चार उपाय बताए गए हैं— दमन, विलयन, परिमार्जन और पथान्तरीकरण। किन्तु विलयन और दमन तो एक ही हैं और परिमार्जन तथा पथान्तरीकरण भी मूलतः एक ही हैं। आजकलके मानसशास्त्री मानते हैं कि वृत्तियोंका दमन करनेसे बहुतसे रोग उत्पन्न हो जाते हैं किन्तु हम इससे सहमत नहीं हैं। भारतीय मानसशास्त्र यही मानता है कि वृत्तियोंका दमन ही करना चाहिए। दमन करनेसे ही वृत्तियाँ शान्त होती हैं। भारतीय दर्शन इसी मतका प्रतिपादन करते हैं। किन्तु यह दमन स्वयं बालकके अपने सज्ञान प्रयास-द्वारा ही होना चाहिए, बाहरकी शक्तियों द्वारा नहीं। बालकनें यह चेतना उत्पन्न कर देनी चाहिए कि अमुक वृत्ति बुरी है और फिर उससे ऐसी साधना कराई जानी चाहिए कि फिर वह उस वृत्तिसे दूर रह सके। यदि अध्यापककी ओरसे या विद्यालयकी ओरसे छात्रकी वृत्तियोंके दमनका उपाय किया गया तो उसका प्रभाव बुरा होगा। छात्रोंमें विद्रोह-वृत्ति उत्पन्न होगी। यदि कोई बालक सिगरेट पीता है तो अध्यापकका काम यह नहीं है कि वह डंडा लेकर उसके पीछे घूमे। उसका काम यह है कि वह बालकको कहे कि तुम्हें सिगरेट पीनेका बुरा अभ्यास पड़ गया है, उस अभ्यासकी हानि बतावे और उसे छुड़ानेके उपाय भी बताता रहे अर्थात् जब अध्यापक अपनेको छात्रका विश्वासपात्र बना ले तभी वह छात्रको उसकी मनोवृत्तिका दमन करनेमें पूर्णतः सहायक हो सकता है। मनोवृत्तिके दमनकी दूसरी प्रक्रिया हमारे यहाँ बताई है प्रत्येक लोभनीय वस्तुके सम्बन्धमें ऐसी धारणा बना देना कि उसकी ओर मन ही न जाय जैसे—

मातृवत्परदारेषु परद्रव्येषु लोष्ठवत् ।

[पराई स्त्रीको माताके समान और पराए धनको ठीकरेके समान समझो ।]; इस प्रकारकी दमन-क्रिया उदाहरण और विभावनासे (सजेशन) आती है ।

उदात्तीकरण (सब्लिमेशन)

कुछ मानस-शास्त्रियोंका मत है कि वृत्तिका परिमार्जन या उदात्तीकरण (सब्लिमेशन) करना चाहिए अर्थात् वृत्तिका विषयकेन्द्र बदलकर उसे निम्नस्तरसे उठाकर उसे उच्च स्तरपर प्रतिष्ठित कर देना चाहिए । इस प्रक्रियामें बालककी वृत्तिका दमन न करके केवल उसकी वृत्तिका पथ बदल दिया जाता है अर्थात् वृत्तिको किसी न किसी प्रकार सन्तुष्ट रक्खा जाता है । यदि कोई छात्र पैसे-रुपएकी चोरी करता है तो उसे कक्षाके हिसाब-किताबका भार सौंप देनेसे उसकी पैसा रखनेकी वृत्ति सन्तुष्ट रह सकेगी । किन्तु यह परिमार्जनका सिद्धान्त अत्यन्त अनिश्चित और अस्पष्ट है और फिर सब प्रकारके बालकोंकी सैकड़ों वृत्तियोंकी पुष्टिके लिये परिमार्जनके साधन एकत्र करना भी तो सम्भव नहीं है । संसारके सब मानसशास्त्री जुटकर केवल एक छात्रकी ही विभिन्न मनोवृत्तियोंके उदात्तीकरणकी सामग्री नहीं एकत्र कर सकते फिर इतने छात्रोंका तो प्रश्न ही कहाँ उठता है ।

विभावन

इन वृत्तियोंके अतिरिक्त कुछ प्रवृत्तियाँ (टैंडेंसीज़) भी होती हैं जिनमें अनुकरण या अनुवर्तन (इमिटेशन), विभावन (सजेशन) और खेल मुख्य हैं । पीछे बताया जा चुका है कि मूल वृत्ति 'इंस्टिंक्ट' का सिद्धान्त अमान्य कर दिया गया है । लखनऊके बलरामपुर अस्पतालमें भेड़िएकी माँदसे पाए हुए रामू नामक बालककी खोजने यह सिद्ध कर दिया है कि मनुष्य मूलतः पशु है । उसमें कोई वृत्ति नहीं होती । वह सब कुछ सीखकर या देखकर ही सीखता है । अतः, मूल वृत्तिवाला सिद्धान्त अत्यन्त अग्राह्य और अमान्य है । हाँ, समाजमें जितना कुछ हम सीखते हैं वह इतने वेग और सूक्ष्म रीतिसे स्वतः होता चलता है कि यह नहीं जान पड़ता कि हम कुछ

भी सीख रहे हैं। इसीलिये केवल पुस्तकके द्वारा पढ़नेकी अपेक्षा विद्यालयमें रहकर पढ़ने (स्कूलिंग) को अधिक महत्त्व दिया जाता है क्योंकि वहाँ बहुत सी बातें केवल अनुभव या देखने मात्रसे आ जाती हैं। हम सभी प्रायः अधिक कार्य और व्यवहार दूसरोंको देखकर ही करते हैं और यह अनुकरणकी वृत्ति बड़ी अवस्था-तक भी काममें आती रहती है। इसी प्रकार हमारी बहुत-सी धारणाएँ विभावन (सजेश्शन) के द्वारा बनती हैं। जिन व्यक्तियोंमें हमारी श्रद्धा है, जिनके प्रति हमारा आदर है, वे जिस प्रकारका व्यवहार करते हैं, जो आदेश देते हैं, जिस प्रकारका आचरण करते हैं, वह सब हम स्वतः ग्राह्य करते चलते हैं। यह विभावनकी वृत्ति मनुष्यमें प्रारम्भसे लेकर अन्ततक बनी रहती है। अध्यापकके आचार-विचारका विभावन छात्रपर सबसे अधिक होता हैं इसलिये अध्यापकको अपने आचरण और चरित्रके सम्बन्धमें बहुत सजग रहना चाहिए। बालक इसलिये अपने गुरुका विभावन ग्रहण करता रहता है क्योंकि उसका ज्ञान संकुचित होता है। जो गुरु उसका आदर-पात्र और श्रद्धापात्र बन जाता है उसकी प्रत्येक बातको ठीक मानता चलता है। वह अपनेसे बड़े और लोक-सम्मानित व्यक्तियोंमें इतना अन्धविश्वास उत्पन्न कर लेता है कि बहुत विद्याबुद्धि-सम्पन्न होनेपर ही वह तर्क-वितर्क करता है अन्यथा सदा विभावनसे ही प्रभावित रहता है। अतः, चरित्रकी शिक्षामें विभावनका प्रयोग विशेष रूपसे किया जा सकता है क्योंकि यदि यह विभावन उचित साधनोंके द्वारा नहीं दिया गया तो इसका प्रभाव बुरा भी हो सकता है। अध्यापक ही छात्रके लिये प्रथम देवता होता है। उसे स्वयं छात्रके साथ सहानुभूति और मित्रताका व्यवहार करना चाहिए, अपना चरित्र आदर्श, व्यवहार मधुर तथा चरित्र अनुकरणीय रखना चाहिए, अपने विषयका पंडित, अनुभवी और अत्यन्त उदार होना चाहिए। तभी उसके विभावनका प्रभाव छात्रपर पड़ सकता है। इस विभावनके अतिरिक्त महापुरुषोंके जीवनचरित, पुराण, महाकाव्य तथा इतिहासके महापुरुषोंके जीवन-चरितका विशेष अध्ययन कराना चाहिए, अवसर पाते ही उनके जीवनकी विशेष घटनाओं और व्यवहारोंका स्मरण दिलाते रहना चाहिए, उनके सिद्धान्त-वाक्योंको कंठस्थ करा

देना चाहिए, नीति-कथाएँ सुना देनी चाहिएँ। चरित्रके निर्माणमें इन विभावनोंका बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है।

खेल

मानस-शास्त्रियोंके मतके अनुसार बालकमें खेलकी ओर स्वाभाविक झुकाव होता है। हरबर्ट स्पेंसरका मत है कि 'खेल वह क्रिया है जिसके द्वारा हम अपनी अतिरिक्त शक्ति निकाल बाहर करते हैं।' किन्तु यह बात ठीक नहीं। हमारा मन स्वतः सदा अपने दैनिक कार्यसे बच निकलकर उसके अतिरिक्त किसी प्रकारका ऐसा कार्य चाहता है जिसमें न तो बुद्धि लगानी पड़े, न एकाग्रता साधनी पड़े और न जिसके सफल या असफल होनेपर चिन्ता न करनी पड़े। मनुष्यको अपनी जीविका चलाने और परिवारका भरण-पोषण करनेके लिये जितना कुछ प्रयत्न करना पड़ता है उससे भिन्न उसके जितने कार्य हैं वे सब खेल ही हैं।

बालककी खेलमें अत्यधिक रुचि होती है क्योंकि उसमें उसे स्वतन्त्रता मिलती है। स्वतन्त्रतापूर्वक किया हुआ वह सब काम जिसमें उसे स्वतः कार्य करने, अपनेको अभिव्यक्त करने, प्रसन्नचित्त होकर स्वतन्त्र दौड़ने कूदने, हँसने, घूमनेका अवसर मिले वही खेल है। इसीलिये कुछ शिक्षा-शास्त्रियोंका मत है कि खेलको भी शिक्षाके साथ नाँध देना चाहिए और इसीलिये मौन्तेस्सोरी, किंडरगार्टन और डाल्टन पद्धतिमें खेलको इतना महत्त्व दिया गया है। किन्तु यह मत ठीक नहीं है। खेलको खेल ही बनाए रखना चाहिए और शिक्षाको शिक्षा। मौन्तेस्सोरी या किंडरगार्टनवाले भले ही यह समझें कि हम खेलके द्वारा शिक्षा दे रहे हैं किन्तु जब बालक यह जानता है कि एक अध्यापिकाकी देख-रेखमें कुछ यन्त्रोंके सहारे—भले ही वे खेलके यन्त्र हों—उसे निश्चित समयमें काम करना पड़ता है और नित्य एक-से ही खेल खेलने पड़ते हैं तब वह समझ लेता है कि मैं पढ़ ही रहा हूँ, खेल नहीं रहा हूँ। वह बहुत दिनोंतक इस प्रवंचनामें भुलाया नहीं जा सकता।

तत्त्वकी बात यह है कि समाजके अनुकूल बनानेके लिये बालकको

आचरणकी शिक्षा देनी ही चाहिए किन्तु यह आचरण तबतक छात्र नहीं सीख सकते जबतक विद्यालयसे सम्बन्ध रखनेवाले अध्यापक और आचार्य स्वयं आदर्श आचारवान् नहीं होते और जबतक छात्र पूर्णतः अपने घर और पास-पड़ोसके प्रभावसे दूर नहीं कर दिया जाता। दिनके चौबीस घण्टेमेंसे अट्ठारह घण्टे अपने घर और समाजके दूषित वातावरणमें पालन किया जानेवाला और विद्यालयके छह घण्टोंमें भी उन आठ अध्यापकोंके संपर्कमें आनेवाला, जो केवल चालीस पैंतालीस मिनट कोई विषय पढ़ाकर चले जाते हैं, छात्र अपने आचार्य या अध्यापकोंके आचरणसे कोई प्रभाव नहीं प्राप्त कर सकता। हमारे यहाँ आचारवान् पुरुषकी बड़ी प्रशंसा की गई है और यह आचरण या आचार छात्रोंके समक्ष उपस्थित होनेवाले आदर्श उदाहरण और विभावनपर ही निर्भर है।

आचार और विचार

आचार और विचारका परस्पर बहुत घना सम्बन्ध है। मनुष्यके जैसे आचार होंगे वैसे ही उसके विचार भी होंगे। इन दोनोंका अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। किन्तु केवल आचार ही पर्याप्त नहीं है। चरित्रकी साधना या शील-संशोधनके लिये विचारका भी उतना ही महत्त्व है।

विचार

विचार वास्तवमें हमारे मनकी वह प्रतिक्रिया है जो हम किसी भी एक प्रकारकी परिस्थितिमें व्यवहार करते हैं। विभिन्न अवसरोंपर, विभिन्न स्थानोंमें यदि सुन्दर या मूल्यवान् पदार्थ देखकर हमारे मनमें यही विचार उठे कि इस वस्तुको किसी प्रकार हड़पना चाहिए तो यह निश्चय है कि हमारे मनमें अपहरणका विचार जमकर बैठ गया है। एक बार ऐसा विचार आनेपर यदि तत्काल उसकी रोकथाम न हुई तो धीरे-धीरे वह विचार निरन्तर जमते-जमते ऐसा संस्कार बन जाता है कि वैसा अवसर आते ही वह उसी प्रकार चिन्तन करने लगता है और मनको उसी प्रकारका आचरण करनेकी प्रेरणा देने लगता है। सामाजिक

भय या दण्डके भयसे वह विचारके अनुसार किसी अवसरपर आचरण भले ही न करे किन्तु मानसिक संस्कार तो ऐसा बन ही जाता है कि यदि अवसर मिल जाय तो वैसा आचरण वह निश्चित रूपसे करने लगेगा। इसलिये विचारका शोधन परम आवश्यक है। बार-बार एक ही प्रकारका विचार करनेसे उसका अभ्यास बन जाता है और अभ्यासोंकी समष्टि ही चरित्र है। इसलिये छात्रके समक्ष निरन्तर ऐसे उदाहरण उपस्थित करते रहना चाहिए जिससे उसके विचार उदात्त और उदार बनें, निम्न और संकुचित न बन पावें।

इस उपर्युक्त विवेचनका यही निष्कर्ष है कि बालकका नैतिक और सामाजिक विकास तभी हो सकता है जब उसके विचारों और संवेगोंको नियमित अभ्यास, अच्छे शीलयुक्त उदाहरण और विभावन-द्वारा उदात्त और उदार बना दिया जाय, उसकी संकल्प-शक्ति इतनी प्रबल कर दी जाय कि बड़ेसे बड़े प्रलोभन आनेपर भी वह उनसे विरत रहे, बड़े-बड़े काम करनेके लिये, दूसरोंके लिये बड़ेसे बड़ा त्याग करनेके लिये प्रस्तुत रहे, बड़ेसे बड़ा संकट आनेपर भी विचलित न हो, न दैन्यं न पलायनं (न कभी गिड़गिड़ावें न भागें) ही उसका मन्त्र हो और मनमें विकार आनेके अवसरपर भी विकार न आने दे—

विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः॥

[रघुवंश]

[विकारके कारण उपस्थित होनेपर भी जो विचलित न हो वही धीर है।] ऐसे धीर चरित्रवाले बनाना ही शिक्षाका प्रधान उद्देश्य है।

मनोविज्ञानका अतिवर्त्तन हानिकर

आजकल मनोविज्ञानका इतना प्रबल कोलाहल मचाया जा रहा है कि वास्तविक ज्ञान उसके सम्मुख अत्यन्त क्षीण होता जा रहा है। एक ओर तो शिक्षा-शास्त्री लोग मनोविज्ञानकी दुहाई दे रहे हैं, दूसरी ओर बड़े वेगसे अत्यन्त अमनोवैज्ञानिक ढंगसे परीक्षाएँ ली जा रही हैं, विद्यालय चलाए जा रहे हैं और पढ़ाई हो रही है। मनोविज्ञान पहले तो अध्यापकोंके लिये

रक्खा गया कि वे उसके सहारे छात्रोंकी प्रवृत्ति समझकर तदनुकूल शिक्षा-योजना बनावें। अब छात्रोंके पाठ्यक्रममें भी मनोविज्ञान पहुँचा दिया गया है, जिसका परिणाम यह हो रहा है कि छात्र अब अध्यापकोंका मनोविश्लेषण करने लगे हैं और उन्हें मूर्ख बनानेकी नई-नई मनोवैज्ञानिक प्रणालियाँ निकाल रहे हैं। चोरको पकड़नेवाले ही नहीं वरन् चोर भी मनोवैज्ञानिक होते जा रहे हैं। ऐसी स्थितिमें मनोविज्ञानका अतिवर्त्तन निश्चित रूपसे हानिकर सिद्ध हो रहा है। व्यावहारिक दृष्टिसे भी हम विचार करें तो प्रतीत होगा कि यदि विभिन्न प्रणालियोंसे हम बालकोंकी परीक्षा भी कर लें और उन्हें यह भी बता दें कि अमुक बालक अमुक वृत्तिके योग्य है, तब भी यह कैसे कहा जा सकता है कि उसकी बुद्धि सदा वैसी ही रहेगी, उसकी परिस्थिति—आर्थिक और पारिवारिक—उसे उस वृत्तिके अनुरूप सदा सहायक हो सकेगी। फिर सबको सब वृत्तियोंके अनुसार कार्य मिल भी कहाँ सकता है? संभवतः कुछ नौकरियोंमें इसके आधारपर उचित चुनाव हो भी जाय किन्तु जीवनके अगणित क्षेत्रोंके लिये अगणित परीक्षाएँ बनाई जा सकेंगी और सफल हो सकेंगी इसमें बहुत सन्देह है।

प्रायः विद्यालयके चतुर अध्यापक बिना किसी बुद्धि-परीक्षाके ही बता देते हैं कि किस बालकमें किस कामके लिये कितना सामर्थ्य है। मनुष्यके सम्पर्कमें आनेवाले ऐसे अनेक सूक्ष्मदर्शी व्यक्ति हैं जो मुँह देखकर मनुष्यका स्वभाव और उनकी वृत्ति पहचान लेते हैं। वास्तवमें शक्ति और वृत्ति जाननेकी कोई विद्या या विज्ञान नहीं है। यह केवल अनुभव और संसर्गसे ही अत्यन्त सरलतासे जाना जा सकता है, परीक्षाओंसे नहीं। अतः, मनोविज्ञानका यह निरर्थक कोलाहल कम करके शिक्षाका क्रम अधिक व्यावहारिक बनानेका प्रयत्न करना चाहिए। इसके अतिरिक्त जो लोग मनोवैज्ञानिक परीक्षा लेते हैं, पहले तो उन्हींकी परीक्षा ले लेनी चाहिए क्योंकि यह सम्भव है कि उनमें भी अनेक भाव-ग्रन्थियाँ और अनेक प्रकारकी अवाञ्छनीय प्रवृत्तियाँ विद्यमान हों। प्रायः देखा गया है कि जो

लोग अधिक बड़े मनोवैज्ञानिक कहलाते हैं उनकी मानसिक और पारिवारिक स्थिति अधिक चिन्तनीय और जटिल होता है। अत, मनोविज्ञानका जो इतना आडम्बरपूर्ण प्रचार किया जा रहा है वह अत्यन्त भ्रामक, अव्यावहारिक और निरर्थक है क्योंकि घरकी स्थिति, पिताकी अवस्था, आर्थिक स्थिति, सहसा रोगग्रस्त हो जाने तथा सङ्गतिके कारण भी मनोवृत्तिका सहसा किसी दूसरी ओर बदल जाना अत्यन्त स्वाभाविक है। फिर भी जो प्रयत्न हो रहे हैं उनके सम्बन्धमें यही कहा जा सकता है—

'दिलके बहलानेको ग़ालिब यह ख़याल अच्छा है।'

शिक्षा और मानसशास्त्र

इस उपर्यंकित विवेचनका सार यही है कि प्रत्येक बालकका सामाजिक, कलात्मक और चारित्र्यक विकास करते हुए सबको साक्षर और सुशील तो बनाना चाहिए किन्तु विद्या अर्थात् उच्च ज्ञान केवल पात्रोंको ही देना चाहिए। बालकोंकी रुचि, प्रवृत्ति, इच्छा, आकांक्षा और योग्यताका परीक्षण करके उनके सामर्थ्यके अनुसार उन्हें ज्ञान देना चाहिए। उनके सभी दुर्गुण और बुरे संस्कार पूर्णतः मिटाकर उनमें अभ्यास और विभावन-द्वारा अच्छे संस्कार डालने चाहिएँ। किसी बातकी शिक्षा देते समय एक व्यवहार या कार्यका निरन्तर अभ्यास और उसकी आवृत्ति करानी चाहिए, छात्रको नया ज्ञान देते समय वह ज्ञान छात्रके पूर्वार्जित ज्ञानसे संबद्ध करके, अनेक प्रकारके प्रसंगोंके साहचर्यसे, रुचिपूर्ण विधानोंके द्वारा, अनेक शिक्षण-विधियोंसे दृढ करके, उसकी आवृत्ति कराकर उसका व्यावहारिक प्रयोग भी करा देना चाहिए। इस क्रमसे दी हुई विद्या पक्की हो जायगी। यही वर्त्तमान शिक्षामें मनोविज्ञानका सुझाव है।

———

चतुर्थ खंड

विद्यालयकी व्यवस्था

१

समाज और विद्यालय

प्रत्येक बालकके माता-पिताकी यह लालसा होती है कि बालक पढ़-लिखकर योग्य बन जाय, कुछ कमाकर खा-खिला सके, दस लोगोंमें उसका नाम हो, समाजमें उसका आदर बढ़े, वह घरका काम देखे और ऊँचे पदपर पहुँचे, पर यह कोई नहीं चाहता कि मेरा पुत्र चोर बने, दुराचारी हो, पाप-कर्म करे और समाजमें दुरदुराया जाय। माता-पिता ही नहीं, हमारा समाज भी बालकसे यही आशा करता है कि वह समाजके लिये हितकर हो, कष्टकर नहीं; वह बड़ा होकर उचित वृत्तिके साथ धन कमावे, सम्मानके साथ समाजमें शील और सदाचारके साथ जीवन व्यतीत करे, भोजन, वस्त्र, और आवासके लिये दूसरेका मुँह न ताके, किसीको कष्ट या पीड़ा न पहुँचावे अर्थात् वह सब प्रकारसे स्वतन्त्र, आत्मनिर्भर और विवेकशील हो, स्वयं सुखी रहनेके साथ-साथ अपने परिवार, समाज और राष्ट्रका हित कर सके, अवसर पड़नेपर अपने स्वार्थका परित्याग करके, अपने सुखका बलिदान करके भी दूसरोंका कल्याण कर सके। अतः, बालकोंको ऐसी शिक्षा दी जाय जो उन्हें स्वस्थ, सदाचारी, विवेकशील, त्यागी, संयमी और किसी भी अच्छे व्यवसायसे अपनी जीविका कमाने-योग्य बना दे।

क्या सबको शिक्षा देनी चाहिए ?

यह बताया जा चुका है कि शिक्षा तो सबको देनी चाहिए किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि विद्या भी सबको दी जाय। सरकारका कर्त्तव्य है कि प्रारम्भिक तथा आवश्यक शिक्षा देकर ऐसे बालकोंको छाँटकर अलग कर लिया जाय जिनकी न तो अध्ययनमें रुचि है न जिनमें बौद्धिक क्षमता है। ऊँचे विद्यालयोंमें केवल उन्हीं छात्रोंको भेजना चाहिए जिनमें विद्या प्राप्त करनेकी पात्रता हो।

शेषको व्याख्यान, चलचित्र, चित्र आदि अनेक श्रव्य-दृश्य उपायोंसे व्यावहारिक शिक्षा देकर और लिखना, पढ़ना तथा व्यवहारिक गणित सिखाकर उनको शारीरिक और बौद्धिक समर्थता तथा रुचिका परीक्षण करके उनके योग्य जीविकाका प्रारम्भसे ही निर्देश कर दिया जाय।

शिक्षाके साधन-चतुष्टय

व्यापक तथा अनिवार्य शिक्षाके लिये पाठ्य-विषय ऐसे हों, जिनसे बालकोंको विविध विषयोंका ज्ञान मिल सके और जो बालकोंकी भावी जीविकाके आधार बन सकें। समय-दिनचर्या ऐसी हो, जिसके द्वारा बालकोंका सामाजिक जीवन व्यवस्थित हो सके, उनकी बौद्धिक और शारीरिक उन्नति हो सके, उन्हें सदाचरण और शिष्टाचरणका ज्ञान हो सके तथा लोकसेवा और परोपकारकी भावना सम्पन्न करनेके अवसर प्राप्त हो सकें। किन्तु पाठ्य विषय और समय-दिनचर्या तबतक निरर्थक हैं, जबतक उनका संयोजन कुशल आचार्यों या अध्यापकों-द्वारा शुद्ध वातावरणवाले विद्यालयमें न किया जाय। अतः, शिक्षाके चार प्रमुख साधन हैं—

१. उपयुक्त वातावरणमें उचित स्थानपर बना हुआ विद्यालय, २. कुशल अध्यापक, ३. उचित पाठ्यक्रम, और ४. व्यवस्थित समय-चर्या।

घरका सहयोग

विद्यालयको विद्यार्थीके घरका सहयोग भी तीन प्रकारसे मिलना चाहिए— १. विद्यालयसे जो कुछ गृहकार्य करनेको मिले, चाहे वह लिखनेका हो या कंठ करनेका, सब पूरा करनेके लिये विद्यार्थीको प्रेरणा और सुविधा मिले और माता, पिता या अभिभावक नियमित रूपसे देखते रहें कि विद्यालयसे मिला हुआ कार्य विद्यार्थीने पूरा किया या नहीं। यदि वे अनुभव करें कि घरके लिये जो कार्य मिला है वह छात्रकी बुद्धि और शारीरिक योग्यताके अनुकूल नहीं है तो वे विद्यालयके आचार्यको यह सूचना और परामर्श दें कि गृहकार्यमें किस प्रकारकी, क्या और क्यों त्रुटि रह गई है। यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति शिक्षाके सम्बन्धमें कोई ठोस और उचित परामर्श नहीं

दे सकता, तथापि वह इतना तो अवश्य ही बता सकता है कि बालकको घरपर दिया हुआ काम पूरा करनेमें क्या असुविधाएँ होती हैं। २. माता, पिता या अभिभावक बालकके सम्बन्धमें आचार्यको यह भी सूचना दें कि बालकमें अमुक दुरभ्यास हैं, जिन्हें छुड़ानेके लिये विद्यालयकी ओरसे उचित प्रबन्ध किया जाय। ३. घरवाले समय-समयपर बालकके अध्ययन तथा आचरणके सम्बन्धमें आचार्य या कक्षाध्यापकसे पूछताछ करते रहें और वे जो निर्देश करें उसका पालन करते हुए विद्यार्थीके सर्वतोमुख विकासमें सहायक हों।

समाजका सहयोग

विद्यालयको समाजका सहयोग भी सात प्रकारसे मिलना चाहिए—१. समाजके नेता समय-समयपर विद्यालयके आचार्यको विद्यालयकी प्रगति, अध्यापकोंके व्यवहार और शिक्षण-नीति तथा अन्य विद्यालय-सम्बन्धी विषयोंसे अवगत कराते रहें। २. समाजके नेता तथा अन्य सम्पन्न व्यक्ति विद्यालयकी आवश्यकताएँ पूछकर, देखकर और समझकर उन त्रुटियोंको पूर्ण करनेका निरन्तर प्रयास करते रहें। ३. समाजके शिक्षाशास्त्री और शिक्षा-मर्मज्ञ समय-समयपर आचार्य तथा अध्यापकको शिक्षा-संबन्धी नई प्रवृत्तियों अथवा शिक्षण-संबन्धी त्रुटियोंके प्रति ध्यान आकृष्ट करके उचित परामर्श देते रहें। ४. सामाजिक संस्थाएँ विद्यालयके अध्यापकोंका उचित सम्मान किया करें। ५. अध्यापकोंकी सुविधाके लिये समाज सब प्रकारका प्रयत्न करे और उनके बौद्धिक विकासके लिये सुन्दर, समृद्ध पुस्तकालय और वाचनालयकी व्यवस्था करे। ६. अध्यापकोंको इतना पर्याप्त वेतन देनेकी व्यवस्था करे कि उन्हें योगक्षेमके लिये कोई दूसरा मार्ग न ढूँढना पड़े और द्वार-द्वार जाकर पढ़ानेका निन्द्य कार्य न करना पड़े। ७. छात्रोंको व्यायाम और खेलनेके लिये भूमि तथा उनके स्वास्थ्य-वर्द्धनके लिये शुद्ध दूध, घी तथा खाद्य पदार्थ संचय करनेकी व्यवस्था हो जैसे पहले नालन्दा विश्वविद्यालयके आस-पासके गाँववाले करते थे।

सरकारका सहयोग

विद्यालयकी समुन्नतिमें सरकारका भी कर्त्तव्य है कि—१. वह

अध्यापकोंकी वृत्तिकी सुरक्षाका ऐसा प्रबन्ध करे कि विद्यालयोंकी प्रबन्ध समितियाँ उन्हें मनचाहे ढंगसे हटा न पावें, उन्हें उचित समयपर उचित तथा पर्याप्त वेतन दें, उनके आश्रित बच्चोंकी पढ़ाईका निःशुल्क प्रबन्ध करें और उन्हें स्वतन्त्र बुद्धिसे कार्य कर सकनेकी सुविधा दें। २. उनपर निरर्थक पाठ्यक्रम, पाठ्यपुस्तक आदिका प्रतिबन्ध लगाकर उनकी स्वतंत्र स्फूर्तिका दमन न करे। ३. विद्यालयके छात्रोंके स्वास्थ्यके लिये व्यायामशाला और जलपान आदिका प्रबन्ध करे। ४. अध्यापकों और छात्रोंको निःशुल्क देश भरमें घूमकर अनुभव प्राप्त करनेकी सुविधा दे। ५. छात्रावासके आवास, प्रकाश, भोजन, व्यायाम, खेल, सामाजिक समारम्भ तथा वाचनालयकी सुव्यवस्था करे। ६. लोकसेवाके कार्योंमें छात्रोंका सहयोग ले और उन्हें पुरस्कार आदि देकर प्रोत्साहित करे। ७. ऐसे शिक्षा-मंत्री चुने जिन्होंने शिक्षा-शास्त्रका अध्ययन और मनन किया हो और जिनमें शिक्षाकी उन्नतिके सम्बन्धमें विचार करनेकी मौलिक क्षमता हो।

विद्यालयका सहयोग

घर, समाज और सरकारका सहयोग मिलनेपर विद्यालयका कर्त्तव्य हो जाता है कि वहाँके आचार्य, संचालक और अध्यापक शुद्ध सेवाभावसे बालकोंकी सर्वांगीण उन्नतिके लिये निरन्तर प्रयास करें और दिनरात इस प्रकार चिन्तन, मनन और विचार करें कि विद्यालयके छात्र उनके सम्मिलित प्रयाससे देश और समाजके रत्न बन सकें।

प्रबन्ध-समितियोंका सहयोग

विद्यालयोंकी व्यवस्था अनुत्तरदायी लोगोंके हाथसे निकालकर स्थानीय प्रतिष्ठित आचार्यों और अध्यापकोंकी सहयोग-समितियोंको दे दी जाय और निरीक्षण इतना कड़ा कर दिया जाय कि किसी प्रकारका कोई दोष और अनाचार प्रवेश न पा सके। जबतक यह व्यवस्था नहीं होगी तबतक घर, समाज, सरकार और विद्यालयके पारस्परिक सहयोगका भी कोई फल नहीं होगा।

२

विद्यालय

विद्यालयको केवल पढनेका स्थान मात्र न बनाकर ऐसा केन्द्र बना देना चाहिए जिसे बालक अपना घर, खेलनेकी भूमि, पुस्तकालय, बातचीत करनेकी चौपाल, अपनी कुतूहल-निवृत्तिकी प्रयोगशाला और अपने हाथ-पैर तथा अंगोंके सचालन और पोषणका अखाड़ा मानें अर्थात् विद्यालय ही बालकोंका गाँव, नगर, समाज, राष्ट्र, घर, मल्लशाला, सब कुछ हो।

विद्यालयका स्थान तथा परिक्षेत्र

स्वच्छता, स्वस्थता और सुन्दरता तीनों दृष्टियोंसे गाँव, नगर या बस्तीसे बाहर, खुले मैदानमें, वन-उपवन या अमराईके बीच ऐसे स्थानपर नदीके पास, कमल या कोईंसे भरे लम्बे-चौड़े तालके तीरपर, पर्वतकी गोदमें, घाटीमें या झरनेके पास ऐसा विद्यालय बनाना चाहिए जिससें बहुत तड़क-भड़क न हो, पक्के बाँसों या बल्लोंपर टट्टरोंसे छाए हुए ऐसे प्रकोष्ठले जिनमें धूप-वर्षासे भली प्रकार रक्षा हो सके, गर्मीके दिनोंमें वृक्षोंके नीचे और जाड़ेमें खुली धूपमें या हरी घासपर बैठकर भी पढ़ाई की जा सके और जहाँ अध्यापक तथा छात्र एक परिवारके समान एकत्र रह सकें। किन्तु यदि यह संभव न हो सके तो जिस भवनमें बालक पढ़ाए जाते हों उसमें अधिकसे अधिक निर्बाध सीधा खुला प्रकाश और आरपार बहनेवाला शुद्ध पवन छात्रोंको निरन्तर मिलता ही रहना चाहिए। विद्यालयके चारों ओर या बीचमें इतना खुला मैदान होना चाहिए कि अवकाशके समय उसमें छात्र खेल-कूद सकें। विद्यालयके आस-पास या विद्यालयकी भीतोंपर फूल-पत्ते या बेल-बूटे लगे हुए हों, जिससे विद्यालय हँसता हुआ सा-दिखाई पड़े, पर बेल-बूटे इतने घने भी न हों कि मच्छर और कीड़े उत्पन्न होकर सबको कष्ट देने लगें।

विद्यालयका भवन

विद्यालयके भवन-निर्माणमें यही विचार करना चाहिए कि स्वस्थ, हरे-भरे वातावरणमें छात्रोंको अधिकतम खुला प्रकाश और निरन्तर प्रवाहित स्वच्छ वायु कैसे मिले। इसलिये नवीन भवनोंमें सभा-भवनसे सटाकर कक्षा-प्रकोष्ठ नहीं बनाए जाते। अब तो सब कक्षाप्रकोष्ठ उस ओरसे पूरे खुले हुए रक्खे जाते हैं जिधरसे वायुका स्वच्छन्द आवागमन हो और दिनके सब भागोंमें समान रूपसे प्रकाश मिलता रहे। भारतीय उष्ण प्रदेशोंमें दोपहरमें अध्ययन स्थगित कर देना चाहिए क्योंकि सिरपर धूप आ-जानेसे कक्षाओंमें स्वाभाविक अंधकार हो जाता है। समय-चर्या बनाते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि लिखनेका काम दिनके उस भागमें रक्खा जाय जब प्रकाश बाईं ओरसे मिल सके।

बन्द और खुली शैलीके भवन

योरोपीय तथा अमरीकी विद्यालय-भवन-शिल्पियोंने विद्यालय-भवनके लिये दो रूप निर्धारित किए हैं—एक बन्द शैलीके, दूसरे खुली शैलीके। बन्द शैलीके भवन या तो (क) ठोस चौकोर होते हैं, या (ख) बीचमेंसे खुले चौकोर, या (ग) ऐसे चौकोर, जिनका सभाभवन आगे चौकमें निकला हुआ हो।
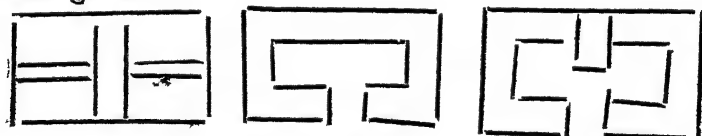
[क] [ख] [ग]

खुले भवन निम्नांकित अंगरेज़ी अक्षरोंके आकारके होते हैं—

I T U E और H

इनमेंसे किसी भी रूपको स्वीकार करते हुए निम्नलिखित बातोंका ध्यान रखना चाहिए—

१. भवन पूर्वाभिमुख हो और पूर्वका प्रकाश मिल सके।
२. सब कक्षोंमें नैसर्गिक प्रकाश और स्वच्छ वायुका निर्बाध आवागमन हो।
३. उचित लंबा-चौड़ा हो।
४. आवश्यकता पड़नेपर घटाया-बढ़ाया भी जा सके।
५. खुले गलियारे उस ओर हों जिधरसे प्रकाश न लेना हो अर्थात् पश्चिममें।
६. उचित देखभाल कर सकनेकी व्यवस्थित सुविधा हो।
७. नीचे-ऊपर चढ़ने-उतरनेका काम कमसे कम हो। जहाँतक संभव हो विद्यालयके भवन एक खंडके हों।

इनमेंसे U आकारमें समान रूपसे तीनों ओर कक्षाएँ बनी होती हैं और बीचमें नीचे सभा-भवन होता है। E रूपमें बीचकी रेखामें सभाभवन बना दिया जाता है जो नाट्य-शालाका भी काम देता है और सभा-भवनके खुले छोरपर दो प्रकोष्ठोंमें आचार्यका और कार्यालयका प्रकोष्ठ होता है। दोनों भुजाओंके छोरपर एक ओर चित्रकलाका प्रकोष्ठ ओर दूसरी ओर भूगोलका प्रकोष्ठ होता है। विज्ञानके लिये भवन अलग होना चाहिए और यथासंभव पुस्तकालय, वाचनालय और व्यायामशालाके लिये भी अलग भवन होने चाहिएँ किन्तु यदि यह संभव न हो तो सभा-भवनमें ही पुस्तकालय और वाचनालय स्थापित किए जा सकते हैं।

साधारणतः E आकारके भवन आजकल अधिक काममें लाए जाते हैं। कैलीफ़ोर्नियामें 'स्वच्छ वायु-विद्यालय-सिद्धान्त' [फ्रेश-एअर स्कूल-थिअरी] के अनुसार अधिक स्वच्छ-वायु-विद्यालय चल पड़े हैं जो चारों ओरसे अधिकसे अधिक खुले रहते हैं।

भवनकी स्वच्छता

विद्यालय-भवनके निर्माणमें इस बातका विशेष ध्यान रक्खा जाना चाहिए कि जिस प्रकोष्ठमें छात्र अध्ययन करें उसमें साधारण छात्रकी श्रवण-शक्ति तथा नेत्र-शक्तिकी सीमाओंके अनुसार उसे स्वस्थ वातावरणमें सुखपूर्वक बैठने, साँस लेने और सोचकर काम करनेकी पूर्ण सुविधा हो।

भवन-निर्माणकी नवीन पद्धति

सन् १९२५ में संयुक्त-राज्य अमरीकाके 'राष्ट्रीय शिक्षा-संघ' (नैशनल एजुकेशन एसोसिएशन) की ओरसे नियुक्त विद्यालय-भवन-निर्माण-समितिने विद्यालय-भवनकी आवश्यकताओंका पूर्ण, विस्तृत और वैज्ञानिक विवरण देते हुए बताया है कि विद्यालय-भवनमें केवल एक ओरसे इतना प्रकाश आना चाहिए कि खुला हुआ भाग प्रकोष्ठके भूमितलके क्षेत्रफलका २० प्रतिशत अवश्य हो अर्थात् यदि प्रकोष्ठकी लम्बाई-चौड़ाई १०० वर्ग फ़ीट हो तो २० वर्ग फ़ीट भाग पूर्वकी दीवारमें खुला या काँचसे ढँका होना चाहिए। यदि कृत्रिम प्रकाश भी देना हो तो वह छात्रोंके बाईं ओरसे इतना दिया जाय कि छात्रोंको पुस्तकोंके अक्षर पढनेमें न तो अधिक नेत्रश्रम पड़े और न उसकी छाया पड़े। बत्तियाँ इस प्रकार लगाई जायँ कि प्रकाश ऊपर छतमें पड़े और उसकी चमक नीचे आवे। प्रत्येक खण्डमें अलग-अलग मार्जनशाला (शौचालय) हो, अग्निकाण्डके लिये आगकी घंटी हो, उतरने और चढ़नेके लिये अलग-अलग चौड़ी सीढ़ियाँ हों और प्रकोष्ठोंके बीच इस प्रकारका पर्दा दिया जाय कि आवश्यकता पड़नेपर प्रकोष्ठ छोटे-बड़े किए जा सकें। कुछ विद्यालयोंमें तो सभा-भवन ही इस प्रकारके बनाए जाते हैं कि उनमें कक्षाएँ भी लगती हैं और अवसर पड़नेपर बीचके परदे निकालकर पूरा सभा-भवन भी बन जाता है। विद्यालयोंमें रेडियो सुनने, नाटक खेलने तथा चल-चित्र दिखानेकी भी सुविधा होनी चाहिए। कुछ विद्यालयोंके आचार्य-कक्षमें ऐसा ध्वनियंत्र (माइक्रोफ़ोन) भी लगा रहता है जिसका सम्बन्ध प्रत्येक कक्षाके ध्वनिविस्तारकसे जुड़ा रहता है और इस प्रचार आचार्य जब चाहे तब अपने कार्यालयमें बैठे-बैठे विद्यालय भरके छात्रोंको एक साथ सम्बोधित कर सकता है, किसी अभ्यागत बुलाकर भाषण भी करा सकता है और यह भी जान सकता है कि किस कक्षामें क्या हो रहा है।

भवनके कक्ष

विद्यालय-भवनमें निम्नलिखित प्रकारके प्रकोष्ठोंकी सुविधा होनी चाहिए—

१. अचार्य-कक्ष (प्रिंसिपल्स रूम) जहाँसे पूरा विद्यालय दिखाई पड़ सके।

२. कार्यालय (ऑफ़िस)
३. अध्यापक-कक्ष (टीचर्स रूम)
४. छात्रा-कक्ष (लेडीज़ रूम), जहाँ सहशिक्षा हो ।
५. पुस्तकालय तथा वाचनालय (लाइब्रेरी ऐंड रीडिंग रूम) ।
६. सभाभवन (हौल), जिसमें सभा, नाटक, प्रार्थना तथा सामूहिक उत्सव किए जा सकें ।
७. कक्षा-प्रकोष्ठ (क्लास-रूम्स), जितने आवश्यक हों ।
८. विशेष कक्ष (स्पेशल क्लास-रूम्स), इतिहास, भूगोल, चित्रकला, संगीत, हस्तकौशल, विज्ञान तथा गृहशास्त्र आदिके लिये ।
९. व्यायामशाला (जिमनेज़ियम) ।
१०. खेलकक्ष (गेम्स-रूम) ।
११. तात्कालिक चिकित्सा-कक्ष (मैडिकल एड सेंटर) ।
१२. भांडार (गोदाम) ।
१३. जलपानशाला (रेस्तराँ या कैण्टीन) ।
१४. जलागार ।
१५. शौचालय ।
१६. विक्रय-भंडार (विद्यालयकी दूकान)

रग और झरोखे

न चमकनेवाले और बहुत हल्के नीले, हरे, पीले, या जोगिया रंगसे विद्यालयकी बाहरी भीतें रँगनी चाहिएँ, जिससे बहुत धूपमें चमककर बालकोंकी आँखें न चौंधियाएँ । द्वारोंके ऊपर ऐसी झाँपदार खिड़कियाँ या पल्लेदार झरोखे हों जिनमें काँच या जालोंकी भरत हो, जिससे द्वार बन्द करनेपर भी प्रकाश बना रहे और कबूतर तथा चमगादड़ गन्दा न करें । प्रकोष्ठोंकी भीतरी भीतें श्वेत चूनेसे पुती हुई होनी चाहिएँ जिससे कक्षाके प्रकाश-वर्धनमें सहायता मिलती रहे ।

कक्षा

प्रत्येक कक्षाकी लम्बाई-चौड़ाई इतनी हो कि प्रत्येक विद्यार्थीको कमसे

कम पन्द्रह वर्गफुट स्थान मिले, दो-दो विद्यार्थियोंकी पंक्तिके बीचमें डेढ़ फुटकी छूट हो, अध्यापकको इधरसे उधर जाने तथा श्यामपट्टपर लिखनेकी सुविधा हो अर्थात् लगभग ३० विद्यार्थियोंकी कक्षाके लिये २० फुट चौड़ा, २५ फुट लम्बा और १६ फुट ऊँचा कक्ष होना चाहिए। कक्षाके द्वार ६ से ७ फुट तक ऊँचे तथा ४ फुट चौड़े होने चाहिएँ और भीतोंमें अधिकसे अधिक झाँपदार खिड़कियाँ इस प्रकार लगाई जायँ कि पूर्व-पच्छिम दोनों ओरसे प्रकाश और पवनका निर्बाध प्रसार हो। छतसे नीचे पूर्व और पश्चिमकी ओर इतने ढलवाँ झरोखे हों कि खुलकर प्रकाश आ सके।

खुली कक्षा

जहाँतक संभव हो, अध्यापक लोग अधिकसे अधिक बाहर खुले प्रकाश और वायुमें पढ़ाया करें। हाँ, वर्षा या गर्मीमें भवनोंका आश्रय अवश्य लेना चाहिए किन्तु यदि कक्षाके भीतर अँधेरा, गर्मी या ठंढक हो, छात्रोंकी आँखोंपर पुस्तक पढ़ने या लिखनेमें परिश्रम पड़ता हो, बैठनेमें असुविधा होती हो तो कक्षामें पढ़ने-लिखनेका कार्य नहीं करना चाहिए।

कक्षाके बाहर

प्रत्येक कक्षाके बाहर उस कक्षाके विद्यार्थियोंकी पूरी सूची टाँगकर और उसके आगे लम्बा स्टेलका टुकड़ा लगाकर उसपर छात्रोंकी नित्यकी उपस्थिति अंकित कर देनी चाहिए।

जल-वायु-परिवर्त्तनके समय

भारतका जलवायु उष्ण होनेके कारण यहाँके छात्रोंमें आलस्य, निद्रा तन्द्रा, थकावट आदिका बहुत अनुभव होता है। उत्तर भारतमें केवल गिने-चुने कुछ महीने ऐसे होते हैं जिनमें छात्रोंमें वास्तविक सक्रियता पाई जाती है वह भी वर्षाके पश्चात् तथा गर्मीसे पूर्व छह महीने। इनके अतिरिक्त वर्षके छह महीने अध्ययन-अध्यापनकी दृष्टिसे अत्यन्त निरर्थक होते हैं। यद्यपि शिक्षा-विभागवाले मनोविज्ञानका डंका तो पीटते हैं किन्तु वे बालकोंकी शारीरिक स्थिति, ऋतु-परिवर्तन और जलवायुका कोई ध्यान नहीं रखते।

जिस समय जुलाईके महीनेमें भयंकर उम्मस छाई रहती है, उस समय भी शिक्षा-विभागवाले यही चाहते हैं कि सात घंटे नियमित रूपसे पढ़ाई हो, किन्तु वे यह विचारनेका कष्ट नहीं उठाते कि कक्षाका अँधेरा, चारों ओर व्याप्त उम्मस, अपर्याप्त भोजन, निर्धन परिवारकी समस्याएँ बालकोंकी अध्ययनमें कैसे एकाग्र रहने दे सकती हैं। मानसशास्त्रियोंने थकावटके समय कहानी कहने, चित्र दिखाने आदिकी ऊलजलूल बातें सुझावमें उपस्थित की हैं किन्तु थकावटका एकमात्र उपाय विश्राम है, काम नहीं। अतः, उचित यह है कि जिन महीनोंमें ऋतु अच्छी हो, जलवायु स्वच्छ और अनुकूल हो, उस समय अधिकसे अधिक पढ़ाई हो और जिन दिनों अधिक वर्षा, गर्मी या सर्दी हो उन दिनों सुविधाजनक समयमें थोड़ी पढ़ाई और वह भी सरल विषयकी हो। शेष समयका कुछ अंश शारीरिक श्रमके कामोंमें लगाया जाय।

कुतूहलके क्षण

कक्षाके अध्ययनमें उस समय बड़ी समस्या खड़ी हो जाती है जब कक्षाके बाहर ही कोई खेल, प्रदर्शन, भाषण या उत्सव हो रहा हो, कोई विशिष्ट अतिथि आकर बाहर विद्यालयका निरीक्षण कर रहा हो अथवा इस प्रकारका कोई अन्य कार्य हो रहा हो जिधर स्वभावतः छात्रोंका ध्यान आकृष्ट हो जानेकी सम्भावना हो। ऐसे अवसरपर छात्रोंको भीतर रोक रखना और उनके कुतूहलको कठोरता-पूर्वक दबा देना अत्यन्त अमनोवैज्ञानिक और अस्वाभाविक है। अतः, ऐसे अवसरोंपर छात्रोंकी कुतूहल-वृत्तिको तत्काल तृप्त कर देना चाहिए और यदि यह ध्यान बँटानेवाला कार्य पूरे घंटे चलानेवाला हो तो छात्रोंको भी रस लेनेके लिये मुक्त छोड़ देना चाहिए।

अवस्थामें विषमता

बड़ी और छोटी अवस्थाके बालक, दीन और निर्धन परिवारोंके बालक तथा विभिन्न वातावरणों और परिवारोंसे आए हुए बालक एक साथ बैठाकर पढ़ानेसे अनेक प्रकारकी समस्याएँ खड़ी हो जाती हैं। प्रायः अवस्था और

शरीरमें बड़े बालक छोटे बालकोंको मारते, पीटते, तंग करते, उनकी पुस्तक, पेंसिल आदि छीनते तथा अनेक प्रकारसे उन्हें सताए रखते हैं। छोटे बालक भी उनके भयके कारण उनके विरुद्ध कुछ कह नहीं पाते। इस प्रकार उनकी मानसिक उन्नति नहीं हो पाती, वे भीरु और कायर हो जाते हैं।

धनी और निर्धन बालकोंको साथ रखनेसे भी निर्धन बालकोंमें आत्महीनताकी भावना निरन्तर जमती रहती है, जो आगे चलकर व्यापक निराशापूर्ण विषादके रूपमें ऐसा घर कर लेती है कि वह जीवन-भर बालकोंको दुखी और विषादमय बनाए रखती है। वे सदा अपनेको आत्महीन और तुच्छ समझते रहते हैं। आगे बढ़कर उत्साहके साथ कुछ काम करनेकी उनकी भावना ही पूर्णतः दब जाती है।

अधिकारियोंके बालक

अध्यापकोंके, आचार्यके, प्रबन्ध-समितिके सदस्योंके और सरकारी अधिकारियोंके बच्चे अपनेको अन्य बालकोंसे अधिक सुविधा-प्राप्त समझकर औरोंपर आतंक जमाया करते हैं यहाँतक कि वे अन्य बालकोंको परीक्षामें अनुत्तीर्ण करानेकी धमकी भी देते रहते हैं। अध्यापक भी भयके मारे उनसे त्रस्तहोकर उनका अनुचित पक्षपात करते लगते हैं। इसीलिये अच्छा सिद्धान्त यही है कि आचार्य, सदस्य या अधिकारी अपने बच्चोंको अपनेसे सम्बद्ध विद्यालयोंमें न रक्खें।

श्यामपट्ट

रूखे, काले रंगमें रँगा हुआ श्यामपट्ट कक्षाके भीतर ऐसे स्थानपर रखना चाहिए जहाँसे वह कक्षाके सब विद्यार्थियोंको दिखाई दे सके। आजकल चार प्रकारके श्यामपट्टोंका प्रयोग संसार भरके विद्यालयोंमें हो रहा है—

क. भीतपर सीमेंट करके रूखी स्याही पोतकर बनाए हुए श्यामपट्ट, जो दो प्रकारसे बनाए जाते हैं—१. सीधे-सपाट और २. ढलवाँ। ये ढलवाँ भी एक तो ऊपरसे नीचेको ढलवाँ होते हैं और दूसरे धनुषके समान भीतरको गोलाई देकर बनाए हुए। ऐसे श्यामपट्टपर चमक नहीं पड़ती।

ख. सरकौवा दुहरे श्यामपट्ट, जो तार या डोरीसे ऊपर-नीचे उठाए-गिराए जा सकते हैं। ये श्यामपट्ट तनिक आगे-पीछे इस प्रकार ऊपर-नीचे लटके रहते हैं कि नीचेवाले श्यामपट्टको तनिक ऊपरको झटका दे देनेसे वह स्वयं ऊपर उठ जाता है और ऊपरवाला अपने बोझके कारण नीचे झूल आता है। इस प्रकारके श्यामपट्ट गणित-शिक्षणके लिये अधिक उपयुक्त होते हैं।

ग. लकड़ीके तिपाए ढाँचे (ब्लैकबोर्ड स्टैंड) पर रक्खे जा सकनेवाले उठौवा श्यामपट्टोंका प्रचलन सबसे अधिक है किन्तु सबसे अधिक टूट-फूट और विद्रूपता भी इन्हींमें होती है क्योंकि कभी-कभी ये धूप-वर्षासे टेढ़े-मेढे हो जाते हैं और निर्दयता तथा असावधानीके साथ इधर-उधर लाने-ले जानेके कारण टूट-फूट भी जाते हैं। इन श्यामपट्टोंमें यही सुविधा होती है कि इन्हें कहीं भी उठाकर लाया-ले जाया जा सकता है।

घ. लपटौवा श्यामपट्ट (रोलअप ब्लैक-बोर्ड) किरमिचपर रंग पोतकर बनाया जाता है और मानचित्रके समान लपेटा जा सकता है। ये श्यामपट्ट हरे, बैंगनी और नीले रंगमें भी मिलते हैं।

सुविधा तथा मितव्ययताकी दृष्टिसे (क) भित्ति-पट्ट सबसे अच्छे होते है किन्तु जब उनका रंग धुँधला पड़ जाता है या मिटने लगता है तब उनकी कुरूपतासे कक्षा असुन्दर लगने लगती है और छात्र-गण भी उसपर अंड-बंड लिखकर या खरोंच डालकर उसे बिगाड़ते रहते हैं। इसके अतिरिक्त उनमें सबसे बड़ी त्रुटि यह होती है कि वे कहीं लाए-ले जाए नहीं जा सकते। (ख) सरकौवा या दुहरे श्यामपट्ट आजकल विश्वविद्यालयोंमें प्रायः गणितकी कक्षाओंमें प्रयुक्त होते हैं, जहाँ प्रायः लम्बे प्रश्नोंका प्रस्तार करना पड़ता है। ये श्यामपट्ट भी दो प्रकारके होते हैं—१. भीतके सहारे बनी हुई घिर्रियोंपर चढ़ाए-उतारे जा सकनेवाले और २. अलग लकड़ीके ढाँचेपर घिर्री लगाकर नीचे-ऊपर सरकाए जानेवाले। ग. उठौवा और घ. लपटौवा श्यामपट्ट अच्छे होते हैं क्योंकि उन्हें कक्षाकी सुविधाके अनुसार चाहे जहाँ ले जाया जा सकता है, प्रकाशकी सुविधाके अनुसार चाहे जिधर घुमाया

जा सकता है और चाहे जितना ऊपर-नीचे उठाया-सरकाया जा सकता है। उठौवा श्यामपट्टमें एक लाभ यह भी होता है कि उसकी दोनों पीठोंका प्रयोग किया जा सकता है।

श्यामपट्टके गुण

श्यामपट्टमें निम्नांकित गुण होने चाहिएँ—१. चमकनेवाला न हो; २. उसपर लिखे हुए अक्षर कक्षामें सब ओरसे दृष्टिगत हों; ३. इतना ही ऊँचा हो कि अध्यापकका हाथ उसके ऊपरके भागतक पहुँच सके; और ४. इतना लम्बा-चौड़ा भी हो कि उसपर पर्याप्त लिखा जा सके। भित्ति-श्यामपट्ट और सरकौवाकी आदर्श लम्बाई-चौड़ाई ६'×४' फुट है किन्तु उठौवा और लपटौवा श्यामपट्टकी लम्बाई-चौड़ाई ५'×४' है। इससे छोटा या बड़ा अनुचित होता है।

प्रत्येक श्मामपट्टके साथ भीगा हुआ पोंछन रहना चाहिए, जिससे श्यामपट्ट पोंछा जा सके। सूखे कपड़ेसे पोंछनेमें खड़ियाके परमाणु उड़कर अध्यापक और छात्रोंका स्वास्थ्य बिगाड़ सकते हैं। इन श्यामपट्टोंको प्रति छठे मास रूखे काले रंगसे रँगवाते रहना चाहिए। छोटे बालकोंके लिये नीले, बैंगनी और हरे रँगोंमें भी पट्ट रँगे जा सकते हैं पर उनमें चमक नहीं होनी चाहिए। यदि श्यामपट्ट उचित स्थानपर रूखे पुते हुए नहीं रक्खे होंगे तो बच्चोंकी आँखें बिगड़ जायँगी।

भंडारी (अलमारी)

कक्षामें ही एक ऐसी भंडारी भी होनी चाहिए जिसमें बालकोंकी अभ्यास-पुस्तिकाएँ, लेखनी, मसीपात्र, अंजनी (पेंसिल) आदि रक्खी जा सकें। आदर्श व्यवस्थाके अनुसार छात्रोंकी सब पुस्तकें, लिखने-पढ़नेकी सब सामग्री कक्षामें ही रहनी चाहिए। विद्यार्थी केवल उतनी ही पुस्तकें घर लावें-ले जावें जिनका प्रयोजन घर पढ़नेके लिये हो। कलम, पेंसिल, रबड़ आदि सब उसी भंडारीमें ही रक्खे रहें और नित्य निकालकर विद्यार्थियोंको दे दिए जायँ। यह भंडारी दीवारमें ही बनी हो जिससे व्यय भी कम हो, स्थान भी न घिरे और कूड़ा भी इकट्ठा न हो।

विशेष विषयोंकी कक्षाएँ

भूगोल, इतिहास, विज्ञान, चित्रकला, गार्हस्थ्य अथवा हस्त-कौशल आदि विषयोंके लिये विशेष कक्ष बनाने चाहिएँ। भूगोलकी कक्षामें विभिन्न देशोंके मनुष्योंके रहन-सहन-संबंधी चित्र, रेखा-चित्र, तथा भूगोल-संबंधी सब वस्तुएँ; इतिहासकी कक्षामें विभिन्न देशोंके ऐतिहासिक मानचित्र, ऐतिहासिक महापुरुषोंके चित्र, तिथि-सरखियाँ (टाइम-चार्ट), प्राचीन मुद्राएँ, संसारके ऐतिहासिक स्थानोंकी प्रतिमूर्त्तियाँ (मौडल) आदि; विज्ञानकी कक्षामें वैज्ञानिकोंके चित्र, वैज्ञानिक यंत्र और सामग्री; हस्त-कौशलकी कक्षामें सब यंत्र, सामग्री, उपकरण आदि; चित्रकलाकी कक्षामें रंग, तूलिका, मानचित्र, प्रतिमूर्त्ति आदि; गार्हस्थ्य-शास्त्रकी कक्षामें शरीर-विज्ञान तथा स्वास्थ्य-विज्ञान-सम्बन्धी चित्र, प्रतिमूर्त्ति और सिलाईके यन्त्र आदि उचित प्रकारसे सजा कर रक्खे होने चाहिएँ। इन विशेष प्रकारकी कक्षाओंके निर्माणमें प्रकाश, वायु, टाँड, द्वार, भंडारी, जल आदिका यथावश्यक विशेष प्रबन्ध रखना चाहिए।

पीठासन और पुस्तकाधार

प्रत्येक कक्षामें छात्रोंके बैठनेके लिये पीठासन (कुर्सी) और पुस्तकाधार (डेस्क) स्वच्छ, चिकने, चमकते हुए और धूलिरहित होने चाहिएँ। छात्रोंके लिये लकड़ीके ऐसे पीठासन होने चाहिएँ जिनपर वे पीठ सीधी करके बैठ सकें और पीठ टेकनेपर उनकी रीढ़की हड्डी पीठासनों से १५° से अधिक पीछे न झुके। उनके आगे पुस्तकाधार इतने ढलुए और ऊँचे होने चाहिएँ कि उनपर रक्खी हुई पुस्तक बालककी आँखसे एक फुटसे कम या अधिक न हो।

घुटनाटेक प्रणाली

यदि बालकोंको टाटपर बैठाया जाय तो उनके आगे या तो ढलुआ चौकियाँ हों जिनपर पुस्तक रखकर वे सीधे बैठकर लिख-पढ़ सकें या अपनी प्राचीन घुटनाटेक (पातित-वामजानु) प्रणालीका ही अनुसरण हो अर्थात् बायाँ घुटना मारकर दाएँ घुटनेपर पुस्तक रखकर वे पढ़ें और लिखें।

पुस्तकाधारोंमें दाईं ओर मसीपात्र रखनेका ऐसा छिद्र होना चाहिए जिसमें मसीपात्र बैठ जाय और उसकी मसी बिखरे नहीं। जुड़वाँ पुस्तकाधारोंमें एक बीचमें और एक दाईं ओर मसीपात्र रखनेका प्रबन्ध होना चाहिए। इकहरे पुस्तकाधार सर्वश्रेष्ठ होते हैं जिनपर केवल एक छात्र बैठ सके किन्तु शिक्षा-वैज्ञानिक लोग उसे अमान्य समझते हैं क्योंकि ऐसे पुस्तकाधारोंमें द्रव्य भी अधिक लगता है और वह स्थान भी अधिक घेरता है। कहीं-कहीं पाँच विद्यार्थियोंके लिये बने हुए पुस्तकाधारका भी चलन है जिसके साथ पाँच छात्रोंके लिये एक लम्बी पीठिका (बेंच) लगा दी जाती है। किन्तु दुहरे पुस्तकाधारोंका मध्यम-मार्ग श्रेष्ठतर है। बिना पीठके पीठासन विद्यालयमें कभी नहीं रखने चाहिएँ क्योंकि इससे पीठ झुकाकर बैठनेका दुरभ्यास पड़ जाता है।

पीठासनके नियम

इँगलैण्डके शिक्षा-विभागने पीठासनोंके सम्बन्धमें निम्नलिखित आदेश दे रक्खे हैं—

(१) सब पीठासनोंमें पीठ लगी हो। (२) सभी पुस्तकाधार खिड़कीवाली दीवारके समकोण लगे हों। (३) उनकी ऊँचाई बालकोंकी अवस्था और ऊँचाईके अनुकूल हो। (४) प्रत्येक विद्यार्थीको कमसे कम १५ वर्ग फ़ीट बैठानेका स्थान हो और प्रत्येक दो पुस्तकाधारोंके बीच १८ इंचका अन्तर हो। (५) न तो पुस्तकाधारोंकी छःहसे अधिक पंक्तियाँ हों और न लम्बाई १२ फुटसे अधिक हो। (६) प्रत्येक पुस्तकाधारके पीछे और बीचमें अध्यापकके आने-जानेके योग्य स्थान हो। (७) पुस्तकाधारोंका ढाल १५° हो। (८) पुस्तकधारके नीचेका सिरा पीठासनके भीतरके सिरेके सीधे ऊपर हो।

असावधानीका परिणाम

यदि पुस्तकाधार ठीक न हुए या उनके बदले ऊँची लम्बी पीठिकाएँ बिछा दी गईं तो उसका कुफल यह होगा कि छात्रोंकी पीठ झुक जायगी, छाती

संकुचित हो जायगी, कन्धे घूम जायँगे और शरीर दुर्बल तथा विरूप हो जायगा। इस शारीरिक अस्वस्थताके कारण न तो उनमें एकाग्रता रह पावेगी न पाठमें रुचि, और नैतिक हानि यह होगी कि विद्यार्थी दुर्विनीत, चिड़चिड़े, असंतुष्ट और अस्थिर हो जायँगे।

अन्य सामग्री

विद्यालयोंमें पीठासनों और पुस्तकाधारोंके अतिरिक्त वाचन-घोड़े, सूचनापट्ट, चित्रपट आदि अन्य साधन भी होने चाहिएँ जिनसे वहाँका जीवन सुव्यवस्थित प्रतीत हो। सब कक्षाओंकी तालियोंपर संख्या डालकर उन्हें आचार्य-कक्षके तालिकाधार-पर टाँग रखनी चाहिए। विद्यालयके छात्र और अध्यापक आदिके सम्बन्धका सारा विवरण किसी उपयुक्त स्थानपर इस प्रकार अंकित कर रखना चाहिए कि किसी भी अपरिचितको वहाँके विषयमें पूरी जानकारी प्राप्त करनेमें कठिनाई न हो।

आचार्य-कक्ष

आचार्य-कक्षमें निम्नलिखित परीवाप (फर्नीचर) होना चाहिए—

१. लेखमंचिका (ऑफ़िस् टेबिल) : जिसमें तालेवाले कोठे बने हों।
२. गोपनीय पेटिका (कौन्फ़िडेंशल बौक्स) : गोपनीय पत्र रखनेके लिये।
३. विशेष पत्र-पेटिका (स्पेशल रेकर्ड बौक्स) : परीक्षा आदिके विशेष काग़ज़ रखनेके लिये।
४. तिजोरी (सेफ़) : रुपया-पैसा आदि रखनेके लिये।
५. भंडारी : अन्य आवश्यक पत्रादि रखनेके लिये।
६. टंकण-कोटर (स्टीनो रूम) : जिसमें स्टीनो-टेबिल (टंकण या टाइपराइटर रखनेकी मेज़) रक्खी रहे।
७. विश्राम-कोटर (रिटायरिंग केबिन) : जिसमें विश्राम-कुर्सी, जलपात्र आदि हो।
८. मार्जन-कोटर (लघुशंका करने, मुँह-धोने आदिके लिये) : जिसमें दर्पण, खूँटी, जल-नलिका आदिका प्रबन्ध हो।

९. तालिकाधार : काँचके ढक्कनवाली पेटी, जिसमें विद्यालयके सब कक्षोंकी तालियाँ क्रम तथा गिनती लगाकर टँगी हो।
१०. घड़ी, पंखा तथा प्रदीप (लैंप)।
११. तिथिपत्र (कैलेंडर)।
१२. समयचर्या (टाइम-टेबिल): कक्षाक्रमसे (क्लास वाइज़) तथा अध्यापक-क्रमसे (टीचर-वाइज़)।
१३. हस्ताक्षर-मंचिका (साइनिंग टेबिल) : जिसपर अध्यापकोंकी उपस्थिति-पंजिका, लेखनी तथा मसीपात्र रहे।
१४. अतिथि-कोटर (विज़िटर्स केबिन) : जिसमें अतिथियोंके लिये कुर्सियाँ लगी हों।
१५. कुर्सियाँ।
१६. गौरवाधार (ट्रौफ़ी-केस) : काँचके ढकने लगा हुआ ऐसा पेटा, जिसमें विभिन्न प्रतियोगिताओंमें जीते हुए विजयपट्ट तथा अन्य पदार्थ रक्खे जा सकें।

इस प्रकार आचार्य-कक्षके पाँच भाग होने चाहिएँ—

१. मुख्य कक्ष (मेन रूम)।
२. अतिथि-कक्ष (विज़िटर्स रूम)।
३. टंकण-कोटर (स्टीनोज़ केबिन)।
४. विश्राम-कोटर (रिटायरिंग केबिन)।
५. मार्जन-कोटर (वाश-रूम)।

अध्यापक कक्ष

अध्यापक कक्षमें निम्नलिखित वस्तुएँ होनी चाहिएँ—

१. संयुक्त-मंजूषा (ज्वाइंट रैक) : एक ढाँचेमें अनेक कोठोंवाली पेटिका, जिसके विभिन्न कोठोंमें विभिन्न अध्यापक अपना पोथी-पत्रा, खड़िया आदि रखकर ताला लगा सकें।
२. पत्र-पेटिका : जिसमें जलपान आदिके लिये पात्र रक्खे जा सकें।
३. तिथिपत्र।

४. दर्पण तथा छत्र-दंडाधार।
५. जलाधार और जलपात्र।
६. विश्वकोष (एन्साइक्लोपीडिया), विमर्श पुस्तकें (रेफ़रेन्स बुक्स) तथा अन्य कोष (डिक्शनरी)।
७. मार्जन-कोटर (वाश रूम) भी साथ होना चाहिए।
८. कुछ पीठासन (कुर्सियाँ) बैठनेके लिये और कुछ विश्रामासन (आराम-कुर्सियाँ) विश्रामके लिये होने चाहिएँ।
९. पंखा, घड़ी, प्रदीप (लैंप)।

कार्यालय

विद्यालयका कार्यालय आचार्य-कक्षसे सटा हुआ होना चाहिए और उसमें निम्नलिखित परीवाप होना चाहिए—

१. शुल्क-मंच (काउंटर), जहाँ छात्रोंसे शुल्क एकत्र किया जा सके, छात्रोंकी आवश्यकताओंकी पूर्त्ति की जा सके और उनकी पूछताछका उत्तर दिया जा सके।
२. चार भंडारियाँ—

(क) लेखन-सामग्री (स्टेशनरी) रखनेके लिये, जिसमें वर्ष भरके प्रयोगके लिये मोल लिए हुए कागज़, कलम, पेंसिल, स्याही, जीभी (निब), पंजिका (रजिस्टर) तथा छपे हुए पत्रक आदि रक्खे जा सकें।

(ख) बहियाँ (फ़ाइल) तथा रक्षणीय पत्र (रेकर्ड) रखनेके लिये।

(ग) परीक्षाकी उत्तर पुस्तिकाएँ आदि रखनेके लिये।

(घ) फुटकर सामग्री रखनेके लिये।

३. विभिन्न लिपिकोंके लिये मंचिकाएँ (मेज़)।
४. जलाधार और जलपात्र।
५ मार्जन-कोटर (वाश-केबिन)

कक्षा-पुस्तकालय

कक्षाका अपना अलग-अलग पुस्तकालय भी होना चाहिए जिसके

पुस्तकोंकी भाषा, विषय और पाठ्य-सामग्री आदि विद्यार्थियोंकी योग्यता और बुद्धिके अनुकूल हो और उनमें कहीं कोई ऐसी बात न हो जिससे विद्यार्थीकी वासना जागरित हो या उनमें नैतिक दोष आवें।

विज्ञान-कक्ष

विज्ञान-कक्ष सीढ़ीदार (गैलरी या थिएटरके रूपका) होना चाहिए जिससे अध्यापक-द्वारा किए हुए प्रयोग सबको सरलतासे दिखाई पड़ सकें।

स्वास्थ्य-विज्ञान तथा विज्ञान-कक्षके साथ विज्ञान-प्रयोगशाला, विज्ञानके अध्यापकका कक्ष, भंडार-घर, गैस-घर, तुलाकक्ष (बैलेन्स-रूम) और जलकी टंकी होनी चाहिए। जहाँ बिजली हो वहाँ रसायन-प्रयोगशालामें ऊपर ऐसे निःश्वसन पंखे लगा देने चाहिएँ जो निरन्तर दूषित तथा दुर्गन्धित वायु बाहर निकालते रहें।

कला-कक्ष और शिल्पकक्ष

शिल्प-कक्ष तथा कला-कक्षमें पर्याप्त मात्रामें प्रकाश होनेके लिये दोनों ओर खंभोंके बदले काँचके पर्दे लगे हों या खुला प्रकाश आनेकी सुविधा हो।

व्यायामशाला

व्यायामशालामें अखाड़ेके अतिरिक्त शरीर-संस्कारके सब साधन, यन्त्र, बड़े-बड़े दर्पण, स्नानागार, तैलमर्दनके पीढ़े आदिकी व्यवस्थाके साथ द्वारोंका ऐसा प्रबन्ध हो कि गर्मीमें वह बराबर खुला रहे और जाड़ेमें इस प्रकार बन्द किया जा सके कि व्यायाम करनेवालोंको व्यायामके पश्चात् ठंढे वायुका झोंका न लग पावे अन्यथा अनेक प्रकारके शीत-रोग होनेकी संभावना रहती है। उष्ण जलसे स्नान करने तथा जलपानकी व्यवस्था भी वहाँ होनी चाहिए।

तात्कालिक चिकित्सा-कक्ष

तात्कालिक चिकित्सा-कक्षमें निम्नलिखित सामग्री होनी चाहिए—

१. रोगि-वाहक (स्ट्रेचर) तथा शय्या
२. अँगीठी (स्टोव)

३. प्राथमिक उपचार-पेटिका (फ़र्स्ट एड बौक्स), जिसमें यह सामग्री हो—

(क) टिंक्चर आयोडीन।

(ख) ज़म्बक या आयोडेक्स-जैसी औषधि।

(ग) टिंक्चर बेन्ज़ोइन।

(घ) लिनिमेंट ए० बी० सी०।

(ङ) अमृतांजन-जैसी औषधि

(च) पीड़ा हरनेवाली गोलियाँ (वेदना निग्रह-रसके समान)।

(छ) अमृतधारा-जैसी औषधि, जो सिरकी पीड़ा, मूर्च्छा, पेटकी पीड़ा, अपच, वमन आदि रोगोंपर काम दे।

(ज) कपड़ेकी पट्टियाँ।

(झ) लकड़ीके फट्टे।

(ञ) बोरिक एसिड।

(ट) बोरिक कॉटन (रूई)।

(ठ) चूने-नौसादरकी शीशी।

जलपानघर, जलागार, शौचालय तथा विक्रय-भांडार

जलपानघर, जलका स्थान, शौचालय तथा विक्रय-भांडारके कक्ष विद्यालयके प्रमुख भवनसे दूर स्वच्छतासे रखने चाहिएँ। पानीकी टंकी, मटके, और घड़े नित्य धुलवाकर, मँजवाकर उनमें शुद्ध जल छानकर भरवाना चाहिए और नालीकी ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए कि जहाँ पानी पिलाया जाय वहाँ पानी इकट्ठा न हो पावे।

शौचालय और विक्रय-भंडार भी स्वच्छ और स्वस्थ रखने चाहिएँ। विक्रय-भांडार और जलपान-घरमें एक-एक ढोल रखवा देना चाहिए जिसमें लोग खा-पीकर दोने, पुरवे, पत्ते, कागज़ आदि फेंक सकें। एक अध्यापक इस कार्यपर नियुक्त कर देना चाहिए जो यह देखता रहे कि बिकनेवाला खाद्य-पदार्थ स्वस्थ और सद्यःनिर्मित (ताज़ा) है या नहीं।

———

३

आचार्य

घड़ीके लिये कमानीका, मशीनके लिये उड़न-चक्केका और जलयानके लिये अंजनका जो महत्त्व होता है वही पाठशालाके लिये आचार्यका होता है। जैसा आचार्य होता है वैसा ही विद्यालय, वैसे ही अध्यापक और वैसे ही छात्र भी बन जाते हैं। विद्यालयकी अच्छाई-बुराई, आचार-व्यवहार, विनय और शील सब कुछ आचार्यकी महत्ता, योग्यता, समर्थता और शक्तिपर अवलम्बित होता है। उसका स्वभाव और चरित्र विद्यालयका स्वभाव और चरित्र होता है। विद्यालयको देखकर, वहाँके छात्रों एवं अध्यापकोंके व्यवहारका संपर्क पाकर आचार्यके व्यक्तित्व और सामर्थ्यका बोध हो जाता है।

आचार्यके गुण

यह आवश्यक नहीं है कि आचार्य बहुत बड़ा विद्वान् हो, किन्तु यह अत्यन्त आवश्यक है वह वपुष्मान्, नीतिज्ञ, मृदुभाषी, कर्मठ, दूरदर्शी, बहुज्ञ, शिक्षा-शास्त्रसे भलीभाँति परिचित, विद्यालयके विभिन्न-अंगोंको सुव्यवस्थित करनेकी कलाका मर्मज्ञ, गंभीर, सदाचारी अपने अधीन काम करनेवाले अध्यापकों तथा सेवकोंकी सुविधाओंका ध्यान रखते हुए उनसे काम ले सकनेके कौशलसे अभिज्ञ हो। आचार्यको कठोर नहीं, गंभीर होना चाहिए; दण्ड-विधायक नहीं, नीति-विधायक होना चाहिए; शासक नहीं, नेता होना चाहिए और यदि इन गुणोंके साथ वह धार्मिक और अपने विषयका पण्डित भी हो तो सोनेमें सुहागा समझना चाहिए। अपने विचार और कार्यमें वह इतना दृढ हो कि एक बार निश्चय कर लेनेपर किसीके दबाव या प्रलोभनसे कभी विचलित न हो। कुछ भी

निश्चय करनेसे पूर्व उसे भली प्रकार सोच-विचार लेना चाहिए। सहसा हड़बड़ी या आवेशमें कोई निर्णय नहीं करना चाहिए। आचार्यका धैर्य इतना प्रबल होना चाहिए कि अनेक प्रकारकी समस्याओं एवं परिस्थितियोंके आघातसे भी वह टससे मस न हो पावे। उसे किसी भी अवस्थामें कोई बात ऐसी नहीं कहनी चाहिए और कोई काम ऐसा नहीं करना चाहिए जिससे क्षुद्रता, कृपणता, द्वेष या लोभ प्रकट होता हो। उसकी उदारतामें भव्यता और महत्ता होनी चाहिए। उसकी वाणीमें, उसके शरीरमें, उसकी दृष्टिमें ऐसा गंभीरता-पूर्ण तेज होना चाहिए कि उसके संपर्कमें आनेवाला प्रत्येक व्यक्ति प्रभावित होकर तत्काल श्रद्धा और विश्वासके साथ आत्म-समर्पण कर दे अत्यन्त आदर और गुरुत्वकी भावनाके साथ आत्मीय समझने लगें। इन गुणोंमेंसे बहुतसे ईश्वर-प्रदत्त होते हैं। सुन्दर, सुडौल, तेजस्वी शरीर ईश्वरके वरदानसे मिलता है, किन्तु सत्यता, निर्भीकता, विद्वत्ता और मनस्विता आदि गुण अभ्याससे भी प्राप्त किए जा सकते हैं। उसमें ऐसे नेताके गुण होने ही चाहिएँ कि उसके पीछे सब चल सकें और आदर कर सकें।

दायित्व

विद्यालयका जटिल यंत्र चलाते रहना और नियमित लिखा-पढ़ीके कार्य निपटाते रहना ही आचार्यका काम नहीं है। उसे विद्यालयकी नीति और वहाँके राज्यकी भी देख-भाल करनी पड़ती है और इसी नीति और देखभालके लिये ही उसे अन्य अध्यापकोंसे अधिक वेतन मिलता है। उसे विद्यालयके सैकड़ों विद्यार्थियोंके स्वास्थ्य, चरित्र तथा शरीरके विकासका विधान करना पड़ता है, विद्यालयके भवन, सामग्री और शिक्षाके उपादानोंकी सँभाल रखनी पड़ती है, छात्रोंका वर्गीकरण, पाठ्यक्रमकी व्यवस्था, समय-चर्या (टाइम टेबिल) का प्रबन्ध करना पड़ता है; विद्यालयके पास-पड़ोसकी स्वच्छता, प्रकाश और पवनकी सुव्यवस्था, रोगों और दुर्घटनाओंसे सुरक्षाका प्रबन्ध, छात्रोंमें विनय और शील भरनेका प्रयास, खेलभूमि, छात्रावास, कक्षा, कार्यालय और वैज्ञानिक प्रयोगशालाका निरीक्षण, छात्रोंकी भर्ती,

परीक्षा और उनका कक्षारोहण तथा इस प्रकारके न जाने कितने दैनिक, मासिक, वार्षिक, प्रासंगिक, आकस्मिक और आवश्यक कार्य करने पड़ते हैं। अतः उसे अपने विद्यालयका ईश्वर होना चाहिए—सर्वज्ञ, शक्तिमान् और सर्वव्याप्त। यदि इसमें वह तनिक भी शिथिलता करता है तो उसका विद्यालय शीघ्र ही मछुरहट्टा, सट्टी या हाट बन जायगा जहाँ कोई व्यवस्था नहीं, विनय नहीं, कोई नियम नहीं। आचार्यको सुप्रबन्धका यह चिर सिद्धान्त स्मरण कर रखना चाहिए—'जो भी आदेश देना हो उसे भली-भाँति सोच-विचार कर दो, पर एक बार आदेश देकर फिर उसे बदलो मत।'

विद्यालयकी व्यवस्था

आचार्यको ठीक प्रकारसे कार्यालयका कार्य देखना चाहिए, छात्रोंके आए हुए पत्रोंका उत्तर तत्काल भिजवाना चाहिए, छात्रोंके शुल्कसे एकत्र हुए द्रव्यमेंसे नियमके अनुसार द्रव्य रोककर शेष सब निर्दिष्ट धन कोषोंमें भेज देना चाहिए, निश्चित तिथिपर अध्यापकोंको वेतन देना चाहिए, पाठशालाके प्रत्येक विद्यार्थी और उसके अभिभावककी आर्थिक और पारिवारिक परिस्थितिसे परिचित रहना चाहिए, छात्रोंके अभिभावकोंसे संपर्क स्थापित करना चाहिए अभ्यास-पुस्तिकाओंकी जाँच करनी चाहिए, विद्यालयके भवन और बाड़ेका निरीक्षण करके परिक्षेत्र स्वच्छ रखना चाहिए, खेल और व्यायामका निरीक्षण करना चाहिए, प्रयोगशाला, छात्रावास, प्रार्थना-भवन, व्यायामशाला, उद्यान, सेवक-निवास, मूत्रालय तथा शौचालयका नित्य निरीक्षण करके उन्हें स्वच्छ रखवाना चाहिए। आचार्यको तो व्यवस्थापक, नेता, शासक, संचालक, संघटक, प्रबन्धक, अध्यापक, पथ-प्रदर्शक, दार्शनिक, मित्र, पिता, माता बन्धु, निरीक्षक, न्यायकर्ता और उपदेशक सभी कुछ होना चाहिए।

सजग दृष्टि

आचार्यको विद्यालयमें इस प्रकार व्यवहार करना चाहिए कि विद्यालयका प्रत्येक अध्यापक, छात्र और सेवक यह समझता रहे कि हमारे ऊपर सदा आचार्यकी दृष्टि लगी हुई है। आचार्यको चाहिए कि एक बार और कार्यमुक्त

अध्यापकको साथ लेकर उनसे बातचीत करते हुए एक चक्कर लगा ले, जिससे छात्रों और अध्यापकोंके मनमें निरन्तर कर्त्तव्यकी भावना तो बनी रहे पर वे इस भयसे काम न करें कि 'लिखो-पढ़ो, आचार्यजी आते होंगे या आ रहे हैं।' इस प्रदक्षिणामें यदि कोई बात असंगत या अनुपयुक्त हो तो उसका सुधार इस प्रकार करते चलना चाहिए मानो वह साधारण बात हो। उसे अनावश्यक महत्त्व देकर बातका बतंगड़ नहीं बनाना चाहिए।

नियमोंका ज्ञान

आचार्यको नवीनतम शिक्षा-सिद्धान्तों, विधानों और पद्धतियोंसे सदा परिचित बने रहना चाहिए और निरन्तर अपने अध्यापकोंको इन नये विधानों एवं पद्धतियोंसे अवगत कराते रहना चाहिए। सफल आचार्यके जो गुण हम ऊपर कह आए हैं उसके लिये आचार्यमें निम्नलिखित स्वाभाविक वृत्तियाँ होनी चाहिएँ—

(१) कर्त्तव्यकी पवित्र भावना। (२) उदार सहानुभूति। (३) विवेकात्मिका बुद्धि। (४) दूसरेका स्वभाव पहिचानेकी वृत्ति। (५) अपने कार्यसे अनुराग। (६) नई सूझ। (७) नई या मौलिक योजना बनानेकी प्रवृत्ति। (८) आत्म-संयम। (९) संघटन-शक्ति। (१०) दृढ़ता। (११) प्रभावशाली वाणी। (१२) सदाचार। (१३) विद्यालयमें सदाचार और विनय भरनेकी योग्यता। (१४) अर्थशौच: रुपए-पैसेका व्यवहार शुद्ध रखना।

अनुभवका लेखा

संक्षेपमें, आचार्यका कर्त्तव्य है विद्यालयमें शिक्षा और विनयकी सुव्यवस्था करना। प्रत्येक आचार्यको एक अनुभव-पुस्तिका रखनी चाहिए जिसमें वह अनुभवकी महत्त्वपूर्ण घटनाएँ, शिक्षाके प्रयोगोंके परिणाम, आवश्यक आँकड़े, उन्नतिका लेखा तथा और भी आवश्यक बातें लिखता चले जिससे आगे आनेवाले आचार्योंको सुविधा और निर्देश प्राप्त हो तथा आवश्यकता पड़नेपर वह स्वयं भी उसका प्रयोग कर सके। तात्पर्य यह है कि आचार्यको साधारण

मानवसे उच्चतर होना चाहिए, जो मानव-हृदयोंके व्यवहारको स्वस्थ रीतिसे संयत, समृद्ध एवं व्यवस्थित कर सके।

विद्यालयका आचार्य लगभग वैसा ही काम करता है जैसे केन्द्रीय स्थानपर बैठकर यान-नियन्त्रक (प्लेन-कन्ट्रोलर) एक प्रदेश भरकी समस्त गाड़ियोंको ऐसी व्यवस्थाके साथ चलाता है कि न उनमें टक्कर होती है, न किसी प्रकारकी असुविधा होती है। आचार्यको निम्नलिखित क्षेत्रोंसे संबन्ध रखना पड़ता है और सुचारु रूपसे उन सम्बन्धोंका निर्वाह करना पड़ता है—

१. प्रबन्ध-समिति
२. अध्यापक
३. कार्यालय
४. अभिभावक
५. छात्र
६. गृहपति और छात्रावास
७. सेवक
८. पुस्तकाध्यक्ष
९. शिक्षा-विभाग
१०. अन्य सहयोगी विद्यालय
११. विद्यालयका परिक्षेत्र

आचार्य और प्रबन्ध-समिति

आचार्यका सबसे पहला सम्बन्ध विद्यालयकी प्रबन्ध-समितिसे है क्योंकि अध्यापकोंकी नियुक्ति, विभिन्न योजनाओंके लिये द्रव्यकी स्वीकृति, नये विषय प्रारम्भ करनेका अंगीकरण, व्यवस्थापक-विवरण (मैनेजर्स रिटन) तैयार करनेकी व्यवस्था आदि कार्य प्रबन्ध-समिति ही करती है। अतः, आचार्य निरन्तर नियमित रूपसे विद्यालयकी उन्नति और सुव्यवस्थासे सम्बन्ध रखनेवाले कार्योंका विवरण निःसंकोच होकर समितिमें उपस्थित करे, अध्यापकोंके उचित वेतन-मान तथा पद बढ़ाने और विद्यालयकी उन्नतिके लिये निर्भीक होकर माँग करे और विद्यालयकी आन्तरिक व्यवस्थामें व्यवस्थापक (मैनेजर) या मन्त्री या प्रबन्ध-समितिको किसी प्रकारका हस्तक्षेप न करने दे। आचार्यका दूसरा आवश्यक कर्त्तव्य यह है कि वह प्रतिमास आय-व्ययका विवरण प्रबन्ध-समितिको देता रहे और प्रत्येक प्रकारके व्ययमें मन्त्रीको भी साथ उत्तरदायी बनाए रक्खे, जिन कोषों (फंड) के व्यवहारका अधिकार केवल आचार्यको है उनका नियमानुसार

प्रयोग करके उनका विवरण भी प्रबन्ध-समितिको देता रहे और प्रति वर्ष विद्यालयका पूरा विवरण प्रबन्ध-समितिको देता रहे किन्तु कभी किसी अध्यापकके विरुद्ध कुछ भी लिखकर प्रबन्ध-समितिको न भेजे। जिन अध्यापकोंके कार्यसे आचार्यको असन्तोष हो उन्हें बुलाकर अकेलेमें समझा दे किन्तु कभी प्रबन्ध-समिति या मन्त्रीको न लिखे, क्योंकि इस प्रकार दोष लिखनेवाला आचार्य शिथिल और सामर्थ्यहीन समझा जाता है। किसी आचार्यको कभी प्रबन्ध-समितिके मन्त्री या सदस्यके घर बिना निमन्त्रणके नहीं जाना चाहिए और वहाँ पहुँचकर कभी दैन्य नहीं दिखाना चाहिए।

आचार्य और अध्यापक

अध्यापकोंका चुनाव

अध्यापकोंका चुनाव करते समय आचार्यको ध्यान रखना चाहिए कि वे उसके मनके अनुकूल चलनेवाले हों। अध्यापक यदि आचार्यके प्राचीन शिष्य हों तो सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि स्वाभाविक रूपसे ये शिष्य, आचार्यकी सब योजनाओंमें सदा मनोयोग-पूर्वक सहयोग दे सकेंगे। किन्तु यह आदर्श स्थिति सब स्थानोंपर संभव नहीं है। अतः, बातचीत, रंग-ढंग, तथा आचार-व्यवहारसे यह परीक्षा कर लेनी चाहिए कि कौन अध्यापक मनसे सहयोग दे सकेगा, कौन नहीं। केवल प्रथम श्रेणी पाना ही अध्यापकका गुण नहीं समझना चाहिए। यह देखना चाहिए कि वह अच्छा अध्यापक भी है या नहीं।

कार्य-विवरण

आचार्यका कर्त्तव्य है कि प्रत्येक अध्यापककी रुचि, व्यक्तित्व, अनुभव, योग्यता, स्वभाव और ज्ञानकी परीक्षा करके तदनुसार उसे शिक्षणका काम सौंपे और फिर समय-समयपर मित्र और अनुभवी सहायकके रूपमें उसका निरीक्षण, परीक्षण और निर्देशन करता रहे।

पाठन-कार्य

समय-चर्या (टाइम-टेबिल) इस प्रकार व्यवस्थित करनी चाहिए कि

यदि किसी अध्यापकको एक घंटा मौखिक शिक्षणका दिया जाय तो दूसरा लिखितका, जिससे किसी अध्यापकपर आवश्यक भार न पड़े। किसी अध्यापकको किसी भी दिन चार घंटे (पीरियड) से अधिक पढ़ानेका कार्य नहीं देना चाहिए। प्रत्येक अध्यापककी रुचिके अनुसार उसे नाट्य-परिषद्, प्रतियोगिता, भाषण, गोष्ठी, बालचर-मंडल तथा खेल आदि कार्य सौंप देने चाहिएँ।

छात्रोंका विवरण

अच्छे, बुरे, सुशील, दुःशील, झगड़ालू, स्नेहशील, मेधावी, मूर्ख या साधारण—सब प्रकारके छात्रोंके सम्बन्धमें अध्यापकोंसे सदा विवरण प्राप्त करते रहना चाहिए।

अध्यापकसे व्यवहार

आचार्यको अपनेसे अधिक अवस्थाके अध्यापकोंका सदा सम्मान करना चाहिए, समवयस्कोंका आदर करना चाहिए, छोटोंपर अभिभावकका सा स्नेह रखना चाहिए किन्तु किसी अध्यापकको कभी किसी छात्र, सेवक, अध्यापक या अन्य व्यक्तिके सम्मुख न कठोर वचन कहना चाहिए, न तर्जन करना चाहिए। यदि छात्र और अध्यापकमें संघर्ष हो और दोष अध्यापकका ही हो तब भी प्रत्यक्षतः अध्यापकका ही पक्ष लेना चाहिए किन्तु एकान्तमें अध्यापकको समझा देना चाहिए। इसके अतिरिक्त प्रत्येक अध्यापककी घरकी स्थिति समझते रहना चाहिए और यह प्रयत्न करते रहना चाहिए कि उसे किसी प्रकारकी आर्थिक या शारीरिक चिन्ता न रहे किन्तु किसी भी अध्यापकको न बहुत मुँह लगाना चाहिए न कभी किसीको यह प्रोत्साहन देना चाहिए कि वह किसी अध्यापक या प्रबन्ध समितिके सदस्यकी आलोचना करे। प्रत्येक कक्षाके लिये अलग-अलग कक्षाध्यापक नियुक्त कर देना चाहिए जो नित्य उपस्थिति अंकित करें और छात्रोंकी गतिविधिपर व्यक्तिगत ध्यान दें।

पाठन-शैलीका निरीक्षण

आचार्यको अपने नेत्र और कान इस कौशलसे साधे रखने चाहिएँ कि

केवल दृष्टि-निक्षेप और अध्यापककी ध्वनिसे ही बाहर-बाहर पाठन-प्रणालीकी परीक्षा कर ले किन्तु कक्षामें जाकर अध्यापकको अध्ययन-प्रणालीका कभी परीक्षण न करे क्योंकि ऐसा करनेसे अध्यापककी मानहानि होती है।

निरीक्षण-पुस्तिका (लौग-बुक)

अध्यापकके गुण-दोष लिखनेके लिये निरीक्षण-पुस्तिका रखनेकी प्रणाली भी ठीक नहीं है क्योंकि इससे आचार्यके अहंभावको प्रोत्साहन मिलता है और अध्यापकके स्वाभिमानको ठेस लगती है। यदि किसी अध्यापकके पाठन-कार्यमें त्रुटि हो तो अध्यापकको बुलाकर एकांतमें समझा देना चाहिए। इससे अध्यापकके स्वाभिमानकी भी रक्षा होती है और आचार्यके प्रति अध्यापककी श्रद्धा भी बढ़ती है। साधारण पठन-पाठनकी त्रुटियों अथवा विशेष निर्देशोंके लिये सप्ताह या पक्षमें अध्यापकोंकी बैठकें भी होनी चाहिएँ जिनमें पाठन-विधि तथा अन्य विषयोंपर खुलकर बातचीत कर लेनी चाहिए और सब कक्षाओंके लिखित कार्योंकी जाँच करते रहना चाहिए।

आचार्यको ऐसी आदेश-पुस्तिका रखनी चाहिए जिसमें सयय-समयपर दिए हुए सब आदेशोंका तिथि-क्रमानुसार लेखा हो और जो आदेश एक बार दे दिया जाय उसे न तो लौटाया जाय और न उसे पालन करनेमें शिथिलता दिखाई जाय।

आजकल प्रयोग की जानेवाली अध्यापककी दैनन्दिनी या अध्यापक-पुस्तिकाके बदले एक मासिक-पुस्तिका होनी चाहिए जिसमें एक मासका प्रस्तावित पाठ्य-क्रम और वस्तुतः पढ़ाया हुआ पाठ्य-क्रम लिख दिया जाय जिससे यह ज्ञात होता रहे कि अध्यापककी पाठन-गति बहुत मन्द या बहुत तीव्र तो नहीं है। वर्षके अन्तमें प्रत्येक अध्यापकके अधिकारमें दी हुई विद्यालयकी वस्तुओं, पत्रों, पुस्तकों आदिकी जाँच परस्पर अध्यापकों-द्वारा ही करा लेनी चाहिए। जो अध्यापक जिस विषयके योग्य हो उसे उस विषयका परीक्षक बनाकर उससे प्रश्नपत्र बनवाकर परीक्षण कराना चाहिए और परीक्षाफल बनानेका कार्य विद्यालयके उच्चतम अध्यापकोंको ही सौंपना चाहिए। अध्यापकोंमें जो सबसे अधिक प्रभावशाली और गम्भीर हो उसे

शास्ता (प्रौक्टर) नियुक्त कर देना चाहिए जो भीतर-बाहर छात्रोंके चरित्र और आचरणपर नियन्त्रण रक्खे। उसका निर्णय सदा मान्य करना चाहिए। गृहाध्यापन (प्राइवेट ट्यूशन) की प्रथा बन्द करके घरपर पढ़ाई चाहनेवाले छात्रोंको सूची बनवाकर ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए कि विद्यालयके अतिरिक्त समयमें अध्यापक उन्हें आकर वहीं पढ़ावें जिससे सभी अध्यापकोंको समान सहायता मिल जाय।

मेधावी छात्रोंका सहयोग

उच्च कक्षाओंके अत्यन्त चतुर तथा मेधावी छात्रोंको भी समय-समयपर छोटी कक्षाओंमें पढ़ानेके लिये भेजते रहना चाहिए। इससे विद्यालयमें विनय-भावनाको प्रोत्साहन मिलता है, अध्यापन-कार्यमें निःशुल्क सहयोग मिलता चलता है, अध्यापन करनेवाले छात्रोंमें आत्मविश्वास उत्पन्न होता है और उनका ज्ञान भी सुपरिपक्व होता चलता है।

आचार्य और कार्यालय

अपने कार्यालयकी व्यवस्थाके लिये आचार्यको सबसे पहले इतने कार्य करने चाहिएँ—

(क) विद्यालयके संबन्धमें जितने कार्य हों सबके लिये एक-एक अलग-अलग वही (फ़ाइल) बनाकर उन बहियोंको क्रमांकित कर रखना चाहिए जिससे किसी समय भी कोई कागज-पत्र आँख मूँदकर निकाला जा सके। बही (फ़ाइल) में जो कागज-पत्र रक्खे जाँय उनपर क्रमिक संख्या डाल दी जाय जिससे यदि कोई कागज लुप्त हो तो तत्काल ज्ञात हो जाय। कार्यालयसे कोई कागज-पत्र बाहर नहीं भेजना चाहिए और यदि संयोगवश भेजना ही पड़े तो उसकी प्रतिलिपि रखकर पानेवालेसे प्राप्ति-स्वीकृति ले लेनी चाहिए। इसलिये यह सिद्धान्त बनाया गया है कि कार्यालयका कोई कार्य आचार्यको घरपर नहीं करना चाहिए।

प्रायः प्रत्येक विद्यालयमें निम्नलिखित बहियाँ (फाइलें) होनी चाहिएँ—

* १. प्रबन्धसमितिके प्रस्ताव, निर्णय और विवरण। * २. लिपिकों

तथा अध्यापकोंकी नियुक्ति, अभिसन्धान (एग्रिमेंट), अध्यापक-पञ्जिकाएँ (टीचर्स रेकर्ड-बुक)। ३. अध्यापकोंकी उपस्थिति तथा अवकाश पंजिका (एक्विटल-रोल)। ४. अध्यापकोंके पोषण-कोष (प्रोविडेंट फंड) की पंजिका। ५. वेतन-पंजिका। ६. सेवकोंको नियुक्ति और छुट्टी। ७. टूट-फूट, नव निर्माण आदिके लिये अनुमान-पत्र (टेंडर)। ❀ ८. आय-व्यय-पंजिका। ❀ ६. बैंकमें रुपए भेजनेकी पंजिका और खातेकी पोथी (एकाउण्ट-बुक और लेजर)। १०. पावना-पत्रों (बिलों) और उनके भुगतानोंकी पंजिका। ११. छात्राचरण-पुस्तिका (स्कौलर्स रजिस्टर)। १२. छात्रवृत्ति-पुस्तिका। ❀१३ वार्षिक-विवरण। १४. शुल्क-मुक्ति (फ्रीशिप और हाफ़-फ्री शिप)। १५ भंडार-सूची (स्टौक रजिस्टर)। १६. छुट्टियोंकी बही। ❀१७. परीक्षा-पत्रक (आय-व्यय, परिणाम तथा अन्य विवरण)। १८. विभिन्न कक्षाओंको छात्रोपस्थिति-पंजिका (एटेंडेन्स रजिस्टर)। ❀ १६. छात्रोंकी दंड-पुस्तिका। २०. खेल-विभाग। २१. छात्रावास-विभाग। २२. अभिभावकोंसे पत्र-व्यवहार। २३. शिक्षा-विभागसे पत्र-व्यवहार। २४. पुस्तकालय-विभाग। २५. वार्षिक अधिवेशन। २६. पुरस्कार। २७. प्रतियोगिता तथा उत्सव। २८. साधारण पत्र-व्यवहार। २९. विज्ञान-विभाग। ३०. भवन-विभाग। ❀ ३१. गोपनीय पत्र-व्यवहार।

[जिन विषयोंपर फूलका चिह्न बना है इनके कागज-पत्र आचार्यको अपने पास, अपने ताला-तालीमें रखना चाहिए।]

(ख) कार्यालयके विभिन्न कार्योंको चार भागोंमें बाँट लेना चाहिए— १. नित्यका कार्य; २. मासिक कार्य; ३. वार्षिक कार्य; और ४. विशेष अवसरोंका कार्य। सब प्रकारके कार्योंके लिये विभिन्न तिथि या दिन निश्चय कर लेना चाहिए और नियत तिथि तथा समयपर वह कार्य निपटा देना चाहिए।

(ग) छात्रोंसे सदा मिलते रहना चाहिए। वे जब मिलना चाहें तभी उनसे मिल लिया जाय। अध्यापकोंसे अध्यापक-कक्ष अथवा अध्यापक-गोष्ठीमें तथा अभिभावकोंसे अपने घरपर निश्चित समय देकर मिलना चाहिए।

शिक्षा-विभागके अधिकारियों तथा प्रबन्ध-समितिके सदस्योंसे घर आनेपर अथवा किसी भी समय सदा मिला जाय किन्तु विद्यालयसे सम्बन्ध रखनेवाले विशिष्ट कार्यके अतिरिक्त उनके घर कभी न जाया जाय।

(घ) पत्रोंका उत्तर सावधानीसे तत्काल प्रतिदिन देना चाहिए। देख लेना चाहिए कि पत्र डाक-बहीमें चढ़ा दिए गए हैं या नहीं और उन्हें अपने सामने छुड़वाना चाहिए। अनुत्तरित पत्र रख छोड़ना अत्यन्त कलंककी बात है।

(ङ) छात्रोंकी छात्रवृत्ति जिस दिन आवे उसी दिन बाँट देनी चाहिए।

(च) ठीक नियत तिथिपर अध्यापकों और नौकरोंका वेतन बँटवा देना चाहिए।

(छ) एक सप्ताहसे अधिक किसी भी पावने (बिल) का भुगतान नहीं रोकना चाहिए और अच्छा यह है कि उसके लिये भी सप्ताहमें एक दिन (मंगलवार) निश्चय कर लिया जाय।

(ज) नित्य आय-व्ययकी जाँच करके रुपया बैंकमें भिजवा देना चाहिए।

(झ) प्रतिमास उपस्थिति-पंजिका तथा आय-व्यय-पुस्तिकाका निरीक्षण करके हस्ताक्षर कर देना चाहिए।

(ञ) छुट्टी, शुल्कमुक्ति, छात्रवृत्ति आदिके आवेदनपत्र, विद्यालय-परिचायिका, नियमावली, छुट्टीकी सूची, छात्रावासके नियम, अभिज्ञान-पत्र (आइडेंटिटी कार्ड), औपचारिक उत्तर-पत्र (फ़ौर्मल रिप्लाई कार्ड,) परीक्षा-फल या उन्नतिके पत्रक (प्रोग्रेस रिपोर्ट), परिणाम-पत्र (रिज़ल्ट शीट), प्रार्थना-पत्र, सिरनामा-पत्र (लैटर पैड या लैटर हेड), पंजिकाएँ (रजिस्टर) आदि सब आवश्यक कागज-पत्र वर्ष प्रारंभ होनेसे पूर्व छुट्टीमें छपवाकर रख लेने चाहिएँ।

(ट) प्रतिमास सब छात्रोंका विवरण अभिभावकोंके पास नियमित रूपसे भिजवाते रहना चाहिए, विशेषतः उनका, जो कक्षामें आते न हों, अस्वस्थ रहते हों, पढ़ते न हों या पढ़नेमें कच्चे हों।

(ठ) कार्यालयके लिपिकों (क्लर्कों) से केवल नियत समयमें ही काम लेना चाहिए और यह ध्यान रखना चाहिए कि उन्हें शारीरिक या आर्थिक असुविधा न हो।

आचार्य और अभिभावक

आचार्यको अभिभावकोंसे सदा अधिकसे अधिक सम्पर्क बनाए रखना चाहिए और यदि कोई छात्र उपस्थिति, स्वास्थ्य अथवा अध्ययनमें अनियमित, असावधान अथवा दुर्बल हो तो उसकी सूचना अभिभावकको समय-समयपर देते रहना चाहिए। छात्रकी प्रगति तथा उसके आचरणके संबन्धमें भी अभिभावकको आदेश, निर्देश तथा परामर्श देते रहना चाहिए।

भारतके विद्यालयोंको अभिभावकोंका कोई सहयोग न मिलनेके दो अत्यन्त प्रमुख कारण हैं—१. अज्ञान और २. अविचारित व्यवहार। ये अभिभावक साधारणतः निम्नलिखित श्रेणियोंके होते हैं—

१. अत्यधिक सजग (ओवर-केअरफुल)। २. अत्यधिक उत्साही (ओवर एन्थुज़ियास्टिक)। ३. चतुरम्मन्य (क्लेवर-माइन्डेड), अपनेको बहुत चतुर समझनेवाले। ४. क्रोधी (शौर्ट-टेम्पर्ड)। ५. कलहप्रिय (क्वारलसम)। ६. लालनशील (फौंडलर), बच्चोंका बहुत लाड़ करनेवाले। ७. मूढ (स्टुपिड)। ८. अविवेकी (अनरीज़नेबिल)। ९. भोले (इनोसेंट, चाइल्डलाइक)। १०. धूर्त (कनिंग)। ११. महत्त्वाकांक्षी (ऐम्बिशस)। १२. उदासीन (केअरलेस् या इण्डिफ़रेंट)। १३. दीन (अंबिल ऐंड पुअर)। १४. सशंक (सस्पिशस)। १५. अशिक्षित (अनएजुकेटेड्)। १६. दुर्व्यसनी (मद्यप, वेश्यागामी, चटोरे, जुआरी)। १७. अपराधी (चोर, डाकू, गुण्डे, गठकटे, बटमार)। १८. सिद्धान्तवादी।

इनमेंसे मूढ, भोले, अशिक्षित और दीन अभिभावकोंको ऐसा व्यावहारिक निर्देश कर देना चाहिए कि 'बालकको समयपर पर्याप्त सोने दो, धुँधले प्रकाशमें न पढ़ने दो, खेलने और व्यायाम करनेकी सुविधा दो, यथासंभव गौका दूध अधिक दो, खुले वायु और प्रकाशमें ही पढ़ने-

सिखवे दो, सूर्योदयसे पहले उठने, स्वच्छ रहने, शौच, दतौन, स्नान करने, बड़ोंको प्रणाम करने और ईश्वरका ध्यान-भजन करनेका नियमित अभ्यास डलवा दो।' इसके लिये एक निर्देश-पत्रिका छपवाकर अभिभावकोंमें बँटवा देनी चाहिए।

जो अभिभावक क्रोधी, कलहप्रिय, लालनशील, धूर्त्त, दुर्व्यसनी और अपराधी प्रवृत्तिके हों उनके बालकोंको यथाशीघ्र हटाकर छात्रावासमें भेज देना चाहिए क्योंकि ऐसे अभिभावकोंके बालक निश्चित रूपसे दब्बू, डरपोक, शिथिल, मूढ और स्फूर्तिहीन तो हो ही जाते हैं, साथ ही उनमें अनेक प्रकारकी मानसिक जटिलताएँ भी उत्पन्न हो जाती हैं।

सशंक, अत्यधिक सजग, अत्यधिक उत्साही, चतुरम्मन्य, अविवेकी, महत्त्वाकांक्षी, सिद्धान्तवादी और सशंक अभिभावक बड़े भयानक होते हैं। वे अपने बालकोंके परम शत्रु होते हैं। उनके अतिनियन्त्रणमें बालकका मानसिक विद्रोह जाग उठता है और वह आगे चलकर हत्या—जैसे भयानक अपराध भी कर डाले तो आश्चर्य नहीं। यही दशा चतुरम्मन्य और अविवेकी अभिभावकोंके बालकोंकी भी होती है। वे अपनी चतुराईमें रहनेके कारण दूसरोंकी बात नहीं सुनते, अपने अविवेकपूर्ण व्यवहारको ही परम तत्त्व समझ बैठते हैं और इसीलिये उनके बालक निश्चित रूपसे हाथसे निकल जाते हैं। सिद्धान्तवादी अभिभावक भी बड़ी समस्या खड़ी कर देते हैं। गाँधीजीने स्वयं अपनी आत्मकथामें स्वीकार किया है कि 'अपने सिद्धान्तके कारण (जिसे कस्तूरबा 'हठ' कहती थीं) मैं बालकोंके लिये ठीक शिक्षाकी व्यवस्था नहीं कर सका इसीलिये मेरे बड़े बेटेने खुलकर मुझसे और सार्वजनिक रूपसे इस बातकी शिकायत की और दूसरे बेटोंने मेरे प्रति आदर करके चुपचाप सहन कर लिया।' अतः ऐसे सभी अभिभावक किसी भी विद्यालयके आचार्यके लिये शिरःपीड़ा बन सकते हैं। ऐसे महापुरुषों तथा सिद्धान्तवादी अभिभावकोंके बालकोंको भी उनसे दूर ही छात्रावासमें ला रखना चाहिए अन्यथा वे लोग उनपर अपने सिद्धान्तकी परीक्षा करके उनका जीवन नष्ट कर देंगे। जो लोग लोकसेवामें तपकर महापुरुष हो

जाते हैं उनके पुत्र प्रायः मूर्ख या उद्दंड इसीलिये निकलते हैं कि वे उनकी शिक्षा दीक्षापर समयाभावके कारण ध्यान नहीं दे पाते। अतः, उनके बच्चोंको भी किसी अच्छे आदर्श अध्यापकके हाथमें सौंप देना चाहिए।

आत्महीनताका भाव

अभिभावकोंके कुव्यवहारसे ही बालकोंमें आत्महीनताकी भावना भी उत्पन्न हो जाती है। अतः, अभिभावकोंको समझा देना चाहिए कि बालकके आचरणमें कोई दोष देखें तो स्वयं दण्ड देनेके बदले अध्यापकसे परामर्श करें।

आचार्य और छात्र

भरतीके समय आचार्यको अभिभावकके व्यक्तित्व, प्रभाव, दैन्य अथवा अनुरोधपर कोई ध्यान न देकर विद्यार्थीको भली प्रकार जाँचकर, उसकी योग्यता, रुचि और भविष्यका विचार करके जो जिस कक्षाके योग्य समझा जाय उसमें उसे भरती कर ले। यदि बालकका अभिभावक बुद्धिमान्, चतुर, समझदार और विवेकशील हो तो उससे पूछ लेना चाहिए कि आप अपने बालकको भविष्यमें क्या बनाना चाहते हैं। यदि उसमें यह योग्यता न हो तो आचार्यको स्वयं उसकी रुचि और प्रवृत्तिका परीक्षण करके तदनुसार उसे योग्य विषय देकर कक्षामें प्रविष्ट करना चाहिए।

वर्ग-विभाजन

छात्रोंकी मानसिक अवस्था, शारीरिक स्थिति और विद्या-संस्कारके अनुसार ही उनका अलग-अलग वर्ग-विभाजन करना चाहिए। यदि एक ही बौद्धिक योग्यताके विद्यार्थी विभिन्न अवस्थाओंके हों तो उन्हें कक्षाके विभिन्न विभागोंमें ला रखना चाहिए। न तो छोटे और बड़े बालकोंको एक कक्षामें एक साथ रखना चाहिए और न पैंतीससे अधिक छात्र एक कक्षामें रखने चाहिएँ।

अग्रारोहण

वार्षिक परीक्षाफल घोषित करते और भरती करते समय विद्यालयकी प्रबन्धकारिणी समितिके मंत्रीको भी अपना विश्वास-पात्र बनाकर

अग्रारोहण (अगली कक्षामें छात्रोंको चढ़ाने)का दायित्व उसके सिरपर भी डाल देना चाहिए। आचार्य जो भी निर्णय करे उसमें कभी कोई हेरफेर न करे और यह घोषणा कर दे कि जो परीक्षा-फल प्रकाशित किया गया है वह अध्यापकोंकी सम्मति, परीक्षा-फल, छात्रकी योग्यता और उसके हितका ध्यान रखकर प्रकाशित किया गया है। वार्षिक परीक्षा होनेसे पूर्व ही अयोग्य विद्यार्थियोंको बुलाकर स्पष्ट कह देना चाहिए कि तुम अपनी कक्षाके साथ चलनेमें असमर्थ हो इसलिये या तो प्रयत्न करके कक्षाके साथ चलो अन्यथा वार्षिक परीक्षामें तुम्हारा सफल होना संभव नहीं है। छात्रको सूचना देनेके साथ-साथ अभिभावकको भी सूचना दे देनी चाहिए जिससे उसे पीछे आरोप लगानेका अवसर न मिले।

छात्रका अनुत्तीर्ण होना आचार्यके लिये कलंक

किसी भी कक्षामें किसी विद्यार्थीका अनुत्तीर्ण होना वहाँके आचार्य और अध्यापकोंके लिये कलंककी बात है। भरती करते समय ही छात्रको भली भाँति ठोक-बजाकर किसी कक्षामें प्रविष्ट करना चाहिए किन्तु उसके पश्चात् आचार्य तथा अध्यापकोंपर यह नैतिक भार आ पड़ता है कि उनके छात्र निश्चित रूपसे प्रत्येक कक्षामें सफल हों। यदि वे अनुत्तीर्ण या असफल होते हैं तो उसका पूरा आर्थिक और नैतिक दायित्व आचार्य और अध्यापकोंपर आ जाता है। जिन छात्रोंकी रुचि पढ़नेमें न हो उनके अभिभावकोंको बुलाकर उनकी थाती उन्हें सौंपकर समझा देना चाहिए कि आपका बालक पढ़ेगा नहीं।

सर्वांगीण उन्नति

छात्रोंकी भरती करके तथा उनकी परीक्षा लेकर उन्हें अगली कक्षामें चढ़ाकर जब श्रेणियाँ निर्धारित कर दी जायँ तब आचार्यको छात्रोंके सर्वांगीण संवर्द्धन-की व्यवस्था करनी चाहिए जिसके तीन रूप हैं—(१) बौद्धिक तथा कलात्मक उन्नति, (२) नैतिक तथा सामाजिक उन्नति और (३) शारीरिक उन्नति। इनमेंसे प्रथमके लिये तो शिक्षा-विभागकी ओरसे पाठ्य-क्रम ही निर्धारित होता

है। नैतिक तथा सामाजिक आचरण और शारीरिक विकासके लिये जिन विधानोंका अवलंब लेना चाहिए उनका विवरण पीछे दिया जा चुका है।

आचार्यको छात्रोंकी शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, नैतिक, सामाजिक, कलात्मक तथा आध्यात्मिक उन्नतिपर सदा ध्यान देते रहनेके लिये यह व्यवहार करना चाहिए—

क. प्रत्येक छात्रकी भर्त्तीके समय उससे मधुर व्यवहार करके और उसकी ठीक परीक्षा करके उसे उपयुक्त कक्षामें प्रविष्ट कर लेना चाहिए।

ख. कभी किसी अभिभावक या प्रबन्ध-समितिके प्रभावमें आकर किसी बालकको अगली या ऊँची कक्षामें नहीं चढ़ाना चाहिए।

ग. प्रतिदिन प्रार्थनाके समय एक बार सब छात्रोंको देख लेना चाहिए और प्रसन्न मुद्रामें नित्य दृष्टि घुमाकर सबको कोई मधुर उपदेश या सन्देश दे देना चाहिए।

घ. जब कोई अध्यापक न आवे तो उसके बदले अन्य किसी अध्यापकको न भेजकर आचार्यको ही कक्षामें जाकर वही विषय पढ़ाना चाहिए और इस प्रकारके अवसर पाकर अधिकसे अधिक छात्रोंसे सम्पर्क स्थापित करके उनसे परिचय बढ़ाना चाहिए।

ङ. जो छात्र पढनेमें अशक्त हों उनकी पढ़ाईका विशेष प्रबन्ध करना चाहिए।

च. पुस्तकालयकी पुस्तकोंका कक्षाक्रमसे वर्गीकरण करके छात्रोंमें पुस्तक पढ़नेकी प्रवृत्ति बढ़ाते रखनी चाहिए।

छ. विभिन्न कक्षाओंके योग्य भाषामें उपयुक्त विषयोंपर अधिकारी विद्वानों, अध्यापकों तथा वक्ताओंके भाषण कराने चाहिएँ।

ज. छात्रोंकी सभी क्रियाओं, प्रवृत्तियों और सभाओंमें योग देकर सभा-शील तथा लोक-व्यवहारकी प्रत्यक्ष शिक्षा देते रहनी चाहिए।

झ. विद्यार्थियोंके मानसिक संस्कारके लिये ललित व्याख्यान, नाटक, भाषण, अन्त्याक्षरी-प्रतियोगिता, काव्य-प्रतियोगिता, कवि-गोष्ठी, संगीत-गोष्ठी,

अध्ययन-मंडल, व्यवस्था-सभा तथा गल्प-गोष्ठीका प्रायः आयोजन करते रहना चाहिए और उसमें स्वयं भी सम्मिलित होना चाहिए। इससे छात्रोंका मानसिक संस्कार तो होता ही है, छात्रोंसे सम्पर्क भी बढ़ता है और उन्हें विभिन्न प्रकारकी साहित्यिक तथा सामाजिक गोष्ठियोंके आयोजनका ज्ञान भी होता चलता है।

ञ. छात्रोंके खेल-कूदमें नित्य नियमित समयपर उनके साथ खेलना और उन्हें खेलाना चाहिए क्योंकि खेलके क्षेत्रमें ही छात्रोंकी संघ-शक्तिका पोषण होता है और उनमें सद्भावना, सहनशीलता, आज्ञाकारिता आदि सामाजिक गुणोंका विकास होता है। यदि इसमें तनिक उपेक्षा या असावधानी करके उन्हें खुला छोड़ दिया जाय तो छात्र निश्चित रूपसे उद्दण्ड, असहनशील और दुर्विनीत बन जाते हैं।

ट. रिक्त समयमें छात्रोंको निरर्थक नहीं घूमने देना चाहिए। उन्हें पुस्तकालयमें या किसी न किसी काममें लगाए रखना चाहिए।

ठ. दंड ऐसा देना चाहिए कि छात्रका सुधार हो, उसकी हानि न हो, उसका जीवन न बिगड़े।

ड. ऐसे पुरस्कार देने चाहिएँ जिनसे छात्रमें स्वस्थ प्रतियोगिताकी भावना उत्पन्न हो, लोभ न आवे।

ढ. छात्रोंको बहुत सिर नहीं चढ़ाना चाहिए, न मुँह लगाना चाहिए। उनपर पिताका स्नेह और माताकी ममता रखते हुए इतना आतंक भी रखना चाहिए कि छात्र श्रद्धा तो करें किन्तु डरते भी रहें। उन्हें इतनी ही स्वतन्त्रता देनी चाहिए कि वे आदरकी मर्यादाका उल्लंघन न करें, आपके प्रति समान स्नेह और श्रद्धा करें।

ण. छात्रोंके पारस्परिक झगड़ोंका निपटारा करनेके लिये अध्यापकों और बड़े छात्रोंकी पंचायत बना देनी चाहिए और आचार्यको तभी हस्तक्षेप करना चाहिए जब उनमें मतभेद हो या उससे उन्हें सन्तोष न हो।

त. किसी छात्रको यह प्रोत्साहन नहीं देना चाहिए कि वह किसी

छात्र अध्यापक या प्रबन्धसमितिके किसी सदस्यकी निन्दा, प्रशंसा या आलोचना करे।

थ. छात्रोंको छात्रवृत्ति तथा शुल्क-मुक्ति प्रदान करनेके संबन्धमें अत्यन्त सतर्क रहना चाहिए और यह कार्य छात्रोंके अग्रणी (मौनीटर) तथा अध्यापकोंके एक मंडल-द्वारा निश्चित करना चाहिए।

द. आचार्यको केवल प्रबन्ध ही नहीं करना चाहिए, अध्यापन भी करना चाहिए।

ध. छात्रोंके स्वास्थ्य-वर्द्धनके लिये अखाड़े तथा व्यायामकी व्यवस्था करके उनमें शरीर-संस्कारकी रुचि उत्पन्न करनी चाहिए, निरन्तर उनके स्वास्थ्यकी परीक्षा कराते रहना चाहिए और उसके संबन्धमें अभिभावकको सूचना देते रहना चाहिए। उन्हें बाहरकी हानिकर खाद्य वस्तुओंके प्रयोगसे दूर रखना चाहिए।

न. छात्रोंके ज्ञान तथा सामर्थ्यके उचित परीक्षणका निरन्तर प्रबन्ध करते रहना चाहिए और तदनुसार उनकी शिक्षा-दीक्षाकी व्यवस्था करनी चाहिए।

आचार्य और छात्रावास

आचार्यको चाहिए कि वर्ष-सत्रके प्रारम्भमें ही ऐसे व्यक्तिको छात्रावासका गृहपति (वार्डन या सुपरिंटेंडेंट) नियुक्त कर दे जो छात्रावासके अन्तेवासियोंको घरके स्नेहपूर्ण वातावरणमें रख सके। साथ ही ऐसे संप्रेरक (हाउस मास्टर) नियुक्त करे जो यह देखते रहें कि छात्र नियमित रूपसे उचित समयपर छात्रावासमें अध्ययन, भोजन, व्यायाम तथा शयन करते हैं या नहीं। आचार्यको कभी-कभी सहसा छात्रावासमें जाकर अन्तेवासियोंसे कुशल-मंगल पूछकर निरीक्षण भी कर लेना चाहिए।

आचार्यको समझ रखना चाहिए कि छात्रावासमें रहनेवाले प्रत्येक छात्रके आचरण और जीवनका उत्तरदायी केवल आचार्य ही है, गृहपति (वार्डन) नहीं। अतः, आचार्यको चाहिए कि छात्रावासमें छात्रोंके आचरण तथा

उनके पारस्परिक संबन्धोंपर बड़ी कड़ी दृष्टि रखता रहे और गृहपति तथा संप्रेरकोंसे सदा उनके पारस्परिक सम्पर्कका विवरण माँगता रहे। प्रायः सुन्दर बालक (या बालिकाएँ) छात्रावासोंमें अपने किसी सयाने साथी (या सयानी साथिन) के ऐसे चङ्गुलमें फँस जाते (जाती) हैं कि उनका सारा जीवन नष्ट हो जाता है, उनमें अनेक प्रकारके दुर्व्यसन, रोग और मानसिक संक्षोभ उत्पन्न हो जाते हैं जिससे उनका जीवन नरकमय बन जाता है। छात्रावासके ऐसे बालकों (बालिकाओं) को अथवा जिनके संबन्धमें आशंका हो उन्हें विशेष सजगताके साथ छात्रावासमें रखना चाहिए क्योंकि कभी-कभी यह पारस्परिक समलिंगी आसक्ति इतना भयङ्कर रूप धारण कर लेती है कि विद्यालयके दुर्नामके साथ-साथ उन बालकों या बालिकाओंका जीवन सदाके लिये नष्ट कर डालती है और उनमेंसे कोई एक या दोनों कभी-कभी आत्महत्या तक कर बैठते हैं, जिसका पूर्ण उत्तरदायित्व केवल आचार्यपर ही है। बालिका-विद्यालयोंमें बहुत-सी बालिकाएँ 'अपनी गुरुजी' (अध्यापिका) के प्रति ऐसी आकृष्ट हो जाती हैं कि उन्हें फूल, मिठाई आदि वस्तुएँ ला-लाकर देती रहती हैं। इसका प्रारम्भ तो श्रद्धासे होता है किन्तु अन्तमें वह श्रद्धा ऐसी भयंकर आसक्तिके रूपमें परिणत हो जाती है कि उस बालिकाको मूर्च्छा (फ़िट) आने लगती है, वह उस अध्यापिकाके शारीरिक सम्पर्क और सान्निध्य के लिये तड़फड़ाने लगती है। अत', अध्यापिकाओंको बड़े कौशलसे और स्नेहसे (डाँटकर नहीं) ऐसी भेंट अस्वीकार कर देनी चाहिए और आगे न लानेका आदेश देकर उसकी सूचना आचार्याको दे-देनी चाहिए। अतः, आचार्यको छात्रावासके संबंधमें बहुत सचेष्ट और सावधान रखना चाहिए।

आचार्य और सेवक

विद्यालयमें केवल ऐसे ही सेवक नियुक्त करने चाहिएँ जो स्वच्छ, परिश्रमी, स्वस्थ तथा परम विनीत हों, जो प्रबन्ध-समितिके किसी सदस्य, अध्यापक अथवा लिपिक (क्लर्क) के सम्बन्धी न हों और न उनके गाँवके

या उनके प्रभावमें हों। सेवकोंसे अनावश्यक तथा औचित्यकी सीमासे न तो अधिक काम लेना चाहिए और न उन्हें असुविधा देनी चाहिए। यदि वे विद्यालयके कार्यके अतिरिक्त समयमें परिवारके पोषणार्थ कोई दूसरा कामधन्धा करना चाहें तो उसके लिये उहें सुविधा देनी चाहिए किन्तु विद्यालयके कार्यको संकटमें डालकर या उसकी उपेक्षा करके नहीं। आचार्यको अपने घरका काम किसी सेवकसे नहीं लेना चाहिए और यदि ले तो उसका पुरस्कार किसी न किसी (भोजन, वस्त्र, द्रव्यके) रूपमें दे देना चाहिए। इससे सेवकोंमें सन्तोष बना रहता है और वे अधिक आदर, मनोयोग तथा श्रद्धासे काम करते हैं। सेवकोंको भी न बहुत मुँह लगाना चाहिए और न सिर चढ़ाना चाहिए। उन्हें कभी इस बातके लिये प्रोत्साहन नहीं देना चाहिए कि वे किसी छात्र, अध्यापक, लिपिक, प्रबन्ध-समितिके सदस्य अथवा उनके परिवारके किसी सदस्यके आचरणकी निन्दा, आलोचना या प्रशंसा करें। विद्यालयके कार्यके लिये सेवकोंके प्रति कठोर रहना चाहिए किन्तु उनके वेतन-मान तथा दुःख-सुखके सम्बन्धमें अत्यन्त मृदु और सहानुभूतिमय होना चाहिए। आचार्यको यह भी ध्यान रखना चाहिए कि अन्य अध्यापक तथा छात्र भी सेवकोंके साथ अशिष्ट या उद्दण्डतापूर्ण व्यवहार न करें। यदि समान वेतन पानेवाले सेवकोंमेंसे कुछके पास अधिक और कुछके पास कम काम हो तो उनके कार्यको परस्पर अदलते-बदलते रहना चाहिए जिससे किसीको मन ही मन कुढ़नेका अवसर न मिले। खेल, पुस्तकालय आदिके लिये यदि सेवकोंको विशेष आर्थिक पुरस्कार देनेकी व्यवस्था हो तो वह भी अदल-बदल कर देना चाहिए। किसी भी सेवकको भूलकर भी अपना कृपापात्र नहीं बनाना चाहिए।

आचार्य और पुस्तकाध्यक्ष

पुस्तकालय ही विद्यालयका आत्मा होता है। अतः, ऐसा व्यक्ति पुस्तकाध्यक्ष नियुक्त करना चाहिए जिसे स्वयं पुस्तक पढ़ने, पुस्तक मँगाने और पुस्तकोंके उपयुक्त वितरणमें स्वाभाविक अभिरुचि हो और जिसने

पुस्तकोंके वर्गीकरण, अंकन तथा अनुक्रम-रक्षणकी नियमित शिक्षा पाई हो। आचार्यको देखते रहना चाहिए कि पुस्तकोंका वर्गीकरण और वितरण ठीक हो रहा है या नहीं और छात्रोंको पुस्तक प्राप्त करने और लौटानेमें कोई असुविधा तो नहीं हो रही है। आचार्यके पास अनेक प्रकाशकोंकी सूचियाँ आया करती हैं, जिनमेंसे विभिन्न विषयोंके अध्यापकोंसे परामर्श करके अपनी आयके अनुसार अच्छे ग्रन्थ मँगाते रहना चाहिए और यह ध्यान रखना चाहिए कि पहले विमर्श-ग्रन्थ (रेफ़रेन्स बुक्स) मँगवाई जायँ, फिर ऐसे सहायक ग्रन्थ मँगाए जायँ जो विभिन्न विषयोंके समुचित अध्ययनाध्यापनमें सहायक हो सकें तत्पश्चात् अन्य सामान्य पुस्तकें (नाटक, उपन्यास, कथा-कहानी जीवनचरित, उपदेश, नीति, काव्य, सामान्य ज्ञान आदिकी) मँगाई जायँ क्योंकि पुस्तकालयके लिये अधिक आवश्यक विमर्श-ग्रन्थ ही होते हैं। इसके अतिरिक्त वाचनालयके लिये अच्छी उपयुक्त पत्र-पत्रिकाएँ भी मँगवानी चाहिएँ।

आचार्य और शिक्षा-विभाग

शिक्षाविभागसे आचार्यको इतने संबन्ध रखने पड़ते हैं—

१. विभागीय व्यवहार। २. आयव्ययका विवरण भेजना और सहायता लेना। ३. नवीन विषय प्रारंभ करनेकी स्वीकृति लेना। ४. अध्यापकोंकी नियुक्ति स्वीकृत कराना। ५. परीक्षाफल भेजना। ६. विभागसे आए हुए आदेशोंका पालन करना। ७. निरीक्षकके आनेपर विद्यालयका आर्थिक, शिक्षण-विषयक और परिक्षेत्र-संबंधी निरीक्षण कराना। ८. विभागीय परीक्षाओं (मिडिल, हाईस्कूल या इंटर) के लिये पत्र-व्यवहार और उनकी व्यवस्था।

शिक्षा-विभागके पत्रोंका उत्तर देने और आदेश पालन करनेमें अत्यन्त तत्परता दिखानी चाहिए किन्तु यदि कोई आदेश अनुचित, अस्वाभाविक, अपमानजनक, दोषपूर्ण और अन्यायपूर्ण प्रतीत हो तो उसका विनम्र विरोध करनेमें भी तनिक संकोच नहीं करना चाहिए। आचार्यको कभी यह नहीं समझना चाहिए कि निरीक्षक या शिक्षा-विभागके अधिकारी उसके स्वामी

हैं। उसे सदा यह समझना चाहिए कि शिक्षा-विभागके अधिकारी जनताके सेवक हैं और आचार्य जनताका शिक्षक है। वह शिक्षा-विभागके अधिकारियोंसे भी बड़ा है। उसे सदा अपने इस महत्त्वका ध्यान रखना चाहिए।

आचार्य और विद्यालयका परिक्षेत्र

आचार्यको विद्यालयके परिक्षेत्र (कम्पाउंड) की सजावट, स्वच्छता और स्वस्थताका सदा ध्यान रखना चाहिए और नित्य घूमकर कक्षा-प्रकोष्ठ, जलाशय (कुआँ, नल, टंकी), शौचालय, विज्ञान-प्रकोष्ठ आदिकी स्वच्छताका निरीक्षण कर लेना चाहिए। यदि जलकी सुविधा हो तो ऐसे फल और फूलके वृक्ष लगवाने चाहिएँ जो फूलने-फलनेके साथ छाया तो दें पर मच्छर न उत्पन्न करें। बहुतसे लोग विद्यालय-भवनोंपर लताएँ चढ़ा देते हैं किन्तु इससे अन्धकार तथा मच्छर दोनोंकी वृद्धि होती है और वे दोनों ही हानिकर होते हैं।

आचार्य और समाज

आचार्यका कर्त्तव्य यह भी है कि वह अपने चारों ओरके समाजको सुशिक्षित करनेके लिये निरन्तर ऐसे भाषण लोकगोष्ठी, पर्वोत्सव, नाटक तथा वार्षिकोत्सवका आयोजन करता रहे जिससे समाजको विद्यालयका परिचय प्राप्त होता रहे और समाजके ज्ञान तथा संस्कारका भी परिष्कार होता रहे।

कुछ व्यावहारिक बातें

कुछ ऐसी व्यावहारिक बातोंका भी सूत्ररूपमें उल्लेख कर देना आवश्यक है जो आचार्यको लोकप्रिय बनानेमें बहुत सहायता कर सकती हैं—

१. अपने साथी अध्यापकोंसे सदा सद्‌भाव रक्खो और कभी किसीके सामने, कक्षामें या बाहर उनमेंसे किसीकी बुराई न करो। यदि कोई दूसरा बुराई करता भी हो तो उसका शिष्ट रूपसे खण्डन कर दो या मौन रहो पर वह मौन समर्थनात्मक मौन नहीं वरन् विरोधात्मक मौन होना चाहिए। छात्रोंको भी अपने सामने अन्य अध्यापकोंकी बुराई करनेसे रोको।

२. छात्रोंको पुस्तक, सम्मति तथा अन्य प्रकारकी सहायता देनेके लिये

सदा प्रस्तुत रहो। यदि कोई छात्र रोगी हो तो उसकी सेवा शुश्रूषा करो और जबतक वह चङ्गा न हो जाय; उसे देखते रहो या उसका समाचार लेते रहो। यदि कोई छात्र आर्थिक सहायता माँगे तो उसे 'नहीं' मत कहो, उधार लेकर भी सहायता करो। उचित तो यह है कि सहायताके योग्य छात्रोंको, बिना उनके माँगे ही, सहायता दो। इसी प्रकार प्रत्येक अध्यापकको भी समय-समयपर यथावश्यक सहायता देते रहो और उनके दुख-सुखमें उनसे सहानुभूति-पूर्ण व्यवहार करते रहो।

३. छात्रोंके संघटनों, उत्सवों और सभाओं आदिमें जब निमन्त्रण मिले तब अवश्य सम्मिलित हो, किन्तु निमन्त्रण न मिलनेपर वहाँ न जाओ। समय-समयपर अध्यापकोंसे उनके घर जा-जाकर मिलते-जुलते रहो। अपनेको अलग मत रक्खो और न झूठी शान दिखाओ।

४. छात्रोंको ज्ञान देनेमें कभी संकोच न करो और यदि कोई छात्र घर आवे तो उसे अवश्य समय दो चाहे अपने कामकी कितनी भी हानि हो। यदि छात्र भोजनके समय आ गया हो तो उससे भोजनके लिये भी पूछ लो।

५. सदा प्रसन्न और मस्त रहो। जब छात्र प्रणाम करें तो मुस्कराहटसे उन्हें आशीर्वाद दो और परिचित न होनेपर भी उनसे कुशल-मङ्गल पूछ लो। यदि वे साथ चलते हों तो उनसे इस प्रकार क्रमिक बातें करो जिससे उन्हें ज्ञात हो जाय कि वे ज्ञानकी निधिके समक्ष पहुँच गए हैं। यदि अध्यापक नमस्कार करे तो अत्यन्त आत्मीयताके साथ उनसे कुशल मङ्गल पूछ लो।

६. अपनी पुस्तकें अध्यापकों और छात्रोंको अवश्य दो पर उसका ब्यौरा रक्खो।

७. अध्यापकसे और कक्षाके भीतर या बाहर बोलते या बात-चीत करते हुए एक ही भाषाका प्रयोग करो, चाहे वह हिन्दी हो, मराठी हो, गुजराती हो, अँगरेज़ी हो या उर्दू हो और उसी तथा वैसी ही भाषाका अधिक व्यवहार करो जिसे अध्यापक या छात्र समझ सकते हों। साधारणतः अपने व्यवहारमें मातृभाषाका प्रयोग करो। आजकल जो हिन्दुस्तानी या ऐंग्लो-हिन्दुस्तानी नामकी खिचड़ी भाषा चल निकली है उसका सर्वथा बहिष्कार करो।

८. आचार्यको गृह-शिक्षण (प्राइवेट ट्यूशन) कभी नहीं करना चाहिए। इससे मान नष्ट होता है। जो अपने घर आवे उसे निःशुल्क भले ही पढ़ा दो किन्तु पढ़ानेके लिये किसीके घर न जाओ। यही आचार्यकी मर्यादा और प्रतिष्ठा है।

९. अपनी गति संयत रक्खो। व्यसनोंसे दूर रहकर स्वच्छ दर्पणकी भाँति अपने चरित्रकी रक्षा करो। बाहरके लोगोंसे, प्रबन्ध-समितिके सदस्यों या छात्रोंसे अधिक मेल-जोल कभी न रक्खो किन्तु अध्यापकोंके विश्वास-पात्र बनकर उन्हें विश्वास-पात्र बनाओ।

१०. छात्रोंसे कभी सेवा न लो। यदि छात्र स्वतः सेवा करनेको उत्सुक हों तो उसे स्वीकार कर लो किन्तु अपनी शारीरिक सेवा (पैर दबवाना, तेल मलवाना आदि) तो कदापि न कराओ। अध्यापकोंसे भी किसी प्रकारकी सेवा न लो। जहाँतक हो उनका आदर करो और उन्हें सुविधा दो।

११. सदा स्वच्छ रहो। अपना घर, कक्ष, वस्त्र, पोथी आदि सब स्वच्छ और सक्रम ढंगसे रक्खो। अपने स्वभाव और व्यवहारमें सदा शिष्ट और मृदु रहो। छात्रोंके अभिभावकोंसे प्रेमपूर्वक मिलो और उन्हें छात्रकी उन्नतिके सम्बन्धमें उचित परामर्श भी दो।

१२. आचार्यका सबसे बड़ा शत्रु अभिमान है। अपनी विद्या, बुद्धि, कौशल, पद आदिका गर्व करके दूसरोंको नीचा दिखाने और तुच्छ समझनेकी भूल कभी न करो।

१३. छात्रोंके अभिभावकोंके साथ गहरी मित्रता या आत्मीयता स्थापित न करो क्योंकि इससे वे अनुचित लाभ उठा सकते हैं।

१४. विद्यालयके प्रत्येक छात्रसे व्यक्तिगत परिचय रक्खो।

१५. अपने विद्यालयमें अवसर-अवसरपर ऐसे उत्सव करते रहो जिनमें सब अभिभावक सम्मिलित हों और बाहरसे विभिन्न प्रकारके विद्वान् आकर छात्रोंको उपदेश और आदेश दे सकें।

४

अध्यापक

अध्यापक मानव-जातिका पथप्रदर्शक है और वह बतलाता है कि किस राजमार्गपर चलनेसे मनुष्यका कल्याण हो सकता है, उसकी शिक्षाएँ सच्चे मित्रके समान आपत्तियोंसे बचाती हैं गाढ़े समयमें काम आती हैं। यही कारण है कि अध्यापक अपने विद्यार्थियोंका गुरु ही नहीं अपितु विचारक, पथ-प्रदर्शक और मित्र भी है।

अध्यापकके गुण

अध्यापकका व्यक्तित्व ऐसा होना चाहिए कि उसपर दृष्टि पड़ते ही विद्यार्थी उसे अपने आदर और विश्वासका पात्र समझने लगें। उसकी मुद्रा न तो ऐसी भयंकर हो कि विद्यार्थी उसे तातारी सेनाका सर्दार समझकर भयभीत हो उठें और न ऐसी ढुलमुल ही हो कि पाठशाला-भरमें उसे 'कुम्हड़-बतिया' की उपाधि मिल जाय। अध्यापकका व्यक्तित्व माताके समान प्रेमवर्द्धक, मित्रके समान विश्वासोत्पादक और कभी-कभी पिताके समान त्रासक भी भी होना चाहिए।

विद्वत्ता

अध्यापकको सुघर, स्वच्छ होनेके साथ अपने विषयका गम्भीर ज्ञान भी होना चाहिए।

मधुर वाणी

यदि वपुष्मत्ता अध्यापकको विद्यार्थियोंका आदर-पात्र बनाती है तो सहानुभूतिमय व्यवहार विद्यार्थियोंके हृदयमें अध्यापकके प्रति गम्भीर श्रद्धा-भाव उत्पन्न करता है। ऐसा व्यवहार करनेसे विद्यार्थी भी अध्यापकको घरका प्राणी समझने लगते हैं, उससे अपनी भली-बुरी कोई भी बात छिपाते नहीं, उसकी सम्मतिपर विश्वास करते हैं। इसी प्रकारका अध्यापक अपने

विद्यार्थियोंके चरित्र-निर्माणका महत्कार्य करनेमें सफलता पा सकता है। किसीने कहा है—

'वाण्येका समलङ्करोति पुरुषं या संस्कृता धार्यते।'

शुद्ध और सरस वाणी ही मनुष्यका सबसे बड़ा आभूषण है। अतः, अध्यापकको अपना खानपान इतना संयत रखना चाहिए उसके कंठमें सुस्वरता, कोमलता और मधुरता व्याप्त हो। उसकी भाषा शुद्ध, सरल, स्वाभाविक तथा मधुर हो। उसका स्वभाव इतना मृदु हो कि वह जब भी मुँह खोले, तो कानोंमें रस घोले, उसके मुँहसे फूल झड़ें, मोती बरसें, उसकी वाणी सुननेके लिये छात्र लालायित हों, उसकी वाणीमें जादू हो।

वेषभूषा

अध्यापकको सदा स्वच्छ, सादे, ठीक सिले हुए वस्त्र भली प्रकार पहनने चाहिएँ जिनसे उसकी शोभा बढ़े और वह हास्यास्पद न प्रतीत हो। अध्यापकको उचित वेश भूषा धारण करके लोकरुचिके अनुकूल सुघर ढंगसे वस्त्र पहनकर, बटन बन्द करके, फ़ीते बाँधकर, सीधी टोपी लगाकर चलना चाहिए। लिबलिब, झुलझुल वस्त्र पहनकर तिरछी टोपी लगाकर, बालोंमें धुआँधार तेल डालकर, बुलबुली झाड़कर या अशोभन वेशमें उसे कभी छात्रोंके सम्मुख नहीं जाना चाहिए।

अध्यापकका घर इतना स्वच्छ और शुद्ध हो तथा प्रत्येक वस्तु ऐसे कलात्मक तथा सुन्दर ढंगसे सजाई गई हो कि उसे देखकर यह न प्रतीत हो कि गुरुजी कंजूस या फूहड़ हैं। सादगीके साथ-साथ उसकी प्रत्येक वस्तुमें सुरुचिका भी परिचय मिलना चाहिए।

आदर्श जीवन

छात्रोंपर अध्यापकोंके जीवनका सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है। अतः, अध्यापकका जीवन ऐसा आदर्श तथा आकर्षक होना चाहिए कि देखनेवालोंके मनमें उसका अनुकरण करनेकी प्रवृत्ति स्वतः जग जाय। उनका यह मन करे कि अध्यापकको घोलकर पी जायँ।

अनुकरणशील होनेके कारण बालक भली बातोंकी अपेक्षा बुरी बातोंका

अनुकरण शीघ्रता तथा सुगमतासे करते हैं। इसलिये यदि अध्यापकका जीवन आदर्श न हुआ तो विद्यार्थियोंका जीवन सदाके लिये नष्ट हो जा सकता है क्योंकि गुरुके व्यवहारका अनुकरण बालक तत्काल करने लगते हैं।

सुघरना

अध्यापकोंके साधारण दैनिक व्यवहारमें अत्यन्त सुघरता होनी चाहिए। जेबमें हाथ डालकर पढ़ाना, पढ़ाते समय आँखें मटकाना, कन्धा उचकाना, हाथ फटकारना, पैर हिलाना, उँगलीसे नाक खोदना, दाँतोंसे उँगलियोंके नख कतरना, टेक पकड़कर, बोलना, गाली बकना आदि बातोंकी गणना फूहड़पनके ही अन्तर्गत होती हैं। अध्यापकोंको इन बातोंसे बहुत सतर्क रहना चाहिए।

चरित्र

अध्यापकका सबसे अधिक आकर्षक गुण होना चाहिए चरित्रकी शुद्धता। जन्मसे लेकर मृत्युपर्यन्त मनुष्य जो कुछ करता रहता है उसका समूह ही उसका आचरण कहलाता है। आचरणके अभ्यस्त व्यवहारको ही उसका चरित्र कहते हैं। जीवनकी विविध परिस्थितियोंमें मनुष्य जैसा निरन्तर व्यवहार करता है वही उसका चरित्र समझा जाता है। जीवनमें चरित्र बड़े महत्त्वकी वस्तु है। चरित्रका सम्बन्ध हमारे आत्मासे है। जिसका चरित्र दुर्बल होता है उसका आत्मा भी दुर्बल होता है। दुर्बलात्मा प्राणी सांसारिक झंझावातमें तिनके-सा मारा-मारा फिरता है। वह आत्मविश्वास खो बैठता है। विश्वासका अभाव पग-पगपर संदेहकी सृष्टि करता है और संशयात्माका नाश हो जाता है। इसके विपरीत, दृढ चरित्र-वाला मनुष्य भारीसे भारी आपत्तिका सामना करने भी कुंठित नहीं होता। उसका चरित्र-बल उसमें उत्साह, स्फूर्ति, साहस और आशाकी वह बिजली फूँक देता है कि बाधाएँ उसके मार्गसे स्वयं हट-बढ़ जाती हैं, कलुष भी उसके सम्पर्कमें आकर उज्वल हो जाता है, उसका सत्त्व सदा तेजस्वी रहता है, किसी भी परिस्थितिमें संकुचित नहीं होता। अतः, यदि अध्यापक शुद्ध चरित्रका न हुआ तो विद्यार्थियोंका चरित्र भी शिथिल हो जायगा।

नियमितता

अध्यापकोंमें कुछ ऐसे भी गुण अपेक्षित हैं जिनका सम्बन्ध विद्यालयकी सुव्यवस्थासे है। वे हैं—नियमितता, सन्नद्धता और आज्ञाकारिता।

अध्यापकको नियमानुसार ठीक समयपर विद्यालयमें पहुँचना, ठीक समयपर कक्षामें पढ़ानेके लिये जाना, ठीक समयपर अपनी और छात्रोंकी उपस्थिति भरना, दैनन्दिनी (डायरी) भरकर देना, प्रश्नपत्र बनाकर देना, उत्तरपुस्तिकाएँ जाँचकर देना, जागना, सोना, संध्यावन्दन करना, स्वाध्याय करना, घूमना, व्यायाम करना और भोजनादि करना चाहिए। इससे विद्यालयकी व्यवस्थामें भी सुविधा होती है और छात्रोंको भी सत्प्रेरणा मिलती है।

सन्नद्धता

अध्यापकको विद्यालयसे संबन्ध रखनेवाले प्रत्येक कार्यके लिये सदा सन्नद्ध रहना चाहिए और किसी कामको छोटा नहीं समझना चाहिए। प्रत्येक अध्यापकको यह समझना चाहिए कि 'विद्यालय मेरा है। उसका मान-सम्मान मेरा मान-सम्मान है।'

आज्ञाकारिता

अध्यापकको अत्यन्त मृदुता और विनयके साथ अपने आत्म-सम्मानकी सतत रक्षा करते हुए प्रत्येक विषयमें अपने विद्यालयके आचार्यका आदेश मानते रहना चाहिए और जिस दिन वास्तविक मतभेद हो, उसी दिन विद्यालय छोड़कर चल देना चाहिए किन्तु वहाँ रहकर आचार्य या विद्यालयके नियमोंकी अवहेलना नहीं करनी चाहिए। यदि आचार्यकी कोई बात कभी अनुचित भी प्रतीत होती हो तो सबके सामने उनका विरोध न करके एकान्तमें निर्भीक होकर अपना मतभेद स्पष्ट कर लेना चाहिए।

अध्यापकका काम

अध्यापकका भी काम यही है कि जो बच्चे उनके हाथमें आवें उन्हें सजीव, आकर्षक और मूल्यवान् बना दें। सजीवताका अर्थ यही है कि उनके अंग-अंग उल्लास, स्फूर्ति और आत्मविश्वाससे भरे रहें। आकर्षकका अर्थ यही है कि उनकी सरलतामें ऐसा जादू हो कि एक बार दृष्टि पड़ते ही नेत्र

वहीं ठहर जायँ। उनकी बोलचाल, उठने बैठनेका ढंग, वेश, चाल-ढाल, गति ऐसी व्यवस्थित, संयत और सुसंस्कृत हो कि वे दूसरोंके लिये आदर्श रूप हों। देखनेवालोंकी भी इच्छा हो कि हम भी इसीके समान उठें, बैठें, बातें करें।

मूल्यवान्से तात्पर्य यही है कि बालकमें सदाचार, सत्यता, निर्भीकता आत्मत्याग, संयम, मधुर-भाषिता, निष्कपटता तथा निश्छल निष्काम सेवा-बुद्धि आदि ऐसे गुण आ जायँ कि देश उसे अपनी अमूल्य संपत्ति समझे, जाति उसे अपना शिरोभूषण समझे, माता-पिता उसे अपनी आँखोंका तारा समझें, समाजका प्रत्येक व्यक्ति उसे अपनानेमें अपना गौरव समझे।

अध्यापकको अपने संपर्कमें आनेवाले बालकोंके सम्बन्धमें सब बातें भली प्रकार जान लेनी चाहिएँ कि वे कहाँसे आए हैं, किस वातावरणमें उनका पालन-पोषण हुआ है, किसकी संगतिमें रहे हैं, घरपर उनके साथ कैसा व्यवहार होता है, घरकी दशा कैसी है इत्यादि। यह ब्यौरा लेकर उसे निश्चय करना चाहिए कि इनमेंसे कौनसा संस्कार रगड़कर दूर कर देना चाहिए और किस संस्कारको कौनसे रंगसे रँगकर अधिक उज्ज्वल तथा चटकीला बना देना चाहिए।

गुरु और शिष्य

गुरुका कर्त्तव्य यह है कि वह अपने चरित्र, विद्या, आचरण और सद्भावनासे निरन्तर जब अवसर मिले तभी अपने शिष्योंको अनुप्राणित करता चले। कक्षामें, कक्षाके बाहर, खेल-भूमिमें, सड़कपर, गोष्ठीमें, सभामें, जहाँ भी छात्र हों वहाँ अध्यापकको इस प्रकारका आदर्श अनुकरणीय व्यवहार करना चाहिए कि छात्र स्वयं वैसा ही आचरण करनेके लिये विभावित हों। अध्यापकको स्वयं निरन्तर अध्ययन करते रहना और अपने ज्ञानका भांडार सदा अपने छात्रोंके लिये खुला रखना चाहिए। चतुर अध्यापक ज्ञान-प्रदान करनेके लिये अवसरकी प्रतीक्षा नहीं करते। वे अवसरकी सृष्टि करते हैं और तत्काल कथा, आख्यायिका, उदाहरण तथा दृष्टान्तके द्वारा आवश्यक ज्ञान दे डालते हैं। अतः, अध्यापकको सजग और सचेष्ट होकर छात्रोंके चरित्र और ज्ञानकी वृद्धिमें निरन्तर योग देते रहना चाहिए।

———

५

पुरस्कार और दंड

पुरस्कार और दंड

भले बालकोंको पुरस्कार और दुष्ट बालकोंको दंड मिलना ही चाहिए इसमें कोई दो मत नहीं हो सकते। किन्तु पुरस्कार और दंड अनेक प्रकारके होते हैं, जिनमेंसे कुछ प्रयोजनीय और कुछ त्याज्य होते हैं। दंड देते समय यह समझ रखना कि हम किसको और क्यों दंड दे रहे हैं अर्थात् दंडके पात्रका ध्यान रखकर उसके सुधारके लिये उसे दंड देना चाहिए।

पुरस्कार

पुरस्कार कई प्रकारके होते हैं—

१. आर्थिक पुरस्कार : रुपये-पैसेके रूपमें।

२. सम्मान-पुरस्कार : चाँदी-सोनेके बिल्ले तथा प्रमाणपत्र आदिके रूपमें।

३. सहायक पुरस्कार : पुस्तक, वस्त्र आदिके रूपमें।

४. शाब्दिक पुरस्कार सबके सामने या एकान्तमें प्रशंसाके रूपमें।

आर्थिक पुरस्कारसे छात्र लोभी बन जाता है। ऐसा प्रलोभन मिलनेपर वह जो कुछ काम करता है वह रुपया-पैसा पानेके लोभसे करता है। सम्मान-पुरस्कार प्रदर्शन मात्रके लिये ही रहता है। बिल्ला लगाकर या प्रमाणपत्र काँचमें मढ़कर रखनेसे आत्मतुष्टि मात्र होती है और अहंकार बढ़ता है। अतः, ये दोनों प्रकार त्याज्य हैं। सहायक पुरस्कार दीन छात्रोंके अधिक कामका होता है। धनियोंके पुत्र भी वार्षिकोत्सवके अवसरपर भले ही इस प्रकारका पुरस्कार स्वीकार कर लें किन्तु इस प्रकारके पुरस्कारका उनके लिये कोई महत्त्व नहीं होता। अतः, अध्यापकोंको चाहिए कि कक्षामें यथासंभव प्रशंसाके रूपमें शाब्दिक पुरस्कार ही दें। सबके सम्मुख अपने

गुरुजनोंसे अपनी प्रशंसा सुनकर छात्रोंको एक प्रकारका सात्त्विक प्रोत्साहन मिलता है, उल्लास होता है और उनका मन बढ़ता है। यद्यपि इससे भी अहंकार तो आता है किन्तु वह क्षणिक होता है, उससे नैतिक हानि नहीं होती। यों अलग बुलाकर एकांतमें भी प्रशंसा की जा सकती है किन्तु उससे छात्रको प्रसन्नता भले ही हो, पर सन्तोष नहीं होता। वह दस जनोंके बीच अपना यश सुनना चाहता है और यह दुर्बलता बालकोंमें ही नहीं, बड़े-बड़े त्यागी महात्माओंमें भी होती है। अच्छे कामकी प्रशंसा न करनेसे बड़ा बुरा फल होता है। कर्त्ताके मनमें यह बात बैठ जाती है कि मेरे कामकी जब कोई पूछ नहीं, तब मैं करूँ क्यों। इस प्रकार बार-बार अपने अच्छे कामोंकी उपेक्षा देखकर सम्भव है वह उलटा ही आचरण करने लगे। अतः, अच्छे कार्यकी प्रशंसा करनेसे कभी नहीं चूकना चाहिए और उन अच्छे बालकोंका उदाहरण भी अन्य छात्रोंके सम्मुख रखते चलना चाहिए जिसमें औरोंमें स्वस्थ स्पर्द्धाकी बुद्धि जगे और दूसरे छात्र भी अच्छे काम करनेमें प्रवृत्त हों।

दंड-विधान

दंडके भी अनेक प्रकार होते हैं—१. शारीरिक दंड, २. पारिश्रमिक दंड, ३ आर्थिक दंड, ४; सामाजिक दंड, ५. भीति-दंड, ६. तुलनात्मक पक्षपात-दंड।

शारीरिक

शारीरिक दंडका उद्देश्य यह होता है कि छात्र उस दंडकी विभीषिकासे डरकर पुनः अपराध न करे और दूसरे छात्र भी उसका कष्ट देखकर वैसा अपराध करनेका साहस न करें। किन्तु शारीरिक दंडका कभी कोई अच्छा प्रभाव पड़ता नहीं दिखाई दिया। उलटे दुष्परिणाम यह हुआ है कि ऐसे अध्यापकोंके प्रति छात्रोंकी अश्रद्धा बढ़ जाती है। किन्तु चारित्रिक दोषोंके लिये बेंतका परिमित प्रयोग सर्वथा अवाञ्छनीय भी नहीं है। इसीलिये शिक्षा-विधानने अध्यापकों-द्वारा शारीरिक दंडका निषेध करके उसका अधिकार

केवल मुख्याध्यापकको ही दे दिया है। किन्तु मुख्याध्यापकको भी मारपीटका प्रयोग न करके सरल और शिष्ट शारीरिक दंडोंका प्रयोग करना चाहिए जिनमें नीचे खड़ा रखना, तिपाईपर खड़ा करना और कोनेमें अलग खड़ा कर देना मुख्य हैं।

पारिश्रमिक दंड

जो छात्र घरसे काम करके नहीं लाते, उन्हें विद्यालय समाप्त होनेके उपरान्त ठहराकर निर्दिष्ट कार्य समाप्त करा लेना पारिश्रमिक दंड है। इस दंडको वन्दी-कक्षा-प्रणाली (डिटेन्शन क्लास सिस्टम) कहते हैं। यह दंड-विधान अधिक सार्थक होता है किन्तु इसकी भी अति नहीं होनी चाहिए। इसका प्रयोग कभी महीने-पखवाड़े कर लिया जाय तो बुरा नहीं।

आर्थिक दंड

अपराध करनेपर अर्थ-दंड देना (जुरमाना करना) अत्यन्त अन्याय है क्योंकि इसका भार छात्रपर न पड़कर उसके पोषकपर पड़ता है। जो पोषक या पिता अपने बालकको पढ़ाने भेजता है, शुल्क देता है, वही दंडित हो, इस अन्याय और मूर्खताका किसी भी तर्क द्वारा समर्थन नहीं किया जा सकता।

सामाजिक दंड

अपराध करनेपर कक्षासे बाहर कर देना, विद्यालयसे बाहर निकाल देना, सब छात्रोंसे कह देना कि अपराधी छात्रसे न बोलो, न बात करो और न किसी प्रकारका व्यवहार रक्खो, यह सामाजिक दंड है। इस दंडका प्रयोग केवल विशेष अवसरोंपर—जैसे अवज्ञा अथवा चरित्र-दोषपर ही करना चाहिए।

भीति-दंड

बहुधा बालक इस डरसे अपराध नहीं करते कि कहीं हमारे पिता, अभिभावक या मुख्याध्यापकके पास हमारी करनीका समाचार न पहुँच जाय। ऐसे छात्रोंको यह कहकर डराया जा सकता है कि यदि सुधार न करोगे तो

पिता, अभिभावक या गुरुजीको सूचना दे दी जायगी। पिता या अभिभावकको कभी एक-आध बार सूचना दी भी जा सकती है, किन्तु बार-बार मुख्याध्यापक या अभिभावकको कहते रहनेसे अध्यापककी अक्षमता सिद्ध होती है। अतः, यथासम्भव स्वयं अपराधीसे निपट लेना चाहिए, अपनी सहायताके लिये दूसरोंका आश्रय नहीं लेना चाहिए।

तुलनात्मक पक्षपात दंड

अपराधियोंको पीछे बैठाना और उनकी छुट्टी रोक लेना आदि कुछ ऐसे दंड हैं जिन्हें सामाजिक दंडके अन्तर्गत ही समझना चाहिए। ऐसे दंड लज्जावन्तोंके लिये तो ठीक हैं पर जो चिकने घड़े हो गए हैं, उनपर इस दंडका कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता।

दंडमें विवेक

दंड देनेमें विवेकसे काम लेना चाहिए। दंडका अर्थ व्यक्तिगत, कुटुम्बगत, परिवारगत, बदला लेना या आवेगमें आकर दंड देना नहीं है। दंड देनेसे पूर्व अपराध और अपराधीका विचार करके यह निर्णय कर लेना चाहिए कि किस प्रकारके दंडके प्रयोगसे अपराधीका सुधार होगा। शिक्षण-जगत्के दंड-विधानका उद्देश्य राजकीय दंडविधानके उद्देश्यसे भिन्न होता है। अध्यापककी प्रत्येक गतिका उद्देश्य है सुधारना और उन्नत करना। अतः, दंडका भी उद्देश्य यही होना चाहिए कि उससे छात्र सुधरें।

छात्रोंका शील-विश्लेषण

यदि विद्यालयमें पढ़ानेवाले छात्रोंके स्वभाव तथा चरित्रका विश्लेषण किया जाय तो मोटे तौरसे उनकी निम्नलिखित श्रेणियाँ बनेंगी—

बुद्धिके अनुसार

१. कुशाग्र-बुद्धि : जो पाठको एक बार सुन या पढ़कर समझ ले।
२. साधारण बुद्धिमान् : जो ध्यान देनेसे शीघ्र समझ ले।
३. परिश्रमी : जो स्वयं परिश्रम करके समझ ले।
४. मन्दबुद्धि : जो बहुत बार समझानेपर समझ पावे।

५. मूढ : जो किसी भी काममें रुचि न दिखलावे और बहुत समझानेपर भी न समझ पावे, जो किसी भी प्रकारकी वस्तु या व्यक्तिको देख या सुनकर भी प्रभावित न हो।

६. सनकी : जो अर्द्धविक्षिप्त हो। सनकमें आ गई तो बीस घंटे पढ़ता ही रहे, नहीं तो गुम हुआ बैठा रहे।

७. पागल : जिसके मस्तिष्कमें विकार आ गया हो।

स्वभावके अनुसार

१. सीधे : जो अपने कामसे काम रखते हैं, न किसीको छेड़ते, न किसीसे अधिक मिलते-जुलते हैं। उन्हें कोई गाली भी दे तो चुपचाप सह लेते हैं, उत्तर नहीं देते।

२. चंचल : जिनमें इतनी अधिक फुर्ती भरी रहती है कि वे एक क्षणके लिये भी स्थिर नहीं रह सकते, प्रतिक्षण उछल-कूद, उठ-बैठ, तोड़-फोड़, झीना-झपटी मचाए ही रहते हैं।

३. नटखट : जो प्रतिक्षण इसी उधेड़-बुनमें रहते हैं कि किस प्रकार हम किसी नई घटनाका सूत्रपात करके दूसरोंको तङ्ग करें।

चरित्रकी दृष्टिसे

१. अत्यन्त सच्चरित्र : जो सत्यवादी, मृदुभाषी, सबकी सहायता करनेवाले और नियमित आचारवाले होते हैं।

२. मध्यय चरित्रवाले : जो मनसे तो सच्चरित्र नहीं होते किन्तु समाज या दण्डके भयसे अपना आचरण ठीक बनाए रखते हैं।

३. दुश्चरित्र : जो झूठे, कठोरभाषी, सीधे लड़कोंको तंग करनेवाले, चरित्रहीन, अपने सब कार्योंमें अनियमित तथा सुन्दर बालकों या बालिकाओंका पीछा किया करते हैं।

४. गुण्डे : जो भोले-भाले लड़कोंको डरा-धमकाकर पैसे ऐंठते या तंग करते हैं, और अध्यापकोंको भी मारने-पीटनेमें संकोच नहीं करते।

शारीरिक अवस्थाकी दृष्टिसे

१. स्वस्थ और हट्टे-कट्टे।

२. दुर्बल और रोगग्रस्त।
३. बहुत मोटे।
४. बहुत पतले।
५. सुदर्शन।
६. कुदर्शन।
७. असाधारण स्वास्थ्यवाले।

आचरणकी दृष्टिसे

१. व्यसनी : अ. खानेके व्यसनी : चटोरे।
आ. पहननेके व्यसनी : छैले।
इ. मेले-तमाशेके व्यसनी : घुमक्कड़।
ई. गाने-बजानेके व्यसनी।
उ. चलचित्र (सिनेमा) देखनेके व्यसनी।
ऊ. उपन्यास-कहानी पढ़नेके व्यसनी।
ए. नशेके व्यसनी : सिगरेट, पान, चाय, तम्बाकू, भाँग, मदिरा आदिके व्यसनी।
ऐ. खेल-कूदके व्यसनी।
ओ. पढ़नेके व्यसनी।
औ. नेतागिरीके व्यसनी।
अं. चित्र खींचने आदिके व्यसनी।
अः. जुआ खेलनेके व्यसनी।
क. झूठ, बोलने या गप्प लड़ानेके व्यसनो।
ख. उधार लेकर भी मित्रोंको खिलाने-पिलानेके व्यसनी।
ग. लड़कियों या लड़कोंके पीछे पड़नेके व्यसनी।

२. कामचोर : वे आलसी या अकर्मण्य, जो दिया हुआ काम करनेसे जी चुरावें, दूसरोंपर टाल दें, देरसे करें और यदि करें भी तो रो-गाकर, प्रसन्न मनसे नहीं।

३. भगोड़ : कक्षाने चुपचाप भाग निकलनेवाले या जो घरसे तो पाठशालाके लिये चलें और पहुँच जायँ उद्यानमें।

४. निश्चिन्त, फक्कड़, या मस्त : जिन्हें अपने निर्दिष्ट कार्यकी कभी चिन्ता ही न हो। विद्यालय जाते-जाते बीचमें बन्दर-भालूका नाच होता देखा तो वहीं ठहर गए।

५. लोभी : जो सदा दूसरोंसे कुछ पानेकी आशा लगाए रहें।

६. कंजूस : अपनी वस्तु अथवा पैसा किसीको न देकर, उलटे दूसरोंसे ले लें।

७. सदा असन्तुष्ट : अपने घर, विद्यालय, मित्र, गुरु सबमें दोष निकालनेवाले, सबसे असंतुष्ट, मानो सारे संसारने उनपर अन्याय किया हो।

८. ईर्ष्यालु : दूसरोंकी उन्नतिसे डाह रखनेवाले।

९. अहंकारी : अपनेको बड़ा योग्य, चतुर और सर्वगुण-सम्पन्न समझनेवाले।

१०. साहसी : दूसरोंके लिये कष्ट सहनेवाले, साहसके काममें सदा आगे रहनेवाले, कभी न डरनेवाले।

११. दुखी : घरकी विषम परिस्थितियोंके कारण विपन्न और निराश्रित तथा इसी कारण पठन-पाठनमें असावधान और अनियमित।

१२. दुर्ललित : लाड़-प्यारमें बिगड़े हुए, बात-बातमें अपने माता-पिताकी दुहाई देनेवाले अशिष्ट और कामचोर बालक।

१३. कुसंगी : जिन्हें ऐसे बुरे लोगोंकी सङ्गत मिल गई हो जो उन्हें चरित्रहीन और अपव्ययी बनाते हों।

१४. स्वाभाविक अपराधी : नियमित अपराधियोंके पुत्र या निम्न श्रेणीके वे लड़के जो चोरी, जेबकतरी, उचक्कापन, हत्या आदि सभी कुकर्मोंमें संस्कारतः कुशल हों।

१५. अनियमित : समय और नियमसे काम न करनेवाले।

१६. उद्दंड : अध्यापकों, छात्रों तथा अन्य सभीके साथ अत्यन्त अशिष्ट और उद्दंडतापूर्ण व्यवहार करनेवाले और मारपीट-तक कर डालनेवाले।

विभिन्न बुद्धिवाले बालकोंसे व्यवहार

१. कुशाग्रबुद्धि बालकको सदा प्रोत्साहित करते रहना चाहिए। उसे दूसरोंके सम्मुख उदाहरण-स्वरूप रखना चाहिए और उसे मन्द बालकोंको सहायता देने और पढ़ानेका कार्य भी देते रहना चाहिए। इससे उसमें आत्म-विश्वास बढ़ता है, आत्म महत्ताके स्वस्थ भावका पोषण करनेमें सहायता मिलती है और दूसरेकी सेवा तथा सहायता करनेका भाव उत्पन्न होता है।

२. साधारण बुद्धिमान्के ठीक काम करनेपर उसकी पीठ ठोंकनी चाहिए और प्रशंसा करनी चाहिए।

३. परिश्रम करके समझनेवाले छात्रके साथ परिश्रम करना चाहिए और उसे कक्षासे बाहर भी सहायता देनी चाहिए।

४. मन्द-बुद्धिको मूर्ख कहकर दुरदुराना नहीं चाहिए। उसे कुशाग्रबुद्धि छात्रोंके हाथ सौंप देना चाहिए और सदा सहानुभूतिमय व्यवहार करके उसे प्रोत्साहन देते चलना चाहिए।

५. मूढकी शिक्षाके लिये दृश्य-विधानोंका प्रयोग करना चाहिए। चलते-फिरते या रंगीन चित्र तथा अद्भुत वस्तुओंके निरन्तर प्रदर्शनसे उसकी मूढता दूर हो जाती है।

६. सनकीको यदि ठीक पथ दिखला दिया जाय तो वह आगे चलकर बड़ा काम कर सकता है।

७. पागलको विद्यालयोंमें न रखकर पागलखरमें रख छोड़ना चाहिए और उनकी चिकित्सा वैद्यों तथा मनोविश्लेषण-शास्त्रियोंपर ही छोड़ देनी चाहिए।

विभिन्न स्वभाववाले बालकोंके साथ व्यवहार

१. सीधे बालकोंपर सदा दृष्टि रखनी चाहिए कि वे दुष्ट बालकोंके आखेट न बन जायँ। उन्हें सदा किसी ऐसे काममें लगा रखना चाहिए कि उन्हें दुष्ट लड़कोंकी गति देखने और उनका अनुसरण करनेका अवसर ही न मिले।

२. चंचल बालकोंको कुछ न कुछ चलने-फिरने, हिलने-डुलनेका काम देते रहना चाहिए। श्यामपट्ट पोंछना, स्याही बाँटना, पुस्तक बाँटना या

खड़िया लाना आदि कामोंके द्वारा उनसे अधिकसे अधिक शारीरिक श्रम लेना चाहिए। पाठके समय भी ऐसे ही छात्रोंसे श्यामपट्टपर अर्थ लिखवाना, मानचित्र आदि बनवाना या समय-सरणि तैयार करनेका काम लेना चाहिए।

३. नटखट बालकोंसे भी उसी प्रकार व्यवहार करना चाहिए जैसा चंचल बालकोंसे। नटखट बालकोंसे ऐसा काम लेना चाहिए कि उन्हें इधर-उधरकी बातें सोचनेका अवसर ही न मिले। ऐसे बालकोंको बीच-बीचमें टोकते भी रहना चाहिए और दुष्टता करनेपर उन्हें कक्षा समाजसे अलग भी कर देना चाहिए। दो-तीन बार ऐसा करनेसे उनका नटखटपन छूट जायगा। अधिक दुष्टतापर उनके अभिभावकोंका ध्यान भी आकृष्ट कराना चाहिए और नैतिक अपराधपर बेंतका भय दिखा देना भी कुछ बुरा नहीं है।

विभिन्न चरित्रवाले बालकोंसे व्यवहार

१. अत्यन्त सच्चरित्रको सदा दूसरोंके आगे आदर्श रूपमें रखना चाहिए और उसका यथावसर उदाहरण देकर उसकी प्रशंसा करनी चाहिए किन्तु प्रशंसा ऐसी न हो कि वह अभिमानी हो जाय।

२. मध्यम चरित्रवालोंकी ओर अधिक सावधानी रखनी चाहिए। उन्हें धार्मिक कथाओं और उपदेशोंके द्वारा सदा सचेत करते रहना चाहिए। उनके समक्ष ऐसे आख्यान रखने चाहिएँ जिनमें सच्चरित्रोंका सम्मान किया गया हो और दुश्चरित्रोंकी इस लोक तथा परलोक दोनोंमें दुर्गति दिखाई गई हो।

३. दुश्चरित्रोंको ठीक करनेका सबसे सरल उपाय है कि उनसे कठिन प्रश्न पूछकर उन्हें बुद्धिहीन सिद्ध कर दिया जाय, साथ ही यह भी कहते रहा जाय कि जो चरित्रवान् होता है उसे विद्या शीघ्र आती है। सब छात्रोंको गुप्त रूपसे इन छात्रोंसे बचते रहनेका आदेश देते रहना चाहिए। विद्यालय बन्द होनेके पीछे उन्हें तबतक किसी बहाने रोक रखना चाहिए जबतक अन्य बालक बहुत दूर न निकल जायँ। उनकी संगतिमें जिस बालकको देखें उसे दूर कर देना चाहिए। ऐसे छात्रोंको सबके सम्मुख मूर्ख बनाने और डाँटनेका भी बड़ा प्रभाव पड़ता है किन्तु वह इस सीमातक न बढ़ जाय कि वे उल्टे उत्तर देने लगें।

विभिन्न शारीरिक स्थितिवाले बालकोंसे व्यवहार

१. स्वस्थ और हट्टे-कट्टे छात्रोंको नेतृत्व करने और दूसरोंकी रक्षा करनेका उपदेश देते रहना चाहिए। उन्हें यह बतलाते रहना चाहिए कि दूसरोंकी रक्षा करने और ज्ञान प्राप्त करनेके लिये ही भगवान्‌ने स्वस्थ शरीर दिया है, विलास और दूसरोंको कष्ट देकर इसका दुरुपयोग करनेके लिये नहीं। ऐसे छात्रोंको समाज-सेवाके कार्योंके लिये प्रोत्साहित करना चाहिए और जो स्वयं इस प्रकारके सेवा-कार्योंमें भाग लेते हों उन्हें पुरस्कृत और प्रोत्साहित करना चाहिए।

२. दुर्बल और रोग-ग्रस्तोंसे बड़ी कोमलताका व्यवहार करना चाहिए। उनकी अवस्थाका उचित कारण जानकर उनकी उचित सहायता भी करनी या करानी चाहिए। ऐसे बालक प्रायः पढने-लिखनेमें भी फिसड्डी रहते हैं। इसका कारण उनकी मानसिक दुर्बलता या बुद्धि-हीनता नहीं, अपितु शारीरिक दुर्बलता ही होती है।

३. मोटे लड़कोंको मोटा, मोटक, मोटरकार, मोटेराम, गणेशजी आदि नाम देकर चिढ़ाना नहीं चाहिए। इन्हें यथासाध्य हलके परिश्रमका काम देकर चेतन और सचेष्ट रखना चाहिए और नित्य उनसे चलने-फिरनेका काम लेकर उन्हें गतिशील बनाए रखना चाहिए। ऐसा करनेसे उनका मोटापन घटेगा, उनमें फुर्ती आवेगी और फुर्तीके साथ उनकी बुद्धि भी बढेगी।

४. बहुत दुबले-पतले लड़कोंके लिये भी उचित व्यायामका विधान करना चाहिए और ऐसा मार्ग सुझाना चाहिए जिससे वे मोटे भले ही न हो पावें पर गतिशील अवश्य बने रहें, थके या हारे हुए न दिखाई दें।

५. सुदर्शन या सुन्दर बालक प्रायः दुश्चरित्र लड़कोंकी वासनाके शिकार हो जाते हैं। यह रोग केवल लड़कोंमें ही नहीं, लड़कियोंमें भी तीव्रतासे बढ़ रहा है। अमरीकाके शिक्षाशास्त्रियोंने इसका कारण देरसे विवाह करना बताया है। सुदर्शन बालकों (बालिकाओं) को यथासंभव सब बालकोंसे दूर और अलग रखना चाहिए। अध्यापकको भी स्वयं ऐसे बालकोंसे बचकर रहना चाहिए।

६. कुदर्शन या भद्दी सूरतवाले छात्रोंकी विद्यालयमें बड़ी दुर्दशा होती है। उनकी तुलना अनेक प्रकारके पशु-पक्षियोंसे की जाती है, उन्हें भालू, बन्दर, रीछ आदि विचित्र नामोंसे पुकारा जाने लगता है और सब लोग उन्हें चिढ़ानेमें विशेष आनन्द पाते हैं। बहुतसे अध्यापकोंको भी यह भद्दा अभ्यास होता है कि वे ऐसे बालकोंके ऐंड़े-बैंड़े नाम रख लिया करते हैं। ऐसे बालकोंको यह कहकर उत्साहित करना चाहिए कि भाई! सुकरात भी कुदर्शन था, शिवाजी भी कोई बड़े सुन्दर नहीं थे और संसारका सबसे बड़ा राजनीतिज्ञ चाणक्य तो बड़ी ही भद्दी और डरावनी आकृतिका था। महात्मा गाँधीको ही ले लो। कौन उनपर बड़ी सुन्दरता बरसी पड़ती थी। इस प्रकार उनकी झेंप मिटाकर उनसे सहानुभूतिमय व्यवहार करना चाहिए, उनके गुण देखते ही चिढ़ानेवालोंके आगे उनकी प्रशंसा करनी चाहिए जिससे छात्र लज्जित होकर चिढ़ाना छोड़ दें।

७. साधारण स्वास्थ्यवालोंको अधिक सशक्त बननेके लिये प्रोत्साहित करते रहना चाहिए।

विभिन्न आचरणवाले छात्रोंसे व्यवहार

१. व्यसनियोंके व्यसन छुड़ानेके दो उपाय हैं—या तो उनके व्यसनकी अति कर दी जाय अर्थात् चटोरेको इतना खिला दिया जाय कि उसे अरुचि हो जाय अथवा उस व्यसनकी नियमतः विभिन्न अवसरोंपर ऐसी निन्दा या बुराई करते रहा जाय कि उसे स्वयं उसमें दोष दिखाई देने लगें और वह व्यसनसे मुह मोड ले। उसके सम्मुख व्यसनियोंका बड़ा करुण और भयानक अन्त भी दिखाना चाहिए जैसे अमुक व्यक्ति सिगरेट पीनेसे जल मरा, अमुक बहुत चाट खानेसे हैज़ेका शिकार हो गया, अमुक पढ़ते-पढ़ते पागल हो गया आदि।

२. कामचोर छात्रोंके साथ स्वयं काम करना चाहिए और बौद्धिक काम करानेसे पहले उनसे शारीरिक परिश्रम भी कराना चाहिए।

३. भगोड़ोंके पीछे अपने जासूस लगा रखने चाहिएँ जो उनकी गतिविधिका पूरा ब्यौरा दें और फिर सबके सामने उनका रहस्योद्घाटन

करें। कभी-कभी भयसे भी छात्र भगोड़ होते हैं। उनका भय दूर कर देना चाहिए। उनसे मित्रवत् व्यवहार करके उनकी कठिनाई दूर करनेका प्रयत्न करते रहना चाहिए।

४. निश्चिन्त या मस्त लड़कोंका भार ऐसे नियमित छात्रोंपर दे रखना चाहिए जो उन्हें अपने साथ लावें, ले जावें और अपने ही साथ विद्यालयका काम भी करा लें।

५. लोभी लड़कोंका सुधार तब हो सकता है जब उनके लोभयुक्त व्यवहारकी समय-समयपर सबके सामने विनोदपूर्ण टिप्पणी करते रहा जाय, पर वह टिप्पणी निन्दाका रूप न धारण कर ले। उन्हें उदार छात्रोंके संसर्गमें रक्खा जाय जहाँ वे स्वयं अपना दोष समझकर अपना चरित्र सुधार लें।

६. कंजूस लड़के आगे चलकर मक्खीचूस और समाजके लिये घातक सिद्ध होते हैं। ऐसे बालकोंके सामने उदार छात्रोंकी प्रशंसा और कंजूसोंकी निन्दा करते रहना चाहिए किन्तु यदि कंजूसीका कारण अर्थहीनता हो तो निन्दा नहीं करनी चाहिए।

७. सबसे सदा असंतुष्ट रहनेवाले छात्रोंको सुधारनेका सीधा उपाय यही है कि उनके थोड़े भी गुणोंकी प्रशंसा करते रहा जाय, बस वे संतुष्ट हो जायँगे।

८. ईर्ष्यालु छात्रोंको उत्साहित करके उनकी ईर्ष्याको स्वस्थ स्पर्द्धाके रूपमें बदल देना चाहिए जिससे वे अच्छे छात्रोंसे आगे बढ़नेका प्रयत्न करें, ईर्ष्या न करें।

९. छात्रके अहंकारको जैसे बने वैसे हटाना चाहिए। इसका सरल उपाय यह है कि यदि छात्र अपनेको बड़ा चतुर समझता हो तो उससे ऐसे कड़े प्रश्न किए जायँ कि वह उत्तर न दे सके। बस वह स्वयं लज्जित हो जायगा और उसका अहंकार गल जायगा। इसी प्रकार उसके अन्य प्रकारके अहंकारोंका भी परिहार किया जा सकता है।

१०. साहसी छात्र कभी-कभी बड़े दुःसाहसके काम भी कर बैठते हैं। यदि ऐसे छात्रोंको सत्साहसकी ओर प्रवृत्त न किया जाय तो

ये आगे चलकर डाकू, चोर या ठग हो सकते हैं। अतः, ऐसे छात्रोंको सत्साहसके कामोंमें प्रवृत्त करना और दुःसाहसके कामोंसे निवृत्त करना चाहिए। ऐसे छात्रोंको सेवाके कामोंमें अधिक लगाना चाहिए।

११. दुखी छात्रोंका उद्धार तो उनकी स्थिति जानकर उनकी सहायता करने या करानेसे ही हो सकती है। बहुतसे छात्र अपना दुःख कहते हुए सकुचाते हैं। उनका विश्वासपात्र बनकर, उनके दुःखका कारण जानकर उनका दुःख दूर करनेका उपाय करना चाहिए।

१२. दुर्ललित छात्रोंको माता-पितासे अलग करके थोड़े दिन छात्रावासमें रख देनेसे उनकी बुद्धि ठिकाने आ जाती है। घरसे दूर रखना ही उनकी परमौषधि है।

१३. कुसंगमें पड़े हुए छात्रोंको अपने साथ रखना सबसे अच्छा है। यदि छह महीनेके लिये भी कुसंग छूटा तो सदाके लिये छूट जायगा।

१४. स्वाभाविक अपराधियोंके साथ बड़े कौशलसे व्यवहार करना चाहिए। उन्हें किसी न किसी दायित्वका काम देनेसे, अग्रणी (मौनीटर), नायक (कैप्टेन) आदि बना देनेसे बड़ा अच्छा फल निकलता है। चोर लड़कोंको पैसे-रुपयोंके प्रबन्धका काम दे-देनेसे उनका चोरीका अभ्यास दूर हो जाता है।

१५. अनियमित छात्रोंको नियमित करनेका सरल उपाय यही है कि उनका भार नियमित छात्रोंपर छोड़ दिया जाय, वे स्वतः नियमित हो जायँगे।

१६. उद्दंड छात्रोंको अधिकसे अधिक अपने संपर्कमें रखकर अनेक प्रकारसे उन्हें उपकारके भारसे दाबे रखना चाहिए।

ये कोई अन्तिम उपाय नहीं हैं। कुशल अध्यापक अपनी बुद्धि, विवेक और कौशलसे छात्र, अपराध और परिस्थितिको दृष्टिमें रखकर और भी अनेक उपायोंका सफलतापूर्वक प्रयोग कर सकता है।

६

विनय और शील

विद्यासे हमें ऐसा ज्ञान मिलता है जिससे हम अपने जीवन और चरित्रको 'संयत' (डिसिप्लिण्ड) बना सकें। योरपमें जब किसी व्यक्तिके विषयमें कहते हैं कि वह 'बड़ा विनयी' (वेल् डिसिप्लिण्ड) है तो उसका तात्पर्य यह समझा जाता है जिस व्यक्तिके विषयमें यह विशेषण दिया गया है वह रहन-सहनमें स्वच्छ, आचारमें नियमित, व्यवहारमें शिष्ट, अपने व्यवसाय-सम्बन्धी चरित्रमें सच्चा, अपने बड़ोंकी आज्ञा पालन करनेमें दृढ तथा समाजमें उठने-बैठने, बोलने-चालनेमें कुशल है। हमारे यहाँ 'विनय' शब्द इस अर्थके अतिरिक्त यह अर्थ भी देता है कि विनयी व्यक्ति सच्चरित्र भी होता है अर्थात् हमारे यहाँ विनय शब्द केवल बाह्य आचरणकी शिष्टताका ही नहीं अपितु मन, बुद्धि और आत्माकी शुद्धताका भी द्योतक है।

विनयकी समस्या

विनयकी समस्या प्रतिदिन प्रत्येक अध्यापके सम्मुख उपस्थित होती ही रहती है और अनुभवी लोग अपनी शक्ति, योग्यता और बुद्धिके अनुसार उसका समाधान भी करते चलते हैं। प्रशिक्षण विद्यालयोंके अध्यापक, राजकीय निरीक्षक और नेतागण सभी आज 'विनय' की दुहाई दे रहे हैं किन्तु विनयका स्वरूप क्या है और उसकी साधना किस प्रकार की जाय यही प्रश्न विचारणीय है।

गुरुकुलमें विनयकी व्यवस्था

प्राचीन कालमें हमारे देशमें विनयकी समस्या थी ही नहीं क्योंकि उस समय पढ़ानेवाले और पढ़नेवालेके बीच अध्यापक और विद्यार्थीका नहीं अपितु गुरु और शिष्यका सम्बन्ध था। प्रत्येक छात्र गुरुको देवता समझनेकी शिक्षा पाता था (आचार्यदेवो भव), उसकी कृपा पानेके लिये तरसता

था, तपस्या करता था, सेवा करता था और प्रतिक्षण इस बातके लिये लालायित रहता था कि गुरुजी मुझे सेवा करनेका अवसर दें। उसकी धारणा ही थी कि विद्या तो गुरुकी सेवासे (गुरु-शुश्रूषया विद्या) मिलती है, पढ़नेसे नहीं। इसलिये छात्रगण तन, मन और धनसे भी (पुष्कलेन धनेन वा) गुरुको प्रसन्न करनेकी चिन्तामें रहते थे। इसलिये वे स्वभावतः विनयी हो जाते थे—केवल बाह्य आचरणमें ही नहीं, अपितु मन और हृदयसे भी। इसलिये वहाँ विनयका प्रश्न उठता ही नहीं था। जैसे चपलसे चपल बालक भी मन्दिरमें पहुँचकर अपने माता-पिताको देवताके आगे प्रणाम करते देखकर हाथ जोड़ लेता और सिर झुका लेता है, ठीक उसी प्रकार नवागन्तुक शिष्य भी बड़े शिष्योंके आचारको देखकर भयमिश्रित श्रद्धाके साथ गुरुके आगे झुक जाता था और गुरुकी अप्रत्यक्ष महत्ताका श्रद्धापूर्ण आतङ्क उसके हृदयपर अङ्कित हो जाता था, वहाँका वातावरण ही उसे विनय सिखा देता था।

आजका विनय

किन्तु अब तो गुरु लोग, अध्यापकगण, वरसे गणपति-गौरीकी मानता मानकर चलते हैं कि दिन कुशलसे बीत जाय तो प्रसाद चढ़ावें। अधिकांश छात्रगण समझते हैं कि हम शुल्क देकर पढ़ते हैं, अध्यापक हमारा सेवक है। अध्यापक भी सब प्रकारसे यही समझता है कि यदि मुझे अपनी जीविका रखनी है तो इन देवताओंको प्रसन्न करनेमें ही कुशल है। इसीलिये आजकल प्रशिक्षण-विद्यालयोंमें कक्षा-व्यवस्था (क्लास मेनेजमेंट) और विनय (डिसिप्लिन) पर बहुत कुछ पढ़ाया-सिखाया जाता है और यह शिक्षण-शास्त्रका महत्त्वपूर्ण अंग समझा जाता है।

अभिभावक अपने बालकोंको क्यों पढ़ाते हैं ?

अभिभावक अपने बच्चेको विद्यालयमें विद्या प्राप्त करानेके साथ-साथ उसे आदमी बनानेके लिये भी भेजता है—ऐसा आदमी, जिसका समाजमें मान हो, आदर हो। यह आदमीपन विनयसे ही आता है। किन्तु आजकल

लोग एक पंक्तिमें पैर मिलाकर चलने, कक्षामें पाषाण-मूर्त्तिवत् मूक बैठे रहने तथा कक्षामें कोलाहल न करनेको ही विनय समझ बैठे हैं। अँगरेज़ी विद्यालयोंमें विनयका प्रायः यही अर्थ लगाया जाता है।

नई पद्धतियाँ

श्रीमती मौन्तेस्सोरी तथा फ्रोबेल आदि नये मनोवैज्ञानिकोंका मत है कि छात्रोंको परम स्वतन्त्रता देकर उन्हें अपने आप विकसित होने तथा सीखने देना चाहिए। इसी आधारपर योरोपीय और अमरीकी विद्यालयोंमें भी इस स्वयं-शिक्षा (सेल्फ़-एजुकेशन या आउटो-एजुकेशन) की भावना बल पकड़ती जा रही है, जिसका कुपरिणाम यह हो रहा है कि वहाँके छात्र स्वच्छन्द होते जा रहे हैं, पाठशालाएँ और कक्षाएँ सट्टियाँ बनती जा रही हैं। पर ये दोनों ही अवस्थाएं अवाञ्छनीय हैं। न तो छात्रोंको इतना बाँधकर ही रखना चाहिए कि छात्र यन्त्रके अंग बन जायँ, न इतनी स्वतन्त्रता ही दे देनी चाहिए कि बालक अध्यापकोंकी पगड़ी उछालने लगें।

अतः, अध्यापकको इन दोनों परिस्थितियोंका मध्यम मार्ग निकालकर ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए कि विद्यालयोंसे पढ़कर छात्र सदाचारी, आत्मसंयमी, आत्मत्यागी, समाजसेवी, बुद्धिमान् तथा साहसी नागरिक बनकर निकलें। अतः, हमें इस प्रकार विनयकी साधना करानी चाहिए कि हमारा यह उद्देश्य पूर्ण हो। इस उद्देश्यकी पूर्त्तिके लिये अध्यापकका पहला कार्य तो यह होना चाहिए कि छात्रोंका ध्यान पाठकी ओर आकृष्ट करना चाहिए। यही विनयकी पहली सीढ़ी है।

एकाग्रता

पाठमें एकाग्र-चित्तता इसीमे नहीं समझनी चाहिए कि छात्र चुप हैं, बोल नहीं रहे हैं। एकाग्र-चित्तताका अर्थ यह है कि बाह्य विनयके साथ-साथ आन्तरिक या मानसिक विनय भी हो, शरीरकी बाह्य इन्द्रियोंके साथ-साथ मन भी स्थिर हो। उनकी एकाग्रता बनाए रखनेके लिये पाठके बीचमें कथा, कहानी, चुटकुले आदि विभिन्न कुतूहल-वर्द्धक तथा रुचिकर विधानोंका प्रयोग

भी करते रहना चाहिए, उन्हें एक क्षणके लिये भी बेकाम नहीं छोड़ना चाहिए अन्यथा उनके चित्तके भीतर बैठा हुआ बन्दर अवश्य उछल-कूद मचाने लगेगा। किन्तु जो काम उन्हें दिया जाय वह रुचिकर तथा कुतूहल-वर्द्धक होनेके साथ-साथ ज्ञानवर्द्धक भी होना चाहिए।

अध्यापकका व्यक्तित्व

इसके लिये सबसे प्रमुख वस्तु है अध्यापकका व्यक्तित्व। व्यक्तित्वकी व्याख्या हम पीछे अध्यापकके गुणोंके साथ कर आए हैं। व्यक्तित्वका तात्पर्य यही है कि अध्यापकके शरीर, वेश और व्यवहारसे ऐसा प्रकट हो, छात्रोंपर ऐसा आतंक, ऐसा रौब छा जाय कि पहली दृष्टिमें, पहली भेंटमें उन्हें यह विश्वास हो जाय कि इस व्यक्तिसे डरना भी चाहिए और इसकी पूजा भी करनी चाहिए।

मृदु व्यवहार

यह प्रभाव उत्पन्न करनेके लिये अपना व्यवहार मृदु बनाना चाहिए। भड़कीला और रौबीला शरीर तो ईश्वरका प्रसाद है किन्तु अपने व्यवहारको कोमल बनाए रखना तो प्रत्येक व्यक्तिके हाथकी बात है। किन्तु मृदु व्यवहारका तात्पर्य दाँत निपोरना, खीसें निकालना और आत्मसमर्पण कर देना नहीं है। आपके मृदु व्यवहारसे छात्रोंको यह आभास नहीं मिलना चाहिए कि आप स्वयं भयभीत हैं वरन् यह प्रतीत हो कि आप बड़े उदार, महान् और कृपालु हैं, छात्र आपकी कृपाके भूखे रहें। यह मृदु व्यवहार दीन बालकको आर्थिक सहायता देकर, पाठमें पिछड़े हुओंको अलग पढ़ाकर प्रकट किया जा सकता है अर्थात् कक्षामें और कक्षाके बाहर आपकी वृत्ति सहानुभूति, उदारता और विशाल-हृदयतासे भरी रहे, सदा आप सहायता करनेको उद्यत दिखाई पड़ें।

पांडित्य

अध्यापकका पांडित्य भी विनयमें बहुत सहायक होता है। अध्यापककी विद्याका एक अलौकिक प्रभुत्व छात्रोंपर स्थापित हो जाता है। अतः, समय-

समयपर अवसर देखकर आप अपनी विद्वत्ताका प्रकाश भी करते चलिए। अपने विषयके प्रत्येक अंगको ऐसा मथ रखिए कि उसका नवनीत आप किसी समय भी छात्रोंको वितरित कर सकें।

विनय

छात्रोंमें विनय-भावना भरनेके लिये अध्यापकको भी स्वयं विनयी होना चाहिए। वह छात्रोंसे जो कुछ कराना चाहता हो उसे करनेके लिये वह स्वयं भी प्रस्तुत हो। यदि वह चाहे कि छात्र सीधे बैठें, कक्षामें समयसे आवें और स्वच्छ रहें तो उसे भी सीधे बैठना, समयसे आना और स्वच्छ रहना चाहिए। उदाहरण सदा उपदेशसे श्रेष्ठतर होता है। यदि आप सुस्त और ढीले हुए तो कक्षा भी सुस्त और ढीली हो जायगी।

पैनी दृष्टि, मधुर वाणी और सधे हुए कान

विनयकी बहुत-सी समस्याओंका समाधान तो आपकी दृष्टि, आपके कान, आपकी भावभंगी और आपकी मुद्राओंसे ही हो जाता है। पैनी दृष्टि, मधुर गम्भीर वाणी और सधे हुए कान विनयके स्वाभाविक साधन हैं। आपकी दृष्टि ऐसी सधी हो कि कक्षाके भीतरकी प्रत्येक क्रिया आप बन्दी कर सकें और आपके कान ऐसे सधे हों कि सुई गिरे तो आप जान लें कि कक्षाके किस कोनेसे ध्वनि उठी है। अपनी मुद्रा आपऐसी बना रखिए कि आपको अपनी वाणीका बारबार प्रयोग न करना पड़े, आँखें मिलते ही अपराधी सन्न हो जाय, उसका अपराध उसके मुँहपर आ खड़ा हो, वह स्वयं लज्जित हो जाय और आत्मग्लानिसे धरतीमें गड़ जाय। पर अध्यापकको छात्रोंकी सभी बातें सुननी भी नहीं चाहिएँ, कुछ बातें सुनी भी अनसुनी कर देनी चाहिएँ। किन्तु यह विवेक अनुभवसे ही आता है कि क्या सुनना चाहिए, क्या नहीं सुनना चाहिए।

सजीवता

कक्षामें विनयकी प्रतिष्ठाके लिये सजीवता लानी चाहिए। वहाँ निरन्तर कुछ न कुछ होता रहना चाहिए। किन्तु जो कुछ हो, उसमें कड़ाई, कठोरता

और विषमताके बदले हँसी, विनोद, चुटकले और शिष्ट चुहल हो किन्तु यह विनोद शीलयुक्त, शिष्ट और सोद्देश्य होना चाहिए। इसमें छात्रोंको मूर्ख बनाने और अपमानित करनेकी प्रवृत्ति कभी नहीं होनी चाहिए।

त न

विनयकी रक्षाके लिये बारबार छात्रोंको चुप रहने, एकाग्रचित्त होने, ठीक बैठने आदिके लिये घुड़कते रहना या प्रार्थना करना अध्यापककी अक्षमताके चिह्न हैं। श्रेष्ठ अध्यापक तो अपनी तर्जनी दिखाकर या केवल आँखोंसे ही अपना काम निकाल लेता है। निरन्तर अधिकार और आतंक जमाते चलना अध्यापककी प्रतिष्ठा तथा यशके लिये परम घातक है। अधिकार जताने और डाटने-फटकारनेसे बालक तत्काल भले ही डरकर चुप हो जायँ किन्तु उनके मनमें आपके प्रति श्रद्धा समाप्त हो जायगी। यों भी ये बातें कुसंस्कारकी ही द्योतिका हैं। आप विद्याका आतंक जमाइए, अपनी पाशविक शक्तिका नहीं। इसका यह अर्थ नहीं कि आप छात्रोंको कभी डाटिए नहीं। डाटिए अवश्य, किन्तु नित्य नहीं, अभ्यासवश नहीं, नियमतः नहीं, अपितु कभी प्रसंगवश अवसर पड़नेपर ही, कभी बरस-छःमहीनेमें एक बार, और ऐसा डाटिए कि बस फिर कोई सिर उठानेका नाम न ले। डाटनेके उचित अवसरके परिज्ञानके लिये अपने विवेकसे काम लीजिए।

विनयमें एकरूपता

अपना विनयका क्रम नियमित रखिए। आज सिंह और कल बकरी बननेसे काम नहीं चल सकता। आपको ऐसा मध्यम मार्ग अपनाना चाहिए जिसमें न अधिक कठोरता हो न अधिक मृदुता। अवसर-अवसरपर उसे तनिकसा घटा-बढ़ाकर उसका बलांश बनाए रखिए।

विनयकी समस्याका कोई एक समाधान नहीं है। अनुभव और मानव-स्वभावके अध्ययनसे ही मनुष्य अधिकाधिक सीखता और समझता चलता है कि किस अवसरपर, किस साधनका अवलम्ब लेनेसे उद्दिष्ट फल प्राप्त हो सकता है।

विनय (डिसिप्लिन) और शील (टोन) में अन्तर

विनय सामाजिक शिष्टाचारका वह अंग है जो दूसरोंके प्रति आदर, स्नेह, सद्भाव और सुविधा प्रदर्शित करनेके लिये व्यवहारमें लाया जाता है और उसका व्यवहार सभ्यताका द्योतक समझा जाता है। जिस व्यक्तिसे हम घृणा करते हैं उससे भी प्रत्यक्ष मृदु व्यवहार करना भी विनयके अन्तर्गत आ जाता है। किन्तु शील इससे भिन्न है। शीलयुक्त पुरुष, सच्चे मनसे दूसरोंका उपकार मानता है, दूसरोंके छोटेसे गुणको भी बढ़ाकर कहता है, अपनी बड़ाई सुनकर सकुचाता है, मन, वचन और कर्मसे कभी दूसरेको कष्ट पहुँचाने या दूसरोंकी वस्तु लेनेकी इच्छा नहीं करता, कभी किसीपर क्रोध नहीं करता और निरन्तर दूसरोंकी सेवा और दूसरोंका उपकार करना ही अपना धर्म समझता है।

विद्यालयमें शील-भावना

किसी विद्यालयमें शान्ति, सुस्थिरता या छात्रोंको एक पंक्तिमें चलते देखकर यह नहीं समझना चाहिए कि यहाँ शील भी है। शील तो व्यक्ति या वर्गका वह आन्तरिक स्वाभाविक गुण है जो उसे सब स्थितियोंमें समान रूपसे हितकर आचरणके लिये प्रेरित करता रहता है। शीलवान् पुरुषके चरित्रमें दुहरे आचरणका अभाव होता है। वह मन, कर्म और वचन तीनोंमें सदा एकरस तथा एक-भाव रहता है।

शील-सिद्धिके साधन

विद्यालयमे सामाजिक स्वस्थताके लिये बाह्य विनय तो अपेक्षित है ही किन्तु अन्तःशील उससे भी अधिक आवश्यक है। यह तभी हो सकता है जब पारस्परिक सेवा, सहयोग, धार्मिक भावना, महापुरुषोंके जीवन-चरितका मनन, सभा-समाजका संस्कार तथा आदर्श अध्यापकोंके उदाहरण उन्हें निरन्तर अनुप्राणित और प्रोत्साहित करते रहें। प्रत्येक विद्यालयके आचार्यका यह पहला धर्म है कि वह विद्यालयमें शील और विनयका वातावरण व्याप्त करनेका निरन्तर सचेष्ट होकर प्रयत्न करता रहे।

———

७

पाठ्यक्रम तथा समय-चर्या

पाठ्यक्रम-निर्धारणके कुछ अत्यन्त व्यावहारिक सिद्धान्त हैं। उन्हें समझनेके लिये हमें पहले यह जान लेना चाहिए कि हम—

१. किसे शिक्षा दे रहे हैं ?

२. क्यों दे रहे हैं ?

३. क्या दे रहे हैं ?

४. किस प्रकारसे दे रहे हैं ?

'किसे' का उत्तर तो सीधा है कि हम अपने देशके उन छात्रोंको शिक्षा दे रहे हैं जो विभिन्न मानसिक तथा बौद्धिक अवस्थाके कारण विभिन्न कक्षाओंमें प्रवेश प्राप्त करने आते हैं। 'क्यों' का उत्तर पीछे दिया जा चुका है कि 'बालक' के सर्वांगीण विकासके लिये शिक्षा दी जानी चाहिए, विशेषतः इसलिये कि बालकोंको—

१. अपने मन, अनुभव तथा ज्ञानकी बात शुद्ध, कलात्मक, मधुर तथा प्रभावोत्पादक भाषामें मौखिक अथवा लिखित रूपसे व्यक्त करने तथा दूसरोंकी कही या लिखी हुई बात समझनेकी शक्ति प्राप्त हो। [भाषाका ज्ञान]।

२. समाजमें शील, सद्भावना, सदाचार और सेवा-भावसे व्यवहार करनेकी योग्यता हो। [नीति, शिष्टाचार, इतिहास तथा सामाजिक प्रवृत्तियोंमें कार्य करनेका व्यवहार-ज्ञान]।

३. सम्मानपूर्ण व्यवसायसे जीविका कमानेका सामर्थ्य हो। [गणित, भूगोल तथा अन्य शास्त्र, शिल्प या विज्ञानोंका अध्ययन]।

४. स्वस्थ होकर दूसरोंके श्रद्धाभाजन बनने और दुर्बलोंकी रक्षा तथा सहायता करनेकी शक्ति प्राप्त हो। [व्यायाम]

५. अपना मानसिक तथा कलात्मक संस्कार करके सौन्दर्य-भावना पल्लवित करनेकी वृत्ति हो। [चित्रकला तथा संगीत]।

अतः, केवल 'क्या' और 'किस प्रकारसे' का उत्तर देना ही शेष रह जाता है। इनमेंसे 'क्या'का सम्बन्ध पाठ्यक्रम (सिलेबस) से है और 'किस प्रकारसे' का सम्बन्ध पाठन-प्रणाली (मेथड) से।

पाठ्यक्रम-निर्धारणके तीन मोटे-मोटे विश्वमान्य सिद्धान्त हैं—

१. मौखिक शिक्षासे आरंभ करके लिखिततक पहुँचाया जाय।
२. प्रकृति-अध्ययनसे प्रारम्भ करके ग्रंथ-अध्ययन तक पहुँचाया जाय।
३. खेल-कूदके द्वारा स्वयं-शिक्षासे आरम्भ करके गंभीर अध्यापित शिक्षातक पहुँचाया जाय।

शिक्षण-व्यवस्था

किन्तु इन उद्देश्योंकी सिद्धिके लिये भाषा, नीति, शिष्टाचार, इतिहास, समाज-विज्ञान, गणित, विज्ञान, व्यायाम, चित्रकला तथा संगीतके अध्ययन और शिक्षणकी उचित व्यवस्था होनी चाहिए। इनमेंसे सब विषयोंको आगे-आगेकी कक्षाओंमें निम्नलिखित क्रम और रूपसे व्यवस्थित करना चाहिए—

विषय-क्रम

भाषा : [मौखिक तथा लिखित] अक्षर-लेखन, कहानी, वर्णन, पत्र-लेखन, कविता, नाटक आदिके द्वारा।

नीति, शिष्टाचार तथा व्यवहार-ज्ञान : [मौखिक उदाहरण द्वारा]। सामाजिक व्यवहारके अवसरोंपर।

इतिहास : [मौखिक] ऐतिहासिक कहानियाँ और महापुरुषोंके जीवन-चरित सुनाकर। [इतिहास सदा मौखिक ही सुनाना चाहिए]। [लिखित] इतिहासकी पोथियाँ पढ़ाकर।

गणित : [मौखिक] गिनती, पहाड़े, गुर, मौखिक जोड़, घटाना, गुणा, भाग।
[लिखित] सब प्रकारका व्यावहारिक गणित।

विज्ञान : [मौखिक तथा प्रत्यक्ष ज्ञान] जीवजन्तु, पेड़-पौधोंके रूप, प्रयोग और प्रकृतिका प्रत्यक्ष व्यावहारिक परिचय देकर।

व्यायाम : प्रातःकाल और सायंकाल व्यवस्थित व्यायाम तथा खेलकी व्यवस्था करके, जिसके पश्चात् पौष्टिक जलपानका प्रबन्ध हो।

चित्रकला : प्रायोगिक अभ्यास-द्वारा।

संगीत : समवेत अभ्यास-द्वारा।

पाठ्य-विषयोंके प्रकार

'क्या पढ़ाया जाय' अर्थात् पाठ्य विषयोंमेंसे कुछ तो हमारे व्यक्तिगत संस्कारसे संबद्ध हैं, जैसे भाषा, साहित्य, इतिहास तथा धर्म (या दर्शन); कुछ हमारे सामाजिक जीवनसे सम्बद्ध हैं, जैसे भूगोल, नागरिक-शास्त्र, अर्थ-शास्त्र और गणित; और कुछ हमारे मानसिक संस्कार तथा कलात्मकताको उद्बुद्ध करते हैं, जैसे संगीत, चित्र-कला, मूर्ति-कला, काव्य-कला आदि। इसके अतिरिक्त मनुष्यकी भावी वृत्तिमें सहायक होनेवाले विषयोंकी कोई सीमा और संख्या नहीं है। उनके अन्तर्गत खेती, व्यवसाय, आयुर्वेद, लकड़ी-लोहेका काम, घर बनानेका काम, भोजन बनानेका काम, न्याय-विधान (लॉ या कानून), राजनीति, यंत्र क्रिया, शास्त्रविद्या आदि सब प्रकारकी विद्याएँ आ सकती हैं। कुछ विषय हमारी सृष्टि-विषयक जिज्ञासाको तृप्त, तुष्ट और जागरित करते हैं जैसे विज्ञान और उसके अनेक अंग, विशेषतः जीवविज्ञान (ज़ूओलौजी), वनस्पति-विज्ञान (बौटनी), भौतिक-विज्ञान (फ़िज़िक्स) तथा रसायन-विज्ञान (केमिस्ट्री) आदि।

किस क्रमसे पाठ्य विषय रक्खे जायँ ?

प्रारम्भमें केवल भाषा-ज्ञान और सरल मौखिक गणितका ही अभ्यास कराना चाहिए। प्रारंभिक मौखिक भाषा-ज्ञानमें साधारण शिष्ट-व्यवहार, सूक्तियाँ, दोहे, श्लोक, सूत्र आदि तथा गिनती, पहाड़े और गुर कंठस्थ करा देने चाहिएँ क्योंकि यही अवस्था (चारसे सात वर्ष तककी) ऐसी होती है जिसमें बालक सरलतासे रुचिपूर्वक कंठस्थ कर लेते हैं। उसी समय

बालकको अधिकसे अधिक वस्तुओं, विषयों तथा स्थानोंका परिचय भी करा देना चाहिए।

इसके पश्चात् ऐसी पुस्तकोंका वाचन कराना चाहिए जिनमें जीव-जन्तुओं और मनुष्योंकी प्रकृतिका परिचय हो। उसके पश्चात् वाचनकी पुस्तकोंमें ही स्वास्थ्य, भूगोल, ऐतिहासिक कहानियाँ तथा नीति-शिष्टाचार आदिका समावेश करा देना चाहिए अर्थात् भाषाकी पुस्तकोंमें ही अन्य पाठ्य-विषयोंका समावेश भी कर लेना चाहिए। बहुत आगे चलकर इतिहास तथा भूगोलको अलग विषय बनाकर शिक्षा देनी चाहिए किन्तु विद्यालयके प्रथम छह वर्षोंमें भाषाकी पुस्तकको छोड़कर कोई दूसरी पुस्तक बालकोंको नहीं देनी चाहिए। शिष्टाचार, शील तथा विनयकी शिक्षाके लिये ऐसे अवसर तथा संयोग उपस्थित करने चाहिएँ कि अपने गुरुओंके व्यवहारसे ही वे सब कुछ सीख जायँ। विषयोंका क्रम और विस्तार सदा बालककी मानसिक समर्थताके विचारसे रखना चाहिए अर्थात् सब विषय 'क्रमशः बढ़ाते चलनेकी प्रणाली' (अनुक्रम-वृद्धि या कन्सेंट्रिक मेथड) से निर्धारित करने चाहिएँ।

पाठ्यक्रममें कौनसे विषय नहीं रखने चाहिएँ

छात्रोंके शासन अथवा विशेषज्ञोंके लिये जो विषय हों उन्हें पाठ्यक्रममें कभी नहीं रखना चाहिए जैसे मनोविज्ञान, जीव-विज्ञान, कामशास्त्र, शिक्षाशास्त्र, शरीरशास्त्र तथा नागरिकशास्त्र (नगरपालिका, जनपद-पालिका तथा राष्ट्र-शासनका अंश), क्योंकि इनके पढ़नेसे छात्र अपने अध्यापकोंकी वृत्तियोंका विश्लेषण करने लगेगा, उस ज्ञानसे दूसरोंको ठगनेका विचार करेगा या उसके मनमें ऐसे मानसिक द्वन्द्व या संशय उत्पन्न हो जायँगे कि उससे मानसिक व्यथा भी उत्पन्न हो सकती है। आजकलकी आधार-(बेसिक) शिक्षामें केवल हस्तकौशल ही न रखकर आयुर्वेद-जैसे विषय भी रखने चाहिएँ जिससे वास्तविक जीविका-साधनके साथ लोक-कल्याण भी साधा जा सके। यों भी हस्तकौशलको शिक्षाका आधार बनानेके बदले भाषाको आधार बनाना अधिक श्रेयस्कर है।

पुस्तकोंके बदले पाठ्य विषय

पुस्तकोंके लेखन, मुद्रण, प्रकाशन तथा पाठ्य-योजनामें फैले हुए भ्रष्टाचारको देखते हुए पाठ्यक्रममें केवल इतना ही निर्देश होना चाहिए कि किस कक्षामें कौनसे विषयका कितना अंश पढ़ाया जाय। पुस्तकोंका निर्धारण तथा विषय-क्रम आदि अध्यापकोंपर छोड़ देना चाहिए।

पाठ्य-विषयोंकी उपादेयता

पाठ्यक्रम ऐसा होना चाहिए कि उस बालकके विवेक, निरीक्षण-कौशल, परीक्षण-सामर्थ्य, विवेचना-शक्ति, कल्पना, विचार, चरित्र और विवेकका विकास हो। फुर्तीला और स्वस्थ शरीर, आत्म-संयम, आत्मावलम्बन, पवित्र चरित्र, विचारशील मस्तिष्क और विवेकवती बुद्धि जिसके पास होगी वह जीवनके किसी भी अखाड़ेमें पछाड़ नहीं खा सकता।

पाठ्यक्रम कैसे व्यवस्थित किया जाय ?

उदार उद्देश्यों और उच्च आदर्शोंके अनुसार अपना विद्यालय चलानेवाले आचार्यके लिये आवश्यक है कि वह अपना पाठ्यक्रम निम्नलिखित परिस्थितियोंके अनुसार व्यवस्थित और समन्वित करे—

(१) शिक्षा-विभाग-द्वारा निर्धारित पाठ्य-क्रम।
(२) स्थानीय देश-कालानुरूप परिस्थितियाँ और आवश्यकताएँ।
(३) विद्यालयमें आनेवाले विद्यार्थियोंकी शारीरिक और बौद्धिक स्थिति।
(४) स्थानीय जलवायु, स्वास्थ्य और प्राकृतिक वातावरण।
(५) अध्यापकोंकी योग्यता और संख्या।
(६) विद्यालयका भवन और सामग्री।
(७) पढाईकी अवधि।
(८) अन्य स्थानीय विशेषताएँ।
(९) सामाजिक और राष्ट्रीय आवश्यकता।

परिस्थितिका क्या अर्थ है ?

जिस वातावरणमें विद्यालय स्थित हो वहाँके लोगोंके विचार और

उनकी आवश्यकताएँ ध्यानमें रखते हुए शिक्षा-विभाग-द्वारा निर्धारित पाठ्यक्रम पूरा करते चलना चाहिए। कानपुर-जैसे किसी व्यापारी नगरके पास स्थित विद्यालयके छात्रोंको कृषि सिखाना, बम्बई-जैसे पुतलीघरोंसे भरे हुए नगरके विद्यालयमें दर्शनकी शिक्षा देना और काशी-जैसे सांस्कृतिक नगरके विद्यालयोंमें यांत्रिक शिक्षा देना वैसा ही है जैसे दूर-दृष्टिवालेको पास दृष्टिका और पास-दृष्टिवालेको दूर-दृष्टिका चश्मा देना। अतः, आचार्यको शिक्षा-विभाग-द्वारा निर्धारित विषयोंको इस प्रकार व्यवस्थित करना चाहिए कि छात्रोंकी मुख्य रुचि और प्रवृत्तिको अधिक समय और महत्त्व दिया जाय और यदि स्थानीय परिस्थितियोंके अनुसार कुछ विषय बढ़ानेकी आवश्यकता हो तो निःसंकोच छात्रोंके हितकी दृष्टिसे ऐसे विषय स्वयं बढ़ा लिए जाएँ, भले ही शिक्षा-विभागने उनकी स्वीकृति न दी हो।

समय-चर्या (टाइम-टेबिल)

पाठ्यक्रमके पश्चात् दूसरा स्थान दैनिक कार्य-विभाजन या समय-चर्याका है। यह जितने अधिक कौशलके साथ निर्माण की जायगी उतना ही अधिक पाठ्यक्रम सुव्यवस्थित होगा। समय-चर्या-निर्माण करनेमें यह ध्यान रखना चाहिए कि पाठ्यक्रमकी भी पूर्ति हो, कक्षाकी आवश्यकताएँ भी पूरी हों, विभिन्न कक्षाओंके पाठ्य-क्रममें भी परस्पर संघर्ष न हो, छात्रोंको थकावट न हो और वे एक दूसरेसे सम्बद्ध तथा अन्योन्याश्रित हों।

समय-चर्या-विधान

प्रत्येक कक्षाकी समय-चर्यामें—

(१) पाठ्य-क्रमके सब विषय आ जायँ और उन्हें सानुपात समय दिया जाय।

(२) कौनसा विषय दिनके किस पहरमें, किस समम पढ़ानेसे छात्रोंको कितना मानसिक श्रम करना पड़ेगा इस दृष्टिसे प्रत्येक विषय उपयुक्त समयपर रक्खा जाय।

(३) प्रत्येक पाठके लिये उचित समय (कमसे कम चालीस मिनट) दिया जाय।

(४) एक कक्षाके विभिन्न घंटोंमें बारी-बारीसे मौखिक और लिखित कार्यकी व्यवस्था हो।

(५) मनोविनोद, शारीरिक शिक्षा, स्वाध्याय, पुस्तकालय-प्रयोग तथा व्यवस्थित खेलोंके लिये उचित समय दिया जाय।

(६) जिन विभिन्न कक्षाओंको एक साथ मिलाकर पढ़ाया जा सके उनका ध्यान रक्खा जाय।

(७) जिन विषयोंके अध्ययनमें अधिक मानसिक श्रम पड़ता हो वे दिनके प्रारम्भिक समयमें रक्खे जायँ और जिनमें मानसिक श्रम कम पड़ता हो वे दैनिक कार्यके पिछले भागमें रक्खे जायँ। जिन विषयोंके पढ़नेमें अधिक मानसिक श्रम पड़ता हो उन्हें यदि किसी दूसरे समयमें रखना अनिवार्य हो तो उससे पहले, छात्रोंको विश्राम अवश्य मिल चुका रहना चाहिए अर्थात् बीचकी छुट्टी या जलपानकी छुट्टीके अनन्तर भी गणित आदि कठिन विषय रक्खे जा सकते हैं।

(८) सब अध्यापकोंको इस क्रमसे समान कार्य दिया जाय कि किसीको लगातार पढ़ाते ही न रहना पड़ जाय, उन्हें लिखित कार्य करने और बीच-बीचमें भी विश्राम करनेकी व्यवस्था हो।

(९) जिन विषयोंको ध्यानसे, अधिक कौशलसे पढाना हो उन्हें अधिक समय (बड़े घण्टे और सप्ताहमें अधिक घंटे) देना चाहिए।

(१०) प्रयोगात्मक विषयों (चित्रकला, हस्त-कौशल, संगीत, विज्ञान, कृषि, बढ़ईगिरी आदि) के लिये दिनके अन्तिम भागमें लम्बे घंटे (८० मिनट तकके) देने चाहिएँ।

(११) वर्णनीय विषयों (इतिहास, भूगोल, अर्थशास्त्र, नागरिक शास्त्र आदि) के लिये छोटे घंटों और मौखिक शिक्षणकी व्यवस्था होनी चाहिए। ये विषय यथासम्भव श्रव्य-दृश्य प्रणाली (औडियो विजुअल मेथड) से पढ़ाने चाहिएँ।

(१२) प्रतिदिन छह घंटे और प्रति घंटे ४५ मिनटसे अधिककी पढ़ाई नहीं रखनी चाहिए।

(१३) दिनचर्या दो प्रकारसे बनाई जाय — १. कक्षा-क्रमसे (क्लास-वाइज़) और २. अध्यापक-क्रमसे (टीचर-वाइज़) ।

छात्रावासकी दिनचर्या

विद्यालयकी दिनचर्याके अतिरिक्त छात्रावासकी दिनचर्या भी प्रातःकालसे लेकर विद्यालय जानेतक तथा विद्यालय-समाप्तिसे लेकर रात्रि-शयन तकके लिये बना लेनी चाहिए । इस दिनचर्याकी भी एक प्रति आचार्यके कार्यालयमें रहनी चाहिए जिससे वह किसी भी समय जाकर छात्रावासका तदनुसार निरीक्षण कर सके ।

व्यक्तिगत दिनचर्या

इसके अतिरिक्त अध्यापकों और कक्षाध्यापकोंको कक्षाके प्रत्येक छात्रकी आवश्यकताके अनुसार उनके गृहाध्ययन तथा स्वास्थ्यके लिये दैनिक चर्या निश्चित कर देनी चाहिए जिसमें ध्यान रहे कि—

१. रटनेका काम तड़के सूर्योदयसे एक घंटे पहलेसे हो ।
२. लिखने-पढनेका काम दिनमें हो, रातको न हो ।
३. कथा-वार्त्ता सुननेका काम रातको हो ।
४. गर्मीमें दिन दोपहरको और बरसातमें ऊमसके दिनोंमें पढ़नेका काम कम हो । वर्षामें परिभ्रमणका और गर्मीमें कथा-कहानी सुनाकर या खुले वायु-पूरित स्थानमें शिक्षाप्रद नाटक या चल-चित्र दिखाकर शिक्षा देनेका विधान हो ।

दिनचर्यामें अन्य कार्य

इनके अतिरिक्त वार्षिक वर्षचर्या भी बना लेनी चाहिए जिसमें वर्षके पर्व, उत्सव, भ्रमण, नाटक, प्रतियोगिता, खेल, परीक्षा तथा अन्य प्रवृत्तियोंकी तिथियोंके कार्योंका पूरा विवरण हो ।

द्विकाल-विधान

बहुतसे शिक्षा-शास्त्रियोंका मत है कि दैनिक पढ़ाई दो खेवोंमें होनी चाहिए—तीन घंटे प्रातःकाल और दो घंटे सायंकाल । मानसिक श्रम तथा

अधिक विवेचनवाले विषय प्रातःकाल पढ़ाए जायँ तथा संगीत, शिल्प, हस्त-कौशल तथा शारीरिक श्रमके विषय तीसरे पहर सिखाए जायँ और उसके अनन्तर सूक्ष्म जलपानके पश्चात् सब विद्यार्थियोंको खेलके लिये भेज दिया जाय। भारतवर्षमें भी यह प्रणाली अधिक लाभकर हो सकती है। भारतीय शिक्षा शास्त्रियोंका उसके विरुद्ध एक ही तर्क है कि छात्र और अध्यापक विद्यालयमें तो रहते नहीं। उनके लिये दो बार आना-जाना असुविधा-जनक है क्योंकि बहुतसे छात्र भी कोसोंसे पढ़ने आते हैं और उनकी आर्थिक स्थिति भी इतनी अच्छी नहीं होती कि वे गंभीर जलपानके द्वारा आने-जानेके श्रमकी पूर्ति कर सकें। किन्तु गुरुकुल-विद्यालयों (रेज़िडेन्शल स्कूल्स) में यह प्रणाली काममें लाई जानी चाहिए।

घरका काम

बालकोंके शारीरिक ह्रासका कारण घरका काम (होम-वर्क) भी है। बालकके सिरपर सभी अध्यापक अपने-अपने काम इस प्रकार लाद देते हैं आधीरात तक जागकर, जितना कुछ उसके सामर्थ्यसे हो सकता है वह सब पूरा करके विद्यालयमें लानेका प्रयत्न करता है, फिर भी वह सब पूरा नहीं होता और बालकको दण्ड भी सहन करना पड़ता है। इस अनियमित, अस्वास्थ्यकर कार्य-क्रमसे उसका शरीर भी क्षीण होने लगता है और डण्डेकी मारसे उसकी मानसिक क्षीणता भी बढ़ती चलती है। अभिभावक भी समझते हैं कि विद्यार्थीको खेलना-कूदना छोड़कर दिनरात पुस्तकोंसे उलझे रहना चाहिए। वे नहीं समझते कि कोमल देह और कोमल मतिके बालकको पाँच या छह घण्टे विद्यालयमें अध्ययन कराना ही इतना पर्याप्त है कि उससे अधिक न तो उसे पढ़ाना चाहिए और न वह पढ़ पा सकता है। विद्यालयकी पढ़ाईके पश्चात् उसके लिये केवल एक ही कार्य रह जाता है खेलना-कूदना। वह जितना अधिक खेले-कूदेगा, जितना अधिक अपने अङ्ग-प्रत्यङ्गको गतिशील करेगा, उतना ही अधिक अगले दिनके पाठको रुचिपूर्वक, एकाग्रताके साथ ग्रहण करनेमें समर्थ हो सकेगा क्योंकि इस खेल-कूदसे उसमें स्फूर्ति आवेगी, उसके मनमें

उत्साह और उल्लास भरेगा और उसके मनकी थकावट मिटेगी। उसे विश्राम भी चाहिए, जिससे उसका शरीर स्वाभाविक रूपसे विकसित हो। अतः, घरपर उसे सादे पौष्टिक भोजन, विश्राम तथा खेलसे शरीर बनानेके लिये छोड़ देना चाहिए।

घरकी पढ़ाई

इसका यह अर्थ नहीं कि बालक घरपर कुछ भी न पढ़े। किन्तु घर पढ़े जानेवाले विषयमें यह स्वतन्त्रता होनी चाहिए कि बालक अपनी प्रकृति और रुचिके अनुसार विभिन्न विषयों और सुव्यसनोंमें समय लगा सके। कुछ न कुछ इस प्रकारका कार्य घरपर करनेके लिये अवश्य देते रहना चाहिए जिसे वह रुचिपूर्वक कर सकता हो, जो कक्षाकी पढ़ाईसे तनिक भी सम्बद्ध न हो, जिससे विद्यार्थीका ज्ञान भी बढ़े और जिसमें वह क्रियाशील भी हो सके। यदि घरका कार्य देना ही हो तो सब अध्यापक बारी-बारीसे काम दें एक साथ नहीं।

कामचोर बालक

कुछ बालक आलसी और कामचोर तथा कुछ मन्दबुद्धि भी होते हैं। ऐसे बालक जो कुछ सीख-पढ़ पाते हैं उसकी न तो उद्धरणी करते हैं, न उसे दूसरी बार विचार करते हैं। ऐसे बालकोंके अभिभावक प्रायः उन्हें घरपर पढ़ानेके लिये कोई अध्यापक नियुक्त कर लेते हैं। इस प्रकारका गृहाध्यापन यद्यपि बालकोंको पराधीन और परमुखापेक्षी बना देता है किन्तु इससे इतना लाभ तो होता है कि बालक अपने विद्यालयके कामको नियमित रूपसे पूरा करता चलता है।

८

शरीर-संस्कार और व्यवस्थित खेल

शरीर-संस्कार (फ़िजिकल कल्चर) का लक्ष्य यह है कि छात्रोंसे इस प्रकारके व्यायाम कराए जायँ कि उनका शरीर स्वस्थ रहे और उनकी शारीरिक दुर्बलताएँ दूर हों।

छात्रोंके स्वास्थ्य-रक्षणपर दो दृष्टियोंसे विचार किया जाता है—१. उनके शरीरकी प्रकृति और २. शरीर-संवर्द्धनके नियम। बालकका शरीर जितना मानसिक और बौद्धिक श्रम सहन कर सकता हो उतना तो उसपर बौद्धिक भार डालना चाहिए और उसके स्वाभाविक शरीर-संवर्द्धनके लिये जितना श्रम तथा उपचार आवश्यक हो उतने ही व्यायाम और खेलका प्रबन्ध उसके लिये करना चाहिए। वैज्ञानिकोंने बालकोंकी शारीरिक उन्नति, रोग तथा विशेषताओंका अध्ययन करके उनकी ज्ञानेन्द्रियों (कान, आँख, नाक, मुँह) में उत्पन्न दोषों तथा वर्षकी विभिन्न ऋतुओंमें उत्पन्न होनेवाले रोगोंकी जाँच करके उन्हें दूर करनेके भी विधान समझाए हैं। ये रोग और दोष छात्रोंके अध्ययनमें अत्यन्त बाधक होते हैं। अतः, प्रतिमास छात्रोंका स्वास्थ्य-परीक्षण कराकर उनके अभिभावकों, नगरपालिकाओं और जनपद-मंडलोंके स्वास्थ्य-विभागसे सहायता लेते रहनी चाहिए। भारतीय विद्यालयोंमें केवल स्वास्थ्यकी उपेक्षा ही नहीं की जाती वरन् स्वास्थ्य नष्ट करनेके लिये नियमित आयोजन भी किए जाते हैं जैसे—भोजन करके आए हुए छात्रोंसे वर्षा, सर्दी और धूपमें व्यायाम कराना, सभा-भवनोंमें गर्मीके दिनोंमें छात्रोंको अधिक देरतक रोक रखना, सभा-भवनोंके द्वार बन्द करके छात्रोंको चल-चित्र दिखाना, खेलके पश्चात् हिममय ठंडा पानी पिलाना और भोजन करके पाठशाला दौड़ जानेको विवश करना आदि।

स्वास्थ्यका अभ्यास

स्वास्थ्यके लिये छात्रोंको कुछ स्वच्छताके अभ्यास भी डलवा देने चाहिएँ जैसे—नियमसे स्नान करना, वस्त्र स्वच्छ रखना, काग़ज़ तथा कपड़े इधर-उधर न फेंकना, कूड़ा न करना, इधर-उधर न थूकना न लघुशंका करना मैले अँगोछे या कपड़ेसे आँख-मुँह न पोंछना, कुछ भी खानेके पश्चात् भली प्रकार दाँत माँजकर मुँह धोना, मुँहमें अंजनी (पेन्सिल) या कलम न डालना थूकसे पन्ने न पलटना, नख न चबाना आदि ।

साधारण नियम

शारीरिक संस्कारके लिये प्रातःकाल सूर्योदयसे पूर्व या सूर्योदयके समय शौचके अनन्तर दससे पन्द्रह मिनट तक (अधिक नहीं) स्फूर्तिदायक शारीर-संचार (एजिलिटी एक्सरसाइज़) कराना चाहिए और उसके पश्चात् तत्काल निकाले हुए जलसे स्नान कराकर (ठंडे या गर्मसे नहीं) धीरे-धीरे वस्त्र बदलवा देने चाहिएँ । पहले 'स्वस्थ शरीरमें स्वस्थ मस्तिष्क' (साउंड माइण्ड इन ए साउंड बौडी) का सिद्धान्त मान्य था किन्तु अब 'फुर्तीले शरीरमें व्यवहारशील मस्तिष्क' (प्रेक्टिकल माइंड इन एन् एजाइल बौडी) का सिद्धान्त मान्य हो गया है । भोजनसे एक घंटा पहले तथा तीन घंटे पीछे-तक कोई शारीरिक व्यायाम, दौड़धूप या शारीरिक परिश्रम कराना साक्षात् मृत्युको निमन्त्रण देना है । व्यायाम और खेल भी बालकोंके शरीरकी आवश्यकता और समर्थताके अनुरूप ही रखना चाहिए । व्यायामके पश्चात् जब रक्त-संचालनकी गति सुस्थिर हो जाय और पसीना सूख जाय तब गर्म दूध, गर्म हलवा या भिगोया हुआ चना और पीनेको गुनगुना पानी अवश्य देना चाहिए । व्यायाम और खेलके पश्चात् ठंढा जल कभी नहीं देना चाहिए । सूखा व्यायाम भी शरीरका भयानक शत्रु है । इससे क्षय, श्वास तथा रक्तचापके रोग हो जाते हैं इसलिये व्यायामसे कुछ देर अनन्तर कुछ पोषक पदार्थ शरीरको मिलना ही चाहिए । जहाँ व्यायाम कराया जाय वहाँ-का वायु स्वच्छ हो किन्तु अति शीत न हो । अति शीत वायुमें खुला व्यायाम अत्यन्त हानिकर होता है । जाड़ेके दिनोंमें भीतर कमरेमें व्यायाम कराना

चाहिए किन्तु व्यायाम कराकर तत्काल बाहार नहीं निकालना चाहिए। व्यायामके पश्चात् हल्के और ढीले वस्त्र पहनाने चाहिएँ। व्यायामसे शरीरके सब अंगोंको समान श्रम मिलना चाहिए, इसलिये क्रमशः शरीरके सब अंगोंका संवर्द्धन और संस्कार करानेवाला व्यायाम ही कराना चाहिए।

शारीरिक संस्कारके अंग

शरीर-संस्कारके लिये विद्यालयमें निम्नलिखित व्यवस्थाएँ की जाती हैं—

१. साधारण व्यायाम : जिसमें खेल और स्वास्थ्यके अभ्यास भी सम्मिलित हैं।

२. व्यवस्थित शारीरिक व्यायाम : (मलखम्भ तथा जिमनास्टिक आदि)।

३. व्यवस्थित खेलकूद (कबड्डी, हौकी फुटबौल, वौलीबौल, आदि)।

४. उच्चतर शारीरिक संस्कार (मल्लयुद्ध तथा अन्य विशेष शारीरिक व्यायाम)।

आजकल दो प्रकारसे शारीरिक शिक्षाका विधान किया जा रहा है— १. बालकोंके साधारण शारीरिक विकासकी दृष्टिसे और २ उनकी मानसिक स्वस्थताकी दृष्टिसे। हेथरिंग्टनने शारीरिक स्वस्थता बनाए रखने और शारीरिक संवर्द्धनके लिये निम्नांकित कार्य-योजना बताई है किन्तु इसे व्यायाम-योजना नहीं समझना चाहिए—

५ वर्षके बालकके लिये—चार घंटेको स्नायुक्रिया (पुट्ठोंका संचालन या मस्कुलर एक्टिविटी)

७ से ९	,,	५ घंटे	स्नायुक्रिया	१ घंटे	बौद्धिक कार्य
६ से ११	,,	६ घंटे	,,	२ ,,	,,
११ से १३	,,	५ घंटे	,,	२ ,	,,
१४ से १६	,,	४ घंठे	,,	३ ,,	,,
१६ से १८	,,	३ घंटे	,,	३ ,,	,,
१८ से २०	,,	२ घंटे	,,	४ ,,	,,
२० से ऊपर	,,	१ घंटे	,	४ से ५ ,,	,,

किसी भी व्यक्तिको ५ घंटेसे अधिक बौद्धिक कार्य नहीं करना चाहिए।

और ५ घंटे भी तब, जब वह कमसे कम एक घंटे नियमित पुट्ठोंका व्यायाम (मस्कुलर एक्सरसाइज़) करता हो। इतना व्यायाम करनेवाला जो व्यक्ति बौद्धिक कार्य करता है वह स्वयं अपना काल बन जाता है। प्रत्येक बालकको भोजन करनेके पश्चात् कमसे कम आध घंटे विश्राम करनेका अवसर दिया जाय तो अन्न शरीरको लगे और उसका स्वास्थ्य बढे। आजकल हमारे विद्यालयोंके छात्रोंमें जो शारीरिक ह्रास दिखाई पड़ रहा है, उसका एकमात्र कारण यह है कि भोजन करके ही छात्रको विद्यालय भागना पड़ता है।

खेलका उद्देश्य

प्रायः नये विद्यालयोंके साथ खेलनेके मैदान भी लगे रहते हैं जहाँ नियमित रूपसे, दल-क्रमसे सभी विद्यार्थी सप्ताहमें दो या तीन बार सामूहिक खेल खेल लेते हैं। इन खेलोंका लक्ष्य यह है कि बालकका स्वास्थ्य बढे, उसके शरीरमें फुर्ती आवे और वह बहुत लोगोंके साथ मिलकर, दल बनाकर, पारस्परिक सहयोगकी या संघ (एस्प्रित द कोर)की भावना उत्पन्न कर सके। क्रिकेट, हौकी, फुटबौल, कबड्डी आदि खेल पारस्परिक सहयोगकी भावना पुष्ट करते हैं क्योंकि उनमें व्यक्तिगत स्वार्थ छोड़कर दल-हितकी भावना निहित रहती है। सामाजिक जीवनके लिये सामूहिक हितकी भावना अत्यन्त आवश्यक है। इस प्रकारके खेलोंसे फुर्ती भी आती है और शरीरमें रक्त-प्रवाह भी गतिसे होता है। सामूहिक भावना पुष्ट करनेके लिये अध्यापकोंको, विशेषतः आचार्यको, छात्रोंके साथ मिलकर खेलना चाहिए और अवसर-अवसरपर पारस्परिक व्यवहारकी शिक्षा भी देते रहना चाहिए। जो अध्यापक स्वयं न खेल सकते हों वे खेल खेलानेकी व्यवस्था ही करें और यदि उतना भी न कर सकते हों तो दूसरे छात्रोंके द्वारा उसकी व्यवस्था कराकर स्वयं उसका निरीक्षण करें। कमसे कम आचार्योंको तो विभिन्न खेलोंके नियम और उपनियम भलीभाँति जानने ही चाहिएँ जिससे वे विद्यार्थियोंको खेलके व्यवहारकी शिक्षा दे सकें।

खेलका व्यवहार (स्पोर्ट्समैन्स स्पिरिट)

'खेलके व्यवहार'का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक खेलनेवालेको पूरे प्रयत्न

और पूरी शक्तिके साथ अपने दलको विजयी करानेका प्रयत्न तो करना चाहिए किन्तु इस प्रयत्न और शक्तिके प्रयोगमें बेइमानी, उद्दंडता, उजड्डपन और बल-प्रयोग नहीं करना चाहिए। प्रत्येक खेलाड़ीको खेलमें बल और छल छोड़कर कौशल दिखलाना चाहिए, क्योंकि बल दिखाना उजड्डता और पशुताका लक्षण है और छल दिखाना धूर्तता, अन्याय और अनीतिका लक्षण है। जहाँ कहीं प्रतिद्वन्द्विता होती है वहाँ यही उपदेश दिया जाता है कि 'खेलाड़ीके समान आचरण करो'। इसका अर्थ यह है कि खेलनेका कौशल तो अवश्य दिखलाओ किन्तु उसमें अनीति और अनाचार न आने दो। सच्चा खेलाड़ी कभी जान-बूझकर अपने प्रतिद्वन्द्वीको चोट नहीं पहुँचाता। यदि भूलसे चोट लग भी जाय तो वह तत्काल क्षमा माँग लेता है। यदि दूसरा भी कोई चोट मार दे तो वह - 'कोई चिन्ता नहीं, कोई बात नहीं'—कहकर मुस्करा देता है, मनमें प्रतिहिंसाकी भावना नहीं आने देता, खेलके नियन्ताका कभी विरोध नहीं करता और हार जानेपर अपने प्रतिपक्षियों या नियन्ता (रेफ़री) पर बेइमानी या पक्षपात करनेका आरोप नहीं लगाता, सदा मस्त और प्रसन्न रहता है और हार-जीत दोनोंमें सम-भाव रखता है।

घरेलू खेल

विद्यार्थियोंकी कल्पना-शक्ति, विचार-शक्ति, निर्णय-शक्ति, एकाग्रता तथा अंगोंकी क्रिया-शक्ति बढ़ानेके लिये कुछ घरेलू खेलोंकी भी व्यवस्था करनी चाहिए। किन्तु बैडमिन्टन, कैरम, टेबिल-टैनिस (पिंगपोंग) आदि योरोपीय खेलोंके बदले गेंद-टोरा, गुल्ली-डंडा, काई-डंडा, आँख-मिचौनी, खो, अथवा चढ्ढी आदि खेल खेलने चाहिएँ। इस प्रकारके देशी खेल व्ययसाध्य भी नहीं हैं, हमारे गाँवोंकी प्रकृतिमें भी ठीक बैठते हैं और इनसे छात्रोंका शारीरिक और मानसिक व्यायाम भी हो जाता है। इन खेलोंके पश्चात् छात्रोंके लिये गोदुग्ध या भीगे चनेकी व्यवस्था करनी चाहिए।

प्राणायाम

इन सब खेलोंके साथ-साथ छात्रोंको, प्राणायामका भी अभ्यास कराना

चाहिए क्योंकि उससे मनकी एकाग्रता होती है, फेफड़े स्वच्छ रहते हैं, रक्त शुद्ध होता है, शरीरमें स्फूर्ति आती है, मनमें उल्लास आता है, बुद्धि खुल जाती है और अनेक प्रकारके रोग पास नहीं फटकते। किन्तु यह प्राणायामकी क्रिया ब्राह्म-मुहूर्त्तमें किसी कुशल अध्यापकसे सीखकर करनी चाहिए। शारीरिक स्वास्थ्य, स्फूर्ति, स्मृति और चिर जीवनके लिये इससे बढ़कर दूसरा उपाय नहीं है।

द्वन्द्वखेल तथा खेल-प्रतियोगिता

अपने बालकोंकी दल-हित-भावना, शील तथा खेल-कौशलकी परीक्षाके लिये दूसरे विद्यालयोंके साथ द्वन्द्व-खेल (मैच) खेलना चाहिए और छात्रोंको समझा देना चाहिए कि यह तुम्हारे खेल-कौशलकी ही परीक्षा नहीं प्रत्युत तुम्हारे सौजन्य, शील और सहनशीलताकी परीक्षा है।

खेल पर्व

इन व्यवस्थित खेलोंके अतिरिक्त वर्षमें एक या दो बार खेल-दिवस या खेल-सप्ताहका आयोजन करके खेलपर्व मनाना चाहिए जिसमें दौड़, कूद, रस्सा-खिंचाई, बाधा-दौड़ तथा अन्य अनेक प्रकारके ऐसे खेलोंकी व्यवस्था हो जिनसे विद्यार्थियोंके शारीरिक सामर्थ्य और स्फूर्त्तिका परीक्षण और अभ्यास भी होता चले तथा दर्शक-छात्रोंको प्रेरणा भी मिलती चले। ऐसे सब खेलोंमें बाहरके भी छात्रों और अध्यापकोंको बुलाते रहना चाहिए, जिससे छात्रोंको स्वागत-सत्कार, सेवा तथा भोजनादिका प्रबन्ध करनेकी शिक्षा भी मिलती चले। ऐसे ही अवसरोंपर अपने विद्यालयकी भावना (आल्मामेटर स्पिरिट) अर्थात् हमारा विद्यालय विजयी हो, हमारे विद्यालयको पुरस्कार मिले, हमारे विद्यालयका छात्र प्रथम आवे, इस पारिवारिक या कौटुम्बिक आत्मीयताकी भावनाको भी प्रोत्साहन देना चाहिए। छात्रोंको व्यायामचक्र (सरकस) भी दिखाना चाहिए जिससे छात्रोंमें व्यायाम तथा फुर्तीलेपनकी प्रेरणा मिले।

अन्य व्यायाम तथा अभ्यास

संघ-भावना या विद्यालय-हित-भावना पुष्ट करनेके लिये सामूहिक व्यायाम, विभिन्न कक्षाओं अथवा पूरे विद्यालयके विद्यार्थियोंका एक आदेशके अनुसार चलना, उठना, खड़े होना, अंग-संचालन और पैर मिलाकर पंक्ति-बद्ध चलना आदि कुछ ऐसे विधान हैं जिनसे विद्यालयमें एकता, आत्मीयता, बंधुत्व तथा संघत्वका भाव उत्पन्न कराया जा सकता है। एक साथ हिलते हुए हाथ, एक साथ चलते हुए पैर अथवा एक साथ ऊपर नीचे उठते हुए शरीर देखकर छात्रोंमें यह भावना आती है कि हम सबका एक ही शरीर है, एक ही आत्मा है, एक ही इच्छा है और एक ही मानसिक अभिव्यक्ति है। ऐसे ही अभ्यासोंसे छात्र अपने स्वत्व, विद्यालय, राष्ट्र, जाति, धर्म, अध्यापक या छात्रका यश-अपयश सब अपना यश-अपयश समझते हैं। मेधातिथिने जो कहा है कि छात्र 'अनुशिष्ट' होना चाहिए, वह इसी प्रकारके अभ्यासोंसे हो सकता है।

———

६

पाठ्यक्रमातिरिक्त प्रवृत्तियाँ

किसी भी देशमें शिक्षाका आधार केवल पाठ्य पुस्तक या विद्यालयका पाठ्य-क्रम मात्र नहीं होता। विद्यालयके पाठ्य-क्रमको तो केवल गौण आधार मात्र मानना चाहिए। विद्यार्थीकी वास्तविक शिक्षा तो छात्रोंके पारस्परिक सम्पर्क तथा अनेक प्रकारकी सामाजिक, मानसिक, बौद्धिक, नैतिक, सेवात्मक तथा मनोरंजनात्मक प्रवृत्तियोंसे होती है। इसीलिये कहा जाता है विद्यालयोंमें जो सुशिक्षण (स्कूलिंग) प्राप्त होता है वह घरपर पढ़ानेवालोंको नहीं मिलता। यदि विद्यालयोंमें छात्रोंकी मानसिक और नैतिक रुचि तथा प्रवृत्तिका विकास कर सकनेवाले अवसरोंकी सृष्टि न हुई तो विद्यालयसे लाभ क्या? पुस्तकें तो वे घरपर भी पढ़ सकते हैं। शिक्षा-शास्त्रियोंका विचार है कि नैतिक और सामाजिक शिक्षाके लिये ऐसे सामूहिक समारोहोंका विधान अवश्य करना चाहिए जिनमें अधिकसे अधिक विद्यार्थी रुचिपूर्वक सक्रिय योग दे सकें। ऐसे कार्य छह श्रेणियोंमें विभक्त किए जा सकते हैं—

१. सेवा-भाव उत्पन्न करनेवाले।

२. सहयोगका भाव भरनेवाले।

३. मानसिक और बौद्धिक शक्ति बढ़ानेवाले।

४. सभा-चातुर्य सिखानेवाले।

५. प्रबंध-योगग्यताकी शिक्षा देनेवाले।

६. स्फूर्ति तथा कर्मठता उत्पन्न करनेवाले।

सेवाका भाव

हमारे व्यक्तिगत और सामूहिक जीवनमें कुछ ऐसे अवसर आते-रहते हैं जिनमें प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी प्रकारसे सेवा कर ही सकता है।

अपने रोगी सहपाठी, सम्बन्धी, मित्र या गुरुकी सेवा-शुश्रूषा करना, भूले हुएको मार्ग बताना, दुष्टोंके द्वारा पीडित अथवा अपहृतकी रक्षा करना, प्यासेको पानी पिलाना, चोट खाए हुएको चिकित्सालय-तक पहुँचाना, दुर्बल या रोगी व्यक्तिके लिये रेलका टिकट ला देना आदि कार्य साधारण व्यक्तिगत सेवाके अन्तर्गत आते हैं। यद्यपि ये कार्य विद्यालयकी कार्य-सीमासे बाहर हैं किन्तु यह प्रेरणा भी विद्यालयसे ही मिलनी चाहिए। इसके अतिरिक्त छात्रोंको मेलों-ठेलोंमें सेवा और परोपकारकी भावना दृढ करनेके लिये निरन्तर भेजते रहना चाहिए। छोटी कक्षाके छात्रोंको शिक्षा और सहायता दिलाकर, अध्यापकोंकी सेवा कराकर, छात्रावास और विद्यालयके भवन और प्रकोष्ठ शुद्ध कराकर तथा इस प्रकारके अनेक कार्योंकी योजनाके द्वारा विद्यालयमें भी सेवाके भावका संवर्द्धन किया जा सकता है। आचार्योंको चाहिए कि अच्छे लड़कोंका ऐसा दल बनावें जो दुष्ट लड़कोंसे छोटे बालकोंकी रक्षा करता रहे। सेवाके विषयमें एक सिद्धान्त सदा स्मरण रखना चाहिए कि सेवा या तो असमर्थकी करनी चाहिए या बड़ोंकी। ऐसा न हो कि सेवाके बहाने विद्यार्थियोंको नौकरकी श्रेणीतक पहुँचा दिया जाय।

सामूहिक सेवा

सामूहिक सेवाके लिये छात्रोंके दल बनाकर गाँवोंमें शिक्षा-प्रचार, स्वच्छता-कार्य, रोगके दिनोंमें रोगियोंकी परिचर्या तथा औषध बाँटनेके कार्य, सामूहिक उत्सवों तथा मेलोंमें भीड़पर नियन्त्रण तथा अन्य प्रकारकी सेवाओंके लिये भेजना चाहिए। उनके साथ सदा नियमित रूपसे ऐसा अध्यापक रखना चाहिए जो ऐसे अवसरोंपर संघटन करनेमें सिद्धहस्त हो। प्रायः सभी विद्यालयोंमें इस सेवाभावको समृद्ध करनेके लिये बालचर-संस्था (स्काउटिंग)का भी प्रचार किया जा रहा है।

श्रमदान

आजकल सरकारकी ओरसे श्रमदानका भी प्रचार किया जा रहा है। 'सेवा' शब्दके बदले 'श्रमदान' शब्द अत्यन्त हीन और छिछला है। 'श्रमदानकी भावना' शुद्ध 'राज-तान्त्रिक' है जिसे 'बेगार' का शिष्ट रूप

समझना चाहिए। किन्तु सेवाकी भावना शुद्ध, सात्त्विक, पवित्र और लोक-तान्त्रिक है। श्रमदान केवल उनसे लेना चाहिए जो आर्थिक दृष्टिसे समृद्ध हों किन्तु श्रमिकों या दीनोंसे श्रमदान लेना उनका शोषण है। उनसे श्रमदान लेनेका अर्थ है उन्हें पारिश्रमिकसे वंचित करना और उन्हें मिथ्या प्रोत्साहन देकर उन्हें जीविकासे हाथ धोनेके लिये विवश करना। हमारे शिक्षाधिकारीगण सूचना निकाला करते हैं कि अमुक समय या अमुक दिन अध्यापकों और छात्रोंसे श्रमदान लिया जाय किन्तु यह सूचना ही दानकी भावनाके विरुद्ध है। दान तो स्वतन्त्र रूपसे, अपनी सात्त्विक इच्छासे किया जाता है। आदेश, दबाव तथा भयसे किया या कराया हुआ श्रमदान तो बेगार और शुद्ध अनैतिक कार्य है।

स्वशासन या सहयोगिताका भाव

शिक्षाशास्त्रियोंने बताया है कि शिक्षाका उद्देश्य चतुर नागरिक बनाना भी है। अतः, हमारे सामाजिक जीवनके उत्कर्षके लिये सहयोगिताका भाव अत्यन्त अपेक्षित है। उस सहयोगिताके भावकी अभिवृद्धिके लिये विद्यालयमें स्वशासनकी उचित शिक्षा देनी चाहिए। छात्रावास, भोजनालय, विद्यालयकी शुद्धता, उत्सव तथा खेल आदिका प्रबन्ध सब विद्यार्थियों-पर ही छोड़ देना चाहिए। नगरपालिका (म्युनिसिपल बोर्ड) आदि में जैसे स्वास्थ्य, शिक्षा, निर्माण आदिका कार्य-विभाजन हो जाता है और अलग-अलग समितियाँ बन जाती हैं वैसे ही विद्यालयमें भी विभिन्न प्रवृत्तियोंके लिये विभिन्न समितियाँ बना लेनी चाहिएँ।

छात्र-न्यायालय

कुछ शिक्षाचार्योंका मत है कि प्रत्येक विद्यालयमें छात्रोंका ही एक न्यायालय होना चाहिए जिसमें छात्रोंके प्रतिनिधियोंका पंच ही छात्रोंके नैतिक तथा नियम-सम्बन्धी अभियोगोंका निर्णय किया करे। ऐसे न्यायालयमें अध्यापक-गण भी उन अभियुक्तोंको भेज सकते हैं जिन्होंने विद्यालयका नियम तोड़ा हो या शील तथा आचार-सम्बन्धी कोई दोष किया हो।

मानसिक और बौद्धिक विकासके साधन

अमरीका, योरप और दक्षिण भारतके विद्यालयोंमें वहाँके अध्यापक बारी-बारीसे प्रत्येक छुट्टीके दिन विद्यार्थियोंको इधर-उधर घुमाने ले जाते हैं। इस पर्यटनमें विद्यार्थि-गण पर्यटनकी सुविधा और असुविधाओंका अनुभव तो प्राप्त करते ही हैं, साथ ही वन, उपवन, नदी-तट, समुद्र-तट, पुल, रेलगाड़ी, पुतलीघर, यंत्र-शाला, नये विद्यालय, प्रदर्शनी, कौतुकालय, जीवशाला, पुस्तकालय, भवन आदि प्राकृतिक तथा मानव-निर्मित वैभवोंका भी प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करते हैं। शिक्षा-शास्त्रियोंका मत है कि एक वर्षमें पुस्तकोंके सहारे जितना ज्ञान बढ़ाया जाता है, उतना एक दिनके पर्यटनमें सिखाया जा सकता है क्योंकि नई वस्तुओंके परिचयके समय अध्यापक तत्सम्बन्धी प्रत्येक ज्ञान स्वाभाविक रूपमें दे भी सकता है और प्रत्यक्ष अनुभव होनेसे वह ज्ञान पक्का भी होता चलता है। यद्यपि हमारा देश बहुत धनी नहीं है और दूर-दूरकी यात्राएँ हमारे लिये संभव भी नहीं हैं फिर भी आस पासके नगरों, गाँवों, पर्वतों और प्राकृतिक स्थानोंका परिचय तो हम छात्रोंको करा ही सकते हैं। इस पर्यटनमें केवल भोजन-पानी, सैर-सपाटे, खेल-कूद और गप-सड़ाकेकी ही योजना न हो वरन् भली प्रकारसे उन स्थानोंके सम्बन्धमें सिखाए जानेवाले संभव विषयोंके शिक्षणकी भी ऐसी व्यवस्था हो कि छात्र स्वयं उत्सुकतापूर्वक उन स्थानोंके विषयमें जाननेको लालायित हों और यदि उनकी उत्सुकता उद्दीप्त न हो तो अध्यापक स्वयं उन्हें ज्ञान देनेमें प्रवृत्त हों।

साहित्य-गोष्ठी

छात्रोंके अत्यन्त व्यवस्थित मानसिक और बौद्धिक विकासके लिये साहित्य-गोष्ठियोंका भी आयोजन करना चाहिए। इन गोष्ठियोंमें पहलेसे विषय निर्धारित कर देने चाहिएँ, छात्रोंको उन गोष्ठियोंमें सक्रिय योग देनेके लिये उत्साहित करना चाहिए और उन्हें सामग्रीका भी निर्देश कर देना चाहिए कि वे उसके आधारपर पूर्व पक्ष या उत्तर पक्षकी ओरसे योग्यतापूर्वक

विषयका प्रतिपादन कर सकें। विषयोंका चुनाव बालककी अवस्था और बुद्धिके अनुकूल हो जिससे छात्र स्वयं अपने अनुभवसे अपने विचार व्यक्त कर सकें। बालकोंको यह भी शिक्षा देनी चाहिए कि सभामें किस प्रकार व्यवहार करना चाहिए, किस प्रकार संबोधन करना चाहिए और किस प्रकार शीलके साथ विपक्षीके प्रश्नोंका उत्तर देना चाहिए। इस प्रकारकी गोष्ठियाँ तीन प्रकारकी हो सकती हैं—(१) वाद-विवादके रूपमें, (२) किसी विषयपर व्याख्यानके रूपमें, या (३) ऐसी गोष्ठियोंके रूपमें, जिसमें एक दलके सब छात्र अलग-अलग—अपनी-अपनी रुचिके अनुसार—लेख पढ़ें, कहानी कहें, गीत सुनावें या कविता-पाठ करें। ऐसी गोष्ठियोंमें विषयोंका बंधन न हो, जिसकी जैसी रुचि हो वैसा ही आत्माभिव्यंजन करे।

चल-चित्र

आजकल चलचित्र-निर्माताओंने बहुतसे ऐसे चल-चित्रोंका निर्माण किया है जिनमें इतिहास, भूगोल, विज्ञान, स्वास्थ्य, समाज-शास्त्र आदि सभी विषयोंका समावेश होता है। सब देशोंमें ऐसी संस्थाएँ भी खुल गई हैं जहाँसे प्रदर्शन-यन्त्रोंके साथ ऐसे चित्र, अत्यन्त सुविधासे सस्तेमें प्राप्त हो सकते हैं। राज्योंके शिक्षा-विभागोंसे भी पत्र-व्यवहार करनेपर इन चित्रोंका पूरा विवरण मिल सकता है। उत्तरप्रदेशमें 'विज़ुअल इन्स्ट्रक्सन सोसाइटी' (दृश्य-शिक्षा-समिति) का कार्यालय लखनऊमें है, जहाँसे इस सम्बन्धकी पूरी सामग्री और जानकारी प्राप्त हो सकती है।

नाटक

चित्रोंके अतिरिक्त नाटक, संवाद और खेल भी इस प्रकार प्रयुक्त किए जा सकते हैं कि उनसे सर्वसाधारणको इतिहास तथा अन्य विषयोंका भी परिचय सरलतासे हो जाय। नाटककी योजनासे छात्रोंमें भाषा-ज्ञान बढ़ता है, लौकिक आचार-विचारकी शिक्षा मिलती है, व्यवहार-कुशलता आती है, मनुष्योंको पहचाननेकी शक्ति बढ़ती है, बहुत बड़ी भीड़के सम्मुख बोलने और मत व्यक्त करनेका साहस खुलता है, वाणीके उतार-चढ़ावकी तथा भाव

अभिव्यक्त करनेकी कला आती है और दूसरोंको आकृष्ट करनेका कौशल भी प्राप्त हो जाता है।

हस्तलिखित पत्रिका

हस्तलिखित पत्रिकाओंकी महत्ताके विषयमें हम आगे पुस्तकालयकी व्यवस्थाके प्रकरणमें विस्तारपूर्वक समझावेंगे। इनके अतिरिक्त अंत्याक्षरी-प्रतियोगिता, समस्यापूर्ति और कवि-सम्मेलनोंकी योजना भी मानसिक और बौद्धिक विकासमें सहायक हो सकती है।

सभा-चातुर्य तथा सार्वजनिक सभा

सभा-चातुर्य सिखानेके लिये छात्रोंको सार्वजनिक सभाओं और व्याख्यानोंमें भेजना चाहिए और सभाके पश्चात् उन्हें समझाना चाहिए कि सभापति-पदके लिये किस प्रकार प्रस्ताव और समर्थन हुए, अमुक वक्ताने किस प्रकार भाषण प्रारंभ किया, किस प्रकार तर्क उपस्थित किए, उस सभाके वक्ताओं और प्रबंधकोंके व्यवहारसे क्या सीखना चाहिए और क्या छोड़ देना चाहिए। स्वतन्त्र भारतमें आज नगर-पालिकाओं, जनपद-मंडलों तथा सार्वजनिक सभा-समितियोंमें जिस प्रकारका उद्दण्डतापूर्ण, अशिष्ट और उच्छृंखल आचरण दिखाई पड़ता है उसे देखते हुए यह आवश्यक है कि हम अपने भावी नागरिकोंको सभा-चातुर्यकी शिक्षा दें। सभा-चातुर्यके लिये तीन गुण अत्यन्त अपेक्षित हैं—१. सहनशीलता, अर्थात् अपने प्रतिपक्षीकी कटुतम आलोचनाको भी शान्त भावसे सुनते रहना, २. वाक्-पटुता, अर्थात् अवसर और आवश्यकताके अनुसार जो कुछ कथनीय हो वह अत्यन्त शिष्ट और शीलयुक्त भाषामें निर्भय होकर ऐसे ढंगसे कहना कि दूसरा परास्त भी हो जाय और बुरा भी न माने, ३. मनःशौच, अर्थात् अपने मनमें किसी व्यक्तिके प्रति किसी प्रकारकी दुर्भावना न रखना। प्रायः सभी सभा-समितियोंके सदस्य जब सभाओंमें एक दूसरेका विरोध करते हैं तो वे सभाके बाहर भी परस्पर शत्रु बन जाते हैं। यह प्रवृत्ति अवांछनीय है। सभाका विरोध सभामें समाप्त हो जाना चाहिए। इसलिये आचार्यका कर्त्तव्य है

कि वह इस प्रकारके सभा-सम्बन्धी आचरणकी शिक्षा देनेकी उचित व्यवस्था करे।

प्रबन्ध-योग्यता

प्रत्येक बालकको अपने जीवनमें किसी न किसी प्रकारके प्रबन्धका भार उठाना ही पड़ता है। इन्हीं बालकोंमेंसे वे सब नागरिक भी निकलते हैं जो गृहस्थीसे लेकर पूरे राष्ट्र-तकके प्रबन्धका भार ग्रहण करते हैं। जिन बालकोंको प्रारंभमें छोटी-मोटी बातोंके प्रबन्धका शिक्षण मिल चुका होता है वे आगे चलकर अत्यन्त व्यवस्थित और सुघर रूपसे व्यवस्था करते हैं और जिन्हें इस प्रकारकी शिक्षा प्राप्त नहीं होती वे सदा असावधान होकर सब काम बिगाड़ बैठते हैं और यदि उत्तरदायी पदोंपर पहुँच जायँ तो राष्ट्रका बड़ा अहित भी कर सकते हैं।

प्रबन्धके अवसर

इसलिये छात्रोंको भोजनालय और छात्रावासकी स्वच्छता, विद्यालयकी सजावट, यात्राओंका प्रबन्ध, नाटक या उत्सवोंकी व्यवस्था, अतिथियोंका स्वागत-सत्कार आदि ऐसे अनेक काम सौंप देने चाहिएँ जिनके द्वारा उनमें प्रबन्ध करनेकी योग्यता आ सके। इस प्रकारके कामोंमें तीन बातोंपर विशेष ध्यान देना चाहिए—१. जो काम दिया जाय वह ठीक समयसे हो; २. अत्यन्त स्वच्छता और सुन्दरताके साथ संपन्न किया जाय; और ३. तत्सबंधी पैसे-रुपयेका लेखा ठीक रक्खा जाय। सार्वजनिक जीवनका बहुत कुछ यश-अपयश अर्थ-शौच अर्थात् रुपये-पैसेका हिसाब ठीक रखने या न रखनेपर ही अवलम्बित होता है। अध्यापकोंका कर्त्तव्य है कि वे मनोयोग-पूर्वक छात्रोंको इस प्रकार के अवसर देते रहें कि वे समय-पालन, कलात्मकता और सचाईका व्यवहार सीख सकें।

बालचर-मंडल

बालकोंको फुर्तीला और कर्मठ बनानेके लिये बालचर-मंडलकी स्थापना करनी चाहिए क्योंकि उससे खेल, अभ्यास और क्रियाओंमें स्फूर्ति, व्यायाम,

ज्ञान-विस्तार, कर्मठता और बुद्धि-क्रिया सभीका सम्मिश्रण होता है।

अध्ययन-केन्द्र

किसी भी विद्यालयमें कक्षाके अध्यापन, पुस्तकालय तथा व्याख्यान आदिके अतिरिक्त अध्ययन-केन्द्रोंको व्यवस्था भी होनी चाहिए। ये अध्ययन-केन्द्र अनेक उद्देश्योंसे अनेक प्रकारके हो सकते हैं।

अध्ययन-केन्द्रके उद्देश्य

हमारे यहाँ साधारण परिपाटी यह है कि छात्रोंको घरसे काम कर लानेके लिये अध्यापक कुछ काम दे देते हैं और विद्यार्थी उन्हें अपने घर पूर्ण करनेका प्रयत्न करते हैं। प्रायः विद्यार्थियोंके घर इतनी सुविधा नहीं होती, विशेषतः गाँववालोंके यहाँ कि वे नियमित रूपसे एकान्तमें बैठकर विद्यालयमें दिया हुआ कार्य संपन्न कर सकें। यह समस्या केवल हमारे यहाँ ही नहीं वरन् विभिन्न देशोंके बड़े नगरोंमें और भी अधिक प्रचंड रूपसे विद्यमान है। एक-एक कक्षमें रहनेवाले परिवारके बालकोंको न इतना स्थान मिल पाता है और न इतना अवसर ही कि वे विद्यालयमें दिया हुआ कार्य घरपर पूर्ण कर सकें। पूर्ण न करनेके कारण अध्यापक उनसे रुष्ट होकर उन्हें दंड भी देने लगते हैं। वे यह समझनेका कष्ट नहीं करते कि बालकके पास स्थान और अवसर भी है या नहीं। इसलिये योरप और अमरीकाके कुछ प्रदेशोंमें यह व्यवस्था की गई है कि छात्रोंके लिये स्थान-स्थानपर कुछ अध्ययन-केन्द्र बना दिए गए हैं जो विभिन्न अवस्थाओं, विभिन्न वर्गों और विभिन्न विषयोंके अनुसार बाँट दिए जाते हैं जिनमें एक वर्ग, एक विषय और एक अवस्थाके छात्र मिलकर विभिन्न अध्ययनीय विषयोंके सम्बन्धमें परस्पर विचार विनिमय, सम्मिलित अध्ययन और एकत्र पठन-पाठन करते हैं।

सहपाठ

हमारे यहाँ एक पुराना सूत्र भी था—

आचार्यात्पादमाधत्ते पादं शिष्यः स्वमेधया।
पादं सब्रह्मचारिभ्यः पादं कालक्रमेण तु॥

[गुरुसे शिष्य केवल चौथाई ज्ञान ही प्राप्त करता है, दूसरा चौथाई ज्ञान वह अपनी बुद्धिसे मनन करके पूर्ण करता है, तीसरा चौथाई वह अपने साथियोंके साथ पाठ विचार करके पूर्ण करता है और शेष चौथाई तो अनुभवके साथ आता है।] इस प्रकार अवस्था और अनुभवके साथ पककर ज्ञान पूर्ण होता है। इस क्रममें 'स्वमेधया' अर्थात् अपनी बुद्धिसे ज्ञान पूर्ण करना और 'सब्रह्मचारिभ्यः' अर्थात् अपने साथियोंके साथ बैठकर पूरा करना दोनों आ जाते हैं।

दो प्रकारके केन्द्र

विदेशोंमें जो अध्ययन-केन्द्र बनते हैं वे दो प्रकारके होते हैं—एकमें तो कोई अध्यापक उनका संचालक होता है और दूसरे ऐसे होते हैं जिनमें स्वतः उच्च कक्षाके छात्र अथवा उसी अध्ययन-केन्द्रके चतुर छात्र ही नेतृत्व करते हैं।

लाभ

इन अध्ययन-केन्द्रोंसे सबसे बड़ा लाभ यह होता है कि अध्यापकोंका निरीक्षण-कार्य बहुत कम हो जाता है, उत्तर-पुस्तिका जाँचनेकी असुविधा दूर हो जाती है और केवल मौखिक निर्देश करना भर ही रह जाता है क्योंकि परस्पर विचार-विमर्श करके छात्र जो उत्तर लिखते हैं वे विषयकी सटीकता और तथ्यकी दृष्टिसे ठीक हो जाते हैं, केवल कहीं-कहीं कोई भाषाकी अशुद्धि भर रह जाती है। इन अध्ययन-केन्द्रोंसे यह भी लाभ होता है कि छात्रोंमें जिज्ञासा-वृत्ति, प्रबोधन-वृत्ति, विमर्श-वृत्ति और विवेचना-वृत्ति बढ़ती जाती है। विचारोंके आदान-प्रदान तथा वाद-विवादसे तात्त्विक ज्ञान होता है, विचारमें दृढ़ता आती है, विचारनेका क्रम बनता है और ज्ञान प्राप्त करनेकी क्रिया सिद्ध हो जाती है। परीक्षण करनेसे देखा गया है कि जो छात्र कक्षामें दुर्बल और मूढ़ प्रतीत होते थे वे चार महीने अध्ययन-केन्द्रोंमें रह चुकनेके पश्चात् अत्यन्त चतुर और मेधावी सिद्ध हुए। इसका अर्थ यह है कि अनेक पारिवारिक, सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक कारणोंसे जो छात्र कक्षामें बुद्धिहीन या अल्पबुद्धि प्रतीत होते हैं उन्हें ज्ञान-

संस्कारके लिये अवसर न देनेके कारण ही यह अल्पबुद्धिता प्रतीत होती है। अतः, अध्ययन-केन्द्रोंकी समुचित व्यवस्था कर देनेसे ऐसे अल्पबुद्धि प्रतीत होनेवाले विद्यार्थियोंको ऐसा प्रोत्साहन मिलेगा कि वे शीघ्र ही कक्षाके अन्य विद्यार्थियोंके साथ अपनी गति बनाए रख सकेंगे।

छात्र-चालित केन्द्र

जो अध्ययन-केन्द्र केवल छात्रों-द्वारा संचालित होते हैं वे प्रायः असफल सिद्ध हुए हैं क्योंकि अधिकांश छात्रोंमें उत्तरदायित्वकी भावना कम होती है और यदि होती भी है तो यह भय बना रहता है कि कहीं अधिक मेधावी छात्र अन्य छात्रोंपर व्यर्थका आतंक न जमावें, शारीरिक दृष्टिसे बलशाली छात्र दुर्बल छात्रोंको शारीरिक यातना न दें और अध्ययन करनेके बदले गप्प न अधिक होने लगे। प्रायः सम्मिलित अध्ययनमें अधिकांश समय गप्पमें लगता है और केवल थोड़ा-सा समय ही पढ़ने-लिखनेमें काम आता है। किन्तु यदि अध्यापकोंके निरीक्षणमें ऐसे अध्ययन-केन्द्र स्थापित किए जायँ तो उनसे वास्तविक लाभ हो सकता है।

अमरीकाके कुछ विद्यालयोंमें वहाँकी छात्र-परिषदोंने ही कुछ अपनी ओरसे अध्ययन-केन्द्र चला रक्खे हैं जिनसे उच्च कक्षाओंके छात्र नीची कक्षाओंके पिछड़े हुए छात्रोंके ज्ञान-विवर्धनमें योग देते हैं और बारी-बारीसे महीनेमें एक या दो बार नियमित रूपसे पढ़ा देते हैं। ऐसे अध्ययन-केन्द्रोंसे छात्रोंमें आत्म-तेजस्विता और आत्म-महत्ता भी बढ़ती है और पिछड़े हुए छात्रोंका भी बड़ा कल्याण होता है। इन अध्ययन-केन्द्रोंमें पाठ्य विषयोंके अध्ययनके अतिरिक्त प्रति-सप्ताह या प्रति-पक्ष किन्हीं विषयोंपर वाद-विवाद, शास्त्रार्थ, विचार-विमर्श, निबन्ध-पाठ या छात्रों-द्वारा ही अनुभव-कथन या व्याख्यान होते हैं। इस प्रकार इन अध्ययन-केन्द्रोंसे अत्यन्त व्यापक लाभ हो सकता है और अध्यापकोंका जो बहुत-सा परिश्रम उत्तरपुस्तिका जाँचनेमें लगता है वह बचकर छात्रोंके ज्ञानवर्द्धन तथा चरित्र-वर्द्धनमें लग सकता है।

———

१०

छात्रावास

किसी भी शिक्षा-प्रणालीकी आदर्श पद्धति यह है कि छात्र तथा अध्यापक दोनों नगरके वातावरणसे दूर गुरुकुलमें ही अर्थात् आश्रम बनाकर परिवारके समान साथ-साथ रहें। इसलिये गुरुकुल-पद्धति (रेज़िडेंशल सिस्टम) को शिक्षा-शास्त्रियोंने सर्वश्रेष्ठ माना है। किन्तु शिक्षा जिस वेगसे बढ़ती जा रही है और जिस प्रकार छात्रावासका जीवन महँगा होता जा रहा है उसे देखते हुए यह संभव नहीं है कि सब छात्र और अध्यापक साथ रह सकें। किन्तु प्रत्येक विद्यालयमें ऐसे बहुतसे छात्र आते रहते हैं जिनके अभिभावक उन्हें नगरके दूषित वातावरणमें निरंकुश बनाकर नहीं रखना चाहते। साधारण रूपसे यह उचित भी नहीं है कि अभिभावकहीन छात्रोंको नगरके कुप्रभावोंमें छोड़ दिया जाय। इसीलिये यह व्यवस्था की जानी चाहिए कि जो छात्र अपने अभिभावकोंके पास न रहते हों और बाहरसे आकर पढ़ते हों उन्हें छात्रावासमें एक कुशल गृहपति (वार्डन) तथा संप्रेरक (हाउस-मास्टर) की छायामें अवश्य रक्खा जाय।

गृहपति

गृहपति (सुपरिंटेंडेंट या वार्डन) तथा संप्रेरक (हाउस-मास्टर) में स्वाभाविक गुण-पञ्चदशी होनी चाहिए। उसे नियुक्त करते समय आचार्यको देख लेना चाहिए कि गृहपति—

१. स्वस्थ हों।

२. सदाचारी हों।

३. श्रद्धा करने योग्य हों।

४. वयोवृद्ध हों।

५. छात्रोंपर वात्सल्य-स्नेह रखते हों और अपने पुत्रके समान उनके सुख-दुःखका सदा ध्यान रखते हों।
६. नियमित जीवन व्यतीत करते हों अर्थात् वे स्नान, संध्या, शयन, भोजन आदिमें नियमित हों, जिससे वे छात्रोंके लिये भी नियमित होनेके उदाहरण बन सकें।
७. सब प्रकारके व्यसनों (चाय, पान, सिगरेट, तम्बाकू, भाँग, मदिरा, मांस, चल-चित्रका दर्शन, जुआ, सुन्दर, भड़कीले वस्त्र आदिके दुरभ्यासों) से रहित हों।
८. अधिक अध्ययनशील भी न हों, अन्यथा वे छात्रोंके निरीक्षणमें शिथिलता या उदासीनता व्यक्त करेंगे।
९. अनेक विषयोंके ज्ञाता हों तथा खेलकूद आदिमें भी सचेष्ट हों।
१०. अर्थशुचि हों अर्थात् रुपये-पैसेका ठीक ब्यौरा रखना जानते हों।
११ अच्छे प्रबन्धक हों।
१२. सुदर्शन और सुशील हों, कुदर्शन और चिड़चिड़े न हों।
१३. गंभीर स्वभावके हों और शासन तथा नियम-पालनमें निष्पक्ष हों जिससे छात्रावासके अन्तेवासियों तथा सेवकोंपर समान दृढता तथा तेजके साथ शासन कर सकें।
१४. निरालस हों।
१५. माताकी ममता और पिताकी शासन-वृत्तिसे युक्त हों।

छात्रावास ही विद्यालयका मर्मस्थल है

सच पूछिए तो विद्यालय चलाना सरल है किन्तु छात्रावासकी व्यवस्था करना लोहेके चने चबाना है। कारण यह है कि विद्यालय दिनमें कुछ घंटे चलता है और उस समय छात्रोंपर शासन करनेके लिये अनेक अध्यापक भी आचार्यका साथ दे देते हैं। किन्तु छात्रावासमें तो दिनरातके चौबीस घंटोंमेंसे अट्ठारह घंटेतक गृहपति (वार्डन) तथा संप्रेरकों (हाउस मास्टरों) को ऐसे छात्रोंकी देखभाल करनी पड़ती है जो भिन्न परिवारों और परिस्थितियोंमें पले हुए, भिन्न बुद्धि, मन, आचरण, अभ्यास, व्यसन, और

संस्कारवाले होते हैं। उनमें अत्यन्त मेधावीसे लेकर अत्यन्त मूढ, अत्यन्त चेतनसे लेकर अत्यन्त आलसी, अत्यन्त बलवान्से लेकर अत्यन्त दुर्बल, अत्यन्त विनीतसे लेकर अत्यन्त उद्दण्ड, अत्यन्त सुशीलसे लेकर अत्यन्त दुःशील, अत्यन्त सदाचारीसे लेकर अत्यन्त दुराचारीतक लगभग सभी प्रकृतिके बालक होते हैं। ऐसे बहु-प्रकृतिके छात्रोंको एक नियममें बाँधे रखना ऐसे ही कौशलका काम है जैसे व्यायामचक्र (सरकस) वाले सिंह, हाथी, घोड़े, गधे, बन्दर, तोते आदि अनेक जीवोंको एक साथ एकत्र करके उन्हें अपनी आज्ञाके अनुसार कार्य करनेको प्रेरित और बाध्य करते हैं। अतः, गृहपति (वार्डन) और संप्रेरकोंको सदा अपने कान और नेत्र सजग और सावधान रखने चाहिएँ क्योंकि छात्रावासमें अनेक प्रकारकी समस्याएँ नित्य उपस्थित होती रहती हैं जिनमेंसे अधिकांश इस कारण उत्पन्न होती हैं कि पहलेसे पढनेवाले छात्र नये छात्रोंके सम्पर्कमें आते हैं।

छात्रालयकी समस्याएँ

१. बड़े छात्र (छात्रा) अपनेसे छोटे सुदर्शन छात्र (छात्रा) पर या समवयस्क छात्र (छात्रा) एक दूसरेपर आसक्त होकर अनेक प्रकारके अस्वाभाविक तथा अमानुषिक कुकर्म कर बैठते (बैठती) हैं। ये समस्याएँ छात्राओंमें अत्यन्त वेगसे बढ़ रही है और उसके कारण मूर्च्छा, उन्माद, हृद्रोग आदि अनेक व्याधियाँ कन्याओंमें बढ़ रही हैं।

२. छात्रावाससे रातको भागकर छात्र गाना सुनने, चित्र देखने या घूमने निकल जाते हैं।

३. विद्यालयके समय दिनमें अपने चुने हुए नगरवासी मित्र (मित्राणी) को साथ लेकर छात्रावासमें चाय-पानी करते, गप्प लड़ाते या अन्य कुकृत्य करते हैं। कन्यावासोंमें यह गप्प लड़ानेका और कक्षा छोड़कर छात्रावासमें जाकर सोनेका अभ्यास अधिक है। नगर-वासी और छात्रावासी छात्रोंका संपर्क बड़ा घातक होता है।

४. चोरीसे मदिरा, अंडा, मांस, सिगरेट, भाँग, पान, तम्बाकू आदि

निषिद्ध वस्तुएँ लाकर सेवन करते हैं या चोरीसे जाकर बाहर खा आते हैं।

५. चोरी करते हैं।

६. सीधे छात्रों (छात्राओं) को दुष्ट छात्र (छात्राएँ) तंग करते (करती) हैं।

७. भोजन और नौकरों (नौकरानियों) के सम्बन्धमें कलह होता है।

८. किसीको भी वे अतिथि बना लेते (लेती) हैं।

९. उपन्यास आदि पढ़नेके लिये रातको बत्ती जलाते हैं।

१०. छात्राएँ परस्पर वस्त्र और आभूषणका बदलौवल करती रहती हैं जिससे कभी-कभी विकट समस्याएँ खड़ी हो जाती हैं विशेषतः प्रचलित वेशभूषाका अनुकरण बहुत होता है और आभूषण खो जाते हैं।

११. अध्यापकों-द्वारा दिए हुए विषय-सूत्र (नोट्स) या पुस्तकोंके आदान-प्रदानमें मनमुटाव और बोलचाल-बन्द हो जाती है विशेषतः छात्राओंमें।

१२. शौचालयोंमें छात्रों अथवा छात्राओंके लिये बीभत्स और फूहड़ बातें लिखी मिलती हैं, विशेषतः उन विद्यालयोंके छात्रावासोंमें, जहाँ छात्र और छात्राओंको साथ शिक्षा दी जाती है।

१३. बाहर जाने, तथा बाहर घूमनेकी आतुरता होती है।

१४. बाहरसे छात्रों (छात्राओं) के पास प्रेम-पत्र आते हैं और नौकर (नौकरानियाँ) ही पत्रवाहकका काम करते (करती) हैं।

१५. नागरिक छात्रोंके हाथ अपनेसे छोटी कक्षाके छात्रों (छात्राओं) के हाथ या नौकरों (नौकरानियों) के हाथ प्रेम-पत्र भेजते-मँगवाते हैं।

१६. नौकरों (नौकरानियों) को पीटते (पीटती) हैं।

१७. फल या मिठाईवालोंसे या आपसमें उधार कर लेते (लेती) हैं।

समस्याओंका समाधान

ऊपर दी हुई समस्याओंका समाधान इस प्रकार किया जा सकता है—

१. दुष्ट छात्र (छात्रा) छोटे छात्रों (छात्राओं) से दूर रक्खे जायँ। जिन

दो समवयस्क छात्रोंमें अधिक आत्मीयता देखी जाय उन्हें दूर कर दिया जाय और एक कक्षाके छात्र भी एक साथ न रहें। विवाहित और अविवाहित छात्रों (छात्राओं) को एक साथ न रक्खा जाय।

२. रातको गृहपति तथा संप्रेरक घूमकर देखते रहें।

३. अलग-अलग प्रकोष्ठोंके बदले अलिन्द (दालान)-प्रणाली (डोर्मिटरी सिस्टम) के लम्बे भवन हों और दो समकोणस्थ पक्षोंके बीचमें संप्रेरकका दोनों ओर खुला कक्ष हो।

४. दिनमें ज्यों ही सब छात्र विद्यालयमें चले जायँ त्यों ही छात्रावासका फाटक बन्द करा दिया जाय।

५. सेवकों (सेविकाओं) का छात्रों (छात्राओं) से कोई सम्पर्क नहीं होने देना चाहिए और यह स्पष्ट आदेश दे देना चाहिए कि जिस छात्र (छात्रा) को जो कुछ अपेक्षित हो वह संप्रेरकसे कहे और वे वाञ्छित वस्तु नौकरसे मँगा दे। छात्रोंको बता देना चाहिए कि वहाँ सेवक छात्रोंके नहीं वरन् छात्रावासके सेवक हैं। उनपर छात्रोंका कोई अधिकार नहीं है।

६. छात्रों (छात्राओं) का रुपया, पैसा, आभूषणादि तो गृहपतिकी सुरक्षा-पेटिकामें रहें और शेष आवश्यक वस्तुएँ, जो छात्रावासकी ओरसे दी जाती हैं, अपनी-अपनी पेटिकाओंमें रहें। इसके अतिरिक्त सब सामग्री अपनी-अपनी पेटिकाओंमें रखकर छात्रावासके भंडारमें रखवा देनी चाहिए। अच्छा तो यह है कि किसी भी छात्रके पास एक निर्दिष्ट परिमाणसे अधिक वस्तुएँ न हों।

७. दुष्ट छात्रों (छात्राओं) को किसी न किसी उत्तरदायित्वपूर्ण कार्यमें जोत रखना चाहिए जैसे प्रार्थना कराना, भोजन परसवाना, उपस्थितिका प्रबन्ध करना आदि किन्तु ऐसा अधिकार-पद नहीं दे देना चाहिए कि वह उसका दुरुपयोग करके दूसरोंको चंगुलमें फाँसनेका जाल रच सके।

८. भोजनकी सामग्रीका स्वयं निरीक्षण करते हुए छात्रोंके ही साथ बैठकर भोजन करना चाहिए।

९. रसोइया, नौकर, भोजन-सामग्री आदिका कुल प्रबन्ध गृहपतिको करना चाहिए किन्तु परोसनेका काम बारी-बारीसे छात्रोंको सौंपना चाहिए।
१०. सेवा तथा पारस्परिक सद्भावना उत्पन्न करनेके लिये सामाजिक गोष्ठियाँ, नाटक आदि करते रहना चाहिए और निरन्तर यह बात छात्रोंके मनपर बैठाते रहना चाहिए कि स्वयं हानि उठाकर भी दूसरेका हित करना सीखें।
११. शौचालयोंका निरन्तर निरीक्षण करते रहना चाहिए।
१२. जितने पत्र आवें सबको छात्रों (छात्राओं) के समक्ष खोल और पढ़कर उन्हें दें।
१३. छात्रावासके झगड़े निपटानेके लिये अग्रणी-पंचायत (मानीटर-कोर्ट) हो।
१४. बाहरके फल-मिठाईवालोंको न आने दिया जाय और यह स्पष्ट आदेश दे दिया जाय कि कोई किसीको उधार न दे।
१५. जिस छात्रके सम्बन्धमें यह धारणा हो कि यह चोरी करता है उसे अलग करके रक्खा जाय।

छात्रावास-भवन

पहले छात्रावास-भवनोंमें एक, तीन या चार छात्रोंके लिये एक-एक प्रकोष्ठ बनानेकी पद्धति थी किन्तु यह सिद्धान्त अब अमान्य हो गया है क्योंकि अनेक समस्याएँ तो इस भिन्न-प्रकोष्ठ-प्रणालीसे ही उत्पन्न हो जाया करती थीं। अतः आजकल सिद्धान्त यह है कि छात्रावास—

१. चारों ओरसे घिरा हो।
२. दो लम्बे पक्षोंके बीचके कोनेमें दोनों ओरसे खुला संप्रेरकका कक्ष हो जिससे वह सदा दोनों पक्षोंको देखता रहे और दुहरा संवीक्षण (डबल विजिलेन्स) कर सके।
३. बाहर निकलनेका एक ही फाटक हो और फाटकके अतिरिक्त बाहर जानेका कोई दूसरा द्वार न हो।
४. इस भवनसे कुछ दूर चारों ओर परिक्षेत्र-भित्ति (बाउण्डरी वौल) हो, जिससे कूदकर कोई भीतर न आ सके।

५. लम्बे प्रकोष्ठों या पक्षोंमें दोनों ओर ६-६ हाथ (१०·१० फीट) का अन्तर देकर एक-एक अध्ययनाधार (स्टडी डेस्क) तथा सोनेके लिये एक-एक चौकी हो जिसकी लम्बाई छह फुट और चौड़ाई तीन फुटसे अधिक न हो।

छात्रावासके अन्य कक्ष

छात्रोंके आवास-कक्षके अतिरिक्त छात्रावासमें निम्नलिखित कक्ष होने चाहिएँ—

१. गृहपति-कक्ष : जिसमें सपरिवार गृहपति रह सके किन्तु उसका कोई द्वार छात्रावाससे सम्बद्ध न हो और उसके घरकी बालक-बालिकाएँ छात्रावासके सम्पर्कमें न आ सकें।

२. संप्रेरक-कक्ष : प्रत्येक भवन-पक्षके लिये एक एक।

३. आतुरालय : जहाँ रोगी छात्रोंका उपचार किया जा सके और अलग करके रक्खा जा सके।

४. वाचनालय।

५. अध्ययन-कक्ष : जहाँ विशेष रूपसे अध्ययन करनेवाले छात्र एकान्तमें अध्ययन कर सकें।

६. छात्रावास-कार्यालय।

७. अतिथि-शाला : जिसमें छात्रोंके अभिभावक आकर ठहर सकें। यह छात्रावासके परिक्षेत्रसे बाहर होनी चाहिए।

८. स्नानागार।

९. शौचालय।

१०. खुली भूमि : जिसमें गर्मीमें सो सकें या सभा आदि कर सकें।

११. सभा-भवन या प्रार्थना-भवन।

१२. व्यायामशाला।

१३. जलागार : जहाँ पीनेका जल रक्खा रहे।

पुस्तकाधार (स्टडी डेस्क)

पुस्तकाधारमें तीन वस्तुएँ एक साथ जुड़ी होनी चाहिएँ— १. पुस्तक-तीर्थ

(बुक शेल्फ़), २. लेखनाधार (राइटिंग-स्लोप), तथा ३. पेटिका। यह इस प्रकार बना होना चाहिए कि आवश्यकता पड़नेपर चारों भाग अलग किए जा सकें।

गृहपतिके अधिकार

नियमतः विद्यालयका आचार्य ही प्रधान गृहपति होता है और छात्रावासका पूरा उत्तरदायित्व उसीपर होता है। अतः, उसकी अनुपस्थितिमें उसके द्वारा नियुक्त गृहपति ही आचार्यका प्रतिनिधित्व करता है और उसे वे सब अधिकार प्राप्त हैं जो आचार्यके हो सकते हैं। किन्तु उसे यदि साधारण कार्योंके अतिरिक्त कोई विशेष व्यवस्था करनी हो या कोई विशेष दंड देना हो तो उसे आचार्यसे परामर्श कर लेना चाहिए जिससे पीछे उसका आचार्यसे मतभेद न हो जाय और उसका असम्मान न हो।

गृहपतिका कर्त्तव्य और अधिकार है कि—

१. वर्षके प्रारम्भमें प्रत्येक अन्तेवासीको छात्रावासमें स्थान दे, जब चाहे जिसका स्थान बदल दे।
२. सोने, उठने, पढ़ने, प्रार्थना करने, खेलने, भोजन करने आदि कार्योंके लिये समय निश्चय करे।
३. अपराधके लिये दण्ड दे।
४. सेवक और रसोइया नियुक्त करे।
५. किसी बाहरी व्यक्ति या अभिभावकको छात्रोंसे मिलने न दे विशेषतः कन्याओंके छात्रावासमें, क्योंकि वहाँ कभी-कभी अत्यन्त अवाञ्छनीय व्यक्ति छात्राके निकट सम्बन्धी बनकर आ पहुँचते हैं और बड़ी समस्या खड़ी कर डालते हैं।

जैसे जलपोतका नायक (कप्तान) वहाँका सबसे बड़ा अधिकारी और सर्वाधिकार सम्पन्न होता है वैसे ही छात्रावासके लिये गृहपति भी होता है।

गृहपतिके कर्त्तव्य

गृहपतिका कर्तव्य है कि वह —

१. छात्रावासके लिये बनाए हुए नियमोंका सावधानी और तत्परताके साथ पालन करे।

२. चौबीस घण्टे छात्रोंकी सुरक्षा और सुविधाका ध्यान रक्खे।

३. छात्रोंके भोजन, व्यायाम और अध्ययनकी समुचित व्यवस्था स्वयं करे और छात्रोंके साथ भोजन करे।

४. पर्यटन आदिका प्रबन्ध करे।

५. छात्रोंके रुपए-पैसे सुरक्षित रक्खे और जब जिसे जितना आवश्यक हो उतना दे।

६. छात्रोंकी धार्मिक, नैतिक, मानसिक, बौद्धिक तथा शारीरिक उन्नतिके लिये सब आवश्यक तथा उचित उपाय करता रहे।

७. छात्रोंको विशेष सुव्यसन (हौबी) की प्रेरणा दे जैसे टिकट, पत्ते, फूल, कविता, लेख, व्यंग्य चित्र, चित्र, विभिन्न देशवासियोंकी टोपियाँ, जीवोंके ढाँचे या चित्र, चित्रलेना, तैरना, बाजीगरी, शतरंज, घुड़सवारी, मूर्त्ति आदिका संग्रह या निर्माण।

संप्रेरकोंके कर्त्तव्य

गृहपतिके लिये यह सम्भव नहीं है कि वह छात्रावासके सौ दो सौ छात्रोंकी देख-भाल कर सके इसलिये उसकी सहायताके निमित्त संप्रेरक (हाउस मास्टर) नियुक्त किए जायँ जिनका कर्तव्य हो कि वे—

१. छात्रोंके भोजन और अध्ययनका ध्यान रक्खें और उन्हें पढ़ाते रहें।

२. पर्यटन, प्रार्थना और खेलमें साथ रहें और नियंत्रण रक्खें।

३. सब प्रकारसे अपने अधीन छात्रोंकी सुरक्षा और सुविधाका ध्यान रक्खें।

४. छात्रोंकी सुविधाके लिये जो वस्तुएँ आवश्यक हों उनका विवरण गृहपतिको देते रहें।

५. अच्छे और बुरे छात्रोंके विशेष अभ्यास, स्वभाव या कठिनाईका विवरण गृहपतिको देते रहें।

संप्रेरकके अधिकार

संप्रेरकको वे सभी अधिकार प्राप्त हैं जो गृहपतिको हैं किन्तु विशेष दण्ड देनेके लिये उसे गृहपतिकी आज्ञा ले लेनी चाहिए।

अग्रणी (मौनीटर)

छात्रोंमें सबसे ऊँची कक्षाका सच्चरित्र, गम्भीर, एकान्त-प्रिय, मेधावी, तीव्र-बुद्धि, पढ़नेमें श्रेष्ठ, शान्त, कोमल प्रकृति, मृदुभाषी, सत्यनिष्ठ, सब छात्रोंके आदर-पात्र विद्यार्थीको अग्रणी नियुक्त करना चाहिए।

अग्रणीके कर्त्तव्य और अधिकार

अग्रणीका कर्त्तव्य है कि वह बड़े भाईके समान सबका ध्यान रक्खे, विश्वासपात्र बनकर सबकी सुविधाका उपाय करे, सबकी सहायता करे, उपस्थितिकी पंजिका रक्खे, प्रार्थनाका प्रबन्ध करे, सब विषयोंमें छात्रोंका प्रतिनिधित्व करे, अन्तेवासियोंमें नैतिक भावनाका प्रसार करे, पढ़नेमें अशक्त छात्रोंको सहायता दे और छात्रावासका नियम कठोरतासे पालन करे।

अग्रणीके अधिकार वे ही हैं जो संप्रेरकके हैं। वह एक प्रकारसे संप्रेरकका सहायक ही है।

छात्रावासका महत्त्व

छात्रावास-जीवन छात्र-जीवनका बड़ा महत्त्वपूर्ण अंग है क्योंकि छात्रावासमें ही बालक अपने भावी सामाजिक जीवनके सम्पूर्ण संस्कार ग्रहण करता है, यहीं उसे अपने घनिष्ठ मित्र बनानेका अवसर प्राप्त होता है, यहीं उसे विनय, शील, सेवा, आज्ञापालन, विनय-पालन तथा सामूहिक जीवनके विभिन्न व्यवहारोंका प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। अतः, छात्रावासके सम्बन्धमें आचार्य और गृहपतिको अत्यन्त सावधान, दृढ तथा सचेष्ट रहना चाहिए। यदि उन्होंने छात्रावासका जीवन सुखी और नैतिक बना दिया तो उन्होंने शिक्षाके क्षेत्रमें सबसे बड़ी विजय पा ली।

—.o—

११

परीक्षा

वर्त्तमान शिक्षा-पद्धतिका सबसे बड़ा अभिशाप परीक्षा है। प्रत्येक अध्यापक अपने छात्रोंको परीक्षाके लिये तैयार करता है, पढ़ाता है और परीक्षाकी ही सुफलतामें अपनी सफलता समझता है। अभिभावक भी इसीलिये बालकोंको विद्यालयमें भेजते हैं। परिणाम यह हुआ कि विद्या और शिक्षा गौण हो गई, परीक्षा मुख्य हो गई। परीक्षाओंकी इतनी भरमार है कि वार्षिक, अर्द्धवार्षिक, मासिक, साप्ताहिक, दैनिक केवल परीक्षा ही परीक्षा चल रही है, जिसका कोई अन्त नहीं है। जिस अध्यापककी प्रतिभा छात्रोंको नया ज्ञान देनेकी कलाके आविष्कारमें लगानी चाहिए थी, जिसे छात्रके सदाचरणको सचेष्ट रखनेके उपाय ढूंढ़नेमें लगना चाहिए था, जिसकी शक्ति छात्रको योग्य नागरिक बनानेमें प्रयुक्त होनी चाहिए थी, उसकी प्रतिभा, बुद्धि और शक्ति नष्ट हो रही है केवल उत्तर-पुस्तिका जाँचने और प्रश्नपत्र बनानेमें।

परीक्षाका उद्देश्य

वर्त्तमान परीक्षाका लक्ष्य यह जाँचना है कि छात्रने जितना कुछ अध्ययन किया है वह उसके मस्तिष्कमें पूरा समा गया है या नहीं। किन्तु मानस-शास्त्रियोंका कहना है कि परीक्षाका लक्ष्य यह जानना है कि बालकने जो ज्ञान प्राप्त किया है उसका उचित प्रयोग करने-योग्य वह हो पाया है या नहीं।

संपूर्ण शिक्षाका लक्ष्य ही यह होना चाहिए कि छात्र जो कुछ पढ़े उसका व्यवहार करता चले। ड्यूईका प्रयोजनवाद यही तो कहता है। यदि प्रथम श्रेणीमें उत्तीर्ण होनेवाला छात्र अपने अर्जित ज्ञानका प्रयोग न कर पावे तो उसकी शिक्षा निरर्थक ही समझनी चाहिए। किन्तु हम तो पढ़ानेके

लिये परीक्षा नहीं लेते वरन् परीक्षाके लिये पढ़ाते हैं। चाहिए तो यह कि हम परीक्षाको अत्यन्त गौण समझकर पढ़ानेकी ओर ध्यान दें और ऐसी परीक्षा लें जिससे—

(१) विद्यार्थीकी बुद्धि-गम्भीरताका परिचय मिले।

(२) विद्यार्थीको अपने अर्जित ज्ञानकी थाह लगती चले।

(३) अर्जित ज्ञानका प्रयोग करनेमें उसे अपनी कुशलताका ज्ञान हो अर्थात् यह ज्ञान हो कि उसने जो कुछ पढ़ा है वह गुना भी है या नहीं।

(४) आगेका पाठ-भार वहन करनेकी उसकी योग्यताका ज्ञान हो।

(५) अर्जित ज्ञानके आधारपर वह अपनी मनोवृत्ति तथा जीविका-वृत्तिकी ठीक पहचान कर सके।

(६) उसे अपनी धारणा-शक्ति या स्मरण-शक्तिका ज्ञान हो।

(७) अपनी कार्य-क्षमताका परिचय मिले।

परीक्षापर नियन्त्रण

प्रत्येक आचार्यको समझ लेना चाहिए कि विद्यालयके पाठन-कार्यके लिये परीक्षा है, परीक्षाके लिये पाठन-कार्य नहीं है। आचार्यको चाहिए कि वह अध्यापकोंको प्रश्न-पत्र बनानेकी कला सिखावे और बने हुए प्रश्नपत्रोंको भली प्रकार जाँच ले। प्रश्नपत्रकी सबसे बड़ी कसौटी यह है कि यदि छात्रोंको पाठ्य-पुस्तकें भी दे दी जायँ तब भी वे उत्तरके लिये उसका उपयोग न कर पावें। प्रश्नोंका उत्तर पुस्तकमें होना ही नहीं चाहिए। प्रश्न ऐसे हों जिनपर विद्यार्थीको स्वयं चिन्तन करना पड़े। वह अपनी बुद्धि, विवेक, अनुभव और कौशलसे उसका उत्तर दे, केवल स्मृतिके भरोसे नहीं। परीक्षाका काम ही है विचार और प्रयोग-शक्तिकी अभिवृद्धि करना, केवल पुस्तकोंमें दी हुई थोड़ी-सी सूचनाओंका लेखा लेना नहीं।

परीक्षकोंको ऐसे प्रश्न नहीं पूछने चाहिएँ जिनमें छात्रोंको भ्रान्त करने, चकमा देने, छलने, निरुत्साहित करने, अपना पांडित्य और विद्वत्ता प्रकट करने और ऊब उत्पन्न करनेकी प्रवृत्ति हो। परीक्षकको यह जाँचनेका प्रयत्न

नहीं करना चाहिए कि विद्यार्थी क्या नहीं जानता है ? उसे यह जाँचना चाहिए कि विद्यार्थी क्या जानता है और उसे किस सरलताके साथ समझा सकता है। इसलिये प्रश्न सरल हों, सुबोध हों, स्पष्ट हों, छोटे हों और ऐसे हों कि उनके द्वारा छात्र स्वतः चिन्तन करके अपने मनकी और अनुभवकी सब बातें क्रमसे और कलात्मक रीतिसे व्यक्त कर सकें।

नवीन परीक्षा-पद्धतियाँ

पाश्चात्य देशवालोंने वर्त्तमान गन्दी परीक्षा-प्रणालीसे ऊबकर नई-नई प्रणालियाँ निकाली हैं जैसे बुद्धि-परीक्षा (इण्टैलिजैन्स टेस्ट), अर्जित ज्ञान-परीक्षा (एचीवमेण्ट टेस्ट), स्मृति-परीक्षा (मैमोरी टेस्ट), प्रयोग-परीक्षा (पर्फौर्मैन्स टेस्ट) आदि। अभी इन परीक्षा-प्रणालियोंकी भी परीक्षा हो रही है और भारतमें भी उनपर प्रयोग हो रहे हैं। इन परीक्षाओंके अनुसार नीचे हिन्दी-सम्बन्धी प्रश्न दिए जा रहे हैं—

बुद्धि-परीक्षा

(क) विवेचनात्मिका-शक्तिकी परीक्षा।

प्रश्न : एक कवि कहता है—

नीच निचाई नहिं तजै, जो पावै सतसंग।

दूसरा कवि कहता है—

सठ सुधरहिं सतसंगति पाई।

इनमेंसे कौन-सा कथन ठीक है ? विवेचन करो।

(ख) साधारण बुद्धि-परीक्षा।

प्रश्न : निम्नलिखित वक्तव्योंमेंसे जो ठीक हो उसपर गुणा (×) का चिह्न लगा दो।

तुलसीदासजी बड़े भारी कवि थे क्योंकि—

(अ) उन्होंने अनेक काव्य लिखे हैं।

(इ) उन्होंने अनेक ग्रन्थोंका अध्ययन किया था।

(उ) वे संस्कृत भाषाके प्रकांड पंडित थे।

(ए) उन्होंने बहुत सत्संग किया था।

× (ओ) उनमें कवि-प्रतिभा थी।

अर्जित ज्ञानकी परीक्षा

प्रश्न : आप अपनी पुस्तकमें बिजलीसे लाभ और हानि पढ़ चुके हैं। लिखिए कि एक साधारण राह-चलते आदमीको बिजलीसे क्या लाभ हो रहे हैं या हो सकते हैं।

अर्जित ज्ञानके प्रयोग-कौशलकी परीक्षा

प्रश्न : 'आधी तज सारीको धावै, आधा रहै न सारी पावै।' इस उक्तिका उपयोग आप अपने जीवनमें किस प्रकार कर सकते हैं या कर चुके हैं?

आगेका पाठ-भार वहन करनेकी योग्यताकी परीक्षा

प्रश्न : निम्नलिखित उक्तियों तथा शब्दोंका प्रयोग करते हुए वसंतके स्वागतपर एक निबंध लिखिए—

बौरा जाना, हाथ कंगनको आरसी क्या, फूल उठना, बालूसे तेल निकालना, नौ दो ग्यारह होना, पासे पलटना, बतीसी खिल उठना, आँखें या पलकें बिछाना, दिन-रात एक करना।

रसाल, विशाल, ताल, मधुमास, परभृत, मञ्जरी, पञ्जर, पिञ्जर, द्विरेफ, अलस, उल्लास, विलसित, लसित, पराग, राग, विराग, अनुराग, परिचित, विरचित, प्रदेश, विदेश, निर्देश, उद्देश, उद्देश्य, तरल, सरल, विरल, विधि, विधान, विधाता, कूल, दुकूल, अनुकूल, प्रतिकूल, सारंग, हिंडोल, देश, मलार, ध्वनि, प्रतिध्वनि, लय, ताल, स्वर, मन्द, सुगन्ध, अमन्द, द्वन्द्व, अभ्र, शुभ्र, मान, प्रमाण, अनुमान,।

अर्जित ज्ञानके आधारपर मनोवृत्तिकी परीक्षा

प्रश्न : आपकी पुस्तकमें कहीं किसानका जीवन श्रेष्ठ बताया गया है तो कहीं कारीगरका, कहीं विद्वान्का तो कहीं देश-सेवकका। आप इनमेंसे कौन-सा जीवन श्रेष्ठ समझते हैं और क्यों? उदाहरण और कारण-सहित समझाकर लिखिए।

धारणा-शक्तिकी परीक्षा

प्रश्न : आपकी पुस्तकके जिन-जिन पाठोंमें परिश्रमकी जो-जो श्रेष्ठताएँ बतलाई गई हैं उस संबंधके पढ़े हुए पद्य लिखकर उनकी व्याख्या कीजिए।

अर्जित ज्ञानके आधारपर अपने विचार प्रकट करनेकी क्षमताकी परीक्षा

प्रश्न : आपने इटली और आयर्लैंडकी स्वतन्त्रताका विवरण पढ़ा है। लिखिए कि भारतने जिस प्रकार स्वतन्त्रता प्राप्त की है वह कहाँतक ठीक है।

अङ्क-दान

अध्यापकको परीक्षामें अङ्क देनेमें कंजूसी नहीं करनी चाहिए। जो जितने अंकोंके योग्य हो उसे उतने अंक अवश्य दिए जायँ भले ही सौमें सौ क्यों न देने पड़ें। अंकदानमें न बहुत कठोर होना चाहिए न बहुत उदार।

परीक्षाका विधान

परीक्षा-प्रणाली हमारी शिक्षाका सबसे भयंकर अभिशाप है किन्तु जबतक उसे चलाना है तबतक उसमें निम्नलिखित सुधार करने ही चाहिएँ—

१. परीक्षाएँ यथासंभव कम कर दी जायँ—

२. एक विषयमें एकसे अधिक प्रश्नपत्र न हो और यदि संभव हो तो कई विषयोंका जैसे इतिहास, भूगोल और अर्थशास्त्रका एक ही सम्मिलित प्रश्नपत्र बनाया जाय।

३. निरन्तर प्रतिदिन या एक दिनमें कई प्रश्नपत्रोंकी परीक्षा नहीं रखनी चाहिए। एक प्रश्नपत्रकी परीक्षाके लिये कमसे कम दो-तीन दिनका समय देना चाहिए या राधाकृष्णन् समिति (यूनिवर्सिटी कमीशन १९५२) के मतानुसार एक समय एक ही विषयकी परीक्षा लेनी चाहिए, फिर कुछ मासका अवकाश देकर दूसरे विषयकी परीक्षा लेनी चाहिए।

नवीनतम परीक्षा-प्रणाली

फ़रवरी सन् १९५७ के प्रथम सप्ताहमें अखिल भारतीय माध्यमिक शिक्षा-परिषद् (औल इण्डिया काउंसिल फ़ौर सेकिंडरी एजुकेशन) ने अमरीकाके फोर्ड फाउण्डेशनके सहयोगसे छात्रोंकी परीक्षा और उनकी योग्यता निर्धारण करनेके निमित्त एक नई 'कार्यशाला-प्रणाली' (वर्कशौप मेथड) निकाली है जिससे छात्रोंको अनावश्यक रटनेसे भी छुट्टी मिल जायगी और वे परीक्षाके समस्त दोषों और बन्धनोंसे मुक्त होकर अपने ज्ञानका प्रयोगात्मक परिचय देकर स्वयं अपनी योग्यताका परीक्षण कर सकेंगे।

—:o:—

१२

पुस्तकालय

पुस्तकालय मनुष्यके ज्ञान-भाण्डारको पुष्ट और समृद्ध करनेका सर्वोत्कृष्ट साधन है। साथ ही पुस्तकके द्वारा हम घर-बैठे ही सारे संसारकी सैर कर लेते हैं; सारे संसारके दर्शन, विज्ञान और साहित्यसे परिचित हो जाते हैं; नई और पुरानी विभिन्न जातियोंकी विचार-धारामें डुबकियाँ लगाकर अनमोल मोती बटोरते हैं; सहस्रों वर्ष पहलेके महापुरुषोंकी भावनाओंका स्पष्ट परिचय प्राप्त करते हैं और इस प्रकार अपने जीवनको सरल और सुसंस्कृत बनाते हुए मस्तिष्कको पुष्ट, मनको तुष्ट और बुद्धिको विकसित करते हैं।

विद्यालयका आत्मा

यदि अध्यापकोंको हम पाठशालाका मस्तिष्क मानते हैं तो पुस्तकालयको पाठशालाका आत्मा मानना पड़ेगा, क्योंकि अध्यापकोंकी कार्य-कुशलता बहुत कुछ पुस्तकालयकी उपयोगितापर ही निर्भर है।

पुस्तकोंका चुनाव

जिस प्रकार पाठशालाका आत्मा पुस्तकालय है उसी प्रकार पुस्तकालयका प्राण पुस्तकोंका समुचित चुनाव है। पुस्तकालयमें संसारका कूड़ा-कचरा बटोरकर रख देनेसे कोई लाभ नहीं होता। ऐसे पुस्तकालयोंसे लाभके स्थानपर हानि होनेकी ही अधिक सम्भावना रहती है। शिक्षण-संस्थाओंके पुस्तकालयोंमें जो पुस्तकें रक्खी जायँ उनमें तीन बातोंपर ध्यान रखना बहुत आवश्यक है—

(१) पाठशालाके पुस्तकालयमें संगृहीत पुस्तकें रुचिकर तो हों पर कुरुचिपूर्ण नहीं अर्थात् उन पुस्तकोंके पठन-पाठनमें मन तो रमे पर उनसे कोई चरित्र-सम्बन्धी अवाञ्छनीय प्रभाव न पड़ने पावे।

(२) पाठशालाओंमें जो पुस्तकें रक्खी जायँ वे विचारशीलताको प्रोत्साहन देनेवाली अवश्य हों पर सर्वथा दार्शनिक न हों। उन पुस्तकोंके पठन-पाठनसे विद्यार्थीमें स्वयं सोचनेकी शक्ति तो बढ़े पर ऐसा न हो कि पुस्तक समझनेमें ही उसकी सारी शक्ति शिथिल हो जाय।

(३) वे ज्ञान बढ़ानेवाली होनेके साथ-साथ सरल भी हों। उनमें ज्ञान-भाण्डार बढ़ानेवाले विषयोंका वर्णन ऐसा सर्वग्राही तथा लोक-बोधक हो कि उनसे केवल अध्यापक ही नहीं वरन् छात्र भी उचित लाभ उठा सकें।

पुस्तकालयके विभाग

पुस्तकोंकी प्रकृतिके अनुसार विद्यालयके पुस्तकालयके छह विभाग हो सकते हैं—

१. उपदेशात्मक पुस्तकें : जैसे नीतिके संग्रह, हितोपदेश, भगवद्गीता आदि।

२. विभिन्न विषयोंकी विशेष तथा विस्तृत जानकारीके लिये काममें आनेवाले विमर्श-ग्रन्थ (रेफ़रेन्स बुक्स) : चित्र-संग्रह, कोष, विश्वकोष और मानचित्रावली (एटलस) जैसी पुस्तकोंकी गणना इसी श्रेणीमें की जा सकती है।

३. पाठ्यग्रन्थ : वे पुस्तकें, जो कक्षा विशेषके पाठ्यक्रममें निर्दिष्ट हो चुकी हैं। इन पुस्तकोंका उपयोग तभीतक रहता है जबतक उनका नाम पाठ्य पुस्तकोंकी सूचीमें चढ़ा रहता है।

४. विशेष विज्ञान-सम्बन्धी पुस्तकें : इस विभागमें नवीन वैज्ञानिक विषयोंपर खोजके साथ लिखी हुई पुस्तकें रक्खी जायँ। बिजली, बेतार आदि विषयोंकी सभी वैज्ञानिक पुस्तकें इस विभागमें रक्खी जा सकती हैं।

५. मनोरंजक साहित्य (लाइट लिटरेचर) : काव्य, नाटक, कहानी, यात्रा, जीवनी, वृत्तान्त और उपन्यास सभीकी खपत इस विभागमें हो सकती है।

६. काव्यशास्त्र और समीक्षा : रस, अलंकार, पिंगल, साहित्यशास्त्र तथा साहित्यकी समीक्षाके सब ग्रन्थ इसीके अन्तर्गत आते हैं।

पुस्तकोंका संग्रह करते समय सदा स्मरण रखना चाहिए कि ऐसी कोई पुस्तक न छूट जाय जिसके न होनेसे विद्यालयके पाठ्य-विषयोंके अंश पढ़ने-पढ़ानेमें बाधा पड़े।

पाठशालाओंमें पुस्तकालयके दो विभाग करने चाहिएँ—

१. सर्वसाधारण : जिसका उपयोग अध्यापक तथा छात्र समान रूपसे करें।

२. कक्षा-पुस्तकालय : जिसका उपयोग केवल विशेष कक्षाके विद्यार्थी ही करें।

कक्षा पुस्तकालय

कक्षा पुस्तकालयकी पुस्तकें कक्षाके विद्यार्थियोंके अवस्थानुरूप हों। अध्यापकको विद्यार्थियोंकी मानसिक अवस्थाके अनुसार पढ़नेके लिये पुस्तकें चुननेमें सहायता देकर यह प्रयत्न करना चाहिए कि वह मनोवैज्ञानिक प्रेरणा-द्वारा विद्यार्थियोंमें पुस्तक पढ़नेकी रुचि उत्पन्न करे।

पुस्तकालयका प्रबन्ध

यदि पुस्तकाध्यक्षको व्यवस्था न हो तो मुख्य पुस्तकालयके प्रबन्धका भार किसी ऐसे अध्यापकको सौंपना चाहिए जिसे पुस्तकोंसे स्वाभाविक प्रेम हो, जिसका ज्ञान चतुर्मुख हो, जो सभी विषयोंकी थोड़ी-बहुत जानकारी रखता हो, जिसके पास किसी विशेष विषयके अध्ययनकी इच्छा लेकर यदि कोई आवे तो वह तुरन्त उसके काममें आनेवाली दो-चार-छह पुस्तकोंके नाम बतला सके तथा उचित परामर्श दे सके।

कक्षासे सम्बन्ध रखनेवाले पुस्तकालयकी देखरेख उस कक्षाके अध्यापकके हाथमें रहनी चाहिए पर पुस्तकके लेन-देनका सारा काम विद्यार्थियोंके द्वारा ही होना उचित है। ऐसा होनेसे विद्यार्थियोंमें सच्चाई और स्वावलम्बनकी भावना जड़ पकड़ेगी। पुस्तकके लेन-देनका सारा प्रबन्ध विद्यार्थियोंके हाथोंमें रहनेसे उनकी रुचि भी धीरे-धीरे पुस्तकोंके पठन-पाठनकी ओर बढ़ेगी।

पत्र-पत्रिकाएँ

विद्यालयकी हस्तलिखित पत्रिकाओंके सम्पादकोंको देख लेना चाहिए कि लेख छोटे और मनोरञ्जक हों, उनमें जो ज्ञान देनेका प्रयास हो वह गुरु और उपदेष्टाके रूपसे न होकर कथा-कहानियोंके ढंगसे हो। सब लेख सुन्दर लिपिमें लिखे हों और यथा-संभव सब लेख विद्यार्थियोंके ही हों।

बाहरसे भी जो छपी हुई पत्र-पत्रिकाएँ विद्यालयमें मँगाई जायँ उनमें भी इस बातका ध्यान रक्खा जाय कि उनके विषय सुरुचिपूर्ण, चरित्र-सुधारक उदात्त वृत्तिको उकसानेवाले तथा रुचिकर हों और उनकी भाषा विद्यार्थियोंकी मानसिक अवस्थाके अनुकूल हो। उनमें गन्दे तथा झूठे विज्ञापन न हों, यदि हों तो वे फाड़कर अलग कर दिए जायँ।

संग्रहालय

प्राय: स्कूलमें छोटे-मोटे संग्रहालय तो होते ही हैं किन्तु इनकी अधिकांश सामग्री व्यर्थ सी होती है। भाषाके अध्यापक तथा विद्यार्थियोंके लिये संग्रहालयमें कुछ विशेष वस्तुएँ अथवा उनके चित्र होने चाहिएँ। हम लोग चातक, कोकिल, सारिका तथा हंस आदि पक्षियोंका वर्णन अपनी पुस्तकोंमें पाते हैं और पढ़ाते समय 'एक प्रकारका पक्षी' कहकर काम चला लेते हैं। यहाँतक कि अध्यापक भी इन पक्षियोंके रूप-रंगसे परिचित नहीं होते। इसी प्रकार वीणा, मृदंग, भेरी, अस्त्र-शस्त्र, फूल-पत्ती, लता-वृक्ष, फल-फली आदिसे भी वे अपरिचित होते हैं। यदि ये वस्तुएँ, इनके चित्र अथवा इनकी प्रतिमूर्तियाँ संग्रहालयमें हों तो पढ़ानेमें सुविधा हो और इन पदार्थोंका उचित ज्ञान हो।

—:o:—

१३

सहशिक्षा

आजकल सहशिक्षाकी समस्या दुर्निवार आवश्यकता बनकर सभी सात्त्विक शिक्षाशास्त्रियोंके सिरकी पीड़ा बनी हुई है, विशेषतः उन देशोंमें जहाँ पुरुषों और स्त्रियोंका अलग-अलग रहनेका संस्कार उनकी जातिगत रूढिसे मिला है।

सहशिक्षाके रूप

संसारमें जहाँ-जहाँ सहशिक्षा चलाई जा रही है वहाँ-वहाँ उसके निम्नलिखित रूप मिलते हैं—

क. छोटी कक्षाओंमें ६-७ वर्ष तकके बालकों (लड़कियों और लड़कों) को एक साथ मिलाकर कक्षामें पढ़ना।

ख. छोटी कक्षाओंमें ६-७ वर्ष तकके बालकों (लड़कियों और लड़कों) को एक ही कक्षामें अलग, कन्याओंको आगे और लड़कोंको पीछे बैठाकर पढ़ाना।

ग. ८ से १६ वर्ष तकके बालकों और बालिकाओंको एक ही कक्षामें एक साथ मिलाकर बैठाना।

घ. ८ से १६ वर्ष तककी अवस्थावाले बालकों और बालिकाओंको एक ही कक्षामें अलग-अलग बैठाकर पढ़ाना।

च. एक ही विद्यालयमें अलग-अलग कक्षामें बालिकाओं और बालकोंको शिक्षा देना।

छ. एक ही भवनमें एक समय बालकोंको और दूसरे समय बालिकाओंको शिक्षा देना।

ज. १६ वर्षसे ऊपरके युवकों और युवतियोंको एक साथ एक कक्षामें मिलाकर बैठाना और शिक्षा देना।

ऋ. १६ वर्षसे ऊपरके युवकों और युवतियोंको एक ही कक्षामें अलग-अलग बैठाकर शिक्षा देना।

ट. पुरुषों-द्वारा कन्याओंको शिक्षा।

ठ. महिलाओं-द्वारा बालकों तथा युवकोंकी शिक्षा।

ड. पुरुषों और महिलाओं-द्वारा मिलकर केवल कन्याओं या केवल लड़कोंको शिक्षा देना।

ढ. पुरुषों और महिलाओं-द्वारा मिलकर बालकों और बालिकाओंके सम्मिलित विद्यालयमें पढ़ाना।

सहशिक्षाकी इन उपर्यङ्कित शैलियोंमें (च) शैलीको छोड़कर शेष सभीमें भी यह देखा गया है कि जिस समय लड़के आकर बैठकर पढ़ते हैं उस समय वे फूहड़ और अश्लील बातें अथवा प्रेमपत्र लिखकर लेखपीठों (डेस्कों)के भीतर छोड़ जाते हैं और जब कन्याएँ आकर बैठती हैं तो उन्हें या तो ऐसे पत्र पाकर झेंप या मानसिक व्यथा होती है अथवा जीवनके इस नये खेलमें प्रवेश करनेकी उत्तेजना पाकर वे भी प्रत्युत्तर देने अथवा वैसा ही कांड करनेको उत्सुक हो जाती हैं।

सहशिक्षाका विरोध

देशी और विदेशी आचार्योंने सहशिक्षाके प्रस्तावको प्रायः शंकाकी दृष्टिसे देखा है। सहशिक्षाकी समस्यापर चार दृष्टियोंसे विचार करना चाहिए—

१. नैतिक, २. आर्थिक, ३. सामाजिक तथा ४. मानवीय।

सहशिक्षाका नैतिक पक्ष भी है। कन्या और कुमारका अथवा स्त्री और पुरुषका परस्पर एक दूसरेके प्रति आकृष्ट होना दो प्रकारसे स्वाभाविक होता है—१. काम-वासनाकी सहज प्रेरणाको तृप्त करनेके लिये, जो स्वाभाविक पशुवृत्ति है, जिसमें एक दूसरेके प्रति वास्तविक आकर्षण नहीं होता, केवल एक दूसरेसे परस्पर कामतृप्तिकी इच्छा भर रहती है, जिसके पश्चात् दोनोंमें कोई मेल नहीं, कोई सम्बन्ध नहीं। यह केवल आवश्यकताकी पूर्ति मात्र है।

२. दूसरा आकर्षण सौंदर्योपभोग-वृत्तिके कारण होता है, जिसमें कोई पुरुष किसी स्त्रीके सौन्दर्यपर या स्त्री किसी पुरुषके रूपपर मुग्ध होकर उसे अपने निकट रखकर उसके रूप-लावण्यके दर्शनका आनन्द लेनेके साथ-साथ उसकी देहका उपभोग भी करना चाहता या चाहती है। यह वृत्ति भ्रमरवृत्ति कहलाती है। कामतृप्तिकी पशुवृत्ति और बहुरस-लोलुपताकी भ्रमर-वृत्तिसे उत्पन्न होनेवाली असंख्य कठिनाइयाँ दूर करके मनुष्यको पशुसे ऊपर उठाकर उसकी सौन्दर्योपभोग-वृत्तिको परिमित करके समाजने अपनी रक्षा करनेकी दृष्टिसे विवाहके नियम बनाए किन्तु यह सब होते हुए भी जबतक धर्म-भय, ईश्वर-तथा आत्मभयके संस्कारसे मानव-हृदय संस्कृत नहीं हो जाता तबतक मनुष्यकी स्वाभाविक प्रवृत्ति तो ज्योंकी त्यों बनी रहती है और जहाँ अवसर मिला वहीं उछल पड़ती है, उबल पड़ती है और समाजके बन्धनोंके कारण उसके जितने भयंकर परिणाम हो सकते हैं, सब होते हैं—गर्भपात, भ्रूण-हत्या, विषपान, आत्महत्या, बालहत्या, सामाजिक बहिष्कार, देशत्याग, पारस्परिक परित्याग आदि। इन्हीं सब कारणोंसे पुराने आचार्यों और समाज-शास्त्रियोंने पुरुषों और स्त्रियोंको अलग-अलग रहनेकी सम्मति दी थी।

मानवीय पक्ष

आजकल प्रगतिशील तथा रूढिविदारक विश्वबन्धु लोग 'संसारमें मनुष्य-मनुष्य सब एक हैं' की पुकारके साथ खान-पान और रोटी-बेटीका व्यवहार स्थापित करके विश्व-मानव-समाजका संघटन करनेके लिये सहशिक्षाका समर्थन कर रहे हैं। यदि हम थोड़ी देरके लिये यह मान भी लें तब भी हमें मनुष्यकी भ्रमर-वृत्तिपर तो नियन्त्रण करना ही पड़ेगा। नैतिक आधारके बिना कोई भी समाज कभी जीवित नहीं रह सकता और नैतिकताको स्थिर रखनेके लिये मनुष्यकी भ्रमरवृत्तिको संयत रखना अत्यन्त आवश्यक है। अतः, मानववादी आदर्शकी दृष्टिसे भी सहशिक्षाका समर्थन नहीं किया जा सकता।

आर्थिक पक्ष

जिन देशोंमें सहशिक्षा प्रारम्भ की गई उनमें इसका प्रयोग आर्थिक

कारणोंसे किया गया। दोनों लिंगोंके थोड़े बालकोंके लिये दो विद्यालय-भवन अलग-अलग बनाना, अलग अध्यापक रखना, अलग सामग्री जुटाना और उन्हें चलाना निश्चित रूपसे व्ययसाध्य है। जब कुछ देशोंमें शिक्षा अनिवार्य हो गई तब यही ठीक समझा गया कि एक ही भवनमें एक ही समयमें बालक-बालिकाओंको अलग-अलग या साथ-साथ पढ़ाया जाय या अलग-अलग समयमें बालकों और बालिकाओंके अलग-अलग विद्यालय चलें। बालक बालिकाओंको साथ-साथ शिक्षा देना निश्चित रूपसे सस्ता पड़ता है और जहाँ शिक्षाका भार वहाँके लोक-कोषपर हो वहाँ इसके अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय भी नहीं है क्योंकि शिक्षा अनिवार्य कर देनेके पश्चात् कोई भी राज्यकोष इतना समर्थ नहीं हो सकता कि वह प्रत्येक व्यक्तिको शिक्षित करनेका स्वयं भार ले। अतः, सामूहिक सहशिक्षा अथवा एक-गृही भिन्न-विद्यालय-सहशिक्षाकी पद्धति अपनानेके अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग नहीं रह जाता। किन्तु यदि हमने शिक्षाका उद्देश्य नैतिक अभिवर्द्धन और चरित्र-निर्माण भी रक्खा है तो हमें शिक्षा अनिवार्य करनेका लोभ संवरण करना होगा और थोड़े ही छात्रों तथा छात्राओंको अलग-अलग विद्यालयोंमें शिक्षा देकर ही सन्तोष करना होगा।

सहशिक्षाके परिणाम

अमरीका तथा योरपके जिन देशोंमें सहशिक्षाका प्रचार है वहाँ भी उसके परिणाम अच्छे नहीं हुए हैं। सहशिक्षाके समर्थकोंका कहना है कि सहशिक्षासे बालकोंमें विनयकी भावना बढती है, एक दूसरेके प्रति आदर बढता है, स्वस्थ प्रतिस्पर्धाकी अभिवृद्धि होती है, उत्पात कम होता है, विद्यालयका वातावरण विनयपूर्ण हो जाता है, एक दूसरेके स्वभावको दोनों पक्ष ठीक समझते हैं, एक दूसरेसे अलग रहनेसे जो स्वाभाविक झेंप, झिझक, कुतूहल और मानसिक विलासकी भावना रहती है वह परिचय और सम्पर्कसे दूर हो जाती है, घरके भाई-बहन जैसा उनका पारस्परिक व्यवहार और आचरण होने लगता है। किन्तु जिन लोगोंको इस सम्बन्धमें व्यावहारिक अनुभव है उनका वक्तव्य इससे सर्वथा भिन्न है। उनका कहना है कि

सहशिक्षासे बालकोंमें स्त्रियोचित भाव-भंगी और कायरता, बालिकाओंमें पुरुषोचित औद्धत्य, कन्याओंको देखकर बालकोंमें स्वाभाविक कुतूहल, फुसफुसाहट, परचेबाजी, कनखियोंमें संकेत ओर अभव्य चुहल होती है। आठ वर्षसे ऊपरके बालकोंमें सहशिक्षा जहाँ हो रही है वहाँ कन्याओंमें उन्माद, मूर्च्छा, प्रदर आदि बहुतसे रोग हो रहे हैं और बालकोंमें स्वप्नदोष, मानसिक अस्वस्थता, पागलपन, हृद्रोग, क्षय आदि भयंकर रोग होते जा रहे हैं क्योंकि नित्यप्रति अपने आकर्षणके आधार (बालक या बालिका) को देखकर उससे सम्पर्क प्राप्त कर सकने या न कर सकनेके कारण, बोलचाल, स्पर्श, सहाध्ययन आदि हो सकने या न हो सकनेके कारण अथवा दूसरेके प्रति उनका मोह, आकर्षण या सम्पर्क होनेकी ईर्ष्यामे अपना भाव अतृप्त, पीडित और विदलित हो जानेके कारण परिणाम यह होता है कि वे आवेगमें पत्र-द्वारा या मौखिक प्रेम प्रकट कर डालते हैं या असफल होकर आत्महत्या कर बैठते हैं, पागल हो जाते हैं या कोई रोग पकड़ बैठते हैं। अतः, सहशिक्षा चलानेसे पूर्व या तो प्राचीन भारतीय स्त्रीत्वका ऐसा संस्कार डाल दिया जाय कि किसी पुरुषको देखना, उससे बातें करना, उसे स्पर्श करना, कन्याएँ अपने लिये पाप समझें और स्वयं उनका आत्मा उससे उसी प्रकार विद्रोह करे जैसे मांस न खानेवाला व्यक्ति मांसको अस्पृश्य समझता है, चाहे वह कितने भी अच्छे ढंगसे क्यों न प्रस्तुत किया गया हो। उसी प्रकार प्रत्येक बालकमें लक्ष्मणके चरित्रका वह आदर्श भर दिया जाय कि वह प्रत्येक नारीमें, माता या बहनकी भावना स्थापित कर सके। किन्तु आजके युगमें जहाँ रेल, ट्राम, सिनेमा, बस आदि सब स्थानोंपर यह सम्पर्क अनिवार्य हो वहाँ इस प्रकारके संस्कारकी अब कल्पना ही व्यर्थ है। हमारी शिक्षा-पद्धति ही ऐसी हो चली है कि हम किसी भी प्रकार अपनी कन्याओंको सीता नहीं बना सकते, अपने पुत्रोंको लक्ष्मण नहीं बना सकते। यह तभी सम्भव है जब कन्याओंको विद्यालयसे दूर रक्खा जाय, घरमें साधारण अक्षर-ज्ञानके साथ गृहस्थाचार की शिक्षा दी जाय और निरन्तर उदाहरण, दृष्टांत, उपदेश और तर्जनसे सतीत्वका संस्कार भरा जाय। किन्तु यह अत्यन्त

अव्यवहार्य है। इसीलिये अच्छा यही है कि कन्याओं और बालकोंकी शिक्षा अलग-अलग विद्यालयमें दूर-दूर हो।

सामाजिक पक्ष

संसारके प्रायः सभी देशोंके माता-पिता चाहते हैं कि हमारी मान-मर्यादाके अनुकूल ही बालकका संस्कार हो तथा उसका विवाह-सम्बन्ध भी समान कुल-शील-आचार-वालोंके साथ हो। इस दृष्टिसे कुछ देशोंमें तो प्रारम्भसे ही बालक और बालिकाओंको अलग-अलग रखते हैं किन्तु कुछ देशोंमें बालक-बालिकाओंको साथ ही रखकर उनमें ऐसा पारिवारिक और सामाजिक संस्कार डाल दिया जाता है कि लड़के या लड़कियाँ अलग-अलग रहकर चाहे जितना उत्पात करें, किन्तु जब वे एकत्र हो जायँ तब एक दूसरेका संकोच मानकर शील और सौजन्यका व्यवहार करें। जिन देशोंके बालकोंमें इस प्रकारका सामाजिक संस्कार नहीं होता वहाँके बालक कन्याओंको देखते ही उद्दंड, अशिष्ट, दुःशील, दुर्विनीत, चपल, ढीठ और दुष्ट होकर अनेक प्रकारके दुष्काण्ड करने लगते हैं। ऐसे देशोंमें सहशिक्षा अनेक प्रकारसे घातक सिद्ध हो सकती है।

१५

विद्यालयकी प्रबन्ध-समिति

आचार्य, अध्यापक और गृहपति चाहे जितने भी सचेष्ट और सावधान रहें किन्तु यदि प्रबन्ध-समिति सहयोग न दे या आचार्यके प्रबन्धमें हस्तक्षेप करे और बाधा डाले तो अच्छेसे अच्छे आचार्य भी कुछ नहीं कर सकते हैं।

प्रबन्ध-समितिके सदस्य

किसी भी विद्यालयकी प्रबन्ध-समितियोंमें केवल वे ही लोग सदस्य हों जो शिक्षा-शास्त्रसे परिचित हों और जिनकी शिक्षामें रुचि हो। केवल आर्थिक सहायता करनेवाले, बड़े नामवाले, वकील, राजनीतिक दलसे सम्बन्ध रखनेवाले या राजनीतिक कार्यकर्त्ताओंको कभी भूलकर भी किसी विद्यालयकी प्रबन्ध-समितिका सदस्य नहीं बनना चाहिए क्योंकि व्यापक अनुभवसे सिद्ध हुआ है कि राजनीतिक कार्यकर्त्ता, विद्यालयोंके सबसे बड़े शत्रु और उसकी समुन्नतिके लिये भयंकर रूपसे घातक होते हैं।

व्यवस्थापक (मैनेजर)

विद्यालयका व्यवस्थापक ऐसा व्यक्ति होना चाहिए जिसे शिक्षा-शास्त्र तथा अर्थ-रक्षण (हिसाब-किताब) का अच्छा ज्ञान हो, जिसका जनतामें आदर हो, जो सच्चा और सद्वृत्त (ईमानदार) हो, जिसे विद्या-प्रचार और प्रसारमें रुचि हो, धन एकत्र करनेकी बुद्धि और समर्थता हो, जो न सरकारी नौकर हो, न वकालत करता हो, न व्यवसाय करता हो। अच्छा तो यह है कि कोई धनी, सुशिक्षित, वयोवृद्ध तथा शिक्षामें रुचि लेनेवाले ऐसे व्यक्तिको व्यवस्थापक बनाया जाय जो विद्यालयके लिये अधिकसे अधिक समय दे सके, दौड़-धूप कर सके और धन-संग्रह कर सके। अवकाश-प्राप्त आचार्य, अध्यापक या निरीक्षकको स्वल्प दक्षिणा (औनरेरियम) देकर भी इस कार्यके लिये उनकी सेवा ग्रहण करना अधिक उपयुक्त, उपादेय और वाञ्छनीय है।

प्रबन्ध-समितिके कर्त्तव्य

प्रबन्ध-समितिके निम्नलिखित कर्त्तव्य हैं—

१. विद्यालयके लिये धन एकत्र करना।

२. विद्यालय, छात्रावास, अध्यापक तथा सेवकोंके लिये भवन निर्माण कराना तथा खेल-भूमिके लिये स्थान प्राप्त करना।

३. आचार्यकी नियुक्ति करना।

४. आचार्यकी इच्छा और सम्मतिसे विभिन्न विषयोंके लिये जाति-धर्म-आदिका विचार न करके योग्यताके अनुसार अध्यापक तथा लिपिक नियुक्त करना।

५. ठीक समयपर सबको वेतन देनेकी व्यवस्था करना और प्रति वर्ष नियमित वेतन-मानके क्रमसे वेतन-वृद्धि करना।

६. बाहरसे आए हुए अध्यापकोंके लिये आवासका प्रबन्ध करना।

७. छात्रोंकी संख्या बढ़ाने, विभिन्न कक्षाओंमें नये वर्ग खोलने तथा नये-नये विषय चलानेकी व्यवस्था करना।

८. आचार्य तथा अध्यापकोंको सब प्रकारसे संतुष्ट रखना और उनके लिये सब प्रकारकी सुविधा देना।

९. आचार्य-द्वारा उपस्थित की हुई आवश्यकताओंकी उपयोगिताका विचार करके उन्हें पूर्ण करना।

१०. किसी छात्र, सेवक, लिपिक या अध्यापकको कभी यह प्रोत्साहन न देना कि वे आचार्यकी, अन्य अध्यापककी, छात्रकी या सेवककी अपस्तुति करें। सबको जो कुछ कहना-सुनना हो आचार्यसे कहें।

११. सुरक्षा कोष (प्रोविडेंट फंड) में उचित आर्थिक योग देना।

१२. जिस नगरमें विद्यालय हो उस नगरके प्रभावशाली लोगों तथा समितिके सदस्योंके किसी सम्बन्धीको विद्यालयमें किसी पदपर नियुक्त न करना।

प्रबन्ध-समितिके अधिकार

प्रबन्ध-समितिको अधिकार होगा कि—

१. आचार्यमें यदि चरित्र-सम्बन्धी दोष हों या रुपये-पैसेमें गडबडी हो या वह निर्धारित शिक्षा-नीतिके विरुद्ध चले तो उससे त्याग-पत्र ले ले।

२. विशेष धार्मिक या शिक्षा-नीतिके अनुसार विद्यालय चलानेके लिये आचार्यको बाध्य करे।
३. आचार्यकी सम्मतिके अनुसार झगड़ालू, अकर्मण्य, अयोग्य तथा दुश्चरित्र अध्यापकोंको हटा दे।
४. विद्यालय-भवन या भूमिको अच्छे स्थानपर स्थानान्तरित कर दे।

किन्तु उसे यह अधिकार नहीं होगा, न होना चाहिए कि—

१. योग्य तथा लोकप्रिय आचार्यको अकारण हटा दे।
२. किसीका वेतन या उचित वेतन-वृद्धि रोक ले।
३. विद्यालय तथा छात्रावासकी आन्तरिक व्यवस्था (प्रवेश, अग्रारोहण, दंड, शिक्षण, दिनचर्या, खेल आदि कार्यों) में हस्तक्षेप करे या बाधा दे।
४. अपने मनके अनुकूल अध्यापक, लिपिक या सेवक नियुक्त कर दे।

अध्यापकोंको अवकाश

शिक्षा-व्यवस्थाका सबसे बड़ा दोष तो यह है कि अध्यापकको भी पचपन या साठ वर्षकी अवस्था प्राप्त होते ही अवकाश ग्रहण करनेको बाध्य होना पड़ता है। जैसे वकील और डाक्टर अपने जीवनके अन्तिम क्षणतक वकील और डाक्टरी कर सकते हैं वैसे ही अध्यापकको भी तबतक काम करने देना चाहिए जबतक वह पूर्णतः अशक्त न हो जाय, क्योंकि जिस समय वास्तवमें उसका ज्ञान और अनुभव परिपक्व तथा प्रौढ़ होता है उसी समय उसे अवकाश दे दिया जाता है। यह सिद्धान्त अत्यन्त दोषपूर्ण है।

वृद्ध अध्यापकोंका उपयोग

वृद्ध अध्यापकोंका सबसे सुन्दर उपयोग तो गृहपति (वार्डन) और संप्रेरक (हाउस मास्टर) के रूपमें हो सकता है क्योंकि वयोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध और शीलवृद्ध अध्यापकोंके प्रभाव तथा सम्पर्कसे ही छात्रावासका संपूर्ण वातावरण स्वच्छ, सुन्दर और स्वस्थ हो सकता है।

पंचम खंड

शिक्षा-प्रणालियाँ और विधियाँ

१

कक्षामें अध्यापक

विद्यालयमें शिक्षाका उद्देश्य होता है बालकका सर्वांगीण विकास करके उसे इस योग्य बना देना कि वह समाजका हितकर सदस्य होकर सुखसे अपनी जीविकाका निर्वाह कर सके। इस कार्यको सम्पन्न करानके लिये अध्यापक उसे अनेक विषयोंका ज्ञान कराता है। इस अध्यापनका प्रयोजन ही यह है कि वह कमसे कम समयमें छात्रके सुप्त संस्कारोंको जगाकर उसे सरलतासे अनेक रुचिवर्द्धक विषयोंका ज्ञान देकर इस योग्य बना दे कि वह सरलतापूर्वक सब विघ्न-बाधाएँ दूर करते हुए, स्वच्छन्द, सुखपूर्वक अपना जीवन व्यतीत कर सके और दूसरोंको सुख दे सके। यह ज्ञान देनेके लिये रुचिकर विधियोंसे उसे पूर्वार्जित ज्ञानके सम्पर्कसे नया ज्ञान देना चाहिए, बलपूर्वक छात्रके मस्तिष्कमें नहीं भरना चाहिए।

जो कुछ हम जानते हैं, जो कुछ हम अनुभव कर चुके हैं उसे कच्ची बुद्धि और अवस्थावाले बालकको ठीक-ठीक हृदयङ्गम करा डालना ही हमारे अध्यापनकी सफलता है। कलात्मक अध्यापनसे नौ दिनका मार्ग तीन दिनमें पूरा हो सकता है जिससे शक्ति, श्रम और समयकी बहुत बचत होती है। अतः, इस खंडमें उन अनेक प्रणालियों और शिक्षा-विधियोंका परिचय दिया जायगा जिनसे अध्यापन सरस, रुचिकर तथा कलात्मक हो सके।

कक्षामें प्रवेश

समस्त शिक्षा-प्रणालियों और विधियोंका प्रयोग तो अध्यापकको ही करना पड़ता है अतः पहले यह समझ लेना आवश्यक है कि अध्यापकको किस प्रकार कक्षाके सम्मुख पहुँचकर किस प्रकार व्यवहार करना चाहिए।

कक्षामें अध्यापकका प्रवेश उसी प्रकार होता है जिस प्रकार रङ्गमञ्चपर नट प्रवेश करता है। उसे अपनी वाणी और गतिविधिका पूरा ध्यान रखते

हुए आगे बढ़ना पड़ता है। उसे सदैव यह ध्यान रखना पड़ता है कि मैं कहीं कुछ भूल न जाऊँ, कुछका कुछ न कह जाऊँ, मेरी चुटिया टोपीके बाहर न झाँकती रहे, छात्र मुझपर हँसे नहीं। कक्षामें बहुतसे बालकोंकी दृष्टि अध्यापकके दोषों और उसकी त्रुटियोंपर ही लगी रहती है। वे यही देखते रहते हैं कि गुरुजी कौनसे शब्दकी बार-बार टेक देते हैं और कैसे उच्चारण करते हैं फिर वे उसका विनोदात्मक अनुकरण करने लगते हैं।

जैसे अभिनेता 'वन्समोर' या 'एन्कोर' (एक बार और या फिरसे) कहलानेके लिये सतत् प्रयत्नशील होता है उसी प्रकार अध्यापक भी यही चाहता रहता है कि छात्र उसके पढ़ानेके ढंगकी प्रशंसा करें, अपने मुखपर समझदारीकी आभा दिखलाकर, नेत्रोंमें प्रशंसाकी चमक झलकाकर।

पहलेसे तैयारी

अध्यापकको कक्षामें जो कुछ कहना और करना हो उसकी सारी तैयारी पहलेसे कर रखनी चाहिए। क्या, कितना, किस ढंगसे और कितनी देरमें पढ़ाना है, इसका लेखा उसे पहलेसे ही बना रखना चाहिए। जिस अवसरपर उसे जो वस्तु अपने विद्यार्थियोंको दिखानी या सुनानी हो वह सारी सामग्री उसे साथ तैयार ही रखनी चाहिए।

स्वच्छता

बाहरी स्वच्छताका मनपर बड़ा अच्छा प्रभाव पड़ता है। स्वच्छ वातावरणसे एकाग्रतामें भी सहायता मिलती है। इसीलिये कक्षासे सम्बन्ध रखनेवाली सभी वस्तुए —मेज़, कुर्सी, भूमितल, डेस्क, चटाई, स्टूल, दीवार, आलमारी, श्यामपट्ट—स्वच्छ, नियमित, सक्रम, सङ्गत और सुरुचिपूर्ण होनी चाहिएँ। कक्षामें वायु और प्रकाश पर्याप्त होना चाहिए और उस वातावरणमें साँस लेनेवाले सभी अध्यापक और छात्रोंके शरीर और वस्त्र स्वच्छ तथा सुदर्शन होने चाहिएँ। तात्पर्य यह है कि बैठनेके साधन—कुर्सी, स्टूल, बेंच आदि; अध्ययनके साधन—डेस्क, पुस्तक, लेख-पुस्तिका, श्यामपट्ट, मानचित्र आदि; स्वास्थ्यके साधन—द्वार, आकाश-द्वार, खिड़कियाँ, भूमितल,

छत, दीवार, आलमारी आदि; सौन्दर्य-बोधके साधन चित्र या भीतपर महापुरुषोंके वचन आदि; सब स्वच्छ, सुन्दर, कलात्मक और मनोहर हों। अध्ययन-अध्यापनसे सम्बन्ध रखनेवाली सभी नित्यकी आवश्यक वस्तुएँ—खड़ियासे लेकर मानचित्र और पुस्तकों तक—कक्षामें उपस्थित रहनी चाहिएँ, जिससे समय और आवश्यकता पडनेपर अध्यापनकी गतिमें बाधा दिए बिना ही अध्यापक उनका प्रयोग कर सके।

अनेक प्रकारके छात्र

कक्षा-रूपी प्रयोगशालामें प्रवेश करनेपर अध्यापकको कुछ तो अत्यन्त प्रखर बुद्धिवाले असाधारण बालक मिलते हैं जिन्हें एक बात बताई जाय तो अपनी बुद्धिसे वे दो बातें सीख लेते हैं। कुछकी बुद्धि अतिशय प्रखर तो नहीं पर साधारणतया अच्छी होती है। किन्तु कुछ ऐसे भी होते हैं जिन्हें आप लाख पढ़ाते-समझाते रहिए पर वे मिट्टीके माधो बने बैठे रहेंगे। यदि अध्यापक इन विद्यार्थियोंके लिये समय और शक्तिका प्रयोग करता है तो कक्षाके कुशाग्र विद्यार्थी बेकार बैठनेके कारण अद्भुत काण्ड करने लग जाते हैं। यदि वह कुशाग्र-बुद्धि विद्यार्थियोंपर ध्यान देता है तो खच्चरोंके गधे हो जानेका भय बना रहता है। ऐसी अवस्थामें अध्यापकको चाहिए कि कुशाग्र-बुद्धि विद्यार्थियोंको ऐसी उपयोगी पुस्तकोंकी तालिका दे दे जिनका वे मुक्त होकर अध्ययन कर सकें और फिर उन्हें पढ़नेमें लगाकर अध्यापक साधारण विद्यार्थियोंकी ओर विशेष ध्यान दे। प्रत्येक अध्यापकको अपने प्रत्येक विद्यार्थीका नाम जानना आवश्यक है। ऐसा होनेसे छात्र सदा सशंक रहते हैं कि अध्यापक व्यक्तिगत रूपसे हमारा ध्यान रखता है। विद्यार्थियोंपर अलग-अलग ध्यान देना अध्यापकके लिये सम्भव नहीं है, फिर भी अध्यापकको सावधान रहना चाहिए कि कक्षाका कोई विद्यार्थी स्वप्नमें भी न सोच सके कि अध्यापक मेरी उपेक्षा कर रहा है।

अध्यापकका कण्ठ

अध्यापकके लिये कंठका या 'स्वर' का बड़ा महत्त्व है। कण्ठसे फूटकर

मुखके विभिन्न भागोंसे टकराकर निकलनेवाली उन सभी भाषा-ध्वनियोंको 'स्वर' कहना चाहिए जो सार्थक, स्पष्ट और मधुर हों।

ध्वनिकी सार्थकताका अर्थ है कि बोलते समय हमारी भाषामें स्वीकृत ध्वनियोंका ऐसा शुद्ध उच्चारण किया जाय कि वे ठीक अर्थ व्यक्त कर सकें। 'ध्वनि' की स्पष्टता' का अर्थ यह है कि मुखसे निकलनेवाली ध्वनि श्रोताओंके कानोंमें अपना ठीक रूप लेकर पहुँचे। ऐसा न हो कि आप कहते हों 'राम' और आपके उच्चारणकी अपूर्णता और अस्पष्टताके कारण वह दूसरेको सुनाई दे 'ज़ाम'। मधुर वाणी उस सार्थक ध्वनि समूहको कहते हैं जो उचित बल, उचित गति, उचित उतार-चढाव और उचित मात्रामें अवसर तथा पात्रके अनुकूल, मानसिक स्वस्थता और प्रसन्नताके साथ व्यक्त किया जाय और जिसको सुनकर श्रोता और भी अधिक सुननेके लिये लालायित हो उठे।

उचित बलका अर्थ है कि स्वर न तो इतना तीव्र हो कि कानके पर्दोंपर बम-गोला बनकर गिरे न इतना मन्द हो कि 'आप सुनै जो आपहि भाखै।' स्वर इतना ही ऊँचा हो कि कक्षाका प्रत्येक बालक आपकी वाणीका प्रत्येक अक्षर ठीक-ठीक सुन सके।

उचित गतिका अर्थ यह है कि वाक्य न तो अत्यन्त शीघ्रतासे बोला जाय न अत्यन्त ठहर-ठहरकर। वाणीमें प्रवाह और गति तो रहे किन्तु वह आँधी न बन जाय। उचित गति उतनी ही गतिको कहते हैं कि मुखसे निकले हुए शब्द श्रोताके कानमें प्रवेश करके उसके मस्तिष्कपर टेपलेखनके अक्षरोंके समान बैठते चले जायँ; कोई अक्षर, शब्द, वाक्य या विचार वायुमें न विलीन हो जाय। पर इतना ठहर-ठहरकर भी न बोला जाय कि जान पड़े किसीने अध्यापककी चुटिया पीछेसे पकड़ ली है और उन्हें खोद-खोदकर खिलौनेवाली चिड़ियाके समान चूँ-चूँ करा रहा है। अध्यापकको इस गतिसे बोलना चाहिए कि उसकी बात भलीभाँति समझी जा सके।

जैसे आरोह, अवरोह, मींड और मूर्च्छनाके ललित संयोगसे कोई राग अधिक आकर्षक और प्रभावशाली हो जाता है उसी प्रकार भावके अनुसार

स्वरके उचित उतार-चढाव या सुस्वरतासे बोली हुई भाषामें विशेष शक्ति और चमत्कार आ जाता है ।

उचित मात्रा

उचित मात्राका अर्थ है कि अध्यापकको उतना ही बोलना चाहिए जितनेकी आवश्यकता हो, पर इसका यह अर्थ भी नहीं है कि अध्यापक महोदय मौनी बाबा बन जायँ और ऐसे गिन-गिनकर तौल तौलकर शब्द बोलने आरम्भ कर दें कि छात्रोंकी समझमें ही न आवे कि क्या कह रहे हैं । 'उचित मात्रा का अर्थ यही है कि अवसरके अनुकूल तथा छात्रोंकी समझ और योग्यताके अनुसार उतनी ही वाणी प्रयोगमें लाई जाय जिससे प्रस्तुत विषयको छात्र भलीभाँति समझ जायँ ।

मानसिक स्वस्थता

पर इन सबसे अधिक महत्त्वकी बात है मानसिक स्वस्थता और प्रसन्नता । इस प्रकारकी मुखमुद्रा बनाकर बात न कही जाय कि छात्र समझें आप मुहर्रमके दिन जनमे हैं या दुर्वासाके भाई हैं । आपको चाहिए कि सदा प्रसन्न दिखलाई दें । कक्षामें घुसें तो मुस्कराहटके साथ और बोलें तो मन्द हासके साथ । आपकी वाणीसे ऐसा जान पड़े मानो फूल झड़ रहे हों । आपकी मुखमुद्रा ऐसी प्रसन्न हो कि देखनेवाले भी खिल उठें । इस मुद्राके साथ जब आपका कण्ठ खुलेगा तब छात्रोंकी दृष्टि आपके मुखपर, उनके कान आपके वचनोंपर और उनके मन आपके विचारोंपर एकाग्र हो जायँगे । यही कण्ठकी कोमलता और कमनीयताकी विशेषता है ।

कंठका सुधार

जिनका कंठ सुस्वर न हो उनका कण्ठ सुधारनेके लिये एक औषधि है--

त्रिफला लवणाक्तेन भक्षयेच्छिष्यकः सदा ।
क्षीणमेधा जनन्येषा स्वरवर्णकरी तथा ॥

[यदि सेंधा नमक मिला हुआ त्रिफलाका चूर्ण शिष्य (या गुरु) नित्य प्रातःकाल फाँके तो बुद्धि बढ़ती है और स्वर ठीक हो जाता है ।] जिन

लोगोंका स्वर बहुत पतला, धीमा अथवा बेसुरा है उन्हें चाहिए कि कोरा घड़ा या मटका लेकर उसमें मुँह डालकर उच्च स्वरसे बोलनेका अभ्यास करें तो स्वर-मन्दता, विस्वरता आदि कण्ठ-दोष दूर हो जाते हैं।

कंठका व्यवसाय करनेवालोंको मिर्च, खटाई, अचार, तेल आदि गर्म तथा तीक्ष्ण पदार्थोंका कभी सेवन नहीं करना चाहिए और बरफ़ या बरफ़का पानी तो भूलकर भी नही पीना चाहिए। इससे कण्ठ नष्ट हो जाता है, फूल जाता है और उसमें अनेक रोग पैठ जाते हैं। इसी प्रकार अपने कण्ठको सर्दीसे बचाना चाहिए। स्वर-नलिकापर कोई भी ऊनी कपड़ा लपेटे रहनेसे कण्ठ नहीं बिगड़ता। इसीलिये पहले अध्यापक लोग कण्ठमें दुपट्टा लपेटे रहते थे।

कण्ठ ठीक रखनेके लिये प्राणायामका नियमित प्रतिदिन व्यवहार भी आवश्यक है। प्राणायाम करनेकी क्रिया गुरुसे सीखनी चाहिए। इसका साधारण नियम यह है– रीढकी हड्डीको समसूत्रमें रखकर, सीधे पल्थी मारकर बैठ जाइए और पहले कुछ बार गहरी साँस लेकर नाक और साँसकी नली स्वच्छ कर लीजिए। इसके पश्चात् जिस नासारंध्रसे साँस चल रही हो उससे साँस चढ़ाइए और दूसरा रंध्र बन्द करके कुछ देर साँस रोक रखिए और उसके अनन्तर बन्द विवरसे साँस धीरे-धीरे निकाल दीजिए। साधारणतः एक मिनटमें साँस खींचकर भीतर लेना, दो मिनट-तक रोक रखना और आधे मिनटमें निकाल देना प्रारम्भमें पर्याप्त है।

इस प्रकारके अभ्यास, साधन और उपायोंसे कण्ठ साधनेवाले अध्यापक सुकण्ठ और सुस्वर हो जाते हैं तथा ऐसे लोग ही सभा, समाज या पाठशालामें यश और सम्मान पाते हैं।

पाठकके गुण

अच्छे पाठकके जो गुण कहे गए हैं, वे ही गुण अच्छे वक्ता (बोलनेवाले) में भी होने चाहिएँ—

> माधुर्य्यमक्षरव्यक्तिः पदच्छेदस्तु सुस्वरः।
> धैर्यं लयसमर्थं च षडेते पाठका गुणाः॥

[(१) मधुरता या कोमलताके साथ बोलना (स्वीटनेस्), (२) एक-एक अक्षर स्पष्ट करके बोलना (आर्टिकुलेशन), (३) एक-एक शब्द स्पष्ट करके बोलना (प्रोनन्सिएशन), (४) भाव तथा अर्थके अनुसार स्वरको उचित रूपसे उतार-चढ़ाकर बोलना (इन्टोनेशन), (५) उचित गतिसे धैर्यके साथ बोलना (मौडरेट स्पीड), तथा (६) उचित विराम देकर लय अथवा प्रवाहका निर्वाह करते हुए बोलना (प्रौपर ह्वम); ये छह गुण अच्छे पाठक, वक्ता या अध्यापकमें होने ही चाहिएँ ।]

इसके विपरीत टायँ-टायँ करके या घरघराकर बोलना, बोलते हुए अक्षरोंको खा जाना, शब्दोंको एक-दूसरेसे बुरे ढंगसे मिलाकर या अनुचित रूपसे अलग करके बोलना, एक स्वरसे सब कुछ कह जाना, अति शीघ्र या अति मन्द गतिसे बोलना तथा अनुचित विराम देकर वाणीको झटके दे-देकर बोलना—वाणीके दोष हैं। यदि अध्यापकमें ये दोष हों तो वह उन्हें शीघ्र दूर कर ले और गुण ग्रहण कर ले। वाणीके सगुण होनेसे अध्यापकके अन्य सभी दोषोंपर पर्दा पड़ सकता है किन्तु यदि कंठ न सधा तो और गुणोंका होना न होना बराबर है। 'वाण्येका समलङ्करोति पुरुषं या संस्कृता धार्यते ।' [यदि वाणी मँजी हुई होगी तो वही एक गुण किसी भी पुरुषका सबसे बड़ा अलंकरण है ।]

अध्यापकके पाँच भाव

शिक्षण-मनोविज्ञानके आचार्योंने कुछ भावोंको अध्यापकका मित्र और कुछको अध्यापकका शत्रु कहा है। मित्र भावोंमें सबसे प्रधान है मानसिक शान्ति, जो सन्तोषसे प्राप्त होती है। दूसरा भाव है आत्मविश्वास, जो गम्भीर अध्ययन तथा नित्य स्वाध्यायसे मिलता है। तीसरा भाव है हर्ष, जो अभ्याससे प्राप्त होता है। यह हर्ष या हँसमुखपन ऐसा हो कि आप जिससे मिलें वह भी आपको देखकर खिल उठे, मुहर्रमी भी आपसे मिलते ही फाग मानने लगे। चौथा भाव है निर्भयत्व, जो सच्चरित्रता, गम्भीर अध्ययन और आत्म-निर्भरतासे प्राप्त होता है। पाँचवाँ भाव है स्नेहयुक्त व्यवहार।

अध्यापकको अपने मुखपर इतने भाव अंकित करके कक्षामें प्रवेश करना चाहिए ।

मन्द हासके साथ कक्षामें प्रवेश करते ही पाठकी आधी सफलता अध्यापकको मिल जाती है क्योंकि आपके मुखकी प्रसन्नताके बदले छात्र अपनी श्रद्धा, अपना स्नेह और अपनी एकाग्रता दान दे डालते हैं । यही तो आपको चाहिए, यही आपको मिल जाता है । यह प्रसन्नताकी मुद्रा पाठन-कालमें आदिसे अन्त-तक व्याप्त रहनी चाहिए ।

आंगिक चेष्टा

अध्यापकको अत्यन्त संयत होकर अंग-संचालन करना चाहिए । पाठका भाव समझानेके लिये यदि किसी प्रकारके अङ्ग-सञ्चालन अथवा भाव-भङ्गीके प्रदर्शनकी आवश्यकता हो तो उसका प्रयोग अवश्य करना चाहिए किन्तु अंग-सञ्चालनकी मुद्राएँ ललित (ग्रेसफ़ुल), आवश्यक (नेसेसरी), उचित (प्रौपर) और सोद्देश्य (पर्पज़फुल) हों । ललितका तात्पर्य यही है कि फूहड़, अश्लील या भयोत्पादक मुद्राएँ न की जायँ । ऐसा न हो कि 'शीर्षासन' शब्द आते ही गुरुजी नीचे सिर और ऊपर पैर करके कसरत दिखाने लगें, 'हावभाव' शब्द आते ही हाथ या कमर मटकाने लगें अथवा 'रौद्र' शब्द आते ही आँखें चढ़ाकर, नथने फुलाकर, चिल्लाकर आकाश सिरपर उठाने लगें । अध्यापकको शील, शिष्टता और लालित्यकी रक्षा करते हुए ही वचित प्रकारसे अंग-संचालन करना चाहिए ।

अध्यापककी प्रत्येक गतिमें एक आकर्षक तथा अनुकरणीय शोभा, भव्यता और शालीनता होनी चाहिए । उसके चलने, सिर हिलाने, आँखें घुमाने, हाथ हिलाने, फैलाने, उँगली चलाने आदिमें सुघरता होनी चाहिए । वह ऐसे सीधे चले कि उसका प्रत्येक पग नपा-तुला पड़े; बाएँ हाथमें पोथी हो, दायाँ हाथ कमरके पीछे हो, अवसर-अवसरपर वह अपना स्थान तो बदलता रहे, किन्तु टहलता न रहे । मेज या कुर्सीका सहारा लेकर न खड़ा हो और बैठे भी तो ठीकसे पैर लटकाकर, मेजपर पैर फैलाकर नहीं ।

इसे अध्यापन-शिष्टाचार (टीचिंग एटिकेट) कहते हैं और इसका भी छात्रोंपर अलक्षित संस्कार पड़ता है ।

दुरभ्यास या कुटेव (मैनरिज़्म)

हाथमें खड़िया लेकर नचाना या उछालना अथवा सूचकदंड (पौइंटर) लेकर उसे घुमाना, कोटका बटन उमेठना, तालीका गुच्छा लेकर लपेटना, दाँतोंसे नख काटना, कलम या उँगलियाँ कानोंमें डालना आदि अभ्यास अनुचित और अवाञ्छनीय हैं । ये अभ्यास आगे चलकर ऐसे दुरभ्यासका रूप ले लेते हैं कि छात्रोंको हँसी उड़ाने या विनोद करनेका अवसर मिल जाता है ।

अध्यापकका वेष

अध्यापकके वस्त्र सादे हों, बहुमूल्य नहीं; स्वच्छ हों, दिखावटी नहीं; पूर्ण हों, अपूर्ण नहीं; चुस्त हों शिथिल नहीं । जिस देशका भी वेश हो, पूरा हो ।

तात्पर्य यह है कि अध्यापक सादे, स्वच्छ और पूर्ण वस्त्र पहनकर, मन्द मुसकानके साथ कक्षामें प्रवेश करे और वहाँ उसकी मुखमुद्राएँ तथा अंग-संचालन ललित उचित, आवश्यक तथा सोद्देश्य हों ।

कक्षामें व्यवहार

कक्षामें प्रवेश करते ही अध्यापकको चाहिए कि मृदु मन्द हासके साथ कक्षाके स्वागत-सत्कारका अभिनन्दन करे और तत्काल छात्रोंको बैठ जानेका आदेश दे दे । अध्यापकको पाठसे सम्बन्ध रखनेवाली पोथी, चित्र, मानचित्र आदि आवश्यक उपादान साथ ले जाने चाहिएँ । इन वस्तुओंको मेज़ अथवा तदनूकूल स्थानोंपर रखकर झाड़न लेकर श्यामपट्ट पोंछकर स्वच्छ कर देना चाहिए । इसके पश्चात् श्यामपट्टके दाईं ओर अर्थात् अपने बाएँकी ओर कोनेमें तिथि लिख देनी चाहिए । उसे चारों ओर दृष्टि घुमाकर यह देख लेना चाहिए कि सभी छात्र पिछले घंटेके पाठके कामसे छुट्टी पा चुके हैं या नहीं । ऐसा न हो कि एक गणित कर रहा हो, दूसरा अनुवाद कर

रहा हो और तीसरा मानचित्र खींच रहा हो। यदि ऐसा हो रहा हो तो सहानुभूतिमय दृष्टिके साथ-साथ यह चेतावनी भी दे देनी चाहिए कि अब पिछला काम जहाँका तहाँ बन्द कर दो और इस घंटेके लिये निर्दिष्ट पाठ ग्रहण करनेके लिये सन्नद्ध हो जाओ। इस प्रकार दृष्टि घुमानेसे छात्रोंको निश्चय हो जाता है अध्यापककी दृष्टि बड़ी व्यापक और तीखी है, हमें सावधान हो ही जाना चाहिए। इतना कर चुकनेपर पाठ प्रारम्भ करते ही छात्र एकाग्र हो जाते हैं। अच्छे प्रारम्भसे ही आधी सफलता मिल जाती है।

इसी प्रारम्भिक दृष्टि-प्रसारणसे अनुपस्थित छात्रोंका भी ज्ञान हो जाता है। अनुपस्थित छात्रोंके विषयमें पूछताछ भी करना अत्यन्त आवश्यक है किन्तु यह पूछताछ भी संक्षिप्त और सहानुभूतिमय होनी चाहिए। इससे छात्रोंके मनमें स्नेहमय, श्रद्धामय आतङ्क बना रहता है। इस पूछताछमें व्यंग्यात्मक प्रश्न नहीं करने चाहिएँ। यदि कभी ऐसे प्रश्न किए भी जायँ तो उनमें जान-बूझकर छात्रोंका दोष ढूँढ़नेकी, उनपर आरोप लगानेकी अथवा उन्हें चरित्रहीन सिद्ध करनेकी गन्ध नहीं होनी चाहिए क्योंकि इस प्रकारके प्रश्नोंसे अनुपस्थित छात्रोंका असम्मान, उनके चरित्रपर लांछन और उनके प्रति अन्य छात्रोंकी दुर्भावनाको प्रोत्साहन मिलता है। ऐसे प्रश्नोंसे छात्रोंके सामूहिक आत्म-सम्मानको भी ठेस लगती है।

कभी-कभी इस प्रकारके प्रश्नोंके उत्तरमें छात्र अपने अनुपस्थित सहपाठी-की बुराई भी कर देते हैं किन्तु ऐसे उत्तरको कभी प्रोत्साहन नहीं देना चाहिए वरन् एक सहायक व्यंग्यात्मक प्रत्युत्तर-द्वारा उसे वहीं ठंढा कर देना चाहिए। न तो छात्रोंमें दोष स्वयं निकालना चाहिए न छात्रोंको ही इस प्रकार उत्साहित करना चाहिए कि वे अपने साथियोंके दोष निकालें। यदि अध्यापककी ओरसे छात्रोंको इस प्रकारका प्रोत्साहन मिल जाता है तो वे आगे चलकर पिशुनी (चुग़लखोर), देशद्रोही और विश्वासघाती सिद्ध होते हैं। किसी छात्रको दुखी, उदास अथवा उद्विग्न देखकर उससे कुशल-मंगल भी पूछ लेना चाहिए और उसे हँसाकर चेतन कर देना चाहिए।

पक्षपातसे दूर रहो

किसी छात्रपर विशेष कृपा दिखाना, उससे ही नित्य कुशल-मंगल पूछना और उसके अनुपस्थित होनेपर बड़ा दुःख प्रकट करना सर्वथा अवाञ्छनीय है। अध्यापकको कभी भूलकर भी किसी छात्रको विशेष कृपापात्र नहीं बनाना चाहिए और न उसके विषयमें कभी विशेष पूछताछ करनी चाहिए। कन्या-विद्यालयोंमें इस प्रकारका पक्षपात बहुत देखा जाता है। कन्याएँ भावुक होकर किसी अध्यापिकाके प्रति या अध्यापिका किसी छात्राके प्रति ऐसी आकृष्ट हो जाती हैं कि एक दूसरेकी अनुपस्थितिमें उन्हें मानसिक पीडा होने लगती है और हृद्रोग, मूर्च्छा, अपस्मार या उन्माद तक हो जाता है। अतः, पक्षपात अध्यापकका सबसे बड़ा शत्रु है।

सर्वेक्षण

सूक्ष्म कुशल-मंगलके पश्चात् देख लेना चाहिए कि छात्र अपनी पोथियाँ या पाठ-सम्बन्धी अन्य सामग्री [अभ्यास-पुस्तिका, कलम, अंजनी, (पेन्सिल), रबड़, मानचित्रावली आदि] लाए हैं या नहीं। जो न लाए हों उनकी भी भर्त्सना नहीं करनी चाहिए। उन्हें प्रेमसे आगे सावधान रहनेका निर्देश कर देना चाहिए। ये सब क्रियाएँ डेढ़-दो मिनटमें समाप्त हो जानी चाहिएँ। ऐसा न हो कि कुशल-मंगल पूछनेमें ही पूरा घंटा बीत जाय, पाठ प्रारम्भ करनेका अवसर ही न मिले। इन आवश्यक प्रारम्भिक क्रियाओं (एसेन्शल प्रिलिमिनरीज़) के पीछे पाठ प्रारम्भ कर देना चाहिए।

२

पाठकी योजना

पाठके प्रकार

प्रत्येक पाठके तीन मुख्य भाग होते हैं—१. आरम्भ (प्रस्तावना), २. मध्य (मूल पाठ) और ३. अन्त (आवृत्ति और प्रयोग)।

प्रस्तावना

प्रस्तावनाका अर्थ यह है कि किसी न किसी रुचिकर प्रकारसे छात्रोंसे पूर्वसंचित ज्ञानका आधार लेकर उन्हें वहाँ ले जाकर पहुँचा दिया जाय जहाँ से निर्दिष्ट पाठ आरम्भ करना है। इस प्रस्तावनाके द्वारा कोई भी ऐसी बात नहीं प्रकट होनी चाहिए जो अध्यापकको पाठमें पढ़ानी हो या छात्रोंकी समझसे बाहर हो।

प्रश्न, कथा-कहानी, दृष्टान्त आदि वाच्य विधानोंसे या प्रयोग, आंगिक अभिनय, चित्र, मानचित्र, प्रतिमूर्त्ति (मौडल) आदि दृश्य विधानोंसे किसी भी पाठकी प्रस्तावना की जा सकती है। वह ऐसे ढंगसे होनी चाहिए कि छात्रोंका मन नये पाठमें पूर्णतः एकाग्र हो जाय।

मूल पाठ

मूल पाठके अध्यापनके तीन अंग होते हैं—वाचन, व्याख्या तथा विश्लेषण।

अच्छे वाचनमें छह गुण होने चाहिएँ—मधुरता, अक्षरोंका स्पष्ट उच्चारण, शब्दोंका स्पष्ट उच्चारण, भावके अनुसार स्वरका आरोह-अवरोह, उचित गति और उचित लय। वाचनके समय इन गुणोंके विकासका ध्यान रखना चाहिए और अध्यापकको स्वयं आदर्श वाचन करके छात्रोंका पथ-निर्देश करना चाहिए। वाचनके समय बाँचनेकी मुद्रा और पुस्तक लेकर खड़े

होने, भावानुसार हाथ, नेत्र आदिके संचालन तथा पुस्तकसे एक बार देखकर दर्शक या कक्षाकी ओर मुँह करके पढ़नेका अभ्यास डलवा देना चाहिए। ऐसा न हो कि छात्र निरन्तर पुस्तकमें आँखें गड़ाए देखते रहें। कविता-वाचनके समय तो छन्दकी गति और भाव दोनोंका ध्यान रखकर बाँचनेका अभ्यास कराना ही चाहिए।

व्याख्या

व्यख्या ही वास्तवमें पाठका जीवन है। व्याख्या जितनी ही कलात्मक, स्पष्ट और रुचिकर होगी उतनी ही शीघ्रतासे छात्रोंकी समझमें पाठ आ जायगा। व्याख्या करनेके लिये—१. प्रश्नोत्तर, २. तुलना, ३. उदाहरण, ४. प्रयोगका स्पष्टीकरण, ५. अर्थ देना, ६. व्युत्पत्ति, ७. कथा आदि वाच्य विधानोंका तथा १. वस्तु-प्रदर्शन, २. चित्र, मानचित्र, मूर्त्ति, अथवा प्रतिमूर्त्ति प्रस्तुत करना, ३. आंगिक अभिनय, ४. श्यामपट्ट, ५. प्रयोग आदि दृश्य विधानोंका उपयोग करना चाहिए।

किन्तु यह भी स्मरण रखना चाहिए कि—

१. कक्षामें जीवित जीव-जन्तु (बन्दर, बिल्ली, साँप, कुत्ता, सुग्गा आदि) प्रदर्शनके लिये कभी नहीं लाने चाहिएँ क्योंकि उनसे या तो छात्र डर जायँगे या उन्हें देखते रह जायँगे, पाठ धरा रह जायगा।

२. आङ्गिक अभिनयके समय ललित, उचित, आवश्यक तथा सोद्देश्य अङ्ग-सञ्चालन होना चाहिए।

३. बन्दूक, बारूद, पिस्तौल, विष आदि घातक तथा विस्फोटकारी पदार्थोंका प्रयोग या प्रदर्शन कक्षामें नहीं करना चाहिए।

भाव-विश्लेषणमें प्रश्नोंके द्वारा इस बातकी परीक्षा कर लेनी चाहिए कि पाठके अन्तर्गत जितनी बातें आई हैं वे छात्रोंने समझ ली हैं या नहीं।

आवृत्ति और प्रयोग

पाठकी आवृत्ति तो प्रश्नोंके द्वारा और उसका प्रयोग घरके लिये या अभ्यासके लिये काम देकर होता है। घरपर करनेके लिये जो कार्य दिया जाय उसके सम्बन्धमें स्मरण रखना चाहिए कि—

१. गर्मी और बरसातमें घरके लिये कुछ कार्य नहीं देना चाहिए। उसकी कमी जाड़ेमें पूरी कर लेनी चाहिए।

२. अन्य अध्यापकोंने जितना काम दिया हो उसे दृष्टिमें रखकर छात्रोंकी योग्यता और शक्तिके अनुकूल काम देना चाहिए।

३. यह भलीभाँति देख लेना चाहिए कि छात्र स्वयं काम करता है या दूसरोंसे सहायता लेता है। प्रारम्भमें यह बात भले ही छोटी सी जान पड़े किन्तु आगे चलकर यह परावलम्बता उसे आलसी, अकर्मण्य, मिथ्याभाषी और परमुखापेक्षी बना देती है।

४. घरके लिया दिया हुआ काम ऐसा हो जिसमें बालककी कल्पना और रचना-शक्तिका विकास हो तथा बुद्धि और स्मृतिका उचित परिष्कार हो।

५. यह काम अधिकतर ऐसा हो जो बालकके भावी जीवनमें सहायक भी हो।

अतिरिक्त कार्य

अध्यापकको कभी-कभी अपना निर्दिष्ट विषय पढानेके अतिरिक्त दूसरे विषय भी पढ़ानेके लिये दे दिए जाते हैं। ऐसे कृपा-पाठन (काइण्डली क्लास) के समय अध्यापकको उस घंटेके लिये निर्धारित पाठ ही पढाना चाहिए। इसके लिये अध्यापकको विद्यालयके सभी विषयोंसे थोड़ी-बहुत जानकारी अवश्य रखनी चाहिए। अपने विषयका पूर्ण पण्डित होनेके साथ ही उसे अन्य विषयोंका भी व्यावहारिक ज्ञान होना चाहिए। सब विषयोंमेंसे चुन चुनकर उसे कुछ ऐसे प्रसंग, कुछ ऐसा ज्ञान संग्रह कर रखना चाहिए जिनका वह ऐसे अवसरोंपर निर्भय और निःशङ्क होकर प्रयोग कर सके।

ऐसे अवसरोंपर—१. अन्त्याक्षरी-प्रतियोगिता, २. मानचित्रका अध्ययन (मैपस्टडी), ३. घटना-तिथि-विमर्श, ४. पहेली-बुझौवल तथा ५. कहानी सुनानी या सुननी चाहिए।

६. प्रायः प्रत्येक विषयमें साधारण पाठ्य-ज्ञानके अतिरिक्त बहुत-सी बातें छात्रोंके लिये कुतूहलजनक भी हो सकती हैं। गणितमें ऐसी बहुत-सी समस्याएँ, ऐसे बहुतसे गुर और अभ्यास हैं जिन्हें देख-सुनकर गणितसे

नाक-भौं सिकोड़नेवाला व्यक्ति भी आँखें चमकाकर उसमें रस लेने लगता है। एक साधारण-सा उदाहरण लीजिए—

'दो पेड़ोंपर कुछ चिड़िएँ बैठी हैं। एक पेड़की चिड़िएँ दूसरे पेड़वाली चिड़ियोंसे कहती हैं कि यदि तुममेंसे एक हमारे पेड़पर आ जाय तो हम तुम्हारे बराबर हो जायँ। दूसरे पेड़वाली उत्तर देती हैं कि तुम्हारे पेड़परसे एक हमारे पेड़पर आ जाय तो हम तुमसे तिगुनी हो जायँ। बताओ दोनों पेड़ोंपर कितनी-कितनी चिड़िएँ थीं। [तीन और पाँच]।

इसी प्रकार और भी अनेक प्रकारकी रुचिकर और कूतूहलजनक क्रियाएँ कराई जा सकती हैं, जैसे कहावतोंका अर्थ निकलवाना, समस्या-पूर्त्ति कराना, विभिन्न देशोंके सम्बन्धकी विशेष कुतूहलजनक बातें बताना जैसे जापानियोंका अतिथि-सत्कार, चीनियोंका परस्पर अभिवादन करनेका ढंग, मलायाकी स्त्रियोंका गलेका आभूषण, हौलैंडके समुद्री बाँध, लाल भारतीयोंका पहनावा, ज़ुलू लोगोंका नाच, अरबोंका दैनिक जीवन, मिस्रके पिरैमिड बनानेवाले, नबूशद-नज़रका लटकन बाग, रोमके पोपोंकी कथा, स्पर्त्ताके कठोर नियम, रोमकी विलासिता, सुरियाके राजाओंकी विचित्र बातें, चीनकी दीवार, चाणक्यकी कूटनीति, बुद्धका महाभिनिष्क्रमण, सिकन्दर और पोरसका संवाद, अजन्ता, अलोरा, कैलास आदिके चित्र और शिल्पकी कथा, मुहम्मद तुगलक़का पागलपन, पद्मिनीका जौहर और बुद्धि कौशल, शिवाजीकी 'शठे शाठ्यं' वाली नीति, १८५७ के प्रथम स्वतन्त्रता–युद्धकी करुण कहानी, बंगालके व्यापारकी विनाश-कथा, स्वतन्त्रता-आन्दोलन आदि। इसी प्रकार नागरिक-शास्त्र, अर्थशास्त्र आदि विषयोंके कुछ व्यावहारिक तथा कुतूहल-वर्द्धक प्रसंग लेकर भी अध्यापक अत्यन्त रुचिकर ढंगसे छात्रोंको काममें लगाए रखकर कुतूहलजनक ढंगसे छात्रोंकी ज्ञानवृद्धि करता हुआ, अपने पांडित्यका सिक्का उनपर जमाता हुआ, उनका मनोरंजन करता हुआ उनका श्रद्धा-भाजन भी बन सके।

वाच्य विधान

पाठकी व्याख्याके वाच्य विधानोंमें केवल कण्ठ और मुखका ही प्रयोग होता है। इनके अन्तर्गत कथन, तुलना, उदाहरण, प्रसंग, कथन, अर्थ, व्युत्पत्ति, कथा आदि व्याख्या करनेके अनेक विधान हैं जिनका प्रयोग प्रसंग तथा आवश्यकताके अनुकूल अवश्य करना चाहिए।

कथन

बहुतसे प्रसंगोंपर अध्यापकको पुस्तकका आश्रय छोड़कर अपने ज्ञान, पांडित्य और अध्ययनका अवलम्बन लेकर विशेष तथ्य बता देना चाहिए। किन्तु उतना ही जितना संगत, आवश्यक और ठीक हो।

अवसर टालनेके लिये कभी अशुद्ध या भ्रमपूर्ण बातें छात्रोंको नहीं बतानी चाहिएँ। कक्षामें कथनके द्वारा जो कुछ ज्ञान देना हो उसे पहलेसे तैयार करके ले जाना चाहिए और यदि कभी कोई विषय ज्ञात न हो तो स्पष्ट कह देना चाहिए कि इसपर फिर कभी विस्तारसे बताया जायगा। किन्तु ऐसी परिस्थितियोंकी बार-बार आवृत्ति नहीं होनी चाहिए।

कथन करते समय वाणीके उचित उतार-चढ़ाव, उचित भावभंगी तथा मुखकी मुद्राके साथ ललित, आवश्यक, उचित तथा सोद्देश्य आंगिक अभिनय अवश्य हो। इससे कथनकी नीरसता कम होती रहती है।

कथनमें नीरस, उपदेशात्मक शास्त्रीय तथा वैज्ञानिक सामग्री भरनेके बदले सदा रुचिकर सामग्री डालते रहना चाहिए। कथा, कहानी, उदाहरण, कविता तथा चुटकुले आदिका बीच-बीचमें पुट देते रहनेसे उनका ध्यान बँधा रहता है, वे ऊबने नहीं पाते।

कथनके द्वारा अपनी विद्वत्ताकी धाक जमानेके लिये अध्यापकको अपने विषयके अतिरिक्त चित्रकला, संगीत-कला, ज्योतिष, आयुर्वेद और आधुनिक वैज्ञानिक आविष्कार आदि अन्य ऐसे विषयोंका परिचय देते रहना चाहिए जिससे छात्रोंकी श्रद्धा एकदम खिंची चली आवे।

कथनमें कभी आत्मश्लाघा नहीं करनी चाहिए। यदि आप अपनी विद्वत्ता या अपने किसी विशेष गुणकी धाक छात्रोंपर बैठाना चाहते हों तो

अपने गुणोंका प्रकाश करिए, अपने मुँहसे न कहिए। अपने गुण-प्रकाशनके लिये आप अवसर देखते ही प्रकाश कर डालिए पर अपने गुण इस प्रकार न दिखाइए कि उसका उलटा प्रभाव पड़े।

साहचर्य

मानसशास्त्रियोंका कहना है कि किसी भी ज्ञानको सरलतासे छात्रोंको बुद्धिमें जमानेके लिये कई भावों, विचारों या परिस्थितियोंके साहचर्यसे ज्ञातव्य विषयका परिचय देना चाहिए। भाव-साहचर्य (एसोसिएशन)से स्मृतिका काम हलका हो जाता है। इस प्रकार एक भाव या घटनाके संसर्गसे दूसरी घटनाकी स्मृति जोड़ देनेसे उसे स्मरण रखनेमें बड़ी सुविधा हो जाती है। यह प्रयोग केवल साधारण घरेलू घटनाओंके लिये ही नहीं अपितु साहित्य, इतिहास, भूगोल आदि सभी विषयोंके शिक्षणके लिये किया जा सकता है। यह साहचर्य तुलना, प्रसंग-कथन, चित्र-प्रदर्शन, कहानी आदि अनेक प्रकारसे किया जा सकता है।

तुलना

समानता या विरोध दिखाकर किन्हीं पदार्थोंकी तुलना की जा सकती है। कवियोंने इसीलिये अपने प्रस्तुतको अधिक प्रभावोत्पादक करनेके लिये अप्रस्तुत या उपमानोंका प्रयोग किया है। 'आँखें सुन्दर हैं' कहकर उन्हें नहीं सन्तोष होता। वे कहने लगते हैं—'आँखें नील कमलके समान हैं।' समान वस्तु प्रस्तुत हो जानेके कारण समझनेवालोंको अब और कुछ बताना शेष ही नहीं रहा।

विरोधात्मक तुलना

इसी प्रकार विरोधात्मक भावोंका तुलनात्मक विवेचन करनेसे भी उसका भाव-साहचर्य सदा ज्ञानकी दृढतामें सहायक ही होता है। मान लीजिए पुस्तकमें एक वाक्य आता है—'वे बड़े उत्कृष्ट विचारके व्यक्ति थे।' इस वाक्यमें 'उत्कृष्ट' शब्द कुछ कठिन है। हम पूछ सकते हैं—'नीच' का उलटा क्या है?' अवश्य उत्तर मिलेगा—'ऊँचा।' बस यही 'उत्कृष्ट' का

अर्थ है। इस प्रकार विरोधवाची शब्द देकर मूल शब्दका अर्थ निकलवाया जा सकता है।

कभी-कभी विरोधात्मक विचारोंकी एक साथ तुलना करनेसे भी ज्ञान पक्का होता है, जैसे—

सठ सुधरहिं सत-संगति पाई।
पारस परसि कुधातु सुहाई॥

और

नीच निचाई नहिं तजै, जौ पावै सतसंग।
तुलसी चन्दन बिटप बसि, बिस नहिं तजत भुजंग॥

इन दोनोंका तुलनात्मक विवेचन करनेसे दोनों तथ्योंका भाव भली भाँति समझाया जा सकता है।

उदाहरण

गूढ तात्त्विक विषयोंकी व्याख्याके लिये उदाहरण और दृष्टान्तसे ही काम लेना चाहिए। कर्त्तव्य-शीलता, सत्यवादिता, सुशीलता, शिष्टाचार आदि शब्दों और विषयोंकी मीमांसा उदाहरण या दृष्टान्त देकर सरलतासे की जा सकती है। विभिन्न परिस्थितियोंके उदाहरण और दृष्टान्त अध्यापकको बहुलताके साथ स्मरण रखने चाहिएँ जिससे वह उनका उचित प्रयोग कर सके किन्तु उदाहरणोंके प्रयोगमें संयत और सावधान रहना चाहिए। पाठकी हानि करके कक्षाको गल्प-शाला नहीं बना देना चाहिए। कक्षाका मनोरंजन ऐसा होना चाहिए जो ज्ञानवर्द्धक भी हो और निर्दिष्ट पाठ्यक्रममें निर्बाध सहायता भी प्रदान करे।

प्रसंग-कथा

प्रायः जो विषय हम पढ़ाते हैं उसमें कुछ ऐसे प्रसंगोंकी चर्चा भी आ जाती है जिसकी कथा जबतक न प्रकट हो तबतक मुख्य विषय समझमें नहीं आ सकता। एक दोहा लीजिए—

छमा बड़नको चाहिए, छोटनकौं उतपात।
कहा बिस्नुकौ घटि गयौ, जौ भृगु मारी लात॥

इस दोहेका अर्थ तबतक स्पष्ट नहीं किया जा सकता जबतक विष्णु और भृगुका प्रसंग न बता दिया जाय। ऐसी प्रसंग-कथा बताते समय केवल यही स्मरण रखना चाहिए कि वह सूक्ष्म हो, सरल भाषामें हो और स्पष्टताके लिये जितनी आवश्यक हो उतनी ही कही जाय।

अर्थ

अर्थ बतलाना शिक्षणका सबसे हीन और अन्तिम अस्त्र समझा जाता है। किन्तु जब सभी शिक्षण-विधियोंका प्रयोग कर लेनेपर भी अर्थ स्पष्ट नहीं हो पाता तब अध्यापकको स्वयं अर्थ बतलाना ही पड़ता है। किन्तु अर्थ बतानेके समय 'मघवा'का अर्थ 'बिडौजा' न बताया जाय, मूलसे अर्थ अधिक कठिन न हो जाय। अर्थ ऐसी सरल भाषामें बताना चाहिए कि छात्र उसे समझ सकें। अर्थ बतानेसे पूर्व कठिन शब्दोंका अर्थ निकलवाकर वाक्योंका विश्लेषण करके यथा-सम्भव उसका अर्थ छात्रोंसे निकलवा लेना चाहिए। अर्थ निकलवा लेनेपर भी प्रायः छात्र अर्थ तो समझ जाते हैं किन्तु उपयुक्त भाषामें उसे व्यक्त नहीं कर पाते। ऐसी परिस्थितिमें अध्यापकको यह भी बतलाते चलना चाहिए कि अर्थ किस प्रकार, किस भाषामें, कितना देना चाहिए।

व्युत्पत्ति

व्युत्पत्तिका प्रयोग प्रायः समस्त पदों (समासवाले शब्दों) और अप्रचलित शब्दोंके शिक्षणमें होता है। किन्तु प्रत्येक शब्दके माँ बाप, भाई-बन्धुओंकी जन्मपत्री खोल-खोलकर रखना ठीक नहीं है। व्युत्पत्तिका प्रयोग वहीं करना चाहिए जहाँ शब्दका अर्थ समझनेमें व्युत्पत्ति सहायक हो। शब्दोंकी व्युत्पत्तिका ज्ञान अध्यापकको अवश्य होना चाहिए, चाहे वह उनका प्रयोग कर पावे या न कर पावे क्योंकि अध्यापकको तो सब प्रकारसे तैयार रहना ही चाहिए।

कहानी

व्याख्याके वाच्य विधानोंमें मुख्य विधान कथा या कहानी है। मनबहलावके साधनके अतिरिक्त कहानियोंका शिक्षण-सम्बन्धी तथा नैतिक

महत्त्व भी कम नहीं है। इसीलिये योरपके जर्मन शिक्षा-शास्त्री फ्रोबेलने अपनी बालोद्यान (किंडरगार्टन)-प्रणालीमें कहानियोंको अत्यन्त प्रमुख स्थान दिया है।

बालक और कहानियाँ

बालकोंका मन कहानियोंमें बहुत रमता है। यही सत्य हमारे लिये बहुत काम़का है। हम यह भी जानते हैं कि जिसमें मन रमता है उसीमें ध्यान जमता है। इस एकाग्रतासे जो ज्ञान आता है, वह बुद्धि तत्काल ग्रहण कर लेती है और वह बालकके ज्ञानका निश्चित अंग बन जाता है। इसलिये सफल अध्यापकको चाहिए कि वह विभिन्न अवसरोंके योग्य कहानियाँ स्मरण रक्खे और अवसर पाते ही उनका प्रयोग कर दे। कहानियोंके द्वारा जितनी पक्की शिक्षा दी जा सकती है उतनी और किसी साधनके द्वारा सम्भव नहीं है। किन्तु कहानियाँ स्मरण करने मात्रसे ही काम नहीं चल सकता। अध्यापकको कहानी कहनेकी कला भी जाननी चाहिए। किस कहानीमें कौन-सी घटना प्रमुख है, किसपर अधिक बल देना चाहिए, किस समाजमें किस प्रकारकी भाषा काममें लानी चाहिए, कौन-सी बात हँसी उत्पन्न कर सकती है, किस बातको किस मुद्रासे कहा जाय, ये सभी बातें कहानी कहनेकी कलाके अन्तर्गत आती हैं।

कहानी किस प्रकार कही जाय ?

कहानी कहनेकी कलाका सर्वप्रथम आवश्यक तत्त्व यह है कि कहानीको ऐसा व्यक्तिगत बनाइए मानो उस कथाकी घटनाएँ आपने अपनी आँखोंसे देखी हैं, मानो प्रत्येक घटना आपपर विभिन्न प्रभाव छोड़ती गई है। यद्यपि कहानीमें आप भूत कालकी घटनाका वर्णन करते हैं फिर भी उसे आप इस प्रकार कहिए मानो आप दिव्य दृष्टिसे प्रत्येक घटनाको प्रत्यक्ष देख रहे हों और उससे प्रभावित होते हुए उसका वर्णन करते चले जा रहे हों।

मानव-मात्रकी ऐसी प्रवृत्ति है कि वह व्यक्तिगत अनुभव सुननेकी बड़ी इच्छा करता है। अतः, यदि आप अपने अनुभवकी कहानियाँ सुना सकें

तब तो सोनेमें सुगन्ध समझिए। छात्रोंसे अवस्था और अनुभवमें बड़े होनेके कारण प्रत्येक अध्यापककी स्मृतिमें जीवनकी ऐसी बहुत-सी अनुभूतियाँ सञ्चित रहती हैं जिन्हें वह अपने छात्रोंको कहानीके रूपमें सुना सकता है। बहुत-से अध्यापक आप-बीती सुनाकर बालकोंका उचित पथ-प्रदर्शन भी करते हैं किन्तु इस तरंगमें झूठी बातें नहीं करनी चाहिएँ।

कहानी ऐसी होनी चाहिए जो सबकी समझमें आ सके। उसके पात्रोंके नाम सरल, सुबोध और शीघ्र स्मरण होनेके योग्य हों, अवसरके अनुकूल हों, उसकी घटनाएँ पेचीदी न हों, घटनाओंमें घात-प्रतिघात हो और परिणाम सुखकर हो, उसमें भलेको पुरस्कार और दुष्टको दण्ड मिले। कहानीमें कोई बात ऐसी न हो जो अश्लील, फूहड़ और काम-वासनाकी ओर कल्पना दौड़ानेमें सहायक हो। यदि कहानी लम्बी, अधिक उलझी हुई और पेचीदी हो तो उसे बालकोंकी योग्यताके अनुसार छोटा तथा सरल बनाकर कहना चाहिए।

कहानीको सत्य मानकर और स्वयं उसका आनन्द लेते हुए कहिए, किन्तु कहनेसे पूर्व अपनी कहानीको भली प्रकार जान लीजिए अर्थात् कहानीके पात्रोंके नाम, घटनाक्रम, कहाँ क्या बात किस भाँति कही जायगी इसकी पूरी तैयारी पहलेसे कर रखनी चाहिए।

कहानी कहनेवालेको अपने श्रोतागण (छात्र) को अपनी दृष्टिकी परिधिमें रखना चाहिए। उसे ऐसे स्थानपर बैठ या खड़े होकर कहानी सुनानी चाहिए कि सब छात्र उसके मुखकी प्रत्येक मुद्राको देख और समझ सकें। कहानीको ऐसा सरल और सरस बनाए रखिए कि असावधानोंका ध्यान भी उधर आकृष्ट हुआ रहे।

इस प्रकार कथाको भली प्रकार जानकर, श्रोताओंको सम्मुख बैठाकर, स्वस्थ चित्तसे, अत्यन्त अधिकारपूर्ण मुद्रासे, सरल भाषामें, नाटकीय भाव-भंगियोंके साथ, स्वाभाविकता, उत्साह और उल्लासके साथ कहानी प्रारंभ करनी चाहिए।

कहानियाँ कब कही जायँ ?

जब आपको अवसर मिले तभी कहानी कह डालिए। केवल भाषा या साहित्यके शिक्षणमें ही नहीं वरन् गणित, इतिहास, भूगोल, विज्ञान आदि सभी विषयोंके शिक्षणमें कहानियोंका प्रयोग किया जा सकता है। विचारणीय बात यही है कि पाठ्य विषयोंके बीच-बीचमें कहानियोंका प्रयोग करके पाठको सरस, रुचिकर और आकर्षक बना देना चाहिए।

कहानी कहनेमें आवश्यकतासे अधिक समय नहीं लगाना चाहिए और कथा अथवा कहानीके कारण मुख्य पाठकी धारामें किसी प्रकारका व्याघात नहीं पड़ना चाहिए। यदि इस प्रकारके व्याघातकी आशङ्का हो तो कहानी कहनेका लोभ रोक लेना चाहिए क्योंकि यह अधिक सम्भव है कि छात्रगण कहानीको तो भली प्रकार समझ जायँ किन्तु आनन्दातिरेकके कारण वे मूल पाठ तनिक भी न समझ सकें। अध्यापक अपने साधारण विवेकसे ही कहानी कहनेके अवसरकी उपयुक्तता-अनुपयुक्तताका तथा उचित परिमाणका स्वयं विचार कर सकता है।

भूत, प्रेत, पिशाच, यक्ष, किन्नर, परी गन्धर्व, विद्याधरोंकी कहानियोंमें बच्चोंको बड़ा आनन्द आता है और उनके मनमें यह नैतिक विश्वास जमता चलता है कि बुरे कामका फल बुरा और अच्छेका अच्छा होता है तथा दैवी शक्तियाँ सदा भले लोगोंको सहायता पहुँचाने चली आया करती हैं। इनसे उनका नैतिक संस्कार बनता है।

हँसी-विनोदकी कहानियोंमें मूर्खोंकी मूर्खताओंका वर्णन सुनकर हँसी आती है और साथ-साथ यह भी ज्ञात होता चलता है कि किस अवस्थामें किस प्रकारका व्यवहार करनेसे मनुष्य हास्यका पात्र हो जाता है।

सभी साहित्योंमें पशु-पक्षियोंके जीवनसे ली हुई नीतिकी कहानियोंसे विवेक बढ़ता है।

केवल मनोविनोदकी कहानियोंसे कल्पनाका विकास होता है।

लोकरक्षक, त्यागी तथा साहसी ऐतिहासिक वीरोंकी ऐतिहासिक गाथाएँ सुननेसे वीरता जागती है, आत्मविश्वास बढ़ता है, साहस आता है,

कायरता दूर होती है, देश-प्रेम बढ़ता है और जीवनमें साहसके काम करनेकी प्रवृत्ति बढ़ती है। ऐसी कहानियाँ ही मनुष्यको मनुष्य बनानेमें सहायता करती हैं।

इस प्रकार कहानियोंका उचित संग्रह करके और प्रयोग करके अपने पाठको आकर्षक और सर्वप्रिय बना लेना चाहिए। जो अध्यापक कहानी कहनेकी कला जानता है, उसके छात्र उसके बिना मोलके दास बन जाते हैं।

प्रश्न और उसके अनेक रूप

शिक्षणमें प्रश्नका बड़ा महत्त्व है किन्तु इस प्रकार प्रश्न कीजिए कि पाठका ज्ञान स्वयं छात्रोंसे ही कहला लिया जाय, उनकी कल्पना-शक्ति, धारणा-शक्ति, समझनेकी शक्ति उत्तेजित हो और अध्यापक स्वयं उपदेष्टा तथा आदेष्टा न बनकर पथ-प्रदर्शक मात्र बना रहे, मार्ग सुझा भर दे, किन्तु उनका हाथ पकड़कर आगे-आगे न चले।

प्रश्न करनेसे छात्रोंमें चेतनता आती है। वे शिथिल, अकर्मण्य, निद्रालु नहीं होने पाते, उनका चित्त एकाग्र रहता है क्योंकि उन्हें प्रतिपल यही चिन्ता लगी रहती है कि कहीं अध्यापक महोदय हमसे पूछ न बैठें। प्रश्न करनेसे बालकोंकी कल्पना-शक्ति उद्दीप्त होती है, उनकी चिन्तन-शक्ति बढ़ती है और किस प्रकार तथा कितना उत्तर देना चाहिए इसका धीरे-धीरे अभ्यास होते चलनेसे उनकी विवेचना-शक्ति भी उन्नत होती चलती है। प्रश्न करनेसे छात्रोंमें आत्मविश्वास भी बढ़ता है। दो-चार बार प्रश्नोंका उत्तर देनेसे उनके मनमें यह विश्वास बैठता जाता है कि हमें तो बहुत कुछ आता है। उन्हें अपने भाव प्रकट करनेकी शक्तिको सहारा मिलता है, वे खुलकर बोलने लगते हैं, उनका संकोच भाग जाता है, उनका हियाव खुल जाता है, उनका दब्बूपन दूर हो जाता है। प्रश्न करनेसे सबसे बड़ा लाभ यह होता है कि छात्र स्वयं सीखता है, अध्यापकका काम भी सरल हो जाता है और उसे आत्मतुष्टि भी होती है।

सुकराती प्रश्न-प्रणाली

यूनानके प्रसिद्ध तत्त्वज्ञानी तथा विद्वान् सुकरातने अपने सिद्धान्तका

प्रचार करनेके लिये इसी प्रश्नोत्तरी प्रणालीका आश्रय लिया था। उनसे जो प्रश्न करता था उसके उत्तरमें वे ऐसे प्रश्न पूछते थे कि स्वतः उत्तर न देकर पूछनेवालेसे ही उत्तर निकलवा लेते थे। यदि कोई उनसे पूछता कि ईश्वर कहाँ है तो सुकरात तत्काल उससे पूछते—'ईश्वर कहाँ नहीं है?' बस यहाँसे वह पूछनेवाला स्वयं उत्तर देनेवाला बन जाता था।

प्रश्न करनेके पाँच उद्देश्य होते हैं—

१. नया पाठ पढानेसे पूर्व बालककी ज्ञान-परिधिका परीक्षण कर लेना।

२. पठित अंशको छात्रने कितना समझा है या वह कितना समझ सकता है इसकी परीक्षा करना।

३. पठित अंशकी आवृत्ति करना।

४. पठित अंशका कितना व्यावहारिक प्रयोग किया जा सकता है इसकी परीक्षा लेना।

५. छात्रोंकी कल्पना-शक्ति तथा विवेचना-शक्तिकी परीक्षा करना।

प्रश्न भी कला है

प्रश्नका रूप गढना तथा प्रश्न पूछना भी कला है। इसलिये सब प्रकारके प्रश्न कामके नहीं होते। उनमेंसे कुछ तो पूर्णतः व्यर्थ होते हैं और कुछ ज्ञानसंचय अथवा कल्पनाके विकासमें कोई सहायता नहीं देते। ऐसे अनुपयुक्त प्रश्नोंको त्याज्य प्रश्न कहते हैं। किन्तु कुछ प्रश्न ऐसे अवश्य होते हैं जिनसे छात्रोंका वास्तविक लाभ होता है।

ग्राह्य प्रश्न

१. परीक्षात्मक प्रश्न (टेस्टिङ्ग या एक्सप्लोरेटरी क्वैश्चन्स): पाठके आरम्भमें ही जिन प्रश्नों-द्वारा यह निर्णय हो पाता है कि बालक नया पाठ ग्रहण कर सकता है या नहीं, उसका पूर्व-संचित ज्ञान अथवा आधार-ज्ञान नवीन पाठका भार सँभाल सकनेके योग्य हो पाया है या नहीं उन प्रश्नोंको प्रस्तावनात्मक या प्रारम्भिक प्रश्न (इन्ट्रोडक्ट्री या प्रिपेरेटरी क्वैश्चन्स) कहते हैं। ऐसे प्रश्न क्रमिक या संगत (लौजिकल) हों अर्थात् प्रत्येक प्रश्न अपने

पूर्ववर्ती प्रश्नके परिणामस्वरूप निकलता प्रतीत होना चाहिए। छोटे (ब्रीफ़) हों, एक धारामें, उचित स्वर तथा भावभंगीके साथ कहे गए हों और उनके उत्तरमें कोई ऐसी बात छिपी या सम्भावित न हो जो अध्यापकको पढ़ानी हो। मान लीजिए हमें 'ताजमहल' पर पाठ पढ़ाना है तो हम प्रस्तावनात्मक प्रश्न इस प्रकार कर सकते हैं—

१. संसारमें कौन-कौनसे सुन्दर भवन प्रसिद्ध हैं?

२. इनमेंसे भारतमें कितने हैं?

३. इनमें भी सबसे सुन्दर भवन कौन-सा है?

प्रश्नावली यहाँ समाप्त कर देनी चाहिए क्योंकि इसके आगे तो आपको पढ़ाना ही है। अतः, आप इसी स्थानपर यह नहीं पूछ सकते—

यह भवन कहाँपर है?

इसे किसने बनवाया?

क्यों बनवाया? इत्यादि

प्रारम्भिक प्रश्नोंके द्वारा छात्रोंको केवल उस भूमितक पहुँचाकर छोड़ दिया जाय जहाँसे नया पाठ प्रारम्भ हो अर्थात् उनके मनमें नया ज्ञान प्राप्त करनेकी उत्कंठा, गुदगुदी तथा उत्सुकता उत्पन्न कर दी जाय। ये प्रारम्भिक प्रश्न थोड़े ही होने चाहिएँ क्योंकि प्रस्तावना सूक्ष्म, सीधी, स्पष्ट और रुचिकर होनी चाहिए।

२. बोध-परीक्षात्मक या आवृत्यात्मक प्रश्न (टेस्ट क्वैश्चन्स या क्वैश्चन्स ऑफ़ रिवीज़न): पाठ या पाठांश पढ़नेके पश्चात् कुछ प्रश्नोंके द्वारा यह जाँच कर लेनी चाहिए कि छात्रोंने पढ़ाए हुए पाठ या पाठांश अथवा सिद्धान्त या नियम हृदयङ्गम कर लिए हैं या नहीं। ऐसे प्रश्नोंसे पाठकी आवृत्ति भी हो जाती है और छात्रोंकी धारणा-शक्तिकी भी भी परीक्षा हो जाती है। नीचे विविध पाठ्य विषयोंके कुछ प्रश्न देकर ऐसे प्रश्नोंका रूप स्पष्ट कर दिया जाता है—

गणित: चार पैसेके तीन आम तो तीन आनेके कितने?

भूगोल: हम कैसे जान सकते हैं कि पृथ्वी सूर्यके चारों ओर घूमती है?

इतिहास : चन्द्रगुप्तके राज्य-शासनकी क्या विशेषताएँ थीं ?

साहित्य : छ्वै छिगुनी पहुँचौ गिलत, अति दीनता दिखाय।
बलि-बामनको ब्यौंत सुनि, को बलि तुम्हैं पत्याय॥

(अ) उपर्युक्त दोहेमें कौन-सी अन्तःकथा है ?

(आ) इस दोहेका क्या भावार्थ है ?

संगीत : भैरवीमें कौन-कौनसे शुद्ध और कोमल स्वर लगते हैं ?

गृह-विज्ञान : रोगीकी सेवा करते समय परिचारिकको किन-किन बातोंका ध्यान रखना चाहिए ?

विज्ञान : भौतिक पदार्थोंपर गर्मीका क्या प्रभाव पड़ता है ?

ऐसे प्रश्न केवल पढ़ाए हुए पाठसे ही सम्बद्ध हों और इनके द्वारा पाठके केवल महत्त्वपूर्ण अंशोंकी ही परीक्षा हो, बालकी खाल न निकाली जाय, क्योंकि इनका उद्देश्य यही जानना होता है कि पढ़े हुए पाठसे सम्बन्ध रखनेवाले विचार छात्रोंके मनमें व्यवस्थित और सक्रम हो पाए हैं या नहीं।

३. समस्यात्मक प्रश्न (प्रोब्लेमेटिक क्वेश्चन) : बालकोंकी कल्पना-शक्तिको उद्दीप्त करनेके निमित्त प्रश्नोंके द्वारा छात्रोंके समक्ष कोई समस्या रख देनी चाहिए। इस प्रकारके प्रश्नोंमें क्यों ? कैसे ? किसलिये ? पूछा जाता है। ऐसे प्रश्नोंके द्वारा यह जाना जाता है कि छात्रने जो कुछ पढ़ा है उसका वह प्रयोग भी कर सकता है या नहीं। ऐसे प्रश्नोंका उत्तर देनेमें छात्रोंको कुछ सोचना पड़ता है, कार्य-कारण-सम्बन्धकी जाँच करनी पड़ती है और कल्पनाको जगाना पड़ता है। काव्यकी समीक्षाके लिये केवल इसी प्रकारके प्रश्नोंका आश्रय लेना चाहिए। इस प्रकारके प्रश्नोंके रूप विभिन्न विषयोंमें इस प्रकार हो सकते हैं—

गणित : दो पेड़ोंपर अलग-अलग कुछ चिड़िएँ बैठी हैं। एक पेड़वाली चिड़िएँ दूसरे पेड़वाली चिड़ियोंसे कहती हैं कि यदि तुममेंसे एक हमारे पेड़पर आ जाय तो हम तुमसे तिगुनी हो जायँ। दूसरे पेड़वाली कहती हैं कि तुममेंसे एक हमारे पेड़पर आ जाय तो हम तुम्हारे बराबर हो जायँ। बताओ प्रत्येक पेड़पर कितनी-कितनी चिड़िएँ हैं। (उत्तर ३ और ५)।

भूगोल : सूर्यग्रहण अमावास्याके दिन ही क्यों पड़ता है ?

इतिहास : मुग़ल साम्राज्यके इतने दृढ होते हुए भी उसका पतन क्यों हो गया ?

साहित्य : तुलसीदासजीने जनकजीके लिये यह क्यो कहा—

'भए बिदेह बिदेह बिसेषी ।'

संगीत : गाया हुआ पद बाँचे हुए पदसे अधिक मधुर और प्रभावशाली क्यों होता है ?

गृह-विज्ञान : रोगीको तापमापक (थर्मामीटर) में ज्वरांश क्यों नहीं देखने दिया जाता ?

विज्ञान : एक पंक्तिमें बिछी रेलकी दो पटरियोंके बीच थोड़ा अन्तर क्यों छोड़ दिया जाता है ? इत्यादि ।

४. विवेचनात्मक प्रश्न (डैवलपिङ्ग क्वैश्चन्स) : विवेचनात्मक प्रश्नोंका उद्देश्य है मस्तिष्कको कुशल बनाना, विचार-शैलीको व्यवस्थित और नियमित करना, भले-बुरेका, उचित-अनुचितका, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्यका, शुद्ध-अशुद्धका, ठीक-अठीकका सकारण, सयुक्तिक, सतर्क निर्णय करना सिखाना। ऐसे प्रश्नोंसे बालककी मानसिक प्रगतिका भी ज्ञान होता चलता है, क्योंकि वह स्वयं कल्पना करता है, तुलना करता है, परिणाम निकालता है और आपके प्रश्नोंके क्रमके अनुसार अपने भावों और विचारोंको ठीक प्रकारसे तहाकर रखता भी चलता है। इस प्रकारके प्रश्नोंसे बालकोंके मस्तिष्कका विकास होता है। ऐसे प्रश्नोंकी उपयुक्तताकी परीक्षा इसी बातसे की जा सकती है कि उनसे बालकोंको कुछ सोचना पड़ रहा है या नहीं। यदि सोचना पड़ रहा हो तो समझना चाहिए कि प्रश्न ठीक है।

विवेचनात्मक प्रश्नोंमें ये गुण होने चाहिएँ—

(क) स्पष्टता :

प्रश्न ऐसा स्पष्ट और निश्चित होना चाहिए कि उसका उत्तर एक ही हो, कई नहीं। एक उदाहरण लीजिए—

अस्पष्ट प्रश्न : हिमालयसे क्या निकलती हैं ?

उत्तर : जड़ी बूटियाँ, अनेक धातुएँ, चट्टानें आदि ।

स्पष्ट प्रश्न : हिमालयसे कौन-सी प्रसिद्ध नदियाँ निकलती हैं ?

उत्तर : पंजाबकी नदियाँ, गंगा, यमुना, ब्रह्मपुत्र आदि ।

(ख) सुबोधता

प्रश्न इतनी सरल भाषामें और इतना सुबोध होना चाहिए कि छात्र उसे समझ सकें, उन्हें दुर्बोध न लगे । उदाहरण लीजिए—

दुर्बोध : प्रातःस्मरणीय क्षत्रिय-कुल सूर्यने स्वकुल-गौरवके रक्षार्थ किन प्रथित साधनोंका अवलम्ब लिया ?

सुबोध : महाराणा प्रतापने किस प्रकार अपनी आन रक्खी ?

(ग) सुघटता

प्रश्न सुघटित होना चाहिए । उसमें उतने ही शब्द होने चाहिएँ जिनकी परम आवश्यकता हो व्यर्थके आडम्बरपूर्ण शब्दजालकी भरमार न हो । जैसे—

सुघटित : हर्षवर्धनने किस प्रकार राज्य पाया ?

आडम्बरपूर्ण : (१ अच्छा देखें तुममेंसे कौन बता सकता है कि हर्षको कैसे राज्य मिला ? बताओ तो जानें ।

(२) अच्छा भाई अब यह बताओ कि हर्षको कैसे राज्य मिला ?

(३) हाँ, तो अब कह जाओ कि हर्षको कैसे राज्य मिला ?

(४) अभी हमने बता ही दिया है, इसलिये तुम झट-पट बता तो डालो कि हर्षको कैसे राज्य मिला ?

उपर्युक्त प्रश्नोंमें गहरे काले छपे हुए अंश व्यर्थ हैं ।

प्रारम्भिक कक्षाओंमें बच्चोंको बढ़ावा देनेके लिये इस प्रकारकी शब्दावली-का प्रयोग कभी-कभी कर लिया जाय तो बहुत बुरा नहीं है किन्तु ऊपरकी कक्षाओंमें तो इस प्रकारके प्रश्नोंसे केवल समय और शक्तिका अपव्यय होता है।

(घ) संगतता

प्रश्न विषय-संगत तथा पाठ्य-प्रसंगसे सम्बद्ध होना चाहिए। यह न

हो कि पढ़ा रहे हों चीनका पाठ और पूछ रहे हों जापानके पाठसे। ऐसी भूल उन्हीं अध्यापकोंसे अधिक होती है जो भली प्रकार तैयारी करके कक्षामें नहीं जाते। उन्हें कुछ पूछना चाहिए इसीलिये पूछते हैं। मान लीजिए कोई विज्ञानका अध्यापक न्यूटनके आकर्षण-सिद्धान्तपर प्रश्न करता है—

प्रश्न : न्यूटनने आकर्षणका सिद्धान्त कैसे निकाला?

उत्तर : पेड़से सेवका गिरना देखकर।

इस प्रश्न-तक तो ठीक है पर यदि इसके पश्चात् अध्यापक यह पूछ बैठे कि—

बढ़िया सेव कहाँ पाए जाते हैं?

या

न्यूटन कहाँका रहनेवाला था?

तो ये प्रश्न असंगत या अनर्गल कहे जायँगे।

(ङ) उपयुक्तता

प्रश्न उपयुक्त हों, बालकोंको मानसिक अवस्था तथा उनके ज्ञानके अनुकूल हों और उनमें उस प्रश्नका उत्तर देनेकी क्षमता हो।

विवेचनात्मक प्रश्नोंके कुछ उदाहरण लीजिए—

साहित्य : निम्नलिखित दो दोहोंमें काव्य-कौशल, भाव-व्यञ्जना, भाषा और अलंकारकी दृष्टिसे क्या भेद हैं?

चातक सुतहि सिखावही, आन नीर मत लेय।
मम कुल इहै सुभाव है, स्वाति-बूँद चित देय॥

और

चरग चंगुगत चातकहि, नेम-प्रेमकी पीर।
तुलसी परबस हाड़पर, परिहै पुहुमी-नीर॥

ज्यामिति : दो त्रिभुजोंको समान सिद्ध करनेके लिये कौन-कौनसे आधार होने चाहिएँ?

इतिहास : अशोक महान् और अकबर महान्‌मेंसे महत्तर कौन है?

भूगोल : ब्रिटिश द्वीपसमूह और जापानके जलवायुमें क्यों अधिक साम्य है ?

संगीत : वंशी और वीणामें कौन-सा यन्त्र श्रेष्ठतर है और क्यों ?

गृह-विज्ञान : दक्खिन द्वारवाले घरमें मृत्यु रहती है, इसका वैज्ञानिक कारण क्या है ?

विज्ञान : बिजलीसे मनुष्यका उपकार अधिक हुआ है या अपकार ?

त्याज्य प्रश्न

कुछ प्रश्न ऐसे भी होते हैं जिन्हें त्याज्य समझना चाहिए । ये हैं—

१. समर्थनात्मक प्रश्न (कौरोबोरेटिव क्वैश्चन्स) : कुछ बताकर फिर छात्रोंसे 'ठीक है न ! ऐसा है न ! है न !' आदि प्रश्न केवल समर्थन करानेके लिये पूछे जाते हैं। अध्यापकको प्रत्येक बात साधिकार कहनी चाहिए, उसे छात्रोंके समर्थनकी अपेक्षा नहीं करनी चाहिए ।

२. प्रतिध्वन्यात्मक प्रश्न (ईको क्वैश्चन्स) : कुछ लोग एक बात कहकर झट उसपर प्रश्न करके वही बात कहला लेना चाहते हैं जैसे—

कथन : मथुराके पेड़े प्रसिद्ध हैं ?

प्रश्न : हाँ, मथुराके क्या प्रसिद्ध हैं ?

३. हाँ-ना-वाले या अटकली प्रश्न (लीडिंग या गैस क्वश्चन्स) जिन प्रश्नोंके उत्तर 'हाँ' या 'नहीं' में होते हैं उनके उत्तरमें बिना सोचे अटकलसे ही छात्र 'हाँ' या नहीं कह डालते हैं । जैसे—

क. क्या काशीमें गंगाजी बहती हैं ? (हाँ)

ख. अशोक क्या चन्द्रगुप्तका पोता था ? (नहीं)

ग. क्या पीतलके बर्त्तनमें रखनेसे दही बिगड़ जाता है ? (हाँ)

उपर्यंकित प्रश्नोंको यदि हम नीचे लिखे रूपमें पूछें तभी ठीक है—

क. बनारसमें कौन-सी नदी बहती है ?

ख. अशोक किसका पोता था ?

ग. पीतलके बर्त्तनमें देर-तक दही रखनेसे कैसा हो जाता है ?

घ. सूरदासजी किसके भक्त थे ?

ङ. भैरव रागमें कौन-कौनसे कोमल स्वर लगते हैं ?

च. बिजलीकी ए० सी० धारा छूनेसे क्या होता है ?

यदि अटकली प्रश्न पूछे भी जायँ तो उसके पश्चात् 'क्यों' प्रश्न करके उसके दोषका परिहार किया जा सकता है। किन्तु उसके प्रश्न भी दूसरे ढंगके होते हैं। जैसे—

प्रश्न : क्या चाय पीनी चाहिए ?

उत्तर : नहीं।

प्रश्न : क्यों ?

उत्तर : क्योंकि चायसे पेटकी थैलीपर चायका एक खोल चढ़ जाता है जिससे पाचन-शक्ति बिगड़ जाती है, बुरी लत पड़ जाती है, अनेक प्रकारके मधुमेह आदि रोग हो जाते हैं, बुढ़ापा शीघ्र आ जाता है, आँतें बिगड़ जाती हैं, कान्ति नष्ट हो जाती है और आगे चलकर माथा घूमने लगता है।

किन्तु यदि हम पहली सूचीमेंसे एक प्रश्न लें—

क्या काशीमें गंगाजी बहती हैं ?

तो इसके उत्तरमें 'हाँ या नहीं' मिल जानेपर भी हम 'क्यों' नहीं पूछ सकते क्योंकि 'काशीमें गंगाजी क्यों बहती हैं ?' इसका कोई उत्तर ही नहीं हो सकता। अतः, जिन बातोंमें तथ्यका सन्निवेश होता है वहाँ 'हाँ-ना' वाले प्रश्न नही पूछने चाहिएँ किन्तु जिन बातोंमें कार्यकारण-सम्बन्ध निहित हो उनपर ऐसे प्रश्न यदि पूछ लिए जायँ तो फिर 'क्यों' पूछकर उसके दोषका परिहार किया जा सकता है।

४. समर्थ-पदलोपी प्रश्न (इलिप्टिकल क्वैश्चन्स) : इस प्रश्नावलीको लुप्तपद-प्रतियोगिता भी कह सकते हैं। इसमें अध्यापक प्रश्न तो करता है पर मुख्य इच्छित पदको छिपा लेता है। यह एक प्रकारसे पहेली-बुझौवलका रूप धारण कर लेता है। जैसे—दिल्ली राजधानी है……कहाँकी ?

(उत्तर : भारतकी)

महामना मालवीयजीने काशीमें बनाया·········क्या ?

(उत्तर : हिन्दू विश्वविद्यालय)

५. प्रश्नाभास (रुटौरिकल क्वैश्चन्स) : कभी-कभी केवल भावोंको उत्तेजित करनेके लिये या भाषण-शैलीमें ओज लानेके लिये प्रश्नका रूपक दिया जाता है। प्रायः इतिहास और साहित्यके अध्यापक इस प्रश्नाभास शैलीका अधिक प्रयोग करते हैं। उदाहरण लीजिए—

(अ) कौन ऐसा हिन्दू है जो तुलसीदासजीको नहीं जानता ? कौन ऐसा भारतीय है जिसने उनका रामचरितमानस नहीं पढ़ा ? कौन ऐसा रसिक है जिसने उनके काव्य-रसमें डुबकी नहीं लगाई ? उसका रस नहीं लिया ?

(आ) प्रतापको छोड़कर और कौन था जिसने मुग़लोंके आगे सिर नहीं झुकाया ? कौन था जिसने जंगलोंमें रूखा-सूखा खाकर भी यवनोंकी अधीनता नहीं स्वीकार की ? कौन ऐसा व्यक्ति है जो आज तीन सौ बरस बीतनेपर भी उस नामके जादूसे फूल नहीं उठता ?

यद्यपि उपर्युक्त उद्धरणोंमें सब प्रश्न ही प्रश्न हैं पर उनके उत्तर अपेक्षित नहीं है। यह शैली नेताओं और वक्ताओंके लिये छोड़ रखनी चाहिए। इस प्रकार प्रभावित करनेसे छात्रोंकी विवेचना-शक्ति कुण्ठित हो जाती है। वे अध्यापककी भाव-धारामें बह चलते हैं और उनकी निर्णयात्मिका बुद्धि दब जाती है।

प्रश्न करनेके नियम

१. प्रश्न करते समय मुखमुद्रा प्रसन्न हो तथा स्वरका उतार-चढ़ाव भावानुकूल हो।

२. प्रश्न सक्रम, संगत, स्पष्ट और सरल हों। उनमें एक ही क्रिया हो, अनेक सहायक वाक्य न हों।

३. भद्दे, कुरुचिपूर्ण और अनैतिक विषयोंसे सम्बद्ध प्रश्न नहीं करने चाहिएँ ?

४. प्रश्न करके उसे दुहराना नहीं चाहिए। यदि आवश्यक हो तो छात्रोंसे ही उसकी आवृत्ति करा ली जाय। प्रश्न इतने स्पष्ट और उचित स्वरसे किया जाय कि सभी सुन और समझ सकें, उहें दुहराना न पड़े।

५. बहुत धुआँधार प्रश्न भी नहीं करने चाहिएँ। बीच-बीचमें कथा, कहानी, चित्र-प्रदर्शन आदिका बिचाव देते रहना आवश्यक है।

६. प्रश्न एक प्रवाहमें कहना चाहिए।

७. प्रश्न और उत्तरके बीच इतना समय देना चाहिए कि छात्र सोचकर उत्तर दे सकें। प्रश्न करते ही तत्काल अपनी तर्जनीकी पिस्तौल नहीं दिखा देनी चाहिए।

८. शुद्ध उत्तर पाकर तो उत्तरदाताकी सराहना करनी ही चाहिए किन्तु अशुद्ध उत्तर पाकर भी उसे उत्साहित करना चाहिए और तत्क्षण अस्वीकृत नहीं कर देना चाहिए। प्रत्येक उत्तरके साथ सहानुभूतिमय व्यवहार होना चाहिए।

उत्तर किससे लें ?

अध्यापकको प्रश्न तो पूरी कक्षासे ही करना चाहिए किन्तु पूछना एकसे ही चाहिए।

जब हम कक्षा-भरसे प्रश्न करते हैं तब बहुतसे छात्र एक साथ उत्तर देनेके लिये हाथ उठाते हैं और उत्तरमें 'मैं बताऊँ' का कोलाहल करने लगते हैं। इसे कभी प्रोत्साहन नहीं देना चाहिए। इससे अविनय फैलता है, निरंकुशता बढती है, अध्यापककी असमर्थता सिद्ध होती है और पार्श्वस्थित अन्य कक्षाओंके पाठमें विघ्न पड़ता है। अतः, प्रारम्भसे ही छात्रोंमें यह अभ्यास डाल देना चाहिए कि प्रश्नका उत्तर देनेके लिये वे अपना हाथ उठावें और वह भी आधा। उनके हाथ उठानेमें भी शोभा और सौन्दर्य होना चाहिए।

प्रश्न पूरी कक्षामें बाँट देना चाहिए और क्रमसे कक्षाके सभी पार्श्वोंके छात्रोंसे उत्तर पूछना चाहिए, केवल हाथ उठानेवालोंसे ही नहीं।

कामचोर तथा पिछड़े हुए छात्रोंसे भी पूछते चलना चाहिए। प्रायः अध्यापक आगेकी पंक्तिमें बैठनेवाले और झटककर हाथ उठानेवाले छात्रोंसे हेरफेर करके उत्तर पूछ बैठते हैं। ऐसा न करके बारी-बारीसे इस क्रमसे प्रश्न पूछने चाहिएँ कि पूरी कक्षा आपके प्रश्नोंसे आक्रान्त हो जाय।

प्रश्न करनेकी मुद्रा

१. प्रश्न करके सोचनेका समय देकर किसी एक छात्रकी ओर दायाँ हाथ फैलाकर, कलाईको झटका देकर तर्जनीसे इङ्गित करो। यह तर्जनी ऐसी ठीक इङ्गित करे कि उससे एक ही छात्रका बोध हो। यदि उँगलीके साथ नाम भी स्मरण हो तब तो सोनेमें सुगन्ध समझो। बहुतसे अध्यापक प्रश्न करके अपना खुला पूरा हाथ फैला देते हैं जिससे जान पड़ता है कि ये किसीका स्वागत कर रहे हैं या परिचय पूछ रहे हैं। आप केवल तर्जनी दिखाकर नाम भर लीजिए—'नारायणप्रसाद।' जिसका अर्थ होगा 'नारायणप्रसाद ! तुम बताओ।'

२. छात्रोंको इङ्गित करते समय 'आप' कभी न कहिए, 'तुम' कहकर सम्बोधन कीजिए।

३. छात्रोंको ऐसा अभ्यास करा देना चाहिए कि जिसे उँगलीका संकेत मिले वह तत्काल अपने स्थानपर सीधा खड़ा हो जाय, चाहे वह उत्तर दे पावे या नहीं। साथ ही उन्हें इतना निर्भीक बना देना चाहिए कि यदि वे उत्तर न दे सकें तो सीधे कह दें 'मैं उत्तर नहीं दे सकता।' यदि छात्र उत्तर देना प्रारम्भ कर दे तो उसे उत्तर देने दीजिए। किन्तु यदि उत्तर नहीं मिलता तो रुकिए मत। दूसरेसे पूछिए, तीसरेसे पूछिए और जब ठीक उत्तर निकल आवे तब उन सब छात्रोंसे उस उत्तरकी आवृत्ति करा लीजिए जो उत्तर देनेमें असमर्थ रहे और उन्हें तबतक खड़ा रखिए जबतक ठीक उत्तर न मिल जाय और वे उसकी ठीक आवृत्ति न कर चुकें।

४. यदि उत्तर ठीक न मिले तो डाँटिए-फटकारिए मत, नीच-ऊँच मत कहिए वरन् उसे स्वयं थोड़ा-बहुत आश्रय देकर, सूत्र देकर, अन्य छात्रोंसे सहायता दिलाकर ठीक उत्तर देनेको प्रोत्साहित कीजिए।

५. पूरी कक्षासे प्रश्न करके उत्तरके लिये किसी एककी ओर निर्देश तो किया जाय किन्तु उसीको उत्तर देनेको बाध्य न किया जाय अपितु, बारी-बारीसे सभीसे प्रश्न पूछे जायँ। अपनी मुद्रा इस प्रकार बना रक्खी जाय कि प्रत्येक छात्र यही समझे कि बस मुझसे ही प्रश्न पूछा जानेवाला है।

उत्तर किस रूपमें लें ?

कुछ लोगोका कथन है कि उत्तर पूर्ण वाक्यमें हो। कुछका कहना है कि यदि उससे अर्थमें व्याघात न होता हो तो एक शब्दमें भी उत्तर हो सकता है। एक प्रश्न लीजिए—

प्रश्न : हिमालय कहाँ है ?

एक उत्तर : भारतके उत्तरमें है।

दूसरा उत्तर : भारतके उत्तरमें।

उत्तरकी दृष्टिसे दोनों ही ठीक हैं। किन्तु यदि अधूरे वाक्यमें ही सार्थक उत्तर मिल जाता हो तो पूर्ण वाक्यमें लम्बा उत्तर लेनेके लिये माथापच्ची करना केवल शब्द, शक्ति और समयका अपव्यय करना है।

दूसरे मतके पक्षपाती कहते हैं कि उत्तरमें भाषारूपकी शिक्षा भी साथ-साथ मिलती चलती है। किन्तु कितना उत्तर देनेसे काम चलेगा, कितनेसे नहीं, इसकी शिक्षा तो प्रकृति स्वयं अलक्ष्य रूपसे देती रहती है। आपको केवल यही देखना चाहिए कि जो उत्तर मिला है वह प्रश्नकी दृष्टिसे ठीक, निर्दिष्ट तथा इष्ट है या नहीं। यदि इष्ट मिल उत्तर जाय तो उसे ही पर्याप्त समझकर सन्तुष्ट हो जाना चाहिए।

उत्तर कैसा हो ?

ग्राह्य समझे जा सकनेवाले उत्तरमें ये गुण होने चाहिएँ—

१. व्याकरणसे शुद्ध हो। (ग्रैमेटिकली करैक्ट)

२. सार्थक हो। (हैविंग सैन्स)

३. संगत हो। (लौजिकल)

४. आवश्यक हो। (नेसेसरी)

५. प्रासंगिक हो। (रेलेवेण्ट)

६. उचित हो। (प्रौपर)

अशुद्ध उत्तरोंका संस्कार

किसी भी अशुद्ध उत्तरको तत्काल त्याज्य कहकर अस्वीकार नहीं कर देना चाहिए वरन् प्रेम-भाव और नम्रतासे उसे ठीक उत्तर देनेके लिये उत्साहित करना चाहिए और यथासम्भव उसे सहायता देकर उससे ठीक उत्तर कहला लेना चाहिए। किन्तु साथ ही बार-बार 'शाबाश, बहुत अच्छा, ठीक कह रहे हो, बहुत ठीक, हाँ, कहे जाओ' इत्यादि शब्दों और वाक्योंका अत्यन्त उदारतापूर्वक प्रयोग भी नहीं करना चाहिए। इससे प्रारम्भमें बालकोंकी श्रद्धा भले ही प्राप्त हो जाय किन्तु आगे चलकर वे अध्यापककी इस कोमलताको उसकी दुर्बलता समझ सकते हैं और उसका दुष्प्रयोग भी कर सकते हैं।

प्रश्नका विभाजन

यदि प्रश्नकी जटिलताके कारण उत्तर अशुद्ध मिलते हों तो प्रश्नको कई विभागोंमें विभक्त करके सरल बना लेना चाहिए। कभी-कभी अशुद्ध उत्तर मिलनेका कारण एकाग्रताका अभाव ही होता है। अतः, उसका समाधान तो प्रश्नकी आवृत्ति करानेसे ही हो जाता है। कभी-कभी जब हम छात्रोंको सोचनेका अवसर नहीं देते और प्रश्न करते ही उन्हें उत्तर देनेको बाध्य करते हैं तब भी वे प्रायः अशुद्ध ही उत्तर देते हैं। अतः, तनिकसा अवलम्ब दे देनेसे, सूत्र थमा देनेसे छात्रकी बुद्धि राजमार्ग-पर पहुँच जाती है।

शुद्ध और सटीक उत्तर निकलवानेके लिये कोमल व्यवहार और धैर्य अत्यन्त आवश्यक है। जिस अध्यापकमें जितना ही अधिक धैर्य होगा उसे आगे उतनी ही सफलता मिलेगी। अध्यापकके वाच्य विधानोंमें प्रश्नोंका बड़ा महत्त्व है इसलिये अध्यापकको इस सम्बन्धमें बड़ा सतर्क रहना चाहिए।

२

अध्यापनके दृश्य विधान

शिक्षा-शास्त्रका विधान है कि केवल मुख और कानोंका ही अनवरत प्रयोग न हो, नेत्रोंका भी उचित प्रयोग किया जाय जिससे कक्षामें सरसता आवे, छात्रोंकी रुचि पाठकी ओर बढाई जा सके, उनका ध्यान आकृष्ट किया जा सके और पाठको सरस, सरल, सुबोध तथा सुन्दर बनाया जा सके। प्रदर्शनके इन सभी साधनोंको दृश्य विधान कहते हैं। किन्तु जैसे अधिक प्रश्न करना हानिकर है वैसे ही अधिक दृश्य विधानोंका प्रयोग करना भी वाञ्छनीय नहीं है।

अतः—

१. प्रदर्शनकी सामग्री उचित तथा आवश्यक मात्रामें कक्षामें ले जाई जाय।

२. प्रदर्शनकी सामग्री केवल उसी समय खोली जाय जब उसका पाठमें प्रसंग आवे और फिर प्रदर्शन करनेके पश्चात् उलटकर, समेटकर, ढककर या छिपाकर रख दी जाय अन्यथा सम्मुख रहनेसे छात्रोंका ध्यान उधर ही लगा रहेगा।

३. प्रदर्शन करनेमें न तो हड़बड़ी की जाय न आवश्यकतासे अधिक विलम्ब ही किया जाय।

४. प्रदर्शन-सामग्री इतनी बड़ी हो कि कक्षाके सभी छात्रोंके नेत्र उसे देख सकें। यदि प्रदर्शन-सामग्री छोटी हो तो वह हाथमें लेकर कक्षामें घूम-घूमकर दिखा दी जाय या एक-एक छात्रको बारी-बारीसे बुलाकर दिखाई जाय।

५. यदि किसी प्रदर्शन-सामग्रीके विभिन्न अंगों या उसपर स्थित किन्हीं विशेष स्थानोंका परिचय देना हो तो सूचकदंड (पौइंटर) का प्रयोग किया जाय।

प्रदर्शन सामग्री

विभिन्न विषयोंके शिक्षणमें निम्नलिखित दृश्य उपादनोंका प्रयोग किया जा सकता है—

१. चित्र अथवा चित्रमय पोथियाँ : (साहित्य, इतिहास, भूगोल, विज्ञान, गृह-विज्ञान, प्रकृति-विज्ञान, स्वास्थ्य--विज्ञान, चित्रकला तथा शिल्पके शिक्षणमें)

२. मानचित्र : (इतिहास, भूगोल तथा अर्थशास्त्रके शिक्षणमें) ।

३. रेखाचित्र (डायग्राम) : (गणित, विशेषतः ज्यामिति, स्वास्थ्य-विज्ञान, भूगोल, चित्रकला, शिल्प, साहित्य इत्यादिके शिक्षणमें) । ये रेखाचित्र श्यामपट्टपर खींचकर भी प्रदर्शित किए जा सकते हैं और बने बनाए भी दिखाए जा सकते हैं ।

४. सरणि (चार्ट) : (इतिहास, गणित, गृहविज्ञान, स्वास्थ्य-विज्ञान, संगीत, विज्ञान तथा अर्थ-शास्त्रके शिक्षणमें) ।

५. प्रतिमूर्त्ति (मौडल) : (साहित्य, इतिहास, गणित, स्वास्थ्य-विज्ञान, विज्ञान, गृह-विज्ञान, भूगोल, शिल्प, चित्रकला तथा हस्तकौशलके शिक्षणमें) ।

६. खिलौने : (भाषा या साहित्य, गृह-विज्ञान, शिल्प, चित्रकला तथा प्रारम्भिक कक्षाके बालकोंको खेलके द्वारा शिक्षा देनेमें) ।

७. बौल फ्रेम : (प्रारम्भिक कक्षाओंमें गिनती और पहाड़ा सिखलानेके लिये) ।

८. बालोद्यान-पेटी (किंडरगार्टन बौक्स) : छोटे बच्चोंको अक्षर और अंक सिखानेके लिये)

९. मुद्राएँ (सिक्के) : (इतिहासके शिक्षणके लिये) ।

१०. चित्र-विस्तारक (एपिडायस्कोप) : (भूगोल, इतिहास तथा वैज्ञानिक विषयोंकी शिक्षाके लिये) ।

११. चित्र-प्रदर्शक (मैजिक लैण्टर्न) : (प्रायः सभी विषयोंके शिक्षणके लिये) ।

१२. चलचित्र-प्रदर्शक (फ़िल्म प्रोजेक्टर) : (ऐतिहासिक, वैज्ञानिक या भौगोलिक वर्णनोंका ज्ञान करानेके लिये)।

१३. प्रयोग तथा क्रिया-प्रदर्शन (एक्स्पैरिमेन्ट ऐण्ड डिमौन्स्ट्रेशन) : (प्रायः वैज्ञानिक विषयोंके शिक्षणके लिये)।

१४. ऐतिहासिक स्थान, व्यावसायिक स्थल तथा यन्त्रोंका प्रत्यक्ष प्रदर्शन : (सभी कक्षाओंमें इतिहास, भूगोल, अर्थशास्त्र, शिल्प तथा विज्ञान पढ़ानेके लिये)।

दृश्य विधानोंका प्रयोग

अमूर्त्तकी अपेक्षा मूर्त्त वस्तुएँ हमारे हृदय-पटलपर गहरा और स्थायी प्रभाव डालती हैं। इसीलिये बालकोंकी—विशेषतः छोटे बालकोंकी—शिक्षामें चित्र, प्रतिमूर्ति तथा खिलौने अत्यधिक उपयोगी सिद्ध होते हैं। वर्णमालाओंका परिचय भी शिशुओंको चित्रोंके द्वारा ही कराया जाता है। चित्राधार-रचना (पिक्चर कौम्पोज़िशन) की कथोपकथन या संवाद प्रणाली (कन्वर्सेशन मैथड) तथा सहज प्रणाली (डाइरेक्ट मैथड) में तो चित्रका प्रयोग बहुत ही किया जाता है।

इतने दृश्य साधन होते हुए भी कलाकार अध्यापक वही है जो केवल खड़िया और पोंछन लेकर चित्र, रेखाचित्र, सरणि आदि स्वयं श्यामपट्टपर बनाकर पाठ्यविषय स्पष्ट करता चले।

४

श्यामपट्टका प्रयोग

जिस प्रकार चित्रकारके लिये तूलिका और फलक परम वाञ्छनीय हैं, ठीक उसी प्रकार अथवा उससे भी कुछ अधिक अध्यापकके लिये श्यामपट्ट तथा खड़ियाके टुकड़ेका महत्त्व है। शिक्षाशास्त्रके कुछ आचार्य तो यहाँतक कहते हैं कि कुशल अध्यापकको श्यामपट्ट और एक टुकड़ा खड़ियाके अतिरिक्त और किसी वस्तुकी आवश्यकता नहीं। पुस्तक, चित्र, मानचित्र आदि वस्तुएँ यदि अध्यापकके पास न भी रहें तो भी उतनी हानि कभी नहीं होगी जितनी हानि उपर्युक्त दोनों वस्तुओंके अभावमें हो सकती है। किन्तु शिक्षण न तो सब भड़भड़िया रहे न सब खड़िया ही रहे। न तो आप सदा बोलते ही रहें और न सदा श्यामपट्टसे ही लिपटे रहें। श्यामपट्टका प्रयोजन यही है कि मौखिक शिक्षाके साथ-साथ लिखित शिक्षा भी चलती रहे।

श्यामपट्टपर लेखन

जिस प्रकार काग़ज़पर सुन्दर लिखनेके लिये अभ्यास अपेक्षित है उसी प्रकार श्यामपट्टपर सुन्दर लिखनेके लिये भी अभ्यास अपेक्षित है। यह अभ्यास ऐसा होना चाहिए कि श्यामपट्टपरके अक्षर बड़े-बड़े (बोल्ड), (प्रपोर्शनेट), शुद्ध (करेक्ट), समान आकारके (यूनीफ़ौर्म), सीधी पंक्तिमें (स्ट्रेट), खड़े (अपराइट), स्पष्ट (लैजिबिल) तथा शीघ्र (रैपिडली) लिखे जायँ।

खड़ियाके मुँहको उँगलियोंमें भली प्रकार पकड़कर दबाकर लिखना चाहिए। इससे अक्षर कुछ मोटे बनेंगे, खड़िया भी अधिक चमकेगी और अक्षर स्पष्ट दिखाई देंगे।

चित्र-रचना

कभी-कभी श्यामपट्टपर चित्र आदि बनानेकी भी आवश्यकता पड़ती

है। परन्तु ऐसी वस्तुओंका चित्र कभी नहीं बनाना चाहिए जिनसे विद्यार्थी अत्यधिक परिचित हों। इतिहासके शिक्षणमें विभिन्न देशों तथा युद्धस्थलोंके मानचित्र और समय-सरणियाँ (टाइम-चार्ट) भी श्यामपट्टपर खींचकर दिखानी चाहिएँ। ज्यामितिके सब रेखाचित्र तथा विज्ञानके प्रयोगोंके चित्र भी खींचकर समझाने चाहिएँ। ये सब मानचित्र या रेखाचित्र शुद्धता, स्पष्टता और स्वच्छताके साथ पैमानों तथा अन्य उपकरणोंका प्रयोग करके खींचने चाहिएँ। आजकल विभिन्न देशोंके रूपके तिपहली लकड़ी (ट्रिप्लाइ वुड) के कटे हुए फलक भी मिलते हैं जिन्हें श्यामपट्टपर रखकर उनके चारों ओर खड़िया फेर देनेसे विभिन्न देशोंके शुद्ध मानचित्र बन जाते हैं। जिन्हें हाथसे मानचित्र बनानेका अभ्यास न हो उन्हें इन फलकोंका प्रयोग अवश्य करना चाहिए। इसी प्रकार विभिन्न जानवरोंके रूपोंके भी फलक बनाए या बनवाए जा सकते हैं। ये फलक गत्ते (कार्डबोर्ड) के भी बनाए जा सकते हैं किन्तु हाथसे चित्र, मानचित्र आदि खींचना अधिक उपयुक्त होता है। ऐसे अध्यापकके प्रति छात्रका विश्वास भी होता है और उसका ज्ञान भी पक्का होता है।

श्यामपट्टका प्रयोग

यह स्मरण रखना चाहिए कि—

१. श्यामपट्टके बहुत निकट नहीं खड़ा होना चाहिए।

२. छात्रोंकी ओर पूरी पीठ करके नहीं खड़ा होना चाहिए वरन् ऐसे आड़े होकर खड़ा होना चाहिए कि छात्र भी दिखाई देते रहें और श्यामपट्टका प्रयोग भी होता चले।

३. यदि श्यामपट्ट ऊँचा हो तो जहाँतक हाथ पहुँचे वहींसे लिखना प्रारम्भ कर देना चाहिए। श्यामपट्ट ऊँचा हो तो एड़ी ऊँची करके या उचककर नहीं लिखना चाहिए। यदि नीचा हो तो जहाँतक शरीरको सीधा रखते हुए लिखा जा सके वहींतक लिखना चाहिए। बहुत झुककर, पैर चौड़ाकर शरीरको बुरे ढंगसे तोड़-मरोड़कर या झुककर नहीं लिखना चाहिए। ये मुद्राएँ भद्दी और फूहड़ होती हैं।

४. यदि श्यामपट्ट लकड़ीका हो तो बाएँ हाथसे उसे थामे रखना चाहिए और नीचे भी उसका पाया एक पैरसे दबाए रखना चाहिए जिससे वह हिले नहीं।

५. लिखते समय केवल श्यामपट्टपर ही दृष्टि नहीं बाँधे रखनी चाहिए वरन् बीच-बीचमें देखते रहना चाहिए कि छात्रगण अपनी पुस्तिकाओंपर लिख रहे हैं या नहीं।

६. जिस समय छात्र पोथी पढ रहे हों उस समय नहीं लिखना चाहिए। जब वे पढ़ चुकें तभी लिखना चाहिए।

७. यदि आप कोई मानचित्र या चित्र न बना सकते हों तो मत बनाइए। अशुद्ध और बेढंगा बनानेकी अपेक्षा न बनाना अधिक अच्छा है।

८. पाठ प्रारम्भ करनेसे पहले श्यामपट्टको पोंछकर स्वच्छ कर लीजिए और जब पाठ समाप्त हो जाय तब उसे पोंछकर स्वच्छ करके जाइए।

९. कौन-सी बात कितनी देर-तक श्यामपट्टपर लिख छोड़नी चाहिए इसका भली प्रकार विवेक कर लेना चाहिए। आवश्यकतासे अधिक समयतक कोई भी बात श्यामपट्टपर लिखी नहीं रहने देनी चाहिए।

१०. यह आवश्यक नहीं है कि श्यामपट्टपर कुछ लिखा ही जाय। कविता पढ़ाते हुए श्यामपट्टका प्रयोग बहुत कम करना चाहिए। श्यामपट्टका सदा प्रयोग करते रहना कोई धर्म नहीं है, किन्तु अवसरपर उसका प्रयोग न करना अवश्य पाप है।

११. भूगोल, इतिहास तथा विज्ञानके शिक्षणमें रंगीन खड़ियाका भी प्रयोग किया जा सकता है। किसी वस्तुके अंगोंकी विभिन्नता दिखाने अथवा रंगोंके वर्णनके लिये भी रंगीन खड़ियाका प्रयोग कर लेना बुरा नहीं है पर उसका यह परिणाम न हो कि श्यामपट्ट केवल चित्रशाला बना रह जाय। इसलिये यथासंभव श्वेत खड़ियाका ही प्रयोग करना चाहिए और जहाँ आवश्यक हो वहाँ भी विवेकसे काम लेना चाहिए कि किस रंगकी खड़ियाका प्रयोग ठीक होगा।

१२. श्यामपट्टको बीच-बीचमें धुलवाते और पुतवाते रहना चाहिए

जिससे उसपर जमी हुई खड़िया धुलती रहे और उसका रंग बना रहे।

१३. जिस झाड़नसे श्यामपट्टको पोंछिए उसे झटकारिए मत अन्यथा उसमें लिपटी हुई खड़ियाकी धूल आपके मुखपर, कपड़ोंपर और साँसके साथ फेफड़ेमें बैठ जायगी। इससे स्वास्थ्यको हानि पहुँचती है। यथासंभव थोड़े गीले और मोटे कपड़ेसे श्यामपट्ट पोंछना चाहिए।

१४. श्यामपट्ट ऐसे स्थानपर रखना चाहिए जहाँसे कक्षाके सभी छात्र उसपर लिखा हुआ सब कुछ स्पष्ट देख सकें।

शिक्षा-शास्त्रियोंका मत है कि विद्यालयमें जितना अधिक और व्यवस्थित लिखित कार्य कराया जायगा उतने ही कुशल और व्यवस्थित वहाँके छात्र होंगे क्योंकि लेखन-कार्यके अन्तर्गत एक रूप और एक आकारके अक्षर पंक्तिबद्ध करते-करते मानसिक शिक्षाके साथ-साथ कला और सौंदर्य-भावनाकी भी वृद्धि होती चलती है और आँखों तथा उँगलियोंके ठीक सध जानेके कारण मेधाशक्ति भी इस प्रकार उद्दीप्त होती रहती है कि सीखा हुआ ज्ञान पुष्ट होता चलता है। इसका कारण यह है कि पाठ सुनते समय केवल कानका ही प्रयोग होता है और उसमें भी यह शंका बनी रहती है कि छात्रने मनोयोगपूर्वक उस ज्ञानको ग्रहण किया है या नहीं, किन्तु लेखन-कार्यमें स्वाभाविक रूपसे कर्मेन्द्रिय (उँगली), ज्ञानेन्द्रिय (चक्षु) और उभयेन्द्रिय (मन) तीनोंका अनिवार्य संयोग हो जाता है। इसलिये लेखनके द्वारा जो ज्ञान प्राप्त किया जाता है, वह निश्चित रूपसे स्थायी होता है।

यदि इस लेखन-कार्यमें प्रमाद हुआ और असुन्दर अक्षर बनाने तथा अशुद्ध शब्द-रूप लिखनेका अभ्यास पड़ गया तो वह दुराभ्यास भी लेखककी प्रकृतिका अपरिहार्य अंग बन जाता है। इसलिये छात्रोंके लेखन-कार्यके सम्बन्धमें अध्यापकोंको बड़ी सावधानीसे काम लेना चाहिए।

लिखित कार्यके प्रकार

प्रायः विद्यालयमें छात्रोंका लिखित कार्य तीन प्रकारका होता है—एक तो वह, जो किसी पुस्तक या पत्रिकासे देखकर प्रतिलिपिके रूपमें उतारा

जाता है.; दूसरा वह, जो दिए हुए प्रश्नोंके उत्तरके रूपमें छात्र स्वयं अपने संचित ज्ञानके आधारपर कक्षामें लिखते या घरसे लिखकर लाते हैं; और तीसरा वह, जो अध्यापकगणके व्याख्यानोंके आधारपर सूत्र रूपसे छात्र लिखते हैं। इस लिखित कार्यमें साहित्य तथा भाषा-सम्बन्धी लेखोंके अतिरिक्त गणितके प्रश्न, संगीतकी स्वरलिपि, विज्ञानके प्रयोगोंका विवरण, ज्यामितिके रेखाचित्रोंकी व्याख्या, इतिहासकी समय-सरणियों और युद्धके मानचित्रोंके विवरण तथा भूगोलके मानचित्र भी सम्मिलित हैं।

परीक्षाओंमें भी अधिकांश छात्रोंके अनुत्तीर्ण होनेका कारण यही है कि विषयका ज्ञान होते हुए भी वे उसे सक्रम, संगत और सुन्दर रूपमें नहीं लिख पाते क्योंकि उन्हें तीव्र गतिसे सुन्दर अक्षर बनाकर लिखनेका अभ्यास नहीं कराया जाता, उत्तरमें आनेवाली संगत बातोंको क्रमसे रखनेका ढंग उन्हें नहीं बतलाया जाता और उत्तरमें आनेवाली बातको प्रभावोत्पादक, कलात्मक तथा मधुर भाषामें व्यक्त करनेका कौशल नहीं सिखलाया जाता। लिखित उत्तरके लिये यह सर्वथा आवश्यक है कि वह सुपाठ्य, सुन्दर और स्पष्ट हो। यदि अत्यन्त शुद्ध उत्तर भी अस्पष्ट और दुर्बोध लिपिमें लिखा गया तो वह उत्तर निरर्थक ही समझना चाहिए। अतः, छात्र जितना लिखित कार्य करें वह सब स्पष्ट, सुन्दर, संगत, उचित परिमाण और उचित शैलीमें लिखा हुआ होना चाहिए।

लिखित कार्य देनेसे पहले छात्रको समझा देना चाहिए कि—

१. प्रत्येक पृष्ठके बाईं ओर १½ इञ्चकी एक पट्टी छोड़ दे।

२. पृष्ठके बीचमें ऊपर शीर्षक दे दे।

३. लेखनीय विषयको उपयुक्त भावों, विचारों या उपविषयोंके अनुसार विभक्त करके उसके सूत्र ऊपर या बाएँ पृष्ठपर लिख दे और प्रत्येक भाव, विचार या उपविषयको नया उपशीर्षक देकर नये अनुच्छेदमें लिखे।

४. प्रत्येक नया अनुच्छेद पट्टीके पास आधा इञ्च स्थान छोड़कर प्रारम्भ करे।

५. लिखित कार्यकी व्याख्या करनेके लिये यदि चित्र, मानचित्र या रेखाचित्र खींचने हों तो स्पष्ट, सुन्दर और कलात्मक ढंगसे खींचने चाहिएँ।

छात्रोंसे जितना लिखित कार्य कराना हो वह सब यथासंभव विद्यालयमें ही करा लेना चाहिए क्योंकि सब छात्रोंको घरपर इतना अवकाश और स्थान नहीं मिल पाता कि वे अपने अलग प्रकोष्ठमें बैठकर मानचित्र खींचें, निर्बाध रूपसे निबंध लिखें या ज्यामितिकी किसी समस्याका समाधान कर सकें। अधिकांश छात्रोंको अपने घरका भी काम-काज देखना पड़ता है, रोगियोंकी सेवा भी करनी पड़ती है और बहुतसे छात्र तो इतनी दूरसे आते हैं कि आने-जानेमें ही उनका सारा समय निकल जाता है। इसलिये लिखने-लिखानेका कुल काम यथा-संभव अपनी देख-रेखमें, अपने निर्देशके अनुसार विद्यालयमें ही करा लेना चाहिए और यह ध्यान रखना चाहिए कि उचित लेखनीसे, उचित आसनपर, उचित ढंगसे बैठकर छात्र इस प्रकार लिखें कि उनकी अभ्यास-पुस्तिका, उँगलियाँ, कपड़े, भूमि और आसन स्याहीसे न रँग जायँ और लिखना केवल लिखनेके लिये न हो, उससे सुन्दर, व्यवस्थित, संगत तथा उचित लिखनेका अभ्यास हो।

शिक्षा-शास्त्रका सिद्धान्त है कि छात्रोंके सम्मुख असत्य, अशुद्ध और भ्रमपूर्ण बातोंका विवरण आने ही नहीं देना चाहिए और न उन्हें ऐसा अवसर देना चाहिए कि वे असत्य, अशुद्ध या भ्रामक बातोंका अनुशीलन या प्रयोग कर सकें। अतः, भाषा और गणितके अतिरिक्त अन्य जिन विषयोंके कार्य घरसे करके लानेको दिए जायँ उनके सम्बन्धकी सभी बातें सूत्र रूपमें श्यामपट्टपर लिख देनी चाहिएँ और छात्रोंसे उसीके आधारपर लिखनेको कह देना चाहिए। साथ ही उन्हें ऐसी पुस्तकों अथवा पत्रोंका विवरण भी दे देना चाहिए जिन्हें देख या पढ़कर वे उत्तर प्रस्तुत कर सकें। यदि इतने साधन न हों तो अध्यापक स्वयं ही श्यामपट्टपर सूत्र लिखकर उस विषयकी मौखिक विवेचना कर दे तथा लिखनेका क्रम और ढंग बता दे। ऐसा करनेसे छात्रोंको उचित निर्देश भी मिल जायगा, वे अशुद्धियाँ भी कम करेंगे और उन्हें समुचित तथा सुसंगत लिखनेका अभ्यास भी हो जायगा।

भाषा-सम्बन्धी अभ्यासोंमें प्रायः अर्थ या व्याख्या-लेखन, निबन्ध, अनुवाद तथा व्याकरण-सम्बन्धी प्रश्नोंके उत्तर लिखने होते हैं। इनमेंसे निबन्धको छोड़कर शेष अभ्यासोंके लिये उचित और सरल मार्ग यही है कि अध्यापक कक्षाके छात्रोंसे उत्तर शुद्ध कराकर श्यामपट्टपर लिख दे जिसकी प्रतिलिपि छात्र अपनी अभ्यास-पुस्तिकामें करते चलें। निबन्ध-लेखन में भी सीधे निबन्धका विषय देनेके बदले यह निर्देश कर देना चाहिए कि अमुक विषयपर निबन्ध लिखते समय वे किन-किन बातोंका उल्लेख करें, कितने अनुच्छेद रक्खें और निबन्ध कितना बड़ा हो। अन्तमें उसी विषयसे मिलते-जुलते किसी अन्य विषय या उसीपर कोई आदर्श निबन्ध पढ़कर सुना देना चाहिए और ऐसे शब्दों तथा वाक्योंकी एक तालिका भी दे देनी चाहिए जिनका प्रयोग उस निबन्धके लिये आवश्यक हो। इस क्रमसे यदि घरका काम भी दिया जाय तो अध्यापकोंका शोधन-भार कम हो और छात्रोंका ज्ञान-संस्कार भी बढ़े।

पारस्परिक परीक्षण

कुछ शिक्षा-शास्त्रियोंने अनुश्रुत लेख शुद्ध करानेके लिये छात्रोंमें परस्पर अभ्यास-पुस्तिका बदलनेका भी उपाय सुझाया है। इससे यद्यपि अध्यापकका काम सरल हो जाता है किन्तु लेखकी ठीक परीक्षा नहीं हो पाती। यह कार्य तो अध्यापक ही कर सकता है। उसे चाहिए कि व्यापक अशुद्धियों या भूलोंको अलग अंकित करके पूरी कक्षाके सम्मुख उनका निराकरण और समाधान कर दे।

कुछ देशोंमें यह भी प्रणाली है कि छोटी कक्षाओंकी सब अभ्यास-पुस्तिकाएँ ऊँची कक्षाओंके छात्र जाँचते हैं। इस प्रणालीसे अध्यापकोंका काम भी हल्का हो जाता है, अभ्यास-पुस्तिका जाँचनेवाले छात्रोंकी ज्ञान-वृद्धि भी होती रहती है और पिछले ज्ञानकी आवृत्ति भी होती चलती है।

निरीक्षण

जिस समय विद्यार्थी दत्तचित्त होकर चित्र, मानचित्र या रेखाचित्र

खींच रहे हों, प्रतिलिपि कर रहे हों, विज्ञानका प्रयोग कर रहे हों, वाद्य बजा रहे हों, गीत गा रहे हों अथवा इसी प्रकारका कोई अन्य पाठ-सम्बन्धी अभ्यास कर रहे हों या कक्षामें लिखित कार्य अथवा शारीरिक, मौखिक या प्रायोगिक अभ्यास कर रहे हों उस समय अध्यापकको अत्यन्त तत्परता और सावधानीके साथ छात्रोंकी प्रत्येक क्रिया, गति, चेष्टा और व्यवहारपर दृष्टि रखनी चाहिए और सहानुभूतिके साथ उन्हें सहायता देते रहना चाहिए। उन्हें यह निर्देश भी करते रहना चाहिए कि लिखित, मौखिक तथा शारीरिक अभ्यास करते समय बैठने या खड़े होनेका तथा अभ्यास-पुस्तिका रखने या लेखनी पकड़नेका ढंग क्या हो, लिखने, यन्त्रोंका प्रयोग करने या मुद्रा बनानेका क्रम कैसा हो, अभ्यास-पुस्तिका किस प्रकार रक्खी जाय, किस प्रकार पृष्ठपर तिथि तथा शीर्षक अंकित किया जाय, कितनी पट्टी छोड़ी जाय, अनुच्छेद कहाँसे प्रारम्भ किया जाय, लिखते समय उँगलियोंसे कलमको जीभके कितने ऊपरसे पकड़ा जाय, अभ्यास-पुस्तिका आँखोंसे कितनी दूर रहे, बैठा कैसे जाय, खड़ा कैसा हुआ जाय, कलमको मसीपात्रमें कितना डुबोया जाय, कलममें अधिक स्याही आ जानेपर उसको स्याही किस प्रकार कम की जाय, चित्र, मानचित्र या रेखाचित्र खींचते समय अंजनी (पेंसिल) की नोक किस प्रकारकी हो, रबड़ कैसी हो, कितनी दाब देकर अंजनी चलाई जाय, रबड़का प्रयोग कितनी दाब और किस कौशलसे हो कि केवल उतना ही अंश मिटाया जा सके जितना अभीष्ट हो, किस प्रकारके कलमसे, कैसी जीभ (निब) से, किस प्रकारकी स्याहीसे रेखाएँ भरी जायँ, चित्रोंमें किस प्रकारकी बत्तियों या सलाइयों (क्रेयन) से किस ढंगसे छायात्मक रंग भरे जायँ, वैज्ञानिक प्रयोगोंमें किस वस्तु या यन्त्रका किस ढंगसे व्यवहार किया जाय, दूसरे यन्त्रोंसे कैसे उसे जोड़ा जाय, किस वस्तुको कितनी देर-तक कितना गर्म किया जाय, वैज्ञानिक परिणामोंका किस प्रकार अध्ययन, परीक्षण और अङ्कन किया जाय, वाद्य-संगीतका अभ्यास करते समय किस आसनसे बैठा जाय, किस प्रकार वाद्य-यन्त्र सँभाला जाय, किस कौशलसे

उँगलियाँ चलाई जायँ, बजाते समय कैसी मुखमुद्रा हो, गायनका अभ्यास करते समय किस आसनसे, किस प्रकार बैठकर, कैसी मुखमुद्रा और भावभंगीके साथ ताल और स्वरमें गायनका अभ्यास किया जाय।

पुस्तकालयका प्रयोग तथा कक्षा पत्रिकाएँ

सभी शिक्षा-शास्त्रियोंके मतसे शिक्षाका तात्पर्य छात्रको यह सामर्थ्य प्रदान करना है कि वह जो कुछ सीखे उसके सम्बन्धमें जिज्ञासा उद्‌बुद्ध कर सके, तर्क कर सके, उसके सब पक्षोंपर अपने विचार व्यवस्थित कर सके, अपने ढंगसे, अपनी भाषामें अपने विचार सक्रम, संगत तथा सुबोध शैलीमें दूसरोंके समक्ष उपस्थित कर सके, अपना स्पष्ट और युक्तियुक्त मत दे सके तथा पढ़े हुए विषयपर दूसरोंसे सहमत या असहमत होनेका सकारण शिष्ट रूपसे विवेचन कर सके।

इस तात्पर्यकी सिद्धिके लिये तीन बातें आवश्यक हैं—१. विस्तृत अध्ययन; २. मनन तथा परस्पर विचार; ३. विचार उपस्थित करनेके अवसर।

विस्तृत अध्ययन

विस्तृत अध्ययनका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक वर्गके छात्र कक्षामें जिस विषयका अध्ययन करते हों, उस विषयकी ऐसी पुस्तकोंका वाचन वे कर जायँ जो उनकी योग्यता और उनके ज्ञानके अनुकूल हों। विद्यालयके पुस्तकालयकी सब पुस्तकें विभिन्न श्रेणियों, वर्गों या कक्षाओंके मानके अनुसार विभाजित और सज्जित करके पुस्तकालयमें अथवा विभिन्न कक्षाओंमें ही रख दी जायँ और अध्यापक केवल यही निर्देश करता चले कि अमुक विषयके लिये अमुक पुस्तकें पढ़ो।

मनन तथा परस्पर विचार

किन्तु बालक उन पुस्तकोंका अध्ययन करते भी हैं या नहीं, इस परीक्षाके लिये या तो अध्यापक अपनी कक्षामें ही छात्रों-द्वारा पढ़ी हुई पुस्तकोंके सम्बन्धमें प्रश्न करके और उनसे मौखिक उत्तर निकलवाकर उनकी वाक्‌शक्तिका संवर्धन करे अथवा प्रश्न देकर लिखित उत्तर प्राप्त करे, अथवा

पारस्परिक विचार-विमर्शके लिये कोई ऐसी समस्या दे जिसपर कक्षाके छात्र दो पक्ष बनाकर विचार-विमर्श, शास्त्रार्थ या वाद-विवाद कर सकें; छात्र अपनी पढ़ी हुई पोथियोंके आधारपर कक्षाके सम्मुख भाषण या लेख प्रस्तुत करें और फिर कक्षाके सम्पूर्ण छात्र उसपर टीका-टिप्पणी करें, प्रश्न करें अथवा अपना मत प्रकट करें या साप्ताहिक और पाक्षिक गोष्ठियोंका आयोजन किया जाय जिनमें पढ़ी हुई पुस्तक तथा उसके लेखकका संक्षिप्त परिचय दिया जाय, पुस्तकके विषयोंका संक्षिप्त परिचय दिया जाय, लेखक या विषयके सम्बन्धमें प्रश्नोंका उत्तर या समस्याओंका समाधान किया जाय। इस प्रकारकी गोष्ठियोंसे वाक्शक्ति, तर्कशक्ति, विचार-शक्ति और कल्पना-शक्ति बढ़ती है, सभाचातुर्यका ज्ञान होता है, अपने विचार व्यक्त करनेकी दृढ़ता और साहसकी उत्पत्ति होती है तथा ज्ञानकी पुष्टिका आत्मविश्वास बढ़ता चलता है।

अध्यापकका सहयोग

इस व्यवस्थामें अध्यापकको यह भी सिखाना चाहिए कि वह कितना और किस प्रकार लेखकका परिचय दे; किस क्रमसे, कितना, किस गति तथा भावभंगीसे, किस प्रकार विषयका विवेचन करे, किस प्रकार उत्तर दे और किस प्रकार समस्याओंका समाधान करे।

शिक्षा-शास्त्रियोंका मत है सब विषयाध्यापकोंकी देख-रेखमें कक्षाकी ओरसे ऐसी हस्तलिखित पत्रिका भी चलाई जाय जिसमें लेख, चित्र, कहानी, नाटक, कविता, वर्णन, अनुभव आदि लिखनेके लिये छात्रोंको प्रोत्साहन दिया जाय और वे पत्रिकाएँ सुन्दर तथा कलापूर्ण ढंगसे स्वच्छ अक्षरोंमें लिखवाकर पुस्तकालय, वाचनालय या किसी ऐसे केन्द्रीय स्थानपर रखवा दी जायँ जहाँ अधिकसे अधिक छात्र उसे पढ़ और देख सकें।

यह भी ध्यान रखना चाहिए कि एक ही दल या छात्र-समूह पत्रिकापर एकाधिपत्य न कर ले, सभी छात्रोंको समान अवसर मिले।

५

नवीन शिक्षा-प्रणालियाँ

बालोद्यान (किन्डेरगार्टेन)

फ्रिड्रिख़ फ्रोबेलने सन् १८४० में जर्मनीमें खेल, स्वाभाविक चहल-पहल तथा स्वेच्छापूर्वक स्वशिक्षा-द्वारा बालकोंको स्वयं-शिक्षित तथा स्वयं-संस्कृत बनानेके लिये बालोद्यान (किन्डेरगार्टेन) पाठशाला खोली थी। फ्रोबेलका मत है कि बालकोंकी शारीरिक तथा मानसिक शक्तियाँ इस प्रकार जगाई जायँ कि बालक अपनी वास्तविक प्रकृति, चरित्र तथा अपनी जीविका-वृत्तिको सचाईके साथ प्रकट कर सके, उन्नत कर सके और स्वयं काम करते हुए अपनेको शिक्षित बनाता चल सके। इसकी पूर्ण योजना पृष्ठ १६२ पर पढ़िए। उसमें निम्नांकित अभ्यास सम्मिलित हैं—

(क) सिखाऊ खिलौने : इन्हें 'फ्रोबेलका उपहार' (फ्रोबेल्स गिफ्ट्स) भी कहते हैं। ये खिलौने बच्चोंके स्वतन्त्र खेलनेके लिये बनाये गए हैं जिन्हें वे अपने आप बना-बिगाड़कर अपना विकास कर सकें तथा गणित-सम्बन्धी अनेक रूपोंसे परिचित हो सकें।

(ख) सिखाऊ हस्तकौशल-सामग्री : इसमें बालू, चिकनी मिट्टी, कागज, पेंसिल इत्यादि हैं जिनके प्रयोगसे बालक कुछ वस्तुएँ स्वतः बना सकें।

(ग) प्रकृति-निरीक्षण : पेड़-पत्ते तथा चिड़ियों-चौपायोंसे परिचय प्राप्त करना, जिससे बालक दूसरे जीवोंको तथा ईश्वरको समझें और उनका आदर करें।

(घ) कथा-कहानी सुनना।

उपर्यंकित साधनोंमें गीत तथा कहानियाँ ऐसे साधन हैं जिनसे भाषा-शिक्षणमें सहायता मिल सकती है। कुछ खिलौने भी इस प्रकारके हैं कि उनके मेलसे अक्षर बनाए जा सकते हैं किन्तु वास्तवमें इस स्वतन्त्र शिक्षाके

क्षेत्रमें भाषा-शिक्षणका कोई भिन्न अस्तित्व तथा महत्त्व नहीं। इसीके आधारपर भुवालीके पण्डित देवीदत्तने एक किण्डेरगार्टेन-बक्स बनाया है जिसमें चौबीस लकड़ीके टुकड़े रहते हैं, जिनसे कई भाषाओंके अक्षरों तथा बहुतसे जीवों और पदार्थोंकी आकृतियाँ बन जाती हैं। इन टुकड़ोंसे बच्चोंको आनन्द तो मिलता है किन्तु अक्षर सीखनेके बदले वे चिड़िया और साँप अधिक बनाते हैं, क ख ग घ कम। इस प्रणालीसे शिक्षा देनेमें बहुत समय नष्ट होता है, किन्तु आरम्भमें तीन वर्षके बालकको दो-तीन महीने इससे खेलाया जा सकता है।

मौन्तेस्सौरी प्रणाली

इतालिया (इटली) निवासी श्रीमती मौन्तेस्सौरीने बालकोंके स्वतन्त्र तथा स्वाभाविक विकासको अबाध बनानेके लिये एक शिक्षा-प्रणाली चलाई जो उन्हींके नामसे प्रचलित है। उसके सिद्धान्त ये हैं—

(१) आगे चलकर दो जानेवाली शिक्षाके लिये पहलेसे पुट्ठों तथा अंगोंको ठीक प्रकारसे सधा देना चाहिए।

(२) उसकी सबसे अच्छी विधि यह है कि विशेष रूपसे निर्मित, नियमित सामग्री (डाइडैक्टिक मैटिरियल) पर क्रमिक अभ्यास कराया जाय।

(३) ये अभ्यास बालक अपनी गतिसे करें।

(४) जिन कार्योंमें अनेक प्रकारकी क्रियाएँ एक साथ होती हैं उनके लिये पहलेसे हाथ, आँख आदि सधा दिए जायँ जैसे सलाईसे बुननेमें।

इस प्रणालीका पूरा विवरण पृष्ठ १७७ पर पढ़िए।

डाल्टन प्रयोगशाला-योजना

कुमारी हेलेन पार्कर्स्ट इस योजनाकी प्रवर्त्तिका हैं। उनका कथन है कि बालकोंको ज्ञान तो अवश्य दिया जाय पर वे उसे बोझ न समझें और यन्त्रके समान अरुचिकर तथा एकरस (मोनोटोनस) न मानें। इसीलिये उन्होंने नित्यकी दिनचर्या (टाइम-टेबिल) फाड़ फेंकने और सीधा एक

महीने भरका काम छात्रको देनेकी सम्मति दी है। वे विद्यार्थीको यह स्वतन्त्रता दे देती हैं कि वह इस दिए हुए कामको महीने भरमें जिस समय चाहे पूरा करे। इस योजनामें विद्यालयकी प्रत्येक कक्षा भूगोल, भाषा, इतिहास तथा विज्ञानकी प्रयोगशाला बन जाती है जहाँ उस विषयकी सब सामग्री और विद्यार्थीको समयपर परामर्श देनेके लिये उस विषयका अध्यापक बैठा रहता है। इसका पूर्ण वर्णन पृष्ठ १८३ पर पढ़िए।

प्रयोग-प्रणाली (प्रोजैक्ट मेथड)

यह प्रणाली सर्वप्रथम संयुक्तराज्य अमेरिकामें कृषिके लिये काममें लाई गई थी। इसके प्रवर्त्तकोंने 'प्रयोगकी' यह परिभाषाकी है—'प्रयोग वह समस्यात्मक कार्य है जो वास्तविक परिस्थितिमें पूरा किया जाय।' इसका पूरा विवरण पृष्ठ १७२ पर पढ़िए।

वर्धा-शिक्षा-योजना

आजकल वर्धा-शिक्षा योजनाकी धूम है।

इस योजनाकी विशेषता यह है कि इसमें सब ज्ञातव्य विषयोंकी शिक्षा एक मूल हस्तकौशलपर अवलम्बित तथा उससे सम्बद्ध होती है अर्थात् भाषा, इतिहास, भूगोल, संगीत सबका सम्बन्ध उस मूल हस्तकौशलसे होता है जो बालकने स्वीकार किया हो। इन मूल हस्तकौशलोंमें कताई-बुनाई, खेती-बारी, बढ़ईगीरी इत्यादि अनेक हस्तकौशल आ सकते हैं। यह योजना पैस्तालौजी महोदयके शिक्षण-सिद्धान्तोंका तथा उपर्यंकित प्रयोग-प्रणालीका भारतीय रूपान्तर मात्र है। इसका पूरा विवरण पृष्ठ १०० पर देखिए।

संचेष्टन विद्यालय (ऐक्टिविटी स्कूल)

आजकल योरोपमें कुछ नये प्रकारके विद्यालय चले हैं जिनमें साधारण गणित तथा लिखने-पढ़नेका ज्ञान देकर बालकोंको जीवनकी विभिन्न समस्याओं और प्रवृत्तियोंका साक्षात् परिचय दे दिया जाता है और स्वयं उन्हें ही सचेष्ट होकर उन कार्योंको सम्पन्न करनेकी प्रेरणा दी जाती है। ऐसे संचेष्टन विद्यालय (ऐक्टिविटी स्कूल) हमारे देशमें श्रीनगर (कश्मीर) में चलाए जा रहे हैं।

इस विद्यालयमें अध्यापिकाएँ होती हैं और वे केवल निर्देश मात्र करती हैं, शेष सब कार्य बच्चे ही करते हैं। इस विद्यालयमें ३ से ८ वर्षतकके बच्चे ही रहते हैं और जब वे अत्यन्त फुर्तीके साथ हँसमुख होकर झटपट अत्यन्त तत्परताके साथ सब कार्य करते रहते हैं तो उन्हें देखनेमें आनन्द तो मिलता ही है, साथ ही बड़ी प्रेरणा भी मिलती है। इन विद्यालयोंका विवरण पृष्ठ १२० पर देखिए।

अन्य प्रणालियाँ

पीछे शिक्षाके सिद्धान्त और मानसशास्त्र शीर्षक अध्यायमें पृष्ठ ३०३ से ३०६ तक विश्लेषण प्रणाली (ऐनेलिटिक मेथड), संश्लेषण-प्रणाली (सिन्थेटिक मेथड), परिणाम प्रणाली (इन्डक्टिव मेथड) तथा सिद्धान्त-प्रणाली (डिडक्टिव मेथड) का पूरा विवरण देकर यह बताया है कि अध्यापनको अधिक प्रभावशाली बनानेके लिये विश्लेषण तथा परिणाम-प्रणालियाँ ही ग्राह्य है, संश्लेषण तथा सिद्धान्त प्रणाली नहीं किन्तु केवल शुद्ध विश्लेषण प्रणाली ही स्वयं पूर्ण नहीं होती, उसके बदले विश्लेषण-संश्लेषण प्रणाली (ऐनेलिटिको सिन्थेटिक मेथड) का प्रयोग करना चाहिए।

उपर्यंकित प्रणालियोंमेंसे उचित प्रणालीका आश्रय लेकर जो अध्यापक अपने चरित्र, ज्ञान और विज्ञानके साथ अत्यन्त प्रसन्न मुद्रा, विनोद-भावना नियमितता तथा व्यावहारिकताका ध्यान रखते हुए अपना विषय तैयार करके और गला साधकर अध्यापन करेगा उसे निश्चय ही अध्यापनमें आशातीत सफलता प्राप्त होगी।

इन प्रणालियोंके उचित प्रयोग तथा उपर्यंकित गुणोंके साथ अध्यापकको अत्यन्त नम्र होकर विद्यालय तथा शिक्षा-विभागके नियमोंका पालन करना चाहिए और अपने ऊपर ऐसा संयम रखना चाहिए कि विकार या क्षोभका कारण आनेपर भी वह अत्यन्त संयत और धैर्यशील रहे, अत्यन्त निष्ठाके साथ अपना कार्य करे, छात्रोंके ज्ञानाभिवर्द्धनके लिये प्रयत्नशील होनेके नाते स्वयं अपने ज्ञानका अभिवर्द्धन करता चले और योग्यतापूर्वक पढ़ाता चले।

पढ़ानेकी योग्यता

पढ़ानेकी योग्यताके अन्तर्गत केवल अपने पाठन-विषयका पूर्ण ज्ञान होना ही पर्याप्त नहीं है। उसके लिये अध्यापकको निम्नांकित व्यावहारिक क्रमका भी ध्यान रखना चाहिए—

१. कक्षाको ऐसे व्यवस्थित और क्रमिक ढंगसे बैठाओ कि कक्षाके किसी छात्रकी कोई क्रिया अध्यापककी दृष्टिसे ओझल न रहे।

२. छात्रोंको ठीक ढंगसे बैठनेको टोकते रहो और देखते रहो कि कोई पीठ दुहरी करके या झुककर तो नहीं बैठा है।

३. केवल संगत और प्रासंगिक ज्ञान ही दो। असंगत और अप्रासंगिक बातोंमें समय नष्ट न करो।

४. जिन विशेष बातोंपर विशेष ध्यान दिलाना है उनपर विशेष बल दो।

५. मनोवैज्ञानिक पक्षका सदा ध्यान रक्खो।

६. अत्यन्त रुचिकर ढंग और पांडित्यके साथ विषय प्रस्तुत करो।

७. वर्णन और विवरण देनेकी अपनी शक्ति बढ़ाओ।

८. अपना मन सदा स्वस्थ रक्खो। चिन्तित और उदास होकर या घबराकर न पढ़ाओ। सदा चेतन रहो।

९. वाणीमें अधिकार और कोमलता दोनोंका समावेश करके प्रयोग करो। साथ ही अपनी वाणी स्पष्ट, प्रवाहशील, सुस्वर, गतिशील, सुहावनी और सुन्दर बनाए रक्खो,

१०. अध्यापकको अपने विषयका पूर्ण पंडित होना चाहिए।

११. छात्रोंके साथ उदारता, स्नेह और सहानुभूतिमय व्यवहार करना चाहिएं।

१२. अपने विषयका पूर्ण पंडित होनेपर भी उसे अपना नित्यका पाठ नित्य तैयार करके कक्षामें जाना चाहिए।

पीछे अध्यापकके गुणोंके विवरणमें इन सब बातोंका उल्लेख विस्तारसे किया जा चुका है।

६

पाठ-योजना और पाठन-प्रणालियाँ

जैसे पढ़ाने जानेसे पहले पाठकी तैयारी कर लेना अत्यन्त आवश्यक है वैसे ही उस तैयारीमें पाठकी योजना भी बना लेना आवश्यक है कि अमुक पाठको मैं अमुक प्रकारकी प्रस्तावनासे प्रारम्भ करूँगा, पाठकी व्याख्या करते समय अमुक उदाहरण, कहानी, अन्तःकथा या उद्धरण दूंगा, अमुक प्रकारके चित्र, प्रतिमूर्त्ति, रेखाचित्र आदिका प्रदर्शन करूँगा, अमुक शब्दकी इस प्रकार व्युत्पत्ति करूँगा आदि। यह योजना बनाते समय अध्यापकको छात्रोंकी योग्यता, रुचि, प्रवृत्ति और मनोवृत्तिका भी ध्यान रखना चाहिए। यह भली भाँति समझ लेना चाहिए कि हम जो कुछ भी प्रस्तुत कर रहे हैं इसे बालक रुचिपूर्वक ग्रहण करेंगे या नहीं और यह उनकी योग्यताकी सीमासे परे तो नहीं है।

पाठकी क्रमिक योजना बनानेके सम्बन्धमें हरबार्टने निश्चित पंचपदी प्रतिपादित की है जिसका पूरा विवरण पीछे १५३ से १६० पृष्ठतक दिया जा चुका है। उसका कहना है कि प्रत्येक पाठमें १. प्रस्तावना या तैयारी (प्रिपेरेशन); २. वस्तूपस्थापन; (प्रेजेंटेशन), ३. साहचर्य या तुलना (एसोसिएशन और कम्पेरिज़न), ४; सिद्धान्त-निरूपण (जनरलाइजेशन); ५. प्रयोग (एप्लिकेशन); ये पाँच क्रमिक पद परिणामात्मक (इंडक्टिव) पाठोंमें होते हैं जिन्हें शुद्ध परिणामात्मक (इंडक्टिव) न कहकर परिणाम-सिद्धान्त (इंडक्टिव-डिडक्टिव) पाठ कहना चाहिए क्योंकि पिछले दो पदोंमें तो सिद्धान्त-प्रतिपादन ही होता है। इसी क्रम-शिक्षणको विकास-क्रम (डेवलेपमेंट फौर्म) भी कहते हैं क्योंकि इसके द्वारा पढ़नेवाला अपने मनमें स्वयं अपने अनुभवसे ज्ञानका संग्रह करता है।

प्रस्तावना (इन्ट्रोडक्सन या प्रिपरेशन)

प्रस्तावना अत्यन्त सूक्ष्म होनी चाहिए। उसका उद्देश्य यही है कि

छात्रका जो पूर्वार्जित ज्ञान है उसके आधारपर उसे नये ज्ञानके तटतक लाकर पहुँचा दिया जाय। इस प्रस्तावनामें पूर्णतः नई बातें भी आ सकती हैं, पिछले पाठकी आवृत्ति भी हो सकती है; अन्य विषयोंके तत्सम्बद्ध विवरणोंसे संयोजन भी किया जा सकता है और छात्रके घरेलू अनुभवको उद्दीप्त किया जा सकता है। यह सब प्रश्न, चित्र, कविता, पाठ कहानी, प्रयोग या किसी भी संगत पाठन-विधिके प्रयोगसे प्रस्तुत किया जा सकता है।

उद्देश्य-कथन (एम स्टेटेड)

प्रस्तावना पूर्ण होते ही पाठ पढ़ानेका उद्देश्य स्पष्ट कह देना चाहिए कि आज हम क्या पाठ पढ़ा रहे हैं। यह उद्देश्य स्पष्ट रूपसे प्रस्तावनाका परिणाम होना चाहिए। यह उद्देश्य-कथन सार्थक (कौंक्रीट), संक्षिप्त (ब्रीफ़), संगत (पर्टिनेंट), निश्चित (डेफ़िनिट) तथा आकर्षक (एट्रेक्टिव) होना चाहिए और स्पष्ट सुबोध भाषामें कह दिया जाना चाहिए।

वस्तूपस्थापन (प्रेज़ेंटेशन)

वस्तूपस्थापनका अर्थ है पाठ प्रस्तुत करना। भाषा या साहित्यके पाठमें तो अध्यापक और छात्रों-द्वारा पाठका वाचन ही वस्तूपस्थापन है किन्तु विज्ञान, तर्कशास्त्र, अर्थशास्त्र, गणित आदि जिन विषयोंमें सिद्धान्त-प्रतिपादन ही पाठक उद्देश्य होता है वहाँ पहले उदाहरण प्रस्तुत करके ही सिद्धान्त निकलवाया जाता है या छात्रके अनुभवको उद्दीप्त करके उसके सहारे नया ज्ञान दिया जाता है। वस्तूपस्थापनमें पूरे पाठको छोटी-छोटी अन्वितियों (यूनिट्स) या भागोंमें इस प्रकार विभक्त कर लेना चाहिए कि अगला भाग पिछले भागसे क्रमिक रूपसे संबद्ध रहे। इस क्रम-बद्धताको 'क्रमिक स्पष्टताका नियम' (लौ औफ़ सक्सेसिव क्लीअरनेस्') कहते हैं। प्रत्येक अन्विति या अंशको लेकर उसे पूर्णतः आत्मसात् करा देना चाहिए। इस प्रक्रियाको आत्मीकरण (एब्सौर्प्शन) कहते हैं। यह हो चुकनेपर इस अन्वितिको आवृत्तिके द्वारा पिछली पढ़ाई हुई अन्वितिसे सम्बद्ध कर देना चाहिए। इसे कहते हैं पुनःचिन्तन (रिफ़्लेक्शन)। इस प्रकार एक अन्वितिपर पूर्ण ध्यान देकर आवृत्तिके द्वारा उसे पिछली अन्वितिसे सम्बद्ध

करनेकी प्रक्रियाको 'एकके पश्चात् दूसरेको आत्मीकरण करनेका नियम' (लौ औफ़ आल्टर्नेट एब्सौर्प्शन) कहते हैं। इस वस्तूपस्थापनकी अवस्थामें आवृत्ति, रुचि, विशेष बल तथा विस्तार सबका ध्यान रखना चाहिए और मनोवैज्ञानिक क्रमसे चलना चाहिए।

यह वस्तूपस्थापन (१) कथन (टेलिंग) या वर्णन (नैरेशन) द्वारा २. विज्ञान आदि विषयोंमें प्रयोग (एक्स्पेरिमेंट) द्वारा, ३. विकास-प्रणाली (डेवलेपमेंट मेथड) द्वारा जिसमें अध्यापक कौशल-पूर्ण प्रश्नोत्तर-द्वारा छात्रोंको ऐसा उत्तेजित कर दे कि वे स्वयं ज्ञानका मार्ग ढूँढ लें।

साहचर्य या तुलना

प्रस्तुत किए हुए ज्ञानको पक्का करनेके लिये यह आवश्यक है कि उससे मिलते-जुलते या विरोधी विषयों, वस्तुओं, सिद्धान्तों तथा तथ्योंसे इसकी तुलना करा दी जाय अथवा अन्य तत्सम या तद्विरोधी तथ्यों या विषयोंसे उसका साहचर्य स्थापित करा दिया जाय। तुलनामें जानेवाली वस्तुएँ, विषय ऐसे प्रसिद्ध हों कि सब उन्हें भलीभाँति जानते हों।

सिद्धान्त-निरूपण

तुलना और साहचर्य स्थापित हो चुकनेके पश्चात् स्वभावतः स्वयं छात्र ही उसके सिद्धान्त, नियम या परिभाषा निकाल लेंगे। यह सिद्धान्त, नियम या परिभाषा अत्यन्त संक्षिप्त और स्पष्ट होनी चाहिए तथा स्वयं छात्रों-द्वारा ही प्रतिपादित होनी चाहिए।

प्रयोग (एप्लिकेशन)

साधारणतः प्रत्येक व्यक्तिका चिन्तन-क्रम ऐसा होता है कि वह उदाहरणसे सिद्धान्तकी ओर और सिद्धान्तसे उदाहरणकी ओर प्रवृत्त होता है अतः सिद्धान्त-प्रतिपादनके पश्चात् अथवा कोई ज्ञान दे चुकनेके पश्चात् उसका पुनः प्रयोग करा देनेसे वह पक्का हो जाता है। यों भी

जबतक कोई अपने ज्ञानका प्रयोग नहीं करता तबतक वह निरर्थक ही है। अतः, कोई भी ज्ञान देकर उसका प्रयोग तो करा ही देना चाहिए। इस प्रयोगमें कविता कंठस्थ कराई जा सकती है, पढ़ाए हुए शब्दों और रूढोक्तियोंका प्रयोग कराया जा सकता है, चित्र, मानचित्र, रेखाचित्र, सरणि आदि खिंचवाई जा सकती है, भूगोलका पाठ पढ़ाकर किसी यात्राकी योजना बनवाई जा सकती है, निबन्ध लिखवाया जा सकता है, ऐतिहासिक घटना पढ़ाकर उसपर नाटक लिखवाया जा सकता है। इस प्रकार अनेक रूपोंसे ज्ञानका प्रयोग कराया जा सकता है।

कथन प्रणाली (टेलिंग मेथड)

बहुतसे विषय ऐसे हैं जिनका प्रत्यक्ष प्रयोग नहीं कराया जा सकता। इतिहास और भूगोलके अधिकांश ज्ञान छात्रके अनुभव और उसके प्रत्यक्ष ज्ञानकी सीमासे बाहर है। इस प्रकारके सम्पूर्ण ज्ञानको कथन-प्रणाली (टेलिंग मेथड) के द्वारा ही बताया जा सकता है। यह हो सकता है कि हम इस कथनके साथ कुछ चित्र भी दिखा दें किन्तु उसका मूल आधार तो कथन ही होगा। किन्तु यह प्रणाली दोषपूर्ण है। अपनी ओरसे अध्यापकोंको बहुत कम बताना चाहिए। उन्हें छात्रोंके सम्मुख ऐसी समस्या खड़ी कर देनी चाहिए और इस प्रकारका वातावरण या परिस्थिति उत्पन्न कर देनी चाहिए कि वे स्वयं अपने प्रयाससे ज्ञान प्राप्त कर सकें। इस कथन-प्रणालीसे यह लाभ अवश्य है कि वाणीसे बहुत प्रभाव डाला जा सकता है और अध्यापक पुस्तक-ज्ञानकी अपेक्षा अधिक अभिनव और सार्थक ज्ञान कथन-द्वारा दे सकता है।

मौखिक प्रणाली

मौखिक प्रणालीका अर्थ ही है प्रश्नोत्तर प्रणाली (कन्वर्सेशनल मेथड)। यह प्रश्नोत्तर प्रणाली अत्यन्त प्राचीन है। सभी देशोंमें सम्पूर्ण ज्ञान-दानका आधार प्रश्नोत्तर ही रहा है। प्रत्येक जिज्ञासु प्रश्न पूछता और गुरु उसका उत्तर देता था। अब केवल इतना अन्तर हो गया है कि अब गुरु प्रश्न

करता है और शिष्य उत्तर देता है। इसका सिद्धान्त ही यह है कि प्रश्नोंके द्वारा छात्रोंको ऐसी प्रेरणा दी जाय कि वे उत्तर देनेके लिये समुत्सुक हो जायँ और स्वतन्त्रतापूर्वक बिना दबावके ही उत्तर दें। किन्तु मौखिक प्रणालीको सुकराती या क्रमिक वार्त्ता प्रणाली (कैटेचेटिकल मेथड) से मिला नहीं देना चाहिए। वह इससे भिन्न है।

सुकराती या क्रमिक वार्त्ता-प्रणाली

सुकरात यूनानका बड़ा प्रसिद्ध दार्शनिक था। उसके युगमें दो प्रसिद्ध प्रणालियाँ प्रचलित थीं—१. अथीनी प्रणाली और २. स्पार्त्तीय प्रणाली। सुकरात चाहता था कि प्रत्येक व्यक्ति अपनेको भली-भाँति समझकर सद्गुण (वर्चू) प्राप्त करे। उसका सिद्धान्त ही था अपनेको जानो (नो दाइसेल्फ़)। वह चाहता था कि प्रत्येक मनुष्य अपने दोषको पहले समझे और समाजके हितके लिये अपने स्वार्थका उत्सर्ग कर दे। उसके मतसे यही शिक्षाका उद्देश्य था।

अपने मतकी पुष्टिके लिये उसने प्रश्नोत्तरकी एक ऐसी प्रणाली निकाली कि कुछ प्रारम्भिक प्रश्नोंके द्वारा वह किसी भी व्यक्तिको यह समझनेके लिये बाध्य कर देता था कि मेरा मत भ्रामक था और मेरा ज्ञान अपूर्ण तथा अपर्याप्त था। उसकी शिक्षाकी दो विधियाँ थीं—१. नकारात्मक या व्यंग्यात्मक (निगेटिव और आयरनिकल) और २. विधेयात्मक या परिणामात्मक (पौज़िटिव और इंडक्टिव)। वह प्रश्नोंके द्वारा अनेक उदाहरण एकत्र कर लेता था और उन उदाहरणोंके आधारपर कोई व्यापक सिद्धान्त निकालकर प्रस्तुत कर देता था। यह प्रश्नोत्तर-प्रणाली इतनी प्रसिद्ध हुई कि इसका नाम ही रख दिया गया केटेचेटिकल या सुकराती प्रणाली। इस प्रणालीमें सब कुछ दूसरोंसे ही कहला दिया जाता और उन्हें मूर्ख तथा अज्ञ सिद्ध कर दिया जाता था।

बाह्यानुभव प्रणाली (ऑब्जेक्टिव मेथड)

हमारा सम्पूर्ण प्रारम्भिक ज्ञान इन्द्रियोंके अनुभव या बाह्य अनुभवसे

होता है। हम जो वस्तु देखते, सुनते, सूँघते, छूते, चखते हैं उनके रूप, रंग, आकार, प्रकृति सबका हमें ज्ञान होता चलता है। यह अनुभव हमारे जीवन-भरमें व्याप्त रहता है। अतः, शिक्षालयोंमें भी इस प्रत्यक्ष अनुभव या बाह्य अनुभव प्रणालीका प्रयोग करते चलना चाहिए। यद्यपि सब विषय तो प्रत्यक्ष अनुभवके द्वारा नहीं सिखाए जा सकते किन्तु प्रारम्भिक कक्षाओंमें प्रकृति-विज्ञान, प्रत्यक्ष वस्तुओंका या उनके चित्रों और प्रतिमूर्त्तियोंका बोध करानेवाले शब्द, पर्यटन द्वारा ऐतिहासिक और भौगोलिक स्थानोंका परिचय। संग्रहालयोंमें विभिन्न युगों और प्रकारोंके पदार्थोंका प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रियों-द्वारा हो सकता है। अतः प्रारम्भिक कक्षाओंमें विशेषतः और ऊँची कक्षाओंमें सामान्यतः इस प्रणालीका प्रयोग किया जा सकता है। इसे संप्रेक्षण प्रणाली (औब्जर्वेशन मेथड) भी कहते हैं। इस प्रणालीमें एक दोष तो यह है कि छात्र वस्तुको ही देखनेमें रह जाते हैं और दूसरा दोष यह है कि प्रत्यक्ष वस्तुके परिचयसे कल्पनाका स्रोत बन्द हो जाता है इसलिये इसका अति प्रयोग नहीं करना चाहिए।

व्याख्यान-प्रणाली (लेक्चर मेथड)

जब अध्यापक किसी कक्षामें निरन्तर स्वयं बोलकर अपने पाठन-विषयका प्रतिपादन करता है तब वह पाठन-प्रणाली ही व्याख्यान-प्रणाली कहलाती है। यह भी एक प्रकारकी कथन-प्रणाली ही है। यह प्रणाली उच्च कक्षाओं अर्थात् हाइ स्कूल कक्षाओंसे ऊपरके छात्रोंके लिये काममें लानी चाहिए। व्याख्यान प्रणालीमें अध्यापकको मन्द गतिसे बोलना चाहिए, छात्रोंको पहलेसे पढ़कर आनेके लिये कह देना चाहिए, पाठके महत्त्वपूर्ण अंशोंको कई बार दुहराकर कहना चाहिए। छात्रोंसे भी सब दुहरवाते रहना चाहिए और कभी कभी प्रश्न करके यह जानते रहना चाहिए कि छात्रोंने समझा है या नहीं। व्याख्यान-प्रणाली-द्वारा पढ़ानेसे पूर्व छात्रोंको ऐसा अभ्यास डलवा देना चाहिए कि व्याख्यानके ठीक-ठीक ऐसे सूत्र लेते चलें जिनका विस्तार करके वे पूरा पाठ लिख सकें और व्याख्यानके महत्त्वपूर्ण वाक्य तथा शब्द भी लिख सकें। अच्छी प्रणाली तो यह है कि व्याख्यान देते समय एक-

एक सूत्र श्यामपट्ट पर लिखते चलें, बीच-बीचमें प्रश्न भी करते चलें और उसपर प्रवचन करते चलें।

क्रियात्मक प्रणाली (डायनैमिक मेथड)

'स्वयं करके सीखो' (लर्न बाइ डुइंग) के नवीनतम शिक्षा-सिद्धान्तके अनुसार एक नई शिक्षण-प्रणाली चली है जिसे क्रियात्मक (डायनैमिक) प्रणाली कहते हैं। प्राचीन प्रणालीमें तो शिष्य चुपचाप बैठता था और जो गुरुजी कहते चलते हैं उसे सीखता चलता है किन्तु अब यह सिद्धान्त मान्य नहीं रह गया है। आजके प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्रियोंका मत है कि 'बालक अपने पुट्ठोंके द्वारा सीखता है अर्थात् वह कुछ करता चलता है और सीखता चलता है क्योंकि प्रत्येक विचारका एक क्रियात्मक पक्ष भी होता है और मन तो हमारी इन्द्रियों और पुट्ठों (क्रियात्मक अंगों) के बीच केवल मध्यस्थका काम करता हुआ हमारी क्रियाको पथ-प्रदर्शन करता है।' अतः छात्रको क्रियाके द्वारा सीखना चाहिए और कोरे शब्द रटनेकी अपेक्षा किसी कुशल निर्देशककी अधीनतामें कुछ करते चलना चाहिए। सबसे पहले रूसो और लौकने प्राचीन रटन्त प्रणालीका विरोध किया। परिणामत: फ्रोबेलने अपनी बालोद्यान प्रणाली (किंडेरगार्टेन मेथड) चलाई जिसमें छात्र अनेक प्रकारके उपहारोंके जोड़-तोड़से ज्ञानार्जन करते हैं। मौन्तेसौरी प्रणाली, प्रयोग-प्रणाली आदि सभी नवीन प्रणालियोंका आधार संचेष्टन या क्रिया ही है। इस प्रणालीसे सभी विषय पढ़ाए जा सकते हैं। बालकोंको स्वयं सौदा मोल लेने, धोबीके कपड़ोंका ब्यौरा बनाने, घरके आय-व्ययका विवरण रखवाकर, सामान तुलवाकर गणितका व्यावहारिक ज्ञान कराया जा सकता है। बौद्धिक, भावात्मक या क्रियात्मक सभी प्रकारकी शिक्षा स्वतः क्रिया द्वारा ही होनी चाहिए।

दृष्टान्त-प्रणाली (इलस्ट्रेटिव मेथड)

दृष्टान्त प्रणाली वास्तवमें कथन-प्रणालीकी ऊब दूर करनेका साधन है। अध्यापक बहुत कुछ कहना चाहता है और कहता भी है किन्तु यदि वह

उस कथनके साथ-साथ उदाहरण, दृष्टान्त तथा उद्धरण आदि भी देता चले तो उसके पाठनीय विषयमें और भी अधिक चमक तथा स्पष्टता आ जायगी। इस प्रकारके स्पष्टीकरणात्मक साधनोंमें प्रमुख हैं कहानी, जो वास्तविक जीवनसे सम्बन्ध हो, कोरी काल्पनिक न हो; वास्तविक पदार्थ, प्रतिमूर्त्ति, चित्र, रेखाचित्र, प्रासंगिक कथा, किसी कविका वचन, किसी विद्वान् या महापुरुषकी उक्ति आदि।

स्वयं प्रयोग-प्रणाली या अनुसंधान प्रणाली (ह्यूरिस्टिक मेथड)

आजतक जितने भी वैज्ञानिक अनुसन्धान हुए हैं सब एक विशेष प्रक्रियाके परिणाम-स्वरूप हुए हैं। अतः, विज्ञान सिखाते समय छात्रको मूल अन्वेषकके स्थानमें उपस्थित करके उससे अनुसन्धानकी समस्त क्रिया कराकर उसीसे वह परिणाम निकलवा देना ही स्वयं प्रयोग प्रणाली है जो स्वयं मूल अन्वेषकने निकाला था इस प्रणालीसे मौलिकताकी वृद्धि होती है, समीक्षात्मक वृत्ति बढ़ती है, चेतनता और सक्रियता बनी रहती है, आत्माभिव्यक्तिका विकास होता है और छात्रोंकी मानसिक क्रिया भी प्रवृद्ध होती है। किन्तु इस प्रणालीका प्रयोग केवल उन वैज्ञानिक विषयोंके शिक्षणमें ही करना चाहिए जिनमें प्रयोगात्मक क्रिया अपेक्षित हो। इसकी विस्तृत व्याख्या द्वितीय खंडमें की जा चुकी है।

७

पाठनके शिक्षा-सिद्धान्त

शिक्षा-शास्त्रियोंने मनोविज्ञान तथा अनुभवके आधारपर कुछ ऐसे शिक्षा-सूत्र निर्धारित कर दिए हैं जिन्हें शिक्षाका आधार तथा पथनिर्देशक समझना चाहिए। ये सिद्धान्त हैं—

१. विश्लेषणसे संश्लेषणकी ओर चलो।
२. प्रत्यक्ष (कौन्क्रीट)से अप्रत्यक्ष (एब्स्ट्रैक्ट)की ओर चलो।
३. ज्ञातसे अज्ञातकी ओर चलो।
४. सरलसे जटिलकी ओर चलो।
५. प्रकृतिका अनुसरण करो।
६. मनोवैज्ञानिक और संगत क्रमसे चलो।
७. पूर्णसे खंडकी ओर चलो।
८. विशेषसे सामान्यकी ओर चलो।
९. अनुभवात्मक ज्ञानसे तर्कपूर्ण ज्ञानकी ओर चलो।
१०. निश्चितसे अनिश्चितकी ओर चलो।
११. निर्देश मत दो, शिक्षा दो।
१२. विद्यार्थी जो कुछ स्वयं खोजकर सीख सकते हों वह उन्हें बताओ मत।

विश्लेषणसे संश्लेषणकी ओर

छात्रके मनमें किसी वस्तुका संस्कार डालनेके लिये अर्थात् मानसिक साहचर्य स्थापित करनेके दो उपाय हैं—विश्लेषण और संश्लेषण। बालक जितना ज्ञान लेकर कक्षामें पहुँचता है वह अपूर्ण, अनिश्चित और असंगत होता है। अध्यापकका काम यही है कि वह बालकके ज्ञानको पूर्ण, निश्चित और संगत बना दे। बालकके ज्ञानका असंगत और जटिल होना ही इस बातका निर्देशक

है कि शिक्षाका क्रम विश्लेषणसे प्रारम्भ होना चाहिए। उसके अस्पष्ट तथा अविश्लिष्ट पूर्णज्ञानका परिचय प्राप्त करके उसका विश्लेषण किया जाय और विश्लेषण कर चुकनेपर उसका संश्लेषण किया जाय क्योंकि विश्लेषण करते समय भी अध्यापकका उद्देश्य यही रहना चाहिए कि अन्तमें संश्लेषण होना ही चाहिए। इस प्रकार यह प्रणाली डा० लौरीके शब्दोंमें संश्लेषण-विश्लेषणात्मक (ऐनेलिटिको सिन्थेटिक) ही है। इस प्रक्रियासे व्याकरण पढ़ाया जा सकता है इस परिणाम-सिद्धान्त प्रणाली (इंडक्टिव-डिडक्टिव मेथड) या विश्लेषण-संश्लेषण प्रणाली (ऐनेलिटिको सिन्थेटिक मेथड) में पहले उदाहरण देकर या विश्लेषण करके फिर परिणाम निकलवा लेना चाहिए।

प्रत्यक्षसे अप्रत्यक्षकी ओर

हरबर्ट स्पेन्सरका कथन है कि पाठ पढ़ाते समय हमें प्रत्यक्ष (कौङ्क्रीट) से प्रारम्भ करके अप्रत्यक्ष (एब्स्ट्रैक्ट) की ओर चलना चाहिए। तात्पर्य यह है कि हम जितना भी सैद्धान्तिक ज्ञान प्राप्त करते हैं उसका आधार प्रत्यक्ष उदाहरण ही है। हम जो कुछ प्रत्यक्ष देखते, सुनते या अनुभव करते हैं उनके आधारपर हम कुछ सिद्धान्त प्रतिपादित कर लेते हैं। इसका अर्थ यह है कि नियम या सिद्धान्त बतानेसे पहले हमें उदाहरण और विवरण देने चाहिएँ किन्तु उदाहरण या विवरण तक ही नहीं रह जाना चाहिए, नियम भी निकलवाना चाहिए क्योंकि साध्य तो वही है।

ज्ञातसे अज्ञातकी ओर

यदि किसी पाठको रुचिकर और आकर्षक बनाना हो तो उसमें परिचित और नवीन सामग्रीका समावेश होना ही चाहिए। यदि नया दिया जानेवाला ज्ञान छात्रके पूर्व संचित ज्ञानसे सम्बद्ध नहीं होगा तो न उनकी समझमें आवेगा न उन्हें उसमें रुचि होगी। अतः छात्रको जो ज्ञात है उसके सहारे ही नवीन अज्ञात सामग्री सिखानेका यत्न करना चाहिए।

सरलसे जटिलकी ओर

यद्यपि यह कहना कठिन है कि क्या सरल है क्या जटिल, किन्तु अनुभवी

अध्यापकके लिये यह समझना दुरूह नहीं है कि छात्रको कौन-सी बातें सरल प्रतीत होती हैं। उसे जो सरल प्रतीत होता है उसीको आधार बनाकर उसका विश्लेषण करते हुए उसकी जटिलता दूर कर देनी चाहिए। बालक जानता है कि वृक्षोंमें फल लगते हैं। इस सरल तथ्यको आधार बनाकर यह जटिल तथ्य बता देना चाहिए कि फलका रूप लेनेके लिये फूलमें कौन-सी प्रक्रियाएँ होती हैं।

प्रकृतिका अनुसरण करो

सामर्थ्य-मनो विज्ञानवाद (फ़ैकल्टी साइकोलौजी) वालोंका कहना है कि आरंभिक अवस्थामें बच्चेको केवल इन्द्रियगत अनुभवके ज्ञानतक परिमित रखना चाहिए। इसके पश्चात् जब उसकी स्मृति प्रबल हो चलती है तब उसे तथ्य, नाम और तिथियोंकी सूची कंठाग्र करा देनी चाहिए और केवल अन्तमें उसकी तर्क-शक्तिका विकास करना चाहिए। किन्तु यह सिद्धान्त भ्रामक है। 'प्रकृतिका अनुसरण करो',का अर्थ है कि बालकका जैसा शारीरिक और मानसिक विकास होता चले उसीके अनुरूप हमें उसकी शिक्षाके साधन जुटाने चाहिएँ।

मनोवैज्ञानिक और संगत क्रम

संगत (लौजिकल) क्रमकी अपेक्षा अध्यापकको मनोवैज्ञानिक क्रमका ही विशेष ध्यान रखना चाहिए अर्थात् बालकके मानसिक विकासके अनुसार हमें ज्ञान देना चाहिए भले ही वह संगत न हो और प्रथम सिद्धान्तके क्रमसे न व्यवस्थित किया गया हो। यदि छात्र प्रथम सिद्धान्तको भी सीखनेके लिये प्रस्तुत हो तो संगत क्रम भी मनोवैज्ञानिक हो जाता है।

पूर्णसे खंडकी ओर

पूर्णसे खंडकी ओर चलनेका स्पष्ट तात्पर्य यह है कि बालकको जो जटिल तथा अविश्लिष्ट पूर्ण ज्ञात है उससे चलकर उसके सब अंगोंकी स्पष्ट व्याख्या करके पुनः उस पूर्णकी व्याख्या करनी चाहिए। यदि भूगोल पढ़ाना हो तो बालकको जो कुछ पूर्ण ज्ञान है कि यह गोल धरती ही हमारी

निवास-भूमि है, इसीका विश्लेषण करके पृथ्वीके नैसर्गिक भागोंका, वहाँके निवासियोंका रहन-सहन, जीव-जन्तु, वनस्पति आदिका ज्ञान कराकर फिर पूरी धरतीका संश्लिष्ट परिचय दिया जा सकता है। बालकको पूर्ण फूलका ज्ञान है। फूल लेकर उसके विभिन्न अंगोंका विश्लेषण करके यह बताना कि इसमें पराग, जीरक, जीरक-डंठल, पंखड़ी, मकरन्द, छादन और डंठल होते हैं। यही पूर्णसे खंडकी ओर जाना कहलाता है।

विशेषसे सामान्य

यह नियम लगभग वैसा ही है जैसे प्रत्यक्षसे अप्रत्यक्षकी ओर चलो। विशेषसे सामान्यकी ओर चलनेका तात्पर्य यही है कि हमें पहले कुछ उदाहरण लेकर उनके आधारपर व्यापक सामान्य सिद्धान्त निकलवा लेना चाहिए किन्तु सामान्य या व्यापक सिद्धान्त निकलवा लेनेके पश्चात् उसे वहीं समाप्त नहीं कर देना चाहिए। उसका पुनः प्रयोग कराकर यह सिद्ध कर देना चाहिए कि जो नियम या सिद्धान्त निकाला गया है वह निरपवाद और निर्भ्रान्त है।

अनिश्चितसे निश्चितकी ओर

बालकका ज्ञान प्रारम्भमें पूर्णतः अनिश्चित रहता है। उस अनिश्चित ज्ञानको अनेक उदाहरणों, दृष्टान्तों तथा अन्य विधियोंके द्वारा निश्चित कर देना अध्यापकका धर्म है। छात्रको यह ज्ञात है कि रेलगाड़ीका अंजन भापसे चलता है किन्तु उसका यह ज्ञान अनिश्चित है। उस ज्ञानको स्पष्ट और निश्चित कर देनेके लिये यह आवश्यक है कि कक्षामें प्रयोगके द्वारा या अंजनकी बनावट और चालन क्रिया दिखाकर उसका ज्ञान निश्चित कर दिया जाय।

अनुभूत ज्ञानसे युक्तियुक्त या तर्कसगत ज्ञानकी ओर

अनुभूत ज्ञान वह सम्पूर्ण संचित ज्ञान-राशि है जो बालकने अपनी इन्द्रियोंके सहारे अनुभव की है किन्तु यह आवश्यक नहीं कि इस अनुभूत ज्ञानके सम्बन्धमें वह क्यों और कैसेका भी उत्तर दे सके। प्रत्येक बालक देखता है कि वृक्षसे फल गिरता है किन्तु वह उसका कारण नहीं बता

सकता। अध्यापकका काम यही है कि जब वह तर्कसंगत ज्ञान देना चाहे तो उसके अनुभूत ज्ञानका आश्रय लेकर ही तर्कसंगत ज्ञान प्रदान करे। यदि उसे गुरुत्वाकर्षणका सिद्धान्त सिखाना है तो उसे छात्रोंके इसी अनुभूत ज्ञानसे प्रारम्भ करना चाहिए कि वृक्षसे फल गिरता है।

इस सिद्धान्तका सम्बन्ध इस बातसे भी है कि हमें क्या सिखाना चाहिए (च्वौएस औफ स्टडीज़) और क्या शिक्षाकी सामग्री होनी चाहिए। इसी आधारपर यह सिद्धान्त निकाला गया है कि 'बालककी शिक्षाकी रीति और व्यवस्था मनुष्यकी ऐतिहासिक प्रगतिके अनुकूल व्यवस्थित होनी चाहिए।' इस सिद्धान्तको 'संस्कृति आवृत्ति-सिद्धान्त' (कल्चरईपोक थिअरी) कहते हैं अर्थात् बालकको पढ़ाई जानेवाली सामग्री और उसका क्रम मनुष्यके सांस्कृतिक विकास और बालकके मानसिक विकासकी अवस्थाओंके अनुकूल होना चाहिए। किन्तु यह सिद्धान्त अभी सर्वमान्य नहीं हो पाया है।

केवल निर्देश नहीं, शिक्षा भी

शिक्षामें हमें केवल निर्देश देकर कुछ बताकर, कुछ समझाकर ही अपने कर्त्तव्यकी इतिश्री नहीं समझ लेनी चाहिए। हमें यह ध्येय रखना चाहिए कि हम जो कुछ भी सिखावें उसे बालक आत्मसात् कर ले। यही वास्तवमें शिक्षाका तात्पर्य भी है।

बालकोंको स्वयं सीखने दो

ऊपर बताया जा चुका है कि अध्यापक-द्वारा सब कुछ बताए जाने और सिखाए जानेकी पद्धतिको आजके शिक्षा-विशेषज्ञ अप्राकृतिक और अनुचित बताते हैं। उनका कथन है कि छात्रके सम्मुख समस्याएँ रक्खो, परिस्थितियाँ उत्पन्न करो, अवसर प्रस्तुत करो साधन भी प्रस्तुत करो और फिर बालकको स्वतः उन साधनोंके प्रयोगसे समस्याओंका समाधान, परिस्थितियोंका सामना और अवसरोंका उपयोग करने दो। ऐसा करनेपर छात्रोंको जो ज्ञान प्राप्त होगा वह वास्तविक और ठोस ज्ञान होगा। उपर्यंकित सिद्धान्तोंके आधारपर ही विभिन्न विषयोंकी अध्यापन-प्रणाली निश्चित हुई है।

———

अध्ययन-विषयोंका चुनाव और उनकी परिधि

किसी भी राष्ट्रमें वहाँके विद्यालयोंके लिये पाठ्य विषय निर्धारित करना उस राष्ट्रके समाजका काम है क्योंकि पाठ्य-क्रम तो किसी भी जाति या राष्ट्रकी भावनाओं, आकांक्षाओं तथा विचारोंकी प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति मात्र है इसलिये उसे ही यह अधिकार है कि वह विद्यालयमें पढ़ाए जानेके लिये विभिन्न विषयोंकी मोटी रूपरेखा निश्चित करे और इस विवेकके साथ करे कि बालकोंके मानसिक तथा नैतिक विकासके लिये कौन सी सामग्री अधिक उपयुक्त है। इतना कर चुकनेपर राष्ट्रके नेताओंको उन विषयोंका क्रम, उनके अन्तर्गत पाठन-सामग्री आदिके निर्णय, चयन और विन्यासका भार अध्यापकोंपर छोड़ देना चाहिए। इस विषय-निर्धारणके लिये शास्त्रियोंने कुछ गुणमान निर्धारित कर दिए हैं जिनमेंसे एक है मानसिक शक्तियोंका संवर्द्धन।

मानसिक नियमन (मेंटल डिसिप्लिन)

प्राचीन शिक्षा-शास्त्रियोंका मत है कि उदात्त साहित्यके अध्ययनसे ऐसा मानसिक नियमन हो जाता है कि वह जीवनके प्रत्येक प्रश्नके विभिन्न पक्षोंपर अत्यन्त विवेकके साथ विचार करने लगता है और शब्द तथा अर्थपर उसका ऐसा अखंड अधिकार हो जाता है कि वह जीवनके किसी भी क्षेत्रमें प्रवेश करके सफलता प्राप्त कर लेता है। इसी आधारपर पहले कहा जाता था कि व्याकरणकी शिक्षासे मानसिक संयम आता है और प्रकृति-निरीक्षण (औब्जेक्ट लेसन) से विवेचना-बुद्धि पनपती है।

इस आधारपर ही सामर्थ्यपराक मनोविज्ञान (साइकौलोजी औफ़ फ़ैकल्टीज़) की सृष्टि हुई और यह कहा जाने लगा कि हमें मनकी जो शक्तियाँ समुन्नत करनी हों उनकी सूची बना लें और फिर उनके साथ-साथ ऐसे विषयोंका संयोग कर दें जिससे उन-उन मानसिक शक्तियोंका विकास संभव हो सके।

विज्ञानसे संप्रेक्षण-शक्तिका विकास

यह कहा जाता है कि विज्ञान और प्राकृतिक अध्ययन (नेचर स्टडी) के शिक्षणसे संप्रेक्षण-शक्ति (फ़ैकल्टी औफ़ औब्जर्वेशन) सधती है। तात्पर्य यह है कि बालकमें यह समझनेकी वृत्ति उत्पन्न हो जाती है कि वह पोथीके पन्नेके अतिरिक्त अन्य विषयोंको भी सत्यके परीक्षण और निर्धारणके साधन मानने लगता है।

भाषा और इतिहाससे स्मृतिका उद्दीपन

यह भी कहा जाता है कि भाषा और इतिहासके अध्ययनसे स्मृति उद्दीप्त होती तथा सधती है। यदि इसका अर्थ यह है कि भाषा और इतिहास पढ़नेसे स्मरण-शक्ति बढ़ती है तब तो बहुतसे नामों और तिथियोंकी सूची घोट लेनेसे भी वही काम हो सकता है। आजके मनोवैज्ञानिक मानते हैं कि स्मरण शक्ति घटती-बढ़ती नहीं है। यह तो जन्मजात शक्ति है जो कभी बदलती या घटती-बढ़ती नहीं। किन्तु भारतीय आचार्योंका मत है कि योगकी क्रियाओं तथा औषधियोंके प्रयोगसे स्मृति घट-बढ़ भी सकती है। घोटने अर्थात् बार-बार दुहरवानेसे कोई भी बात निश्चित रूपसे स्मृति-संस्कारके रूपमें स्थिर हो जाती है। ऐसे बहुतसे लोग हैं जिनकी स्मृति अच्छी नहीं है किन्तु बचपनमें जो स्तोत्र उन्हें कंठाग्र करा दिए गए हैं वे अभीतक प्रस्तुत हैं। इस रटनेके अतिरिक्त भी प्रत्येक कार्यमें स्पष्ट चिन्तन, क्रमिक और व्यवस्थित नियोजन, सक्रिय रुचि और एकाग्रतासे भी स्मृतिका संस्कार होता है।

साहित्यसे कल्पनाका विकास

यद्यपि साहित्यके अध्यनसे कल्पनाका भी विकास होता है किन्तु उसे केवल कल्पनाके विकास लिये ही नहीं वरन् सुरुचि उत्पन्न करने, बहुमुखी व्यापक व्यवहार-ज्ञान देने, अवसरके अनुरूप उचित, मधुर, कलात्मक तथा प्रभावशाली भाषाका व्यवहार कर सकनेकी क्षमता उत्पन्न करने तथा ज्ञानाभिवर्द्धनके लिये पढ़ाते हैं।

गणितसे तर्कशक्तिका संवर्द्धन

यह कहा जाता था कि गणित इसलिये पढ़ाया जाना चाहिए कि उससे हमारी तर्क-शक्ति बढ़ती है किन्तु यदि तर्क-शक्ति ही बढ़ानी हो तो तर्कशास्त्र क्यों न पढ़ाया जाय। गणित तो हम इसलिये पढ़ाते हैं कि वह मानव-जीवनके लिये अनिवार्य है। हमारा सारा व्यवहारिक जीवन ही गणितपर अवलम्बित है।

तथ्य यह है कि मनकी किसी एक शक्तिके संवर्द्धनके लिये कोई एक विषय निर्धारित करना स्वयं अव्यावहारिक बात है। मानसिक संयमकी शिक्षा किसी अध्ययनके विषयपर नहीं वरन् पढ़ानेकी प्रणाली और शैलीपर अधिक अवलम्बित है। कोई भी विषय सुव्यवस्थित प्रणालीसे पढ़ा दिया जाय तो उससे मनकी सारी शक्तियाँ प्रबुद्ध हो सकती हैं क्योंकि किसी भी प्रकारका ज्ञान ही सबमें विवेक, तर्क, स्मृति, कल्पना सभीका सहयोग होता है, पूर्णतः किसी एक शक्तिका आधिपत्य नहीं होता। अतः, विभिन्न मानसिक शक्तियोंके संस्कारोंके लिये विभिन्न विषयोंके अध्ययनाध्यायनकी बात तो पूर्णतः दूर ही रखनी चाहिए।

२. जीविकाकेलिये शिक्षा

उपयोगितावादियोंका कथन है कि हमें केवल वे ही विषय पाठ-क्रममें रखने चाहिएँ जिनसे हमारी जीविकामें सहायता मिले। उनका कथन है कि प्रारंभिक पाठशालाओंमें बच्चोंको लिखना, पढ़ना और जोड़-घटाना सिखाना चाहिए। इसके अतिरिक्त कन्याओंको कपड़े सीना, खाना पकाना, झाड़ू-बुहारू देना और स्वच्छता रखना, कपड़े धोना और नहाना तथा बालकोंको उद्यान-फुलवारी लगाना, बढईगीरी, अथवा अन्य कोई ऐसा कार्य करना सिखा देना चाहिए जो आगे जीवनमें काम आवे। इस प्रारंभिक श्रेणीके आगे छात्रोंको वे सभी विषय पढाने चाहिएँ जिनसे उनकी भावी जीविकाका सम्बन्ध हो और जो भावी व्यापार या वृत्तिमें सहायक हो सकें।

३. अन्य सिद्धान्त

कुछ लोगोंका विचार है कि शिक्षा ऐसी सामान्य होनी चाहिए कि

वह सबको समान रूपसे दी जा सके। कुछका कहना है कि प्रारंभिक अवस्थामें तो शिक्षा समान हो किन्तु आगे माध्यमिक अवस्थामें केवल वही शिक्षा देनी चाहिए जो बालकको भावी वृत्तिमें निश्चित रूपसे सहायक हो। किन्तु साधारणतः सर्वमान्य विचार यही है कि प्रारंभिक और माध्यमिक दोनों अवस्थाओंमें और विशेषतः शिक्षाके अन्तिम एक-दो वर्षोंमें शिक्षाक्रम ऐसा होना ही चाहिए जो छात्रकी भावी वृत्तिकी तैयारीमें सहायक सिद्ध हो सके।

वास्तविक सिद्धान्त

यद्यपि जीविकाके प्रश्नकी उपेक्षा नहीं की जा सकती किन्तु जीविका साधनको ही एक मात्र शिक्षाका लक्ष्य बना लेना भी ठीक नहीं है। शिक्षाका उद्देश्य केवल भोजन या जीविकाके लिये नहीं वरन् जीवनके लिये तैयार करना है अर्थात् हमें बालककी प्रकृति और राष्ट्र या जातिकी आवश्यकता दोनोंका समन्वय करना आवश्यक है जिससे वह केवल पेट पालनेवाला सामान्य जीव मात्र न रह कर समाजका हितकारी अंग हो और जीवनकी प्रत्येक परिस्थितिका सामना करनेके योग्य हो। अतः, शिक्षाके विषय इस प्रकार व्यवस्थित होने चाहिएँ—

१. जिस समाजमें बालकका जन्म हुआ है उसमें उचित और अनुचितके सम्बन्धकी जो भावनाएँ व्याप्त हैं, कर्त्तव्य और अकर्त्तव्यकी जो धारणाएँ मान्य हैं उन्हें धर्म और नीति-शास्त्रके द्वारा बालकके हृदयमें बैठाना।

२. बालकने जिस जाति या राष्ट्रमें जन्म लिया है उसकी सत्ता और शक्तिका तथा अन्य जातियों और राष्ट्रोंसे उसके सम्बन्धका ज्ञान भी उसके लिये अनिवार्य है। इसके लिये अपने और दूसरे देशोंका इतिहास सिखाना परम आवश्यक है।

३. बालकके पूर्वज ऋषियों, कवियों, विद्वानों तथा महापुरुषोंने जो ज्ञान संचित कर रक्खा है उसे अध्ययन करना और उसका प्रचार करना भी प्रत्येक व्यक्तिका धर्म है। भारतीय आचार्योंकी दृष्टिसे तो यह ऋषि-

ऋण चुकाना है। इसके लिये बालकको साहित्य तथा शास्त्रोंका अध्ययन करना चाहिए।

४. जीवनके समस्त व्यवहारको मृदु, सहज, सरल तथा प्रभावशाली बनानेके लिये मातृ-भाषाका व्यवस्थित ज्ञान आवश्यक है। इसलिये बालकोंको राष्ट्रभाषाका ज्ञान इतना अवश्य करा देना चाहिए कि वे शुद्ध, कलात्मक, मधुर और प्रभावशाली वाणीमें अपने विचार व्यक्त कर सकें, पढ़ सकें और लिख सकें तथा लिखी और बोली हुई भाषा समझ सकें।

५. जीवनको सरल, सुन्दर, तथा कलात्मक बनानेके लिये चित्रकला तथा संगीतका ज्ञान कराना आवश्यक है।

६. अपने चारों ओर व्याप्त भौतिक जगत्‌को समझना भी बालकके लिये आवश्यक है। इसके लिये उसे भूगोल, प्राकृतिक विज्ञान और सर्वगणित (अंकगणित, रेखागणित और बीजगणित आदि) का अध्ययन भी कराना चाहिए।

अतः, राष्ट्रीय संस्कृतिके विकास और प्रचारके लिये बालकोंको नैतिक तथा धार्मिक ज्ञान, इतिहास, साहित्य, भाषा, संगीत, चित्रकला, भूगोल, प्राकृतिक-विज्ञान और सर्वगणितका शिक्षण देना अत्यन्त आवश्यक है।

बहुमुखी रुचि (मैनी साइडेड इन्टेरेस्ट)

कुछ शिक्षाचार्योंका मत है कि छात्रमें बहुमुखी रुचि उत्पन्न करनी चाहिए। इसका यह तात्पर्य नहीं कि वह हरफ़नमौला हो, सबका थोड़ा-बहुत जानता-सुनता हो और किसी भी विषयमें पारंगत न हो। इसका तात्पर्य यही है कि बालकके स्वाभाविक गुणोंके विकासके लिये पर्याप्त अवसर दिया जाय जिससे उसकी प्रतिभा उपेक्षित होकर दबी न रह जाय। यह बहुमुखी रुचि किशोर अवस्थामें ही उत्पन्न कर देनी चाहिए जब नई प्रवृत्तियाँ और नये संस्कार बनते हैं। ऐसी बहुमुखी रुचिका निर्माण करनेसे उसे भविष्यमें किसी एक विषयमें विशेषता प्राप्त करनेमें कोई बाधा नहीं होगी। अत, इन शिक्षाचार्योंका मत है कि ऐसे विषय चुने जायँ कि जीवनके व्यापक क्षेत्रमें

बहुमुखी रुचि उत्पन्न हो और केवल मनकी शक्तियोंका विकास मात्र होकर न रह जाय।

शिक्षण-सामग्रीका वर्गीकरण

विद्यालयके पाठ्य-विषयोंका वर्गीकरण करनेके लिये समय-समयपर जो अनेक प्रयास किए गए उनके अनुसार निम्नांकित वर्गीकरण सुझाए गए हैं—

१. शिक्षण-विषयोंके दो वर्ग बनाने चाहिएँ—

(क) मानवीय : जिसके अन्तर्गत भाषा, साहित्य, इतिहास, धर्म, नीति और ललित कलाएँ (संगीत, चित्र, मूर्त्तिकला, कविता आदि) आती हैं।

(ख) वैज्ञानिक : जिसके अन्तर्गत गणित और भौतिक विज्ञानकी सब शाखाएँ आ जाती हैं।

भूगोल इन दोनोंके बीचमें पड़ता है क्योंकि एक ओर उसका सम्बन्ध इतिहाससे है और दूसरी ओर प्राकृतिक विज्ञानसे।

इस वर्गीकरणमें मानवीय वर्गका सम्बन्ध बालकके मानवीय और आध्यात्मिक वातावरणसे है और वैज्ञानिक वर्गका उसके प्राकृतिक और भौतिक वातावरणसे। ये दोनों ही वर्ग वास्तविकतासे सम्बद्ध हैं। कुछ लोगोंका यह अत्यन्त संकुचित विचार है कि यूनानी और लातिन पढ़ाना ही मानवीयता है।

२. निम्नांकित दो वर्ग बनाने चाहिएँ—

(क) औपचारिक : मानसिक संवर्द्धनके लिये गणित, चित्रकला, व्याकरण, भाषालंकार-शास्त्र और तर्कशास्त्र।

(ख) वास्तविक : विचारकी वृद्धिके लिये भूगोल, साहित्य, इतिहास, धार्मिक तथा नैतिक शिक्षण।

३. विषयोंका वर्गीकरण निम्नांकित आधारपर हो—

(क) सैद्धान्तिक : वे विषय, जिनसे सार्वभौम सिद्धान्त या सत्यका निरूपण हो।

(ख) प्रत्यक्ष या भौतिक : जिनमें सैद्धान्तिक सत्यके बदले ठोस प्रत्यक्ष तथ्यका ज्ञान हो ।

४. वर्गीकरणका आधार यह हो—

(क) सैद्धान्तिक ज्ञान : जिसके अन्तर्गत साहित्य, व्याकरण, इतिहास, भूगोल, गणित और प्राकृतिक विज्ञान आते हैं ।

(ख) व्यावहारिक कौशल : जिसके अन्तर्गत पढ़ना, लिखना, लेख-रचना, गाना, बजाना, चित्रकला आदि विषय आते हैं ।

इनका मत है कि प्रत्येक विषयका ज्ञान व्यावहारिक ही होना चाहिए। जो ज्ञान प्राप्त किया जाय उसका व्यवहार अवश्य होना ही चाहिए ।

पाठ्य विषय निर्धारित करनेके सिद्धान्त

यद्यपि उपर्यंकित अनेक प्रकारके वर्गीकरण विभिन्न दृष्टियोंसे हुए हैं किन्तु उसके सम्बन्धमें निम्नांकित अत्यन्त व्यावहारिक और व्यापक सिद्धान्त भी निर्धारित कर दिए गए हैं—

१. पाठ्यक्रममें मानव-जातिके महत्तर हितका प्रतिनिधित्व हो। इस दृष्टिसे शरीर-संस्कार, नैतिक शिक्षा, साहित्य, इतिहास, गणित, विज्ञान, भूगोल, चित्रकला और संगीत सिखाना चाहिए। इन विषयोंमेंसे कुछ तो उसे जीवन-निर्वाहकी योग्यता प्रदान करते हैं और कुछ उसे अपने समाजका ऐसा कुशल सदस्य बनानेमें योग देते हैं जो समाजके आदर्शों और उसकी आकांक्षाओंमें भाग ले, उसके अतीतपर अभिमान करे, वर्त्तमानके प्रति सजग और भविष्यके लिये प्रयत्नशील हो ।

२. कौन विषय विद्यालयमें कितनी अवधितक पढ़ाया जा सकता है इसका ध्यान रक्खा जाय ।

३. विशेष व्यावसायिक आवश्यकताका ध्यान रक जाय। विद्यालय-जीवनके अन्तिम दो वर्षोंमें किसी एक ऐसे विषयपर अधिक बल दे दिया जाय जो छात्रकी जीविकाका साधन बननेवाला हो ।

४. बालककी रुचि और सामर्थ्यताका ध्यान रक्खा जाय अर्थात् शिक्षाका

प्रत्येक अवस्थामें केवल भावी जीवनकी आवश्यकताका ही ध्यान न रखकर बालककी अभिरुचि और उसकी समर्थताओंका भी ध्यान रक्खा जाय। चौदह वर्षकी अवस्थाके पश्चात् तो निश्चित रूपसे बालककी भावी वृत्तिका निर्धारण अवश्य कर ही देना चाहिए।

पाठ्य-विषयोंका सापेक्ष्य महत्त्व

हरबर्ट स्पेन्सरने 'पूर्ण' जीवनको शिक्षाका उद्देश्य मानकर उसी मानदंडपर जीवनकी समस्त क्रियाओंको पाँच वर्गोंमें बाँट दिया है—

१. सीधे आत्मरक्षणकी क्रियाएँ।
२. घुमा-फिराकर आत्मरक्षणकी क्रियाएँ।
३. बच्चोंकी देखरेख और उनके पालन-पोषणकी क्रियाएँ।
४. सामाजिक और राजनीतिक सम्बन्धोंके निर्वाहकी क्रियाएँ।
५. जीवनके अवकाशके समयको पूर्ण करनेवाली क्रियाएँ।

जीवनके इन पाँचों उद्देश्योंकी पूर्त्तिके लिये निम्नांकित पाठ्य विषय भी निर्धारित कर दिए गए—

१. सीधे आत्मरक्षणके लिये : शरीर-विज्ञान और स्वास्थ्य-विज्ञान।
२. गौण रूपसे आत्मरक्षणके लिये : गणित और प्राकृतिक विज्ञान।
३. बच्चोंके पालनके लिये : सामान्य मनोविज्ञान।
४. नागरिकताके लिये : इतिहास।
५. छुट्टी काटनेके लिये : साहित्य, संगीत, चित्रकला।

यह तो सत्य है कि हमें केवल ऐसे ही विषय पाठ्यक्रमके लिये चुनने चाहिएँ जो भावी जीवन-वृत्तिके आधार बन सकें और केवल मानसिक संवर्द्धन मात्रके ही साधन बनकर न रह जायँ, किन्तु हरबर्ट स्पेन्सरका यह कथन भ्रामक है कि जो विषय बालकके भावी-जीवनसे सम्बन्ध रखते हों उनपर विद्यालयमें अधिक ध्यान दिया जाय। यद्यपि स्वास्थ्यका ज्ञान बालकके लिये आवश्यक है किन्तु बिना स्वास्थ्य-विज्ञान पढ़ाए भी बालकको स्वस्थ रहना सिखाया जा सकता है। विचित्र बात तो यह है कि जिन्होंने स्वास्थ्य-विज्ञानका कभी

नामतक नहीं सुना वे अधिक स्वस्थ रहते और स्वस्थ रहना जानते हैं। हरबर्ट-ने यह तो सोचा कि बालक इस भौतिक जगत्में उत्पन्न होता है पर उसने यह नहीं विचार किया कि वह सामाजिक और आध्यात्मिक जगत्में भी उत्पन्न हुआ है और फिर बच्चोंको पालन-पोषण करनेकी कला तो बच्चोंको न सिखलाकर उनके माता-पिताओंको ही सिखानी चाहिए। बालक उसे क्या समझेंगे ? उसने आत्मरक्षणके दूसरे रूपोंमें गणित और विज्ञानको महत्त्व देकर व्यावसायिक जीवनके योग्य विषयोंको तो प्रधानता दे दी किन्तु साहित्यको केवल अवकाशके समय पढ़नेका विषय बताकर उसका सारा महत्त्व समाप्त कर दिया। वास्तवमें व्यापारसे सम्बन्ध रखनेवाले विषय यदि आते भी हैं तो विद्यालय-जीवनके केवल अन्तिम वर्षोंमें ही आते हैं। सबसे अधिक भ्रामक बात तो यह है कि हरबर्ट स्पेन्सरने युवक या सयानेको ध्यानमें रखकर यह पाठ्य-विषय-योजना बनाई है, बालकको ध्यानमें रखकर नहीं।

हरबार्टका मत

हरबार्टका मत है[1] कि शिक्षाका अन्तिम उद्देश्य चरित्र-निर्माण है और उसके लिये यह आवश्यक है कि बालककी संकल्प-शक्तिको नैतिकताकी ओर प्रवृत्त किया जाय। इसके लिये बालकोंको ये विषय पढ़ाने चाहिएँ—

१. मानवीय अध्ययनके विषय : इतिहास, साहित्य, चित्रकला, संगीत तथा भाषा। भूगोल तो मानवीय अध्ययनका भी विषय है और प्राकृतिक विज्ञान भी। इसलिये यह दोनोंके अन्तर्गत आता है।

२. प्राकृतिक अध्ययन।

३. प्राकृतिक विज्ञान।

४. सर्वगणित

हरबार्टकी इस योजनामें साहित्यिक और ऐतिहासिक पक्षका तो ध्यान रक्खा गया है किन्तु शारीरिक और सामाजिक पक्षकी पूर्ण उपेक्षा की गई

१. हरबर्ट स्पेन्सर और हरबार्ट दो व्यक्ति हैं।

है। बालकमें मनुष्यकी अपेक्षा प्रकृतिमें अधिक रुचि होती है और फिर उसे समाजमें तो रहना है ही, उसकी वह कैसे उपेक्षा कर सकता है। वास्तवमें व्यापक शिक्षाकी योजना बनाते समय पक्षपात-रहित होकर ज्ञानके अधिकसे अधिक क्षेत्र बालकके लिये खोल रखने चाहिएँ पर हरबार्टने गणितको बहुत महत्त्व देकर भाषाको गौण कर दिया है।

इस सम्पूर्ण शास्त्रार्थका सारांश यही है कि जिस विषयका सम्बन्ध ज्ञानसे हो उसे अवश्य स्थान देना चाहिए और केवल मनकी शक्तियोंको साधनेके फेरमें नहीं पड़े रहना चाहिए।

स्वतन्त्र भारतमें शिक्षाका उद्देश्य आज ऐसा सच्चरित्र नागरिक बनाना है जो सत्यनिष्ठाके साथ जीविकोपार्जन करता हुआ स्वस्थ शरीरसे समाज और राष्ट्रका उपयोगी सदस्य बने और अपने जीवनको सरस और सुन्दर बनाते हुए दूसरोंका जीवन भी सरस और सुन्दर बना सके। इस दृष्टिसे पाठ्य विषयोंकी योजना यह होगी—

सांस्कृतिक : भाषा, साहित्य, इतिहास।

नैतिक : इतिहास, साहित्य, धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र।

शारीरिक शारीरिक संस्कारके नियमित अभ्यास, वैद्यक तथा स्वास्थ्य-विज्ञान।

सामाजिक : इतिहास, भूगोल, समाज-शास्त्र, नागरिक-शास्त्र, सामाजिक शिष्टाचार, लोक-सेवा।

राजनीतिक : राष्ट्रके प्रति कर्त्तव्य, देशभक्ति, संविधान तथा वैधानिक प्रक्रियाओंका ज्ञान।

कलात्मक : संगीत, चित्रकला, नाट्य।

व्यावसायिक : भाषा, गणित, विज्ञान, भूगोल, बढ़ईगिरी, खेती।

इसका तात्पर्य है कि हमें पाठ्यक्रममें निम्नांकित विषय सिखाने ही चाहिएँ—भाषा, साहित्य, इतिहास, भूगोल, धर्म तथा नीति, वैद्यक तथा स्वास्थ्य-विज्ञानका साधारण ज्ञान, नागरिकशास्त्र, राष्ट्र-शासनकी प्रक्रिया,

संगीत, चित्रकला, नाट्य, गणित और विज्ञान तथा व्यावहारिक रूपसे शारीरिक संस्कार और व्यावसायिक कौशलकी शिक्षा दी जाय।

कन्याओंका पाठ्यक्रम

किन्तु कन्याओंके लिये पाठ्य-विषय कुछ भिन्न होने चाहिएँ जिन्हें हम निम्नांकित क्रमसे प्रस्तुत कर सकते हैं—

कन्याओंको पाठ्यक्रममें ऐसे सांस्कृतिक, उपयोगी, हस्तकौशलपूर्ण, ललित, मनोविनोदात्मक तथा व्यावहारिक विषयोंका समावेश होना चाहिए कि वे जिस परिवारमें पहुँचें उसे सुखी, स्वस्थ, सद्वृत्त, शिष्ट और सुन्दर बना दें। इस दृष्टिसे उनका पाठ्यक्रम इस प्रकार होना चाहिए—

सांस्कृतिक विषय : भाषा (मातृभाषाका पूर्ण ज्ञान तथा संस्कृतका व्यावहारिक ज्ञान), चित्रकला, संगीत, इतिहास, धार्मिक काव्य और साहित्य।

उपयोगी : स्वास्थ्य-विज्ञान, घरेलू चिकित्सा, सब प्रकारका भोजन बनाना, घरकी व्यवस्था, शिशु-पालन, साधारण गणित।

हस्तकौशल : घरकी सजावट, फूल गूँथना, सींक बुनना, सीना पिरोना, बुनना-काढ़ना, रँगना, धोना, ओटना, धुनना, बुनना, कातना, फुलवारी लगाना।

ललित मनोविनोदात्मक : कहानी सुनाना, घरेलू उत्सव मनाना, गीत, वाद्य और नृत्य।

व्यावहारिक : सहनशीलता, बैंक और डाकका काम, अतिथि-सत्कार, यात्राके नियम और व्यवस्था, सद्व्यवहार और मधुर-भाषिता।

———

६

वद्यालयके पाठ्यविषयोंकी सीमा

विद्यालयमें कौन-कौनसे विषय पढ़ाए जाने चाहिएँ, यही जानना पर्याप्त नहीं है वरन् यह भी जानना कि कौन-से विषयका कितना और कौन-सा अंश पढ़ाना चाहिए। अतः- विद्यालयके पाठ्य-विषयोंकी परिधि स्पष्ट समझ लेनी चाहिए।

धार्मिक शिक्षा

धर्मशिक्षाका अर्थ यह नहीं है कि छात्रोंको कोई निश्चित पाठ्यक्रम बनाकर शिक्षा दी जाय। उसका तात्पर्य यही है कि अनेक प्रकारकी शिक्षात्मक प्रवृत्तियों, व्यवहारों, उपदेशों तथा व्याख्यानोंसे छात्रोंके मनमें ईश्वरके प्रति विश्वास, संसार-भरके जीवोंके लिये दया, दूसरोंके हितके लिये स्वार्थ छोड़ देनेकी भावना और पवित्र तथा निश्छल जीवन व्यतीत करनेकी प्रवृत्ति जगाई जाय। इस विश्वास, दया, परहित-साधना तथा पवित्र जीवनकी साधनाके लिये भगवद्गीता तथा रामायण आदि धर्मग्रन्थोंके वे महत्त्वपूर्ण अंश छात्रोंको कंठाग्र भी करा देने चाहिएँ जो जीवनकी विषम परिस्थितियोंमें प्रकाश बनकर उसे सावधान करते चलें। इसीके साथ प्रार्थना, संध्या, मौन साधना आदि व्यावहारिक क्रियाओंका भी अभ्यास कराते रहना चाहिए और यह भावना भरते रहना चाहिए सर्वान्तर्यामी ही सर्वशक्तिमान् है।

नैतिक शिक्षा

नैतिक शिक्षा उपदेश और पुस्तकके द्वारा न देकर साहित्य और इतिहासके उदात्त महापुरुषोंके जीवन-चरितों तथा अध्यापकोंके अपने शुद्ध तथा अनुकरणीय व्यवहारसे देनी चाहिए। छात्रोंको ऐसे सेवाके अवसर देने चाहिएँ, उनके सम्मुख ऐसे जीवित उदाहरण उपस्थित करने चाहिएँ कि उनसे भावित होकर वे सत्य, निर्भयता, दान, उत्सर्ग, आत्मत्याग, सेवा, सहयोग,

निर्वैरता, अक्रोध, अहिंसा, मदिरा न पीना, जुआ न खेलना, परस्त्री या परपुरुष संसर्ग न करना आदि सात्त्विक गुणोंको अपना सकें। वास्तवमें धार्मिक जीवन ही नैतिक जीवन है, दोनोंमें अन्तर नहीं किया जा सकता। किन्तु धार्मिक या नैतिक शिक्षाका सबसे महत्त्वपूर्ण पक्ष यह है कि अन्य धर्म, संप्रदाय तथा मतोंकी भावनाओंका भी आदर हो।

संस्कृति-भाषा और उदात्त काव्य

संस्कृत हमारी संस्कृत-भाषा है। उसमें रचे हुए रामायण, महाभारत, भागवत आदि उदात्त आर्ष महाकाव्य तथा भास, कालिदास, भारवि, श्रीहर्ष, माघ, भवभूति, दंडी, बाण आदि महाकवियोंकी रचनाओंके कुछ अंश विद्यालयमें इसलिये पढ़ाने चाहिएँ कि संस्कृत हमारे संपूर्ण जीवनके संस्कारोंकी भाषा तो है ही किन्तु इससे बढ़कर बात यह है कि भारतीय जीवनमें उच्च दैवी जीवनके जिन श्लाघनीय आदर्शोंकी स्थापनाके लिये भारतीय समाज सदा सचेष्ट रहा है उनकी अभिव्यक्ति उन्हीं काव्यों और महाकाव्योंमें हुई है। इसके साथ ही साथ संस्कृतका अपना भाषागत और साहित्यगत महत्त्व भी है। हमारी लगभग सभी भारतीय भाषाओंने संस्कृतकी कोखसे जन्म लिया है या उसकी विभूतिसे समृद्ध हुई हैं, उसके साहित्यने हमारे भारतीय भाषा-साहित्यका पथप्रदर्शन किया है, शैली दी है, शब्द-शक्ति दी है, शब्द-भांडार दिया है, विचार दिए हैं, कथावस्तु प्रदान की है। अतः, उसके विस्तृत और अपार साहित्यका उस ज्वलन्त अंश से तो बालकोंको परिचित करा ही देना चाहिए जिसे देखकर उनके मनमें संस्कृत पढ़नेकी प्रेरणा मिले, वे उसकी उपयोगिता समझें और उनके मनमें साहित्यिक अभिरुचि जागरित हो।

मातृ-भाषा

मातृभाषाका इतना ज्ञान प्रत्येक व्यक्तिके लिये अपेक्षित है कि वह शुद्ध, कलात्मक, मधुर तथा प्रभावशाली शीलयुक्त भाषामें अपने मनकी बात कह सके और लिख सके तथा दूसरेकी कही और लिखी हुई बात समझ सकें। इसके लिये उसे वाचन, लेखन, लेख-रचना और व्याकरणका नियमित

अभ्यास कराना चाहिए और शुद्ध उच्चारणके साथ मधुरतापूर्वक शिष्ट भाषामें बोलनेका अभ्यास करना चाहिए। वाचनका अर्थ है अर्थ समझते हुए और भाषा तथा भावका रस लेते हुए शुद्ध उच्चारण तथा वाणीके भावमय उतार-चढ़ावके साथ सस्वर बाँचना तथा शब्दका ठीक रूप जानना अर्थात् ह्रस्व, दीर्घ और संयुक्त अक्षरका ज्ञान करना। लेखनका अर्थ है स्पष्ट, समान, सुडौल और सुन्दर अक्षरोंमें गतिपूर्वक लिखना। लेख-रचनाका अर्थ है कि छात्र शुद्ध, स्पष्ट तथा प्रभावोत्पादक भाषा-शैलीमें अपने मनके विचार अभिव्यक्त कर सके। इस प्रकारकी सिद्धिके निमित्त उसे विराम-चिह्नोंका प्रयोग, अनुच्छेद-रचना, शीर्षक-निर्देश तथा क्रमिक विचारधाराके साथ लिखनेका अभ्यास करा देना चाहिए और छात्रोंको ऐसे विषयोंपर लिखनेको देना चाहिए जो उसके नित्यके दैनिक जीवनमें अनुभूत हों। व्याकरणकी शिक्षा अलग न देकर पाठ तथा लेख-रचनाके साथ देनी चाहिए। जहाँ आवश्यक हो वहाँ व्याकरणके नियम छात्रोंसे निकलवाकर उस नियमका प्रयोग करा देना चाहिए।

साहित्य

किसी भी उदार पाठ्यक्रममें साहित्यका अध्ययन अनिवार्य अंग माना जाने लगा है क्योंकि साहित्यके अध्ययनसे उक्ति-चातुर्य, व्यवहार-ज्ञान, वाणीका संस्कार, चरित्र-निर्माण, भावनाका परिष्कार तथा कल्पनाका संदीपन होता है, मनुष्यके उदात्त भावोंका विकास होता है और उससे नैतिक बलका संचार होता है किन्तु यह साहित्यका पाठ्यक्रम सक्रम होना चाहिए, साहित्यके सरल अंशसे प्रारंभ करके धीरे-धीरे जटिल अंशकी ओर बढ़ना चाहिए और अपनी मातृभाषाके साहित्यसे प्रारम्भ करके विदेशी साहित्यके अध्ययनकी ओर प्रवृत्त होना चाहिए। उसमें भी यह ध्यान रखना चाहिए कि जो साहित्यिक सामग्री दी जाय वह यथासंभव तुलनात्मक हो। किन्तु इस अवस्थामें साहित्यका इतिहास और उच्च श्रेणीकी समालोचना नहीं सिखानी चाहिए अन्यथा उनमें विरक्ति उत्पन्न हो जायगी। इस अवस्थामें महाकवियोंके पूरे ग्रन्थ पढ़ानेके बदले उनकी रचनाओंके सरस, सुन्दर,

सर्वबोध्य रोचक अंश ही देने चाहिएँ। काव्य पढ़ानेमें व्याकरणके नियम छाँटना उचित नहीं है, उसका उद्देश्य होना चाहिए शैली और भावका सौन्दर्य सिखाना, छात्रोंकी कल्पनाको उद्दीप्त करना, उनमें काव्यका रस लेनेकी शक्ति और पूरे कलात्मक पद्यका भाव समझनेकी योग्यता उत्पन्न करना।

वर्त्तमान भाषा

वर्त्तमान भाषासे तात्पर्य वर्त्तमान युगकी सभी देशी-विदेशी भाषाओंसे है। अँगरेज़ी ऐसी ही भाषा है। इसका अध्ययन और अध्यापन इस उद्देश्यसे किया जाता है कि अन्तर्देशीय और अन्ताराष्ट्रीय व्यवहारमें हम पटु हो जायँ। ऐसी भाषामें इतनी योग्यता अवश्य आ जानी चाहिए कि छात्र शुद्ध बोल और लिख सके तथा बोली और लिखी हुई भाषाका अर्थ समझ सके। विदेशी भाषा तभी भली प्रकार आ सकती है जब उसके अध्ययनमें मातृ-भाषाका तनिक भी प्रयोग न हो अर्थात् सहज प्रणाली (डाइरेक्ट मेथड) का प्रयोग किया जाय। सहज प्रणालीसे विदेशी भाषा सिखानेवाले अध्यापकको विदेशी भाषाकी ध्वनियोंपर विशेष अधिकार होना चाहिए और मातृभाषाका प्रयोग कमसे कम करना चाहिए। इसके प्रारम्भिक पाठोंके आधार हों चित्र, परिचित घटनाएँ, सामाजिक जीवन तथा जिस देशकी भाषा हो उस देशके इतिहास और भूगोलसे सम्बन्ध रखनेवाली बातें और व्याकरणका अध्यापन प्रयोग-द्वारा होना चाहिए।

विदेशी भाषा पढानेमें अनुवाद-क्रियाका भी प्रयोग किया जा सकता है क्योंकि इससे दोनों भाषाओंके तुलनात्मक रूपोंका ज्ञान होनेसे भाषा-ज्ञानमें प्रौढता ही आती है।

भूगोल

अब भूगोलका शिक्षण पहलेके समान केवल कुछ पहाड़ियों, नदियों और नगरोंके नाम-स्मरणतक ही परिमित नहीं रह गया है। अब तो यह विषय भौतिक विज्ञान, जीवशास्त्र, वनस्पति-शास्त्र तथा भूगर्भ-शास्त्र आदि विज्ञानोंका आश्रय लेकर मानवित (ह्यूमन) हो गया है क्योंकि अब भूगोलमें

यह पढ़ाया जाता है कि पृथ्वीपर जीवों और वनस्पतियोंका किस प्रकार प्रसार हुआ है और उनका तथा पृथ्वीके जलवायु तथा भूरचना आदिका मनुष्यके जीवनपर क्या प्रभाव पड़ता है। अतः, भूगोल तो विज्ञान और मानवीय अध्ययनका समन्वय हो गया है। भूगोलका अधिक अध्ययन अब मनुष्यके नाते होता है। इस नवीन धारणाके अनुसार यह सारी पृथ्वी मनुष्यकी निवास-भूमि है, इसपरके जीवों और वनस्पतियोंका अध्ययन इस दृष्टिसे किया जाता है कि वे मनुष्यके योगक्षेममें कहाँतक सहायता करते हैं और किसी प्रदेशके निवासी मनुष्यका उसके चारों ओरके प्राकृतिक वातावरणसे क्या पारस्परिक सम्बन्ध है। अतः, भूगोल पढ़ानेका स्पष्ट उद्देश्य यही होना चाहिए कि छात्रको पृथ्वीके ऊपरी तलकी मुख्य विशेषताओंका ज्ञान हो जाय, छात्रोंमें भौगोलिक भावना बढ़ जाय, वे मानचित्रका अध्ययन करें, प्रत्येक देशके निवासियों और उनके रहन-सहनके सम्बन्धमें जिज्ञासा करें और विभिन्न देशोंके जीवन-स्तरकी तुलना करके मानव-समाजके विभिन्न रूपोंका अध्ययन करें।

इतिहास

उन्नीसवीं शताब्दीके मध्यतक इतिहास केवल साधारण साहित्यका अंग मात्र समझा जाता था। उस समयके इतिहासकारोंका ध्यान तथ्यके प्रतिपादन-पर कम था, शैलीपर अधिक था इसलिये वे अपनी पक्षपातपूर्ण धारणाओंके अनुसार ऐसी शैलीमें तथ्योंकी व्याख्या करते थे कि पाठकको लेखककी राजनीतिक और व्यक्तिगत भावनाओंका ही परिचय मिलता था, इतिहासका कम। किन्तु वैज्ञानिक इतिहासकार पक्षपातको दूर रखकर, शैली और व्यक्तिगत भावनाका प्रलोभन दबाकर प्रत्येक घटनाका सूक्ष्म परीक्षण करता है। वह किसी तथ्यपर अपनी कोई सम्मति या नैतिक निर्णय देनेके बदले ऐसी सब सामग्री प्रस्तुत कर देता है जिससे छात्र अपनी नैतिक धारणा बना सकें। इतिहासकारके रूपमें वह देशभक्त पीछे है, सत्यकी स्थापना करनेवाला पहले। उसका काम यही है कि वह सब प्रमाणोंका संग्रह करे, उनका उपयोग करे, सब प्रमाणोंका परीक्षण करके किसी राष्ट्रकी प्रगतिके विभिन्न पक्षोंका सटीक विवरण उपस्थित

करे। उसके इस प्रयाससे अध्यापक और छात्रको यह सुविधा होती है कि वे मूल प्रमाणोंकी खोजसे बच जाते हैं और अध्यापक उसके प्रस्तुत किए हुए प्रमाणोंके आधारपर उच्च नैतिक निष्कर्ष निकालकर बालकोंमें उदात्त देशभक्ति, नैतिक साहस तथा आत्मबलकी प्रेरणा दे सकता है।

छात्रोंको इतिहासका कौन-सा और कितना अंश पढ़ाया जाय इस सम्बन्धमें बालककी प्रकृति ही हमें पथ-निर्देश कर देती है। यह तो निर्विवाद है कि अब इतिहास केवल कुछ घटनाओं और तिथियोंका संग्रह मात्र नहीं है। अब तो इतिहासमें राजाओं और सामन्तोंकी व्यक्तिगत प्रवृत्तियोंका परिचय देनेके बदले किसी राष्ट्रकी सामाजिक, बौद्धिक और व्यावसायिक प्रगतिकी कथा भी वर्णित की जाती है। किन्तु यह बात कभी नहीं भूलनी चाहिए कि बालककी रुचि व्यक्तिमें अधिक होती है, संस्थाओंमें कम, किन्तु हमें किसी महापुरुष या वीरका कोरा जीवनचरित पढ़ा देनेके बदले उसे तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियोंमें खड़ा करके यह सिद्ध करना चाहिए कि उसके कार्योंसे सामाजिक प्रगतिको क्या सहायता या क्या बाधा प्राप्त हुई।

अत', प्रारंभिक कक्षाओंमें हमें अपने राष्ट्रीय इतिहासकी मुख्य विशेषताओंका सजीव चित्र ही देना चाहिए और इसके लिये विशेष रूपसे लिखी हुई पुस्तकोंका आश्रय लेना चाहिए। किन्तु ज्यों-ज्यों ऊपरकी कक्षामें बढ़ते जायँ त्यों त्यों इतिहासकी सामग्रीकी परिधि भी बढ़ती चली जानी चाहिए। इस प्रणालीको परिधि-विस्तार प्रणाली (कन्सेन्ट्रिक मेथड) कहते हैं। यद्यपि यह क्रम वास्तवमें प्रणाली नहीं वरन् योजना ही है जिसमें हम विषय तो एक ही रखते हैं, केवल उसकी प्रतिपाद्य सामग्री प्रत्येक अगली कक्षामें बढ़ाते चलते हैं।

प्रकृति-अध्ययन और विज्ञान

प्रकृति-अध्ययन (नेचर स्टडी) के शिक्षणका उद्देश्य यह है कि बालकके चारों ओर जो प्राकृतिक वैभव बिखरा पड़ा है उसके सम्बन्धमें बालकके

मनमें जो स्वाभाविक कुतूहलपूर्ण जिज्ञासा होती हो उसकी तृप्ति हो, उसे उन वस्तुओंमें स्वाभाविक रुचि हो और उनके सम्बन्धमें वह पर्याप्त परिचय प्राप्त कर ले। अपने चारों ओर विद्यमान जीवों और वनस्पतियोंसे जो अनभिज्ञ रहता हो वह कोई सजीव मनुष्य नहीं, जड़ है। किन्तु यह शिक्षा प्रारंभिक अवस्थामें देकर ही समाप्त कर देनी चाहिए। पहले इस प्राकृतिक अध्ययन (नेचर स्टडी) को बाह्य-वस्तु-पाठ (ऑब्जेक्ट लेसन) कहते थे जिसका अर्थ यह था कि बालकको अपनी ज्ञानेन्द्रियोंसे जिन वस्तुओंका प्रत्यक्ष ज्ञान होने लगता है उनकी प्रकृतिका ज्ञान उसे करा दिया जाय। इस प्रकारके प्राकृतिक अध्ययनकी शिक्षाके लिये कक्षामें भी फूल, फल, वनस्पति आदि लाकर उनका परिचय देना चाहिए और चित्रमय पत्रिकाओं, आस-पासके स्थानोंका पर्यटन कराकर वस्तुओंका निरीक्षण और परीक्षण कराना चाहिए।

यह प्रारंभिक अवस्थाका प्रकृति-परीक्षण ही आगे माध्यमिक अवस्थामें विज्ञान-शिक्षणका रूप ग्रहण कर लेता है जिसके अन्तर्गत रसायनशास्त्र (केमिस्ट्री), भौतिक शास्त्र (फ़िज़िक्स), वनस्पतिशास्त्र, (बौटनी) और जीवशास्त्र (ज़ूओलौजी) साधारणतः पढ़ाए जाते हैं। इनमेंसे वनस्पति-शास्त्रका अध्ययन और अध्यापन सस्ता भी पड़ता है और रुचिकर भी।

सर्वगणित (मैथेमेटिक्स)

अंक-गणित, बीजगणित तथा रेखागणितका शिक्षण अत्यन्त व्यावहारिक दृष्टिसे किया जाता है, केवल मानसिक व्यायामके लिये नहीं। यह अब अत्यन्त सर्वमान्य सिद्धान्त हो गया है कि निरर्थक प्रश्नोंका अभ्यास करनेकी अपेक्षा गणितके सिद्धान्तोंका ज्ञान अधिक आवश्यक है। अंक-गणितके दो प्रमुख रूप हैं—

१. शुद्ध गणित, जिसके अन्तर्गत गणितके सिद्धान्त, गिनती, पहाड़े, चार सामान्य नियम (धन, ऋण, गुणा, भाग) और भिन्न आते हैं।

२. व्यवहार-गणित, जिसके अन्तर्गत शुद्ध गणितके सिद्धान्तोंका प्रयोग, नाप-तौलके परिमाण, जटिल नियम, तीनका नियम, ब्याज, छूट (डिस्काउंट), साझा (शेअर) आदि आते हैं।

कोई भी प्रश्न निकलवानेसे पहले छात्रोंको मूल सिद्धान्तोंका परिचय करा देना चाहिए। व्यावहारिक वाणिज्य गणित (एप्लाइड कौमर्शल अरिथमेटिक) का अनावश्यक भार छात्रोंपर नहीं डालना चाहिए। उसके बदले गणितके सिद्धान्तोंका ही परिचय पर्याप्त है।

बीज-गणित तो माध्यमिक कक्षाओंसे ही आरंभ करना चाहिए और छात्रोंको सांकेतिक चिह्नोंमें विचार करनेका अभ्यास डलवाना चाहिए। इसके लिये जो प्रश्न दिए जायँ वे छात्रोंके दैनिक जीवनसे सम्बद्ध हों। प्रश्न ऐसे दिए जायँ जिनका उत्तर पुस्तकके अन्तमें न हो अन्यथा छात्र अन्तमें देखकर प्रश्न निकालनेके लिये प्रलुब्ध हो जायँगे।

रेखागणित (ज्यमिति) का शिक्षण हमारे दैनिक व्यवहारके लिये भी आवश्यक है। हमारे अपने जीवनमें मेज, कुर्सी, खाट, घर, खेत, चौखट, खिड़की, पोथी, पेंसिल, रबड़, गिलास, कटोरी, थाली आदि सब वस्तुओंके निर्माणका आधार ज्यामिति या रेखागणित ही है। व्यावहारिक रेखागणित तो प्रारंभिक श्रेणियोंमें ही प्रारंभ कर देना चाहिए। आगे चलकर मिट्टी, लकड़ी या कागजकी दफ्तियाँ काटकर, उनकी प्रतिमूर्त्तियाँ (मौडल) बनाकर, उन्हें अलग-अलग करके या काटकर उनके अंग-प्रत्यंगका विवरण देना चाहिए अर्थात् व्यावहारिक, प्रत्यक्ष और सटीक प्रयोगके द्वारा उन्हें समझाना चाहिए, तभी रेखागणित पढ़ाना सार्थक होगा। इसके पश्चात् माध्यमिक कक्षाओंमें सैद्धान्तिक रेखागणित पढ़ाना चाहिए। इस अवस्थामें भी सिद्धिके लिये जो रेखाचित्र बनाए जायँ वे शुद्ध और सटीक होने चाहिएँ। पहले सीखी हुई चित्रकलाका इस अवस्थामें पर्याप्त उपयोग हो सकता है।

चित्रांकन (ड्राइंग)

चित्रकला भी उसी प्रकार मनके भावोंकी अभिव्यक्तिका साधन है जैसे संगीत या काव्य किन्तु चित्रकलाका प्रयोग जीवनके अनेक ज्ञान-पक्षोंमें किया जा सकता है और घरकी सजावट तथा अवकाशका समय व्यतीत करनेके लिये तो इससे अच्छा और कोई साधन नह ।

रचनात्मिका कला (प्लास्टिक आर्ट)

गीली मिट्टी या इस प्रकारके लुजलुजे पदार्थोंसे अनेक आकार-प्रकारकी वस्तुएँ बनाना ही रचनात्मिका कला कहलाती है। इस प्रकारके अभ्याससे छात्रकी रचना-वृत्ति और आत्माभिव्यंजनकी वृत्ति तुष्ट होती है। चित्रांकनकी अपेक्षा यह अधिक उपादेय कला है क्योंकि इसमें तो वस्तुओंका वास्तविक आकार बनाया जा सकता है और केवल रेखा मात्रसे ही अभिव्यक्ति नहीं होती। रेखांकनमें तो लंबाई-चौड़ाईका ही ज्ञान कराया जा सकता है किन्तु मिट्टी आदि पदार्थोंसे तो मोटाई भी दिखलाई जा सकती है और सौन्दर्यके प्रति स्वाभाविक अभिरुचि भी जागरित कराई जा सकती है।

हस्त-कौशल

बढ़ईगिरी, कागज़का काम, पुस्तककी जिल्द बाँधने आदिका काम तथा इस प्रकारके कार्य सब हस्तकौशलके अन्तर्गत आते हैं। इससे आत्माभिव्यक्ति भी होती है, श्रमके प्रति आदर-भाव भी बढ़ता है, उपयोगियाता भी होती है और भावी जीवन-वृत्तिको सहारा भी मिलता है। इस प्रकारके हस्तकौशलकी शिक्षामें दो बातोंका ध्यान रखना चाहिए—१. जो कुछ बनवाया जाय वह सुन्दर हो और २. उपयोगी हो। निरर्थक वस्तुएँ बनवाकर सामग्रीका विनाश कराना ठीक नहीं है।

गृहविज्ञान या गृहशास्त्र

जिस प्रकार बालकोंके लिये बढ़ईगिरी आदि हस्तकौशलोंका विधान किया गया है उसी प्रकार कन्याओंके लिये कढ़ाई, सिलाई, बुनाई तथा पाकशास्त्रका सुझाव दिया गया है। इनमेंसे भी भोजन बनाना तो पुरुष और स्त्री दोनोंको समान रूपसे आना चाहिए। आज गृह-विज्ञानका पाठ्यक्रम बनानेवालोंने उसमें निरर्थक और अनावश्यक अर्थशास्त्रके सिद्धान्त तथा असंगत शरीर-विज्ञानके सिद्धान्तोंका समावेश कर दिया है। यह अवाञ्छनीय है। कन्याओंको घरकी सजावट, साधारण रोगोंका घरेलू उपचार, पाकशास्त्र, वस्त्रोंकी धुलाई-रँगाई, बच्चोंका लालन-पालन, रोगी-परिचर्या, संगीत तथा स्वास्थ्य-साधनकी व्यावहारिक बातें पुस्तकोंके

बदले व्यावहारिक प्रयोग-द्वारा सिखानी चाहिए और उनकी कल्पनाओंको उद्दीप्त करनेकी प्रेरणा देनी चाहिए।

संगीत

मानसिक संस्कार, अवकाशके समयके सदुपयोग, अपने और दूसरोंके स्वस्थ मनोरंजन तथा उदात्त वृत्तियोंके विकासके लिये ही विद्यालयमें संगीतकी शिक्षा देनी चाहिए। छात्रोंमेंसे यदि किसीकी विशेष रुचि हो तो वह आगे संगीतमें पारंगत होकर उससे अपनी जीविकाका निर्वाह भी कर सकता है। गीत, वाद्य और नृत्य तीनोंके समन्वयको संगीत कहते हैं। गीतसे प्राण-शक्ति बढ़ती है और नृत्यसे शरीर सुडौल बनता है किन्तु जो सुकंठ न होनेके कारण गीत न गा सकता हो और झेंपके कारण नाच न सकता हो वह वाद्य बजाकर ही संगीतका आनन्द ले सकता है। विद्यालय-कालमें थाट-पद्धति या राग-पद्धतिके स्वर-साधनकी प्रक्रियासे संगीत सिखानेके बदले प्रारम्भिक कक्षाओंसे ही सरल समवेत गान, पदचार गान (मार्चिंग सौंग) तथा भजन आदिका ही अभ्यास कराना चाहिए। किन्तु आगे चलकर सरगमके साथ कुछ रागों और तालोंके साथ महाकवियोंके साहित्यिक गीतोंका अभ्यास करा देना चाहिए। तान, टप्पे, अलंकार, गिटकिरी तथा लक्षण गीत और पोथियोंमें दिए हुए अर्थहीन गीतोंका भार छात्रोंके मस्तिष्कपर नहीं लादना चाहिए क्योंकि विद्यालयोंमें सिखाए जानेवाले संगीतका उद्देश्य संगीतज्ञ बनाना नहीं वरन् संगीतमें अभिरुचि उत्पन्न करना भर है। इस अवस्थामें न तो वासनामय और श्रृंगारी प्रेमगीत छात्रोंको सिखाने चाहिएँ न चलचित्रोंकी लयपर ही कोई गीत सिखाना चाहिए।

शारीरिक संस्कार

वर्त्तमान विद्यालयोंका कार्यक्रम शारीरिक संस्कारके अत्यन्त प्रतिकूल है। वास्तवमें प्रातः और सायं फुर्तीला व्यायाम करानेसे तथा प्राणायामका अभ्यास करानेसे शरीरमें स्फूर्ति और मनमें चेतनता आ सकती है। अतः,

विद्यालयोंमें विशेषतः सावास विद्यालयों (रेज़िडेंशल स्कूल) में तो यह अभ्यास नियमित रूपसे कराया जा सकता है। यद्यपि खेलके द्वारा भी शारीरिक स्फूर्ति आती है किन्तु खेलमें जितनी शक्ति लगती है उतना भोजन नहीं मिल पाता है। फुटबौल, हौकी, वौलीबौल, कबड्डी तथा इस प्रकारके खेलोंके पश्चात् गरम दूध मिले तो शरीर महीने भरमें खुल जाय। प्रायः ऐसे खेलोंके पश्चात् छात्र सोडावाटर पीते हैं। यह स्वास्थ्यके लिये अत्यन्त हानिकर है। ऐसा खेल खेलना चाहिए जिससे शरीरमें फुर्ती भी आवे, संघ-भावना भी बढ़े और आत्म-संयमका बल भी मिले। मलखम आदि गतिशील व्यायाम (जिमनास्टिक्स) का प्रायः समर्थन नहीं किया जाता क्योंकि अधिक शारीरिक श्रम हो जानेसे निद्रा अधिक आती है, पढ़नेमें कम मन लगता है इसलिये ऐसे सरल फुर्तीले व्यायाम कराने चाहिए कि पसीना आ जाय। इससे अधिक व्यायाम अहितकर होता है। व्यायामका सबसे बड़ा सिद्धान्त यही है कि व्यायाम तभी हितकर होता है जब उपयुक्त पुष्ट भोजन मिले अन्यथा वह स्वयं व्यायाम करनेवाले को ही खा जाता है।

ग्रामीण अर्थशास्त्र और नागरिकशास्त्र

अपने देशमें क्या उत्पन्न होता है, उसका कैसे प्रयोग करना चाहिए, अपनी और अपने देशकी आर्थिक समृद्धिमें बालक क्या योग दे सकता है इतनी साधारण अर्थशास्त्रकी बातें प्रत्येक व्यक्तिको जाननी ही चाहिए। साथ ही प्रत्येक स्वतन्त्र और सभ्य देशके व्यक्तिको यह जानना ही चाहिए कि हमारे देशका शासन किस प्रकार चलता है, हमारे कर्त्तव्य और अधिकार क्या हैं, हमें अपने कर्त्तव्यका पालन और अपने अधिकारोंका उपयोग किस प्रकार करना चाहिए। अतः, सामान्य अर्थशास्त्र और नागरिकशास्त्रका भी परिचय छात्रोंको देना चाहिए किन्तु उच्च श्रेणीके अन्तिम दो वर्षोंमें ही, उससे पूर्व नहीं।

इस उपर्यंकित विधानके अनुसार हमें विद्यालयमें पढ़ाए जानेवाले बिषयों की परिधि भली प्रकार निर्धारित कर लेनी चाहिए।

१०

पाठ्य-विषयोंका अन्तर्योग

पिछले दो अध्यायोंमें विद्यालयके पाठ्यक्रमके योग्य जिन विषयोंकी तालिका दी गई है वे स्वतः स्वतन्त्र विषय नहीं वरन् एक दूसरेपर समाश्रित हैं और उनमें परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। वाचन और लेखन, मौखिक और लिखित गणित, व्याकरण और लेख-रचना, इतिहास और भूगोल, प्रकृति-अध्ययन और विज्ञान, भाषा और साहित्य, ये सभी परस्पर एक दूसरेसे इतने अधिक सम्बद्ध हैं कि उनमेंसे किसीको पूर्णतः अलग करके पढ़ाना दोनों विषयोंके अध्ययनको हानि पहुँचाना है।

पाठ्य विषयोंके अन्तर्योग (कोरिलेशन औफ़ स्टडीज़) पर आजकल इसलिये भी बल दिया जा रहा है कि पाठ्यक्रममे बहुत अधिक विषय हो गए हैं। यदि पारस्परिक अन्तर्योगके द्वारा उनका भार कम न किया गया तो अध्यापकों और छात्रोंका बहुत सा समय अलग-अलग विषय पढ़नेमें नष्ट हो जायगा। फिर विषयोंका उचित अन्तर्योग न करनेसे दोनों विषय अधूरे, कृत्रिम और अव्यावहारिक हुए रहते हैं। यद्यपि यह भी सत्य है कि हम प्रत्येक विषयके विशेषज्ञको अध्यापक नियुक्त करते हैं। अतः, वे अपना विषय अलग तो पढ़ावेंगे पर वे स्वाभाविक अन्तर्योगके द्वारा अपना परिश्रम तो कम कर ही सकते हैं। हरबार्टने विषयोंके अन्तर्योगको बहुत महत्त्व प्रदान करते हुए कहा है कि छात्रोंको बाह्य ज्ञान (ओब्जेक्ट लेसन) पढ़ाते हुए अन्य विषयोंके साथ अन्तर्योग करते हुए यह करना चाहिए कि जिन प्राकृतिक वस्तुओंका वे निरीक्षण करें उनका छोटे-छोटे वाक्योंमें वर्णन लिखें, उनकी गणना आदिकी समस्याओंपर छोटे-छोटे गणितके प्रश्न करें और उसीके सम्बन्धमें स्वतन्त्र वातावरणके उल्लासका गीत भी गावें—

मैं सब जगका सब जग मेरा।
क्यों फिर करता मेरा - तेरा॥

केन्द्रीकरण

कर्नल पार्करका मत है कि प्रकृति-अध्ययन (नेचर स्टडी)की ही

विद्यालयके अध्ययनीय विषयोंके केन्द्रीकरण (कन्सट्रेशन)का आधार बनाया जा सकता है अर्थात् मुख्य रूपसे प्रकृति अध्ययन पढ़ाया जाय और उसीके अध्ययनके बीचमें प्रसंगवश जो विषय पड़ें उन्हें पढ़ाते रहा जाय। किन्तु केन्द्रीकरणके इस सिद्धान्तका व्यापक विरोध किया गया क्योंकि मुख्यतः केवल एक विषय पढ़ाना स्वतः भ्रामक सिद्धान्त है, फिर ऐसे सर्व विषयज्ञ कुशल अध्यापक कहाँ प्राप्त होंगे? हाँ, छोटे बालकोंके लिये इसका प्रयोग अवश्य किया जा सकता है क्योंकि उनमें इतना विवेक उद्बुद्ध नहीं होता कि वे मानव और प्रकृतिमें भेद कर सकें। इसलिये प्रारम्भिक अवस्थाके बालकोंको उसके आसपासके दृश्योंसे परिचित कराकर मानवीय रुचिके विषयोंकी ओर प्रवृत्त किया जा सकता है कि वह अपने चारों ओर व्याप्त प्रकृतिको अनेक रूपोंमें देखे, समझे और उसका आनन्द ले। इस आनन्दमें वह रेखांकन, मूर्त्तीकरण, कविता, कहानी, गीत, पढ़ना-लिखना आदि सभी अभिव्यक्तिकी क्रियाएँ अपने अनुभवके आधारपर कर सकता है।

पाठ्यविषयोंका उचित अन्तर्योग

पाठ्यविषयोंके विभिन्न अंगोंका पारस्परिक अन्तर्योग ही सदा उचित होता है जैसे गणित-वर्गमें अंकगणितका बीजगणितसे, मातृभाषाके वर्गमें बोलने, वाचन करने, लिखने और व्याकरणका, साहित्य और इतिहासका, चित्रांकन और ज्यामिति अथवा अन्य शिल्पोंका अन्तर्योग किया जा सकता है। इसी प्रकार संगीत, हस्तकौशल, तथा चित्रकलाके सैद्धान्तिक पक्षका उसके प्रायोगिक पक्षसे अन्तर्योग हो सकता है।

अन्तर्योगका सिद्धान्त

पाठ्यविषयोंके अन्तर्योगका सीधा सिद्धान्त यह है कि एक विषय पढ़ाते समय प्रसंगवश अन्य विषयोंका जहाँ आरोप होता है वहाँ उसका स्पष्टीकरण करते हुए चलना और प्रस्तुत विषयसे उसका सम्बन्ध बताना ही वास्तविक अन्तर्योग है। इतिहास पढ़ाते समय तत्सम्बद्ध प्रदेशका भौगोलिक परिचय दे देनेसे छात्रोंको समझनेमें सुविधा होती है। भारतमें आर्योंका जीवन पढ़ाते समय एशियाका मानचित्र लाकर आर्योंके आगमनके विभिन्न सिद्धान्तोंके

अनुसार स्थानोंका प्रदर्शन करके इतिहासका ज्ञान अधिक स्पष्ट कराया जा सकता है। किन्तु साथ ही अनावश्यक तथा कृत्रिम अन्तर्योग भी नहीं करना चाहिए जैसे रामकी कथाका परिचय देते हुए समुद्रपर सेतु बनवानेके व्ययका गणित करवाना। अतः, अन्तर्योग स्वाभाविक होना चाहिए और उसका अवसर स्वतः पाठमेंसे ही व्यक्त होना चाहिए, बलपूर्वक ऊपरसे नहीं लादना चाहिए।

हरबार्टके केन्द्रीकरणके मनोविज्ञानिक आधारकी आलोचना

हरबार्टका यह सिद्धान्त अत्यन्त भ्रामक है कि विचारमें एकता और सन्तोषका प्रयत्न करनेसे दृढ तथा अखण्ड संकर्षण-शक्ति प्राप्त होती है। चरित्रके विकासमें ज्ञानका उतना सहयोग नहीं होता जितना हरबार्टने बताया है। यह आवश्यक नहीं कि कोई अत्यन्त विद्वान् और विद्या-पारंगत व्यक्ति सच्चरित्र भी हो। विद्यालयमें पढ़ाया जानेवाला कोई भी विषय किसी व्यक्तिको तबतक नैतिक बल नहीं प्रदान कर सकता जबतक वह उसकी रुचिसे मेल न खाता हो। कोई विषय तबतक रुचिकर नहीं बन सकता जबतक वह भलीभाँति समझा न जाय। कोई विषय तबतक ठीक नहीं समझा जा सकता यदि उससे विकसित होनेवाला प्रकाश बन्द कर दिया जाय। बस इसी सिद्धान्तसे अन्तर्योगके सिद्धान्तका जन्म हुआ है। इसका अर्थ यह है कि किसी एक विषयका अध्ययन करते समय हमें उन अन्य विषयोंका पूरा उपयोग कर लेना चाहिए जो प्रस्तुत विषयोंको पूर्णतः समझनेमें सहायक हो। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि हम अस्वाभाविक तथा असंगत रूपसे सम्बन्ध ढूँढ़ लानेका कृत्रिम प्रयास करें।

अमरीकी शिक्षाशास्त्री टौम्किन्सका कथन है—'एक ही पाठमें अनेक विषयोंकी सामग्री बलपूर्वक ला डालना वास्तविक अन्तर्योग नहीं वरन् प्रस्तुत विषयके स्पष्टीकरणके लिये अन्य संगत विषयोंसे उसके सम्बन्धपर ध्यान दिलाना ही अन्तर्योग है।'

११

पाठोंके प्रकार

कक्षामें जितने प्रकारके पाठ पढ़ाए जाते हैं उन्हें हम छह श्रेणियोंमें विभक्त कर सकते हैं—

१. नई-नई बातोंकी सूचना देनेवाले परिचयात्मक पाठ (इन्फ़ौर्मेटिव लेसन्स) : इस प्रकारके पाठोंमें छात्र मौन होकर अध्यापक या पुस्तक-द्वारा दिए हुए ज्ञानको स्वीकार कर लेते हैं।

२. तथ्योंका परीक्षण और विश्लेषण करानेवाले उद्‌बोधक पाठ (ट्रेनिंग लेसन्स) : वे होते हैं जिनमें छात्रोंको ऐसे पाठके तथ्यका विश्लेषण और परीक्षण करानेकी वृत्ति उत्पन्न की जाती है।

३. प्रयोगात्मक पाठ (एप्लिकेशन लेसन्स) : इस प्रकारके पाठोंमें यह प्रयत्न किया जाता है कि छात्रोंने जिस नवीन ज्ञानका अर्जन किया है उसका वे स्वयं प्रयोग कर सकें। ऐसे पाठ चुनाव और निर्णय (सिलेक्शन ऐंड जजमेंट) की उच्चतर मानसिक क्रियाओंपर आधारित होते हैं।

४. रचनात्मक पाठ (स्किल लेसन्स) : इस प्रकारके पाठ वे होते हैं जिनमें छात्रकी रचनात्मिका वृत्तिको प्रोत्साहन दिया जाता है। ऐसे पाठ अनुकरण या कल्पनापर आश्रित होते हैं।

५. अभ्यासात्मक पाठ (ड्रिल लेसन्स) : इस प्रकारके पाठोंमें मौखिक, लिखित या हाथ-पैरकी क्रियासे अभ्यास कराया जाता है।

६. आवृत्यात्मक पाठ (रिवीज़नल लेसन्स) : जिनमें पढ़े हुए पाठकी आवृत्ति कराई जाती है।

परिचयात्मक पाठ

नई-नई बातोंका परिचय देनेवाले पाठ दो प्रकारके होते हैं—क. वे, जिनमें सीधे किन्हीं वस्तुओं या विषयोंका अध्ययन या परीक्षण होता है और ख. जिनमें दूसरोंके मौखिक या लिखित कथन-द्वारा ज्ञान मिलता है, जैसे पुस्तकोंके द्वारा। इनमेंसे प्रथम क. श्रेणीमें प्रकृति-अध्ययन (नेचर स्टडी)

प्रारंभिक भूगोल, बाह्य विषयोंका प्रत्यक्ष पाठ (औब्जेक्ट लेसन), ऐतिहासिक स्थानोंमें पर्यटन अथवा प्राचीन प्रमाणोंके आधारपर इतिहासका ज्ञान तथा कलाएँ। ये सभी सूचनात्मक पाठ सहज (डाइरेक्ट) और सक्रिय (ऐक्टिव) प्रणालीपर आश्रित हैं। ऐसे पाठोंमें छात्रको ही सक्रिय होना पड़ता है। अध्यापकको केवल यही भर देखना रह जाता है कि छात्रोंने मूल सामग्रियोंका ठीक और पूर्ण निरीक्षण तथा प्रयोग किया है या नहीं और उन्होंने जो परिणाम निकाले हैं वे स्पष्ट और ठीक हैं या नहीं। इन सभी सहज पाठोंका स्वाभाविक परिणाम अभिव्यंजन ही होना चाहिए। ख. श्रेणीके पाठ वे होते हैं जिनमें अध्यापक मौखिक रूपसे अथवा पुस्तकके आश्रयसे ज्ञान देता है। भावोत्तेजक, प्रेरणात्मक तथा संवेगजनक ज्ञानके लिये मौखिक प्रणालीका ही आश्रय लेना ठीक होता है।

किन्तु अध्यापकका काम केवल इतना ही तो नहीं है कि वह छात्रोंसे नई सूचनाएँ निकलवावे। उसे कुछ अपनी ओरसे भी बताना-समझाना पड़ता है। बता चुकनेके पश्चात् उसे यह भलीभाँति परीक्षण कर लेना चाहिए कि छात्रोंने यह ज्ञान भलीभाँति आत्मसात् कर लिया है या नहीं।

उद्‌बोधक पाठ (ट्रेनिंग लेसन्स)

उद्‌बोधक पाठोंका उद्देश्य यह होता है कि उनके द्वारा छात्र अपने विवेकसे अनेक उदाहरणोंका परिणाम निकालें, तथ्योंका विवेचन करें, प्रयोग करके निर्णय करें और इस प्रकार प्राप्त किए हुए ज्ञान और कौशलको किसी विशेष क्रिया या किसी वस्तुकी रचनामें लगावें। ऐसे पाठोंका मुख्य उद्देश्य होता है छात्रोंका बौद्धिक परिष्कार करना, छात्रोंकी संप्रेक्षण तथा ग्रहण-शक्तिको बढ़ाना, उनकी रुचि और उनके कुतूहलको तीव्र करना, उनकी एकाग्रता बढ़ाना और उनकी विवेचना-शक्ति तथा तर्क-शक्तिको प्रोत्साहन देना। ऐसे पाठ प्रायः सर्वगणित, विज्ञान, अनुभव-पाठ (औब्जेक्ट लेसन्स) और व्याकरणमें प्राप्त होते हैं।

ये उद्‌बोधक पाठ दो प्रकारके होते हैं—(क) परिणाम-परक (इंडक्टिव);

(ख) सिद्धान्तपरक (डिडक्टिव)। पीछे हरबार्टके पंचाग पदके अनुसार जो शिक्षण-क्रम बताया जा चुका है वह तो परिणामपरक है अर्थात् उसमें, उदाहरण देकर या विषय प्रस्तुत करके, उसकी परीक्षा करके, व्यापक सिद्धान्त निकाला जाता है।

सिद्धान्त-परकमें पहले सिद्धान्त बता दिया जाता है और उसके पश्चात् उदाहरण देकर उसकी व्याप्ति सिद्ध की जाती है। यद्यपि इस प्रणालीका प्रयोग प्रायः वर्जित है किन्तु इससे यह लाभ भी है कि पढ़े हुए सिद्धान्तोंका अर्थ आगे चलकर समझमें आने लगता है। पुस्तकोंमें दिए हुए नियम और मूल स्रोत सामग्रीके समझनेमें सुविधा होती है और प्रत्येक सिद्धान्तका नया प्रयोग करनेसे उस सिद्धान्तकी पुष्टि होने लगती है और उसकी परिधि बढ़ती है।

सिद्धान्तपरक पाठकी सीढ़ियाँ

ऐसे सिद्धान्तपरक पाठकी भी चार क्रमिक सीढ़ियाँ होती हैं आधार (डेटा); सिद्धान्त (प्रिंसिपिल); परिणाम (इन्फरेन्स) और मिलान या व्याप्ति (वेरिफ़िकेशन)। ऐसे उद्बोधक पाठोंमें निर्णयपर पहुँचानेवाली तर्क-बुद्धिकी आवश्यकता है। अतः, इस प्रकारके पाठ ऊँची कक्षाओंमें ही आयोजित करने चाहिएँ जहाँ छात्रोंके मस्तिष्क पर्याप्त समुन्नत हो चुके होते हैं।

प्रयोगात्मक पाठ (एप्लिकेशन लेसन्स)

प्रयोगात्मक पाठ प्रत्येक अवस्थामें दिया जा सकता है। प्रारम्भिक अवस्थामें ही अक्षर ज्ञान करानेके पश्चात् उससे अक्षर लिखवाना प्रयोगात्मक पाठ है। एक रागका अभ्यास कराकर उस रागमें अन्य गीत गवाना भी प्रयोगात्मक है और नाटक या कहानीके लक्षण बताकर और उदाहरण देकर नाटक या कहानी लिखवाना भी प्रयोगात्मक पाठ है।

रचनात्मक पाठ (स्किल लेसन्स)

रचनात्मक पाठ हस्तकौशल, कताई, बुनाई, खेती, बाग़वानी, बढ़ईगिरी आदि विषयोंके शिक्षणके लिये प्रयुक्त होते हैं जहाँ सैद्धान्तिक ज्ञान देकर

उन्हें अपनी कल्पना और कौशलके साथ रचना करनेको प्रोत्साहित किया जाता है।

अभ्यासात्मक पाठ (ड्रिल लेसन्स)

अभ्यासात्मक पाठमें एक बार आदेश, निर्देश या विवरण देकर उसका बार-बार अभ्यास कराया जाता है जिससे वह ज्ञान पक्का हो जाय और स्मृति-संस्कार पूर्णतः सध जाय। स्मृतिको साधनेसे मन और पुट्ठे दोनोंको ऐसा अभ्यास पड़ जाता है कि वे स्वयं बिना प्रेरणा या विचारके ही काम करने लगते हैं इसलिये देवस्तोत्र, गणितके गुर, पहाड़े गिनने, रसायनके गुर (फ़ौर्मूला), सैन्य-संचरण आदिका बार-बार अभ्यास करानेसे ही वे पक्के होते हैं। आवृत्ति ही तो शिक्षा की धात्री है।

पुनरावेक्षण पाठ (रिव्यू लेसन्स)

बहुत बार ऐसा भी होता है कि छात्रोंने जो पाठ कुछ मास पूर्व या पिछली कक्षाओंमें पढ़ा है उसे पुनः उनकी स्मृतिमें अंकित करा देना आवश्यक होता है। इस प्रकारके पाठोंको आवृत्यात्मक पाठ कहते हैं। इनका उद्देश्य होता है स्मृतिको उत्तेजित करना और बनाए रखना।

पाठन-विधियाँ

इन पाठोंको पढ़ाते समय जिन दृश्य या वाच्य विधियोंका प्रयोग करना आवश्यक है उनका विवरण पीछे दिया जा चुका है। वाच्य विधियोंमें प्रश्न, उत्तर, व्याख्या, उदाहरण, वर्णन, आदि सबका समावेश हो जाता है।

वज्र-लेख विधियाँ (फ़िक्सिंग डिवाइसेज़)

कुछ ऐसी भी विधियाँ हैं जिनसे कोई भी पाठ या ज्ञान या सूचना मस्तिष्कमें वज्रलेख बनकर स्थिर हो जाती हैं। इनमें मुख्य हैं अभ्यास (रिपिटिशन), आवृत्ति (रिकेपिचुलेशन), श्याम-पट्ट-सूत्र तथा वस्तु, चित्र आदि कक्षामें प्रदर्शित करना। इन सबकी व्याख्या पीछे की जा चुकी है।

षष्ठ खंड

पाठ्य विषयोंका शिक्षण-क्रम

१

मातृभाषाका शिक्षण

मातृभाषा मूलतः वह भाषा कहलाती है जो शिशुने अपनी मातासे बोलते हुए सुनी हो, और जिस भाषामें उसने अपनी तोतली बोलीमें अपनी स्वाभाविक और प्रारंभिक इच्छा व्यक्त करनी प्रारंभ की हो। किन्तु व्यापक दृष्टिसे मातृभाषाका तात्पर्य उस भाषासे है जिसमें किसी प्रदेशके बड़े-बूढे-बच्चे अध्ययन-अध्यापन, पत्र-व्यवहार, लिखा-पढी और पुस्तकों तथा समाचारपत्रोंका वाचन करते हों अर्थात् जो भाषा बालकको बड़े होनेपर और पढ़ लिख लेनेपर साहित्यिक तथा पारस्परिक व्यवहारमें प्रयोग करनी पड़े और जो उस बालकके समाजमें उच्च श्रेणीके प्रतिष्ठित और सुशिक्षित नागरिक प्रयोगमें लाते हों। विद्यालयोंमें शिक्षाकी दृष्टिसे मातृभाषाका सदा यही अर्थ लिया जाता है।

मातृभाषा सिखलानेका उद्देश्य यह है कि बालक विभिन्न अवसरोंके अनुकूल संबोध्य व्यक्ति या समाजसे उसकी मर्यादा, योग्यता और प्रकृतिके अनुकूल अवसर तथा प्रसंगका ध्यान रखकर शुद्ध, कलात्मक, मधुर तथा प्रभावोत्पादक ढंगसे अपने मनकी बात कह सके और लिख सके तथा दूसरोंकी कही या लिखी हुई बातोंका उद्दिष्ट अर्थ समझ सके, लिखा हुआ अंश स्वयं बाँच सके, बाँचकर दूसरेको सुना सके और स्वयं इस प्रकार लिख सके कि उसका लिखा हुआ दूसरे लोग निर्बाध रूपसे बाँच कर उसका अर्थ समझ सकें।

भाषाके चार क्षेत्र

भाषाका अर्थ है जो बोली जाय। यह बोलना कभी-कभी मन ही मन आत्मानुरंजनके लिये भले ही प्रयुक्त किया जाय किन्तु उसका वास्तविक प्रयोजन यही है कि इसके द्वारा हम अपने मनके भाव किसी दूसरेपर व्यक्त

कर सकें और हम अपनी बोलीके जिन शब्दोंका प्रयोग करें वे ऐसे हों कि सुननेवाला उन्हें समझ सके। अर्थात् भाषाके प्रयोगके लिये संबोध्य व्यक्तिकी योग्यताका ज्ञान भी आवश्यक है। बोलनेका अर्थ यह हुआ कि इस प्रकार बात कही जाय कि हम अपने मनकी बात ठीक-ठीक दूसरेको समझा सकें। जैसे बोलनेकी योग्यता आवश्यक है वैसे ही समझनेकी भी। कभी-कभी हमें ऐसे समाजमें बैठना पड़ता है जहाँ सभी श्रेणीके लोग एकत्र हो जाते हैं और उस सभाके वक्ता ऐसी शैलीमें बातचीत करते हैं कि वह सर्वसाधारणके लिये कठिन तथा अव्यवहृत प्रतीत होती है। वहाँ हम वक्तासे यह अनुरोध नहीं कर सकते कि फिरसे कहिए या समझाकर कहिए। ऐसे अवसरोंके लिये आवश्यक है कि स्वयं श्रोताका ज्ञान ही इतना प्रौढ हो कि वह सब प्रकारके वक्ताओंकी बातें ठीक-ठीक समझता चले। इसके अनुसार चार प्रकारसे भाषा-शिक्षण करनेकी आवश्यकता सिद्ध हुई— १. भाषण-शिक्षण, २. श्रवणबोध-शिक्षण, ३. वाचन-शिक्षण, ४. लेखन-शिक्षण। इन चारों क्षेत्रोंके उचित संस्कारके लिये बालककी चार इन्द्रियाँ सन्नद्ध, संयत और व्यवस्थित करनी भी आवश्यक हैं—भाषणके लिये मुख और मुखके भीतर वाणीका प्रादुर्भाव करनेवाले अन्य यन्त्र; २. श्रवण-बोधके लिये कानोंकी सिद्धि; ३. वाचनके लिये नेत्रोंका उचित संस्कार और ४. लेखनके लिये हाथ और उँगलियोंका अभ्यास।

बहुतसे शिक्षाशास्त्रियोंका मत है कि पहले भाषण या बोलना सिखाना चाहिए फिर वाचन या बाँचना और तब लिखना। अन्य शिक्षा-शास्त्रियोंका मत है कि पहले वाचन सिखाना चाहिए फिर लेखन। भाषण तो स्वतः आ ही जायगा। दोनों प्रकारके शिक्षाशास्त्रियोंके सिद्धान्त भ्रामक हैं। भाषा-ज्ञान-सम्बन्धी चारों क्रियाएँ अर्थात् भाषण, श्रवणबोध, वाचन और लेखन कोई क्रमिक सीढ़ियाँ नहीं हैं। ये तो चारों पानक (शर्बत) के समान घुली-मिली क्रियाएँ हैं। यह स्मरण रखना चाहिए कि बालकको जितनी अधिक इन्द्रियाँ किसी कार्यमें प्रवृत्त कराई जायँगी, उतना ही अधिक उस विषयका ज्ञान पुष्ट होता जायगा। अतः

मातृभाषाके शिक्षकको यह नहीं समझना चाहिए कि हम भाषाशिक्षाके चारों क्षेत्रोंको किसी विशेष क्रमसे सिद्ध करते चलें। वह बालकसे दो मिनट वार्त्तालाप करके उसे बोलना भी सिखला सकता है, पुस्तक पढ़वाकर उसकी वाचन शक्ति भी समुन्नत कर सकता है, कुछ बोलकर उसकी श्रवण-शक्तिकी भी अभिवृद्धि कर सकता है और किसी लिखित अंशकी प्रतिलिपि कराकर उसकी लेखन-शक्तिको भी समुत्साहित कर सकता है। यद्यपि चारों क्रियाएँ एक दूसरेसे अत्यन्त संबद्ध हैं किन्तु इनकी शिक्षण-विधियाँ और शिक्षणके अभ्यास भिन्न-भिन्न प्रकारके हैं। इसलिये पहले भाषण या वार्त्तालाप, फिर श्रवण-बोधका संस्कार, फिर वाचन और अन्तमें लेखनका अभ्यास कराना चाहिए।

भाषण या बोलचालकी शिक्षा

समाजमें बोलचाल या भाषणके कई रूपोंका प्रयोग होता है। एक है अतिथ्यालाप जो समाजके प्रत्येक शिष्ट व्यक्तिको जानना ही चाहिए। अपने यहाँ आए हुए व्यक्तिकी आवभगत किन शब्दोंमें की जाय इसके लिये कुछ बँधे हुए नियम हैं, बँधे हुए वाक्य हैं। उनकी शिक्षा अध्यापकोंको अपने व्यवहारसे ही देनी चाहिए। दूसरा रूप है वार्तालाप, जो किसी अपने इष्ट-मित्र, बड़े-बूढ़े या जान-पहचानवालेसे मिलनेपर प्रारंभ होता है। इसके लिये भी एक विशेष क्रम निर्धारित है—पहले नमस्कार-प्रणाम, फिर कुशल-मगल, फिर निर्दिष्ट बात प्रारंभ करनेकी भूमिका, उत्तर देने और समझनेका ढंग और अन्तमें बात-चीत समाप्त करनेकी प्रक्रियाके साथ नमस्कार-प्रणामका उपसंहार। ऐसी बात-चीतमें शील और मर्यादाका अधिक ध्यान रक्खा जाता है और ऐसी आत्मीयताके साथ बातें होती हैं कि चाहे दोनोंके इच्छित उद्देश्योंकी पूर्ति न भी होती हो फिर भी वार्तालापसे कटुता न उत्पन्न हो। इस प्रकारके वार्तालापकी शिक्षा छोटे नाटकों तथा संवादोंके अभिनयसे तथा अध्यापकों और बड़ी कक्षाके छात्रोंके व्यवहारके संपर्कसे सिखलाई जा सकती है। इसके लिये यह भी आवश्यक है कि अध्यापक छात्रोंसे मिलते-जुलते रहें और वे ऐसे अवसर देते रहें कि इस प्रकारके वार्त्तालापका कौशल

वे भली प्रकार आत्मसात् कर सकें, क्योंकि जीवनमें ऐसे ही वार्तालापके अवसरोंपर मनुष्यकी शिष्टता, सभ्यता और विद्याके संस्कारकी परीक्षा होती है। देखा भी गया है कि बहुतसे लोग बहुत ऊँचे पदोंपर पहुँच गए हैं किन्तु उन्हें बात-चीत करनेका शील नहीं आता।

साधारण वार्त्तालापसे आगे बोलचालका प्रयोग उस समय होता है जब बालक कोई नई वस्तु देखता है, कोई नया अनुभव करता है, नये प्रयोग-से प्रभावित होता है और नई बातें सुनता या पढता है। उस समय उसकी इच्छा होती है कि हमने जो देखा-सुना, अनुभव किया, पढ़ा या समझा है उसे हम दूसरोंको भी बता सकें। इसके लिये यह आवश्यक है कि जो वर्णनीय वस्तु या विषय है उससे सम्बन्ध रखनेवाले प्रत्येक पदार्थकी संज्ञा और उसके गुणोंको व्यक्त करनेवाले शब्दोंका भाण्डार उसके पास हो; जिस वस्तु या विषयका वर्णन करना हो उसके अंतर्गत आनेवाली सभी बातोंका सक्रम वर्णन किया जाय तथा प्रत्येक बातके सम्बन्धमें जितना अनुभव बालकने किया है उसको विशद रूपसे वह इस प्रकार वर्णन करे कि कुछ भी छूट न जाय। इसका तात्पर्य यह है कि छात्रकी निरीक्षण-शक्ति उद्‌बुद्ध कराई जाय, निरीक्षित वस्तुको किसी विशेष क्रमसे अध्ययन करनेका अभ्यास कराया जाय और वह अध्ययन इतना सूक्ष्म हो कि अध्ययनीय वस्तुका कोई अंग छूट न जाय। इस प्रकारकी शिक्षाके लिये यह आवश्यक है कि छात्रको व्यक्तियों, स्थानों, उत्सवों, मेलों या अन्य ऐसे ही अवसरोंका प्रत्यक्ष अनुभव कराया जाय। वहाँ अध्यापकका कर्त्तव्य है कि वह प्रत्येक वस्तु या व्यक्तिका क्रमशः नाम, गुण और क्रियाके साथ परिचय देता चले और फिर वहाँसे लौटनेपर बालकसे इस प्रकार क्रमिक प्रश्न पूछे कि वह अपने अनुभूत विषयका सक्रम और विशद वर्णन कर सके। प्रायः यह देखा गया है कि अध्यापक सीधे यह पूछ लेते हैं—'बताओ तुमने क्या देखा ?' बालक अपने मनमाने ढंगसे बिना किसी क्रमके जितना स्मरण रहता है या जो वस्तुएँ उसे प्रिय लगती हैं उनका परिचय दे देता है। इसका दुष्परिणाम यह होता है कि बालककी विचार-पद्धति अक्रम

और अव्यवस्थित हो जाती है। इसलिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि बालकको किसी वस्तुका निरीक्षण कराकर उससे इस प्रकार क्रमिक प्रश्न किए जायँ कि अनुभूत वस्तुओंके नाम, गुण और क्रियाकी बार-बार आवृत्ति भी होती रहे, जिससे बालककी स्मृतिमें उन वस्तुओंका बिम्ब ठीक-ठीक बना रह सके और वह क्रमसे विचारकर व्यवस्थित और यथावश्यक मात्रामें उत्तर भी दे सके। इस प्रकारके अनेक अभ्यास करानेसे बालककी निरीक्षण-शक्ति समुन्नत होगी, विचार-पद्धति सक्रम हो जायगी और वर्णन-शक्ति संयत और प्रौढ़ होगी। इस प्रणालीको उद्‌बोधन या प्रश्नोत्तरी विधि कहते हैं।

वर्णन-शक्ति बढ़ानेका एक यह भी उपाय है कि बालकको छोटी-छोटी कहानियाँ सुनाई जायँ और फिर उनसे कहा जाय कि यह कहानी अपने साथियोंको सुनाओ। इसमें भी यदि आवश्यक हो तो दो-तीन-चार ऐसे प्रश्न किए जायँ कि उनके उत्तरमें पूरी कहानी आ जाय। किन्तु ये तभी वाञ्छनीय है जब बालकको कथा कहनेमें बाधा प्रतीत होती हो। इस कहानी-पद्धतिसे बोलनेकी शक्ति तो बढ़ती ही है साथ ही संकोच दूर हो जाता है, हियाव खुल जाता है, साहस बढ़ जाता है और बालकके मनसे आत्महीनताकी भावना दूर हो जाती है।

इसके पश्चात् वह स्थिति आ जाती है जब बालक स्वयं किसी विषयपर अपने विचार व्यक्त करना चाहता है, किसी बातको अपनी दृष्टिसे अच्छा या बुरा समझकर अपने निर्णयका समर्थन करना चाहता है। ऐसी अवस्थामें उसे तर्क देने पड़ते हैं। अतः, अध्यापकको यह भी बताना चाहिए कि किस शैलीसे, किस प्रकारसे छात्र युक्ति, तर्क और प्रमाण उपस्थित करें, किस प्रकार अपने प्रतिपक्षीकी उक्तियोंका खण्डन करे और किस प्रकार अपने पक्षका युक्तिपूर्ण समर्थन और स्थापन करे। इसके लिये आवश्यक है कि बालकको अच्छे-अच्छे विद्वानोंके भाषण सुननेका अवसर दिया जाय; विद्यालयमें भाषण-प्रतियोगिता तथा किसी विवाद-ग्रस्त विषयपर शास्त्रार्थ या वादविवादका आयोजन किया जाय और यह समझाया जाय कि किस प्रकार, किस क्रमसे एक-एक बातकी परीक्षा

करके उसपर युक्ति और प्रमाण देना ठीक होगा। इस प्रकारके अभ्याससे बालककी कल्पना-शक्ति, विवेकशक्ति, तर्क-पद्धति और विचार-पद्धति व्यवस्थित होती है और उसकी वाणी परिमार्जित, शक्तिशाली और ओजस्विनी होती है। इस प्रणालीको अभ्यास-प्रणाली या प्रयोग-प्रणाली भी कहते हैं।

बोलचाल या भाषण-शिक्षणकी इन सभी वृत्तियोंके मूलमें तीन बातें विशेष रूपसे और व्यापक रूपसे पाई जाती हैं—१. मुखका प्रयोग, जिसके अन्तर्गत शुद्ध उच्चारण और स्वरके उचित आरोह और अवरोहके साथ अक्षर, शब्द, और वाक्य व्यक्त करना आता है। २. व्यक्त की जानेवाली सामग्रीको क्रमसे रखना अर्थात विचार-शक्तिको व्यवस्थित करना। ३. प्रत्येक वर्णनीय वस्तुकी सूक्ष्म परीक्षा करना, जिसका अर्थ है निरीक्षण-शक्ति और विवेकको उद्‌बुद्ध करना। इनमेंसे पहली बात अर्थात् उच्चारणकी शिक्षा आवश्यक है किन्तु दुःख और आश्चर्यकी बात है कि हमारे अध्यापकगण मातृभाषाकी शिक्षाके इस महत्त्वपूर्ण अंगकी ओर तनिक भी ध्यान नहीं देते। क्योंकि वे समझते हैं कि छात्रोंकी परीक्षा तो लिखित होती है अतएव उन्हें लिखनेका अभ्यास कराया जाय, बोलनेका नहीं। यही कारण है कि हमारे एक सहस्र छात्रोंमें एक भी छात्र ऐसा न निकल सकेगा जो शुद्ध, शिष्ट भाषामें बातचीत कर सके या अपना विचार प्रकट कर सके या भाषण कर सके।

शुद्ध उच्चारण सिखानेकी तीन विधियाँ हैं—१. आवृत्ति-पुनरावृत्ति अर्थात् बार-बार अभ्यास कराकर ठीक कर देना, २. स्थान परिवर्त्तन अथवा सुसंगति, ३. क्रमिक अभ्यास अर्थात् तीव्र तथा अस्पष्ट बोलनेसे रोककर धीरे-धीरे अक्षर-अक्षर स्पष्ट बोलनेका अभ्यास कराना। इसके लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि स्वयं अध्यापक शुद्ध उच्चारण करनेवाला हो तथा विद्यालयके छात्रोंको सुन्दर और मधुर बोलनेवाले वक्ताओंका संसर्ग प्राप्त होता रहे।

बोलनेके अभ्यासमें केवल बोलना मात्र ही पर्याप्त नहीं। इसके लिये यह भी आवश्यक है कि बोलनेवालेके मुखपर और उसकी भावभंगीमें कहाँ

जानेवाली बातकी अभिव्यक्ति भी मिलती चले; अर्थात् यदि वाणीमें हासकी बात हो तो मुखपर भी हासकी रेखाएँ वाणीके साथ खिंचती चलें; यदि उत्साह और वीरताकी बात हो तो उसकी आँखोंमें उल्लास और मुखपर उत्साह व्यक्त होना ही चाहिए। केवल निर्निमेष नेत्रोंसे भाव-भंगी-हीन वाणी-मात्र इसके लिये पर्याप्त नहीं है और वाणीमें भी भावके साथ भाव प्रकट करनेवाला काकु अर्थात् स्वरको चढाने-उतारनेवाला काकु होना चाहिए। बिना इसके वाणी निर्जीव होती है। इसके लिये एकांकी नाटक अथवा संवादकी आयोजना करके व्यवस्थित शिक्षा देनी चाहिए किन्तु साधारण व्यवहारमें भी संयत होनेसे काम चल सकता है।

श्रवण-बोधके अभ्यासके लिये शिक्षाशास्त्रियोंने अनुश्रुत लेखका विधान किया है जिसे अँगरेज़ीमें डिक्टेशन कहते हैं किन्तु वास्तवमें वह विधान तो सुनकर शुद्ध लिखनेकी अभ्यास-क्रिया मात्र है। श्रवण-बोधके लिये तो कथा या कहानी कहकर अथवा किसी वस्तुका वर्णन करके बालकसे उसे कहला लेना और जिन नये शब्दों अथवा वाक्योंका प्रयोग किया गया हो उन वाक्योंका भावार्थ प्रसंगानुसार छात्रोंसे निकलवा लेना ठीक होता है। प्राय विद्यालयोंमें श्रवण-बोधका अभ्यास नहीं कराया जाता। यही कारण है कि बालकोंको प्रायः भाषणोंका सार ठीक ठीक ग्रहण करनेमें बड़ी अड़चन या द्विविधा होती है। श्रवणबोधके अभ्यासके लिये यह भी आवश्यक है कि अध्यापक नित्य नियमसे छात्रोंको नित्यकी घटनाएँ, नये आविष्कार, महापुरुषोंके जीवन-चरित और कथाएं सुनाते रहें। इससे उनका शब्द-भाण्डार बढ़ता है, ज्ञान बढ़ता है, तुलना-शक्ति और कल्पना-शक्तिकी अभिवृद्धि होती है, स्वयं विचार व्यक्त करनेकी अथवा सुना हुआ ज्योंका त्यों कह देनेकी समर्थता भी सिद्ध हो जाती है। फल यह होता है कि आगे चलकर ये बालक उच्च कक्षाओंमें अपने गुरुओं-द्वारा सुने हुए प्रवचनोंको ज्योंका त्यों लिख सकते हैं या दूसरोंको सुनाकर किसी सुविचारका प्रचार कर सकते हैं।

लेखन

लेखन और वाचनकी क्रिया साथ-साथ हो सकती है। इस सम्बन्धमें

कुछ आचार्योंका मत है कि अक्षर-लेखन पहले नहीं सिखाना चाहिए। कुछका मत है कि ध्वनि-साम्य प्रणाली (फ़ोनेटिक मेथड) से अर्थात् एकसी ध्वनिवाले शब्दोंको लेकर उन्हींसे अभ्यास प्रारंभ करना चाहिए। कुछ लोग कहते हैं कि अक्षरोंकी बनावटके अनुसार उनका वर्गीकरण करके पहले सीधी रेखाओंवाले ग, न, म, आदि अक्षर सिखाने चाहिएँ, उसके पश्चात् ह ड, ड, ह आदि वर्त्तुलाकार अक्षर। किन्तु ये सब प्रयोग निरर्थक सिद्ध हो चुके हैं। लिखनेका क्रम वर्णमालाके अनुसार ही होना चाहिए। इससे छात्रोंको स्मरण करनेमें, संगति बैठानेमें बडी सुविधा होती है और अक्षरोंका क्रम भी साथ ही साथ सध जाता है। लिखनेके सम्बन्धमें तीन बातें अवश्य जान लेनी चाहिएँ—१. लिखनेका उद्देश्य यह है कि जो लिखा जाय वह ज्योंका त्यों ठीक-ठीक पढा भी जाय अर्थात् अक्षरोंके रूपमें विकार न हो। २. अक्षर सुन्दर अर्थात् सानुपात हों, समान हों और न बहुत छोटे न बहुत बड़े हों अर्थात् एक रूप हों, जो सरलतासे पढ़े जा सकें। ३. प्रत्येक शब्द, प्रत्येक पंक्ति, अलग-अलग हो और प्रत्येक वाक्य तथा अनुच्छेद-का भेद स्पष्ट हो।

अक्षरोंमें विकार न आने देनेके लिये यह आवश्यक है कि प्रत्येक अक्षरके अंग अर्थात् गोल और सीधी रेखाओंका ठीक रूप बालकके मस्तिष्क-में भर देना आवश्यक है। इसके लिये उस पुस्तिकामें अनुलिपि या प्रतिलिपिका अभ्यास कराया जाता है जिन्हें सुलेखकी अभ्यास-पुस्तिका कहते हैं। इस प्रकारके अभ्यासका उद्देश्य केवल यही नहीं है कि सुन्दर लिखा जाय वरन् यह भी है कि अक्षरका रूप बिगड़ने न दिया जाय। ऊँचा नीचा, छोटा-बड़ा अक्षर बनाकर भी उसे शुद्ध पढ़ने-योग्य बनाया जा सकता है। किन्तु सुन्दरताके लिये यह आवश्यक है कि प्रत्येक अक्षरके सब अंग उचित अनुपातमें हो अर्थात् अक्षर सुडौल हों और एक पंक्तिमें लिखे हुए हों, सब अक्षर समान रूपसे लिखे हुए हों, प्रत्येक वाक्य या अनुच्छेदको अलग-अलग व्यक्त करनेके लिये बहुतसे चिह्न और पट्टी छोड़ने तथा अनुच्छेद प्रारंभ करनेसे पहले कुछ स्थान छूटा हुआ हो।

जैसे बोलनेके लिये वाणीके साथ-साथ भाव-भंगीका विधान किया गया है वैसे ही लिखनेके लिये भी कलमकी बनावट, कलम पकड़नेका ढंग, कागज या पटियापर कलम चलानेकी रीति, कागज रखनेका आधार, बैठनेका ढंग, सभी बातें पहलेसे ठीक कर रखनी चाहिए। नियम यह है कि लिखते समय बालककी रीढ़की हड्डी सीधी रहे, उसकी आँखें पटिया या अभ्यास-पुस्तिकासे कमसे कम एक फुट दूरीपर रहे अर्थात् पटिया या अभ्यास-पुस्तिकाको बायाँ घुटना टेककर दाएँ घुटनेपर रखकर हो या बालकके आगे ढलवाँ चौकी रखकर लिखवाया जाय। कागज और स्याही भी इतनी चिकनी होनी चाहिए कि उससे कलमकी गति न रुके और ऐसे स्थानपर बैठकर लिखना चाहिए जहाँ बाएँसे प्रकाश मिले। लिखनेका सिद्धान्त यह है कि अक्षर स्पष्ट और सुन्दर बने तथा शीघ्रतासे लिखे जायँ। इसलिये प्रारंभमें भले ही सुलेख-पुस्तिकापर धीरे-धीरे अभ्यास कराया जाय किन्तु पीछे अक्षरका अभ्यास सध जानेपर तीव्रतर गतिसे सुन्दर लिखनेका अभ्यास कराना चाहिए। यह अभ्यास अनुलिपिसे हो सकता है। लेखनके अभ्यासके साथ-साथ विद्यार्थियोंकी सौन्दर्य-भावना भी जागरित करनी चाहिए जिससे वे केवल अक्षरके व्यावहारिक पक्षका ही नहीं कलापक्षका भी ध्यान रक्खें। इसके लिये तीन विधान आचार्योंने निर्धारित किए हैं—१. सुलेख-प्रतियोगिता २. सुलेख-प्रदर्शनी, और ३. चित्रकलाके साथ लेखन-शिक्षणका अन्तर्योग। इस अन्तर्योगसे बालकमें यह स्वयं भावना उत्पन्न होगी कि मैं किस प्रकार अक्षरको सुन्दरतम रूपमें लिखूँ।

यद्यपि व्यावसायिक दृष्टिसे लेखनकी उपयोगिता छापेघरोंने समाप्त कर डाली है फिर भी सुन्दर अक्षर लिखनेवाले छात्रोंको परीक्षामें अंक भी अधिक मिलते हैं, नौकरियाँ भी सरलतासे मिलती हैं और समाजमें भी उनका मान होता है। आजकल निर्झरिणी (फाउण्टेनपेन) के प्रचारने लेखन-कलाको बड़ा धक्का पहुँचाया है। इसलिये अध्यापकोंको सावधान होकर लेखनकी उन्नति करनी चाहिए।

वाचन

भाषाशिक्षणका चौथा अंग है वाचन। वाचनके लिये आँख और

वाणी दोनोंका ऐसा समन्वित अभ्यास होना चाहिए कि जितना वाचन करना हो अर्थात् एक बार और एक लयमें जितना अंश पढ़ना हो वह आँखकी एक पकड़में आ जाय। इसका तात्पर्य यह है कि आँखें ऐसी सध जानी चाहिएँ कि पुस्तककी ओर एक बार देखते ही उतना अंश मस्तिष्कमें बैठ जाय और उचित गतिके साथ बालक पढ़कर सुना सके, क्योंकि वाचनका अर्थ पुस्तकमें आँख गड़ाकर एक-एक अक्षर टटोल-टटोलकर पढ़ना नहीं है। सस्वर वाचनका तात्पर्य यही है कि थोड़ा-सा अंश आँखोंसे ग्रहण किया और पुस्तकसे आँखें हटाकर संबोध्य व्यक्तियों या सामने बैठे हुए लोगोंको वाणीके उचित उतार-चढावके साथ उसे सुना दिया। वाचनमें पुस्तक केवल वाचकका आश्रय मात्र होती है, वह संबोध्य नहीं होती अर्थात् वाचनके समय पुस्तकको पढ़कर नहीं सुनाना चाहिए, श्रोताओंको सुनाना चाहिए।

एक दूसरे प्रकारका भी वाचन होता है जिसे मौन वाचन कहते हैं। इसका उद्देश्य यह होता है कि बालक तीव्र गतिसे केवल नेत्रोंसे अक्षरों, शब्दों और वाक्योंको इस प्रकार लाँघता हुआ पार करता चले कि पढ़े हुए अंशका सब भाव वह भली भाँति समझ जाय, भले ही उसके बहुतसे शब्द उसकी समझमें न आ सकें। ऊँची कक्षाओंमें अपने स्वाध्याय अथवा मनोविनोदके लिये कहानी-उपन्यास पढ़ते समय बालकको मौन वाचन ही करना पड़ता है। अतः, प्रारंभमें उसे सस्वर वाचन या बोलकर बाँचनेका ऐसा अभ्यास करा देना चाहिए कि उसकी आँखें एक बारमें अधिकसे अधिक शब्दोंका बिम्ब ग्रहण कर सकें।

सस्वर या बोलकर वाचन करनेके लिये कुछ कसौटियाँ निर्धारित की गई हैं। उनके अनुसार वाचनमें इतने गुण होने चाहिएँ—

मधुरता, एक-एक अक्षरका स्पष्ट उच्चारण करना, प्रत्येक शब्द उचित ध्वनिके साथ व्यक्त करना, प्रत्येक वाक्य उसके भावके अनुसार स्वरके उतार-चढ़ावके साथ उच्चरित करना, उचित गतिके साथ और उचित शब्द-समूह लेकर पढ़ना।

वाचन-शिक्षाके लिये अध्यापकको पहले स्वयं आदर्श पाठ करना चाहिए

और उसके पश्चात् छात्रोंसे अलग-अलग कराना चाहिए। यदि कविता हो तो समवेत रूपसे वाचनका अभ्यास कराना चाहिए। सुन्दर रीतिसे वाचनके लिये दस स्वर्णनियम बताए गए हैं—

१. हलकी पुस्तक हो तो बाएँ हाथमें उठाओ और इस प्रकार पकड़े रहो कि वह हाथसे १३५° का कोण बनावे और आँखोंसे कमसे कम १२ इंच दूरीपर रहे।

२. पढ़ते समय आँखें निरन्तर पुस्तकमें न गड़ी रहें। एक बार आँखें इतनी सामग्री ग्रहण कर लें कि बीच-बीचमें मुँह उठाकर सम्मुख बैठे हुए लोगोंकी ओर देखने और उन्हें सबोधित करके पढ़नेका अवकाश मिले।

३. शब्द-समूहोंका उचित चुनाव करके आवश्यक ठहराव देकर पढ़ा जाय।

४. पढ़नेकी गति न बहुत मन्द हो न बहुत तीव्र।

५. स्वर भी न तो मन्द हो न बहुत उच्च। उसमें उतना ही बल हो कि श्रोतागण-तक शब्द ठीक-ठीक पहुँच सकें।

७. प्रत्येक शब्दका उच्चारण स्पष्ट और नियमित होना चाहिए।

८. स्वर सदा एक रूप न रहे, भावोंके साथ उतरता-चढ़ता रहे और खुला हुआ दाहिना हाथ भी उनके भावोंके प्रकाशनमें उचित योग दे।

९. पढ़ते समय बहुत उछलना-कूदना और इधर-उधर घूमना नहीं चाहिए। हाँ, मुँह उठाते समय सिर सब ओरके श्रोताओंकी ओर घूमे, केवल एक ओर ही न रहे।

१०. प्रारंभ मंद स्वरसे करना चाहिए और समाप्त भी धीरेसे करना चाहिए जिससे आदि और अन्तका ठीक ज्ञान हो।

इससे स्पष्ट हो जायगा कि भाषा-ज्ञान करानेका तात्पर्य केवल भाषाका ज्ञान करा देना मात्र नहीं है। उसका तात्पर्य यह भी है कि बालक पढ़ी हुई, सुनी हुई भाषाके अनुसार नवीन ज्ञान प्राप्त करे, भावोंका संस्कार करे, वाणीका विवेक प्राप्त करे, आचार-व्यवहार संयत करे और पुस्तकमें पढ़ी तथा सुनी हुई

बातोंका अध्ययन और मनन करके, उसपर अपनी सम्मति स्थिर करके अपना मन्तव्य व्यक्त कर सके, औरोंको अपने शब्दोंमें अधीत तथा संचित ज्ञान दे सके तथा एक ही भावको विभिन्न मानसिक परिस्थितियोंके अनुकूल अभिव्यंजनाकी विभिन्न शैलियोंमें स्पष्ट रूपसे व्यक्त कर सके। यह तभी हो सकता है जब बालकका शब्द-भाण्डार अत्यन्त विस्तृत और प्रौढ हो तथा विभिन्न शब्दोंके मेलसे बने हुए वाक्योंमें नवीनता, सौन्दर्य और चमत्कार लानेकी उसमें योग्यता हो।

ऊपर बताया जा चुका है कि मातृभाषा सीखनेका उद्देश्य यह है कि बालक शुद्ध, कलात्मक, मधुर और प्रभावोत्पादक रीतिसे बोल और लिख सके। भाषाकी शुद्धताके लिये व्याकरणके ज्ञानकी प्रथम आवश्यकता है। भाषाको कलात्मक बनानेके लिये शब्द-शक्ति और अतिमधुर शब्द भाण्डारकी अपेक्षा है जो लेख रचना (कम्पोज़िशन) तथा साहित्यिक-शैलियोंके अध्ययनसे आती है। शुद्ध, कलात्मक, मधुर और प्रभावोत्पादक ढंगसे लिखनेका दूसरा रचनात्मक पक्ष भी आवश्यक है अर्थात् बालकको भाषा-शिक्षाकी अन्तिम सीढ़ीतक इस योग्य अवश्य बना देना चाहिए कि वह स्वयं अनेक प्रकारके लेख, कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी और निबन्ध लिख सकें। इतना होनेपर ही उसकी भाषा-शिक्षा पूर्ण कही जा सकती है।

उपर्यंकित उद्देश्योंको पूर्ण करनेके लिये बालकको व्याकरण, लेखन, गद्य-पद्यमय साहित्य अर्थात् पाठ्य-पुस्तकोंके द्वारा कविता, कहानी, निबन्ध, लेख, नाटक आदि काव्य-रूपोंका परिचय करा देना चाहिए। इन सबकी शिक्षाका क्रम अलग-अलग है।

लेख-रचनाका शिक्षण

भाषाके दो कार्य होते हैं—ग्रहण और अभिव्यक्ति। ग्रहणकी शक्ति बढ़ानेके लिये बालकको निरन्तर सुनते रहना चाहिए और पढ़ते रहना चाहिए। इन्हीं दो उपायोंसे बोली और लिखी हुई भाषा समझनेकी शक्ति आ जाती है किन्तु न तो हमारे यहाँ यही व्यवस्था है कि छात्र मातृभाषामें अच्छे

भाषण, वार्तालाप और संवाद सुन सकें, न यही है कि क्रमिक भाषामें लिखी हुई पुस्तक ही पढ़ सकें। हमारे यहाँ साधारणतः ऐसी पुस्तकोंका भी अभाव है जिन्हें छात्र मौन होकर पढ़ और समझ सकें।

अभिव्यक्तिकी शक्तिके लिये एक तो यह आवश्यक है कि बालक अपने मनकी बात श्रोताको ठीक-ठीक समझा सके और उससे भी अधिक यह आवश्यक है कि वह अपने भावात्मक पक्षको सम्पन्न करनेके लिये उसे साधु, ललित, मधुर तथा प्रभावोत्पादक भाषामें अभिव्यक्त कर सके। यह अभिव्यक्ति दो प्रकारकी होती है—१. मौखिक और २. लिखित।

मौखिक अभिव्यक्ति या बोलचालकी शिक्षा

बोलचालकी शिक्षा सिखानेसे कम आती है व्यवहारसे अधिक। इसलिये शिक्षा-शास्त्रियोंने बोलचाल या मौखिक अभिव्यक्तिकी शिक्षाके लिये चार उपाय बताए हैं—१. शिष्टजन संसर्ग, अर्थात् शुद्ध और सुसंस्कृत भाषा बोलनेवालोंके पास बैठना, उठना और उनकी बातें सुनना; २. विभिन्न अवसरोंके योग्य बोलचाल सिखानेवाले पाठोंसे पूर्ण पुस्तकोंका अवलोकन, ३. मौखिक रचना, अर्थात् चित्रके सहारे या अवसरके अनुकूल बातचीतका क्रमिक अभ्यास और ४. नाटक देखना या खेलना।

मौखिक रचना सिखानेकी तीन प्रणालियाँ भी हैं—

१. भाषा-यन्त्र-प्रणाली (लिंग्वाफ़ोन मेथड): इसके चार साधन हैं ग्रामोफ़ोनकी मशीन, भाषाके तवे (लिंग्वाफ़ोन रेकौर्ड), वर्ण्य चित्र तथा सहायक पुस्तक। इसके प्रयोगकी विधि यह है कि वर्ण्य चित्र सामने टाँगकर ग्रामोफ़ोनका तवा चला दिया जाता है। अध्यापक एक छड़ी लेकर ग्रामोफ़ोनके वर्णनके अनुसार सब वस्तुएँ और घटनाएँ चित्रपर दिखाता है, तवा बज चुकनेपर प्रश्न करके अध्यापक सब वर्ण्य विषय छात्रोंसे निकलवा लेता है और फिर सहायक पुस्तकके आधारपर उत्तरकी शुद्धता जाँच लेता है। अन्तमें छात्र पुस्तकसे वाचन करते हैं।

२. प्रश्नोत्तर प्रणाली : इसमें जिस विषयपर प्रश्न किए जायँ उसका

शृंखलाबद्ध वर्णन उत्तरके रूपमें आ जाना चाहिए। यह प्रणाली प्रारम्भिक कक्षाओंमें अर्थात् मौखिक रचनाके समय विशेषतः चित्र-रचना (पिक्चर काम्पोज़िशन) में प्रयोग करनी चाहिए। इस विधिमें प्रश्न स्पष्ट और संक्षिप्त हों। प्रश्न ऐसा किया जाय कि उस प्रश्नके उत्तरमें एक ही बात आवे, बहुत-सी बातें न आ जायँ। प्रश्न ऐसे सङ्गत हों कि एक प्रश्नका आगेवाले प्रश्नसे सम्बन्ध हो। वे बालकोंकी अवस्था और योग्यताके अनुकूल हों और ऐसे प्रश्न न हों जिनका उत्तर 'हाँ' या 'ना' में आता हो।

३. उद्बोधन प्रणाली : इसमें विद्यार्थियोंकी कल्पना-शक्तिको उद्दीप्त करके उन्हें स्वत वर्ण्य विषयके विभिन्न अङ्गोंकी खोज करके उन्हें ढूँढ़ निकालनेको उत्साहित किया जाता है। इसका प्रयोग अधिकतर जीवन-चरित, आत्मकथा अथवा अन्य ज्ञात विषयों या दृश्य आदिके वर्णनकी शिक्षामें किया जाता है।

लिखित अभिव्यक्ति या लेख-रचना-शिक्षणकी प्रणालियाँ

लेख-रचना सिखानेकी निम्नांकित छह प्रणालियाँ काममें लाई जाती हैं—

१. प्रबोधन प्रणाली : इसमें अध्यापक ही सूत्र रूपमें सम्पूर्ण सामग्री दे देता है और बालक अपने अध्यापक-द्वारा प्रदत्त ज्ञानको केवल भाषा-निबद्ध करते हैं। यह प्रणाली केवल वैज्ञानिक विषयों अथवा उन विषयोंकी रचना-शिक्षाके काममें लानी चाहिए जो विद्यार्थी न जानते हों।

२. मंत्रणा-प्रणाली : इस प्रणालीमें अध्यापक एक विषय दे देता है और तत्सम्बन्धी पुस्तकों, लेखों, पत्रों आदिके नाम बतला देता है फिर विद्यार्थी अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार उस सामग्रीमेंसे अपने प्रयोगकी वस्तु निकाल लेते हैं। इसमें विद्यार्थीको स्वावलम्बनका अवसर मिलनेके साथ ही यह ज्ञान भी हो जाता है कि एक ही विषयको दो विद्वान् लेखक किन दृष्टियोंसे देखते और किस प्रकार उसका विवेचन करते हैं। इससे विद्यार्थियोंको उनकी लेखन-शैलीका भी ज्ञान होता है और नये तथा समुचित शब्दोंका प्रयोग भी आ जाता है।

३. सूत्र प्रणाली : इस प्रणालीमें अध्यापक श्यामपट्टपर वर्ण्य विषयके

ऐसे सूत्र लिख देते हैं जिनके आधारपर विद्यार्थी पूरा लेख तैयार कर लेता है। इन सूत्रोंमें सङ्गति और सक्रमता होनी चाहिए। यह प्रणाली सब श्रेणियोंमें काम आ सकती है किन्तु केवल उन्हीं जीवन-चरितों तथा कथाओंके लिये प्रयुक्त होनी चाहिए जो विद्यार्थी न जानते हों।

४. तर्क-प्रणाली : यह विधि उन विषयोंके लिये प्रयुक्त होती है जिनके पक्ष या विपक्षमें बहुत कुछ कहा जा सके और जिनके विषयमें विद्वानोंमें मतभेद हो। हमारी सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक समस्याओंपर इसी प्रणालीसे रचना कराई जा सकती है। इसका विधान यह है कि कक्षामें दो दल बनाकर वर्ण्य विषयपर वाद-विवाद करा दिया जाय। जब विद्यार्थी कक्षामें उसपर वाद-विवाद तथा विचार कर लें तब वह लिखनेके लिये दे दिया जाय।

५. अनुकरण-प्रणाली : इस प्रणालीमें एक विशिष्ट शैलीमें लिखा हुआ कोई लेख, नाटक, आख्यान या वर्णन छात्रोंको दे दिया जाता है और यह आदेश दे दिया जाता है कि निर्दिष्ट शैलीमें मौलिक रचना करो।

६. विचार-विमर्श प्रणाली : इस प्रणालीमें विद्यार्थीगण परस्पर विचार करके अथवा अपने गुरुजनोंके साथ परामर्श करके अथवा पुस्तकोंका आश्रय लेकर निबन्ध लिखते हैं। यह प्रणाली उन उच्च कक्षाओंके लिये है जहाँ अध्यापकका बहुत कम सहारा लिया जाता है।

रचना-व्यवस्था : चित्र-वर्णन

चित्र वर्णनका क्रम यह है कि पहले दृश्य या स्थानका वर्णन कराया जाय, फिर उसमें चित्रित व्यक्तियों या जीवोंका वर्णन तथा उनका सम्बन्ध, तब उनकी क्रियाका वर्णन और अन्तमें उनके सम्बन्धमें कुछ ऐसे प्रश्न किए जायँ जिनके उत्तरके लिये छात्रोंको कल्पना करनी पड़े। इसी अवस्थामें उद्‌बोधन-प्रणाली भी चलती है।

कथा-वर्णन

चित्र-वर्णनके पश्चात् कथा-कहानीका आगमन होता है। विद्यार्थियोंको

कोई कहानी सुनाकर या तो अध्यापक फिर वही कहानी उनके मुखसे कहलावे या कुछ दिन पहले अपनी सुनाई हुई कोई पुरानी कहानी विद्यार्थियोंसे कहलावे।

स्वतः वर्णन

बालकोंमें वर्णन करनेकी स्वतः रुचि होती है। वे मेले-ठेलेमें जो कुछ देखते-सुनते हैं उसकी सूचना शीघ्रसे शीघ्र दूसरोंको देनेके लिये उतावले रहते हैं। जब बच्चे बाहरसे कुछ देखकर आते हैं तो द्वारसे ही उसका वर्णन करने लगते हैं। इसलिये उन्हें वर्णन-द्वारा रचनाका अभ्यास करानेमें सुविधा होती है। पास-पड़ोस, हाट-बाट, गाँव-नगरके समीपके दृश्योंका वर्णन उनसे बड़ी सरलतासे कराया जा सकता है। इस प्रकारके वर्णनोंसे उनकी रचनाशक्तिका स्वाभाविक विकास होता है।

वार्त्तालाप

अवसर-विशेषपर किससे किस प्रकार बातचीत करनी चाहिए इसकी शिक्षा विद्यार्थीको अवश्य देनी चाहिए। किसीके यहाँ ब्याह-बरात, काम-काजपर जाकर किस प्रकार हर्ष या शोक प्रकट किया जाय, अभ्यागतसे किस प्रकार बातचीत करके उसे मधुर वचनोंसे परितृप्त किया जाय, अपने बड़ों और छोटोंसे किस प्रकार बातचीत की जाय, इन बातोंकी शिक्षा मनुष्यकी जीवन-यात्रामें प्रायः काम आनेवाली होती हैं।

मौखिक रचनाके साथ ही साथ लिखित रचना भी आरम्भ कर देनी चाहिए। मौखिक चित्र-वर्णन करानेके साथ ही वही वर्णन छात्रोंसे लिखवा भी लेना चाहिए। इससे लिखनेका क्रम और शब्दावली दोनोंका ज्ञान हो जाता है। अध्यापकको चाहिए कि चित्रकी सामग्री श्यामपट्टपर लिखकर उन्हींके आधारपर विद्यार्थियोंको लिखित वर्णन करनेकी प्रेरणा करें। इसके पश्चात् उनसे कही हुई कथा कहानीकी मौखिक आवृत्ति कराकर वही कहानी लिखनेके लिये कहें। इसीके साथ-साथ हाट-बाट या दृश्यका वर्णन भी लिखाया जा सकता है।

तीसरी अवस्थातक विद्यार्थी इस योग्य हो जाते हैं कि उन्हें अनुच्छेद-रचना सिखाई जा सके। लिखित विषयको उचित स्थानोंपर विलग करके एक-एक बातको उचित स्थानपर विश्राम देते हुए नवीन पंक्तिसे नवीन बात आरम्भ करके उसे पूर्ण करनेकी क्रियाको अनुच्छेद-रचना कहते हैं। इसी अवस्थामें दिनचर्या लिखनेकी विधि एक बार बतलाकर छात्रोंसे दिनचर्या भी लिखवानी चाहिए। इतना अभ्यास हो चुकनेपर पाठ्य-पुस्तकमें आई हुई कथा-कहानियाँ विद्यार्थियोंसे उन्हींकी भाषामें लिखवानी चाहिए। इसी स्थलपर उन्हें रूढोक्तियोंके समुचित प्रयोगसे अवश्य परिचित करा देना चाहिए क्योंकि रूढोक्तियोंका प्रयोग वार्त्तालाप और कथा-कहानीमें ही अधिक होता है। तत्पश्चाद् उन्हें काल्पनिक यात्रा अथवा किसी स्थानका सरल वर्णन करने और अपनी रचनापर समुचित शीर्षक लगानेका भी अभ्यास कराना चाहिए।

चौथी अवस्थामें विद्यार्थीको अपने सगे-सम्बन्धियोंसे पत्र-व्यवहार करनेका ढंग बताकर निमन्त्रणपत्र, आवेदनपत्र, सूचना, अभिनन्दन, अभ्यर्थना, समाचार, विज्ञापन तथा आत्म-चरित लिखनेकी कला बतला देनी चाहिए। इतना अभ्यास कर चुकनेपर ही विद्यार्थीमें इतनी समझ आ पाती है कि उससे निबन्ध-रचनाका अभ्यास कराया जा सके। अतः, इसी अवस्थामें उसे कथात्मक, वर्णनात्मक और विचारात्मक निबन्धोंके स्वरूपोंका परिचय देकर जीवनी और रामकहानी लिखवानेका क्रम प्रारम्भ कर देना चाहिए। प्रारम्भमें ही उसे मौलिक रचना करनेके लिये बाध्य नहीं करना चाहिए। पहले दूसरोंकी लिखी हुई कहानियोंके आधारपर कहानी लिखनेका अभ्यास कराना चाहिए और तत्पश्चात् स्वतन्त्र कहानी-लेखनके लिये उत्साहित करना चाहिए। विद्यार्थीमें जब उक्त योग्यता आ जाय तब उसे संवाद, सरल एक अंककी नाटिका, तथा वार्त्तालाप आदि लिखनेकी ओर प्रवृत्त करना चाहिए। इस अवस्थाकी अन्तिम सीढ़ी अनुवाद है। विद्यार्थीका जिन दो भाषाओंसे परिचय हो उनका परस्पर अनुवाद करनेका अभ्यास डलवा देना चाहिए।

उक्त पद्धतिसे शिक्षित विद्यार्थी पाँचवीं अवस्थामें गद्य और पद्यकी

स्वतन्त्र रचनामें समर्थ हो जाता है। अतः, उसे निबन्ध, आलोचना, नाटक, गद्य-काव्य, कविता और तुकबन्दी आदिके तत्त्वों तथा सिद्धान्तोंका सम्यक् परिचय देकर उससे इन रचनाओंका अभ्यास कराया जा सकता है।

छठी अवस्थामें पहुँचनेतक विद्यार्थी लिखित रचनामें पूर्णता प्राप्त कर लेते हैं। इस अवस्थामें विद्यार्थी संक्षेपीकरण, साहित्य-समीक्षा, सम्पादकीय लेख और पत्र-सम्पादनको शिक्षा भी प्राप्त कर सकते हैं और इसीके साथ उनकी रचना-विषयक शिक्षा पूर्ण हो जाती है।

केवल वर्णनात्मक, कथात्मक तथा विचारात्मक निबन्ध लिखाने-भरसे ही लेखन कला नहीं आ जाती। उसे ऊपर दिए हुए क्रमसे सिखानेपर ही प्रौढता आती है। रचना-शिक्षणका उद्देश्य ही यह है कि साहित्यिक रचनाओंके सभी रूपोंसे परिचित होकर छात्र स्वतन्त्र और प्रभावशाली ढंगसे अपने भाव व्यक्त कर सकें।

व्याकरणकी शिक्षा-प्रणालियाँ

व्याकरणकी शिक्षाके बिना भाषाकी शिक्षा कदापि पूर्ण नहीं होती। व्याकरण ही भाषाका शासक होता है। व्याकरणके नियमोंको न मानकर चलनेसे भाषा उच्छृङ्खल हो जाती है और जिस प्रकार उच्छृङ्खल व्यक्तिको समाज अपना त्याज्य सदस्य समझता है उसी प्रकार उच्छृङ्खल भाषाका प्रयोग करनेवालेको भी लोग हीन दृष्टिसे देखने लगते हैं। व्याकरण पढ़ानेकी पाँच प्रणालियाँ हैं—१. सूत्र-प्रणाली, २. प्रयोग-प्रणाली, ३. पाठ्य पुस्तक-प्रणाली, ४. अव्याकृति-प्रणाली और ५. अन्तर्योग- प्रणाली।

सूत्र-प्रणाली

सूत्र-प्रणालीमें व्याकरणके सब नियम पहले सूत्र रूपमें कण्ठस्थ करा दिए जाते हैं और फिर उदाहरणोंके द्वारा समझा दिए जाते हैं जैसा संस्कृत व्याकरणकी शिक्षामें होता है।

प्रयोग-प्रणाली

सूत्र-प्रणालीसे पूर्णतः भिन्न है प्रयोग-प्रणाली। अँगरेज़ीकी परिणाम

(इण्डक्टिव)–प्रणालीके समान इसमें पहले पर्याप्त उदाहरण देकर और उनके आधारपर एक व्यापक नियम निकलवाकर उसके प्रयोगका अभ्यास करा दिया जाता है। सूत्र-प्रणालीकी अपेक्षा यह अधिक उपयोगी होती है। इस पद्धतिसे व्याकरण पढानेमें विद्यार्थीकी उत्सुकता अन्त-तक बनी रहती है जिससे वह सब प्रयोग सुनता, समझता और धारण करता चलता है। यदि अलग व्याकरण पढाना अनिवार्य हो तो इसी पद्धतिका प्रयोग उचित है।

पाठ्य-पुस्तक-प्रणाली

पाठ्य-पुस्तक-प्रणालीको हम सुग्गा-रटन्त प्रणाली भी कह सकते हैं। संस्कृत व्याकरणकी शिक्षा प्रायः इसी प्रणालीसे दी जाती रही है। विद्यार्थी सारी पुस्तक बिना कुछ समझे-बूझे कण्ठस्थ कर लेता है। यह नियम कष्ट-साध्य होनेके साथ-साथ व्यर्थ भी है। सुग्गा-प्रणालीसे विद्यार्थीको कोई वास्तविक लाभ नहीं होता, किन्तु संस्कृतके व्यवस्थित सूत्र-बद्ध व्याकरणके लिये दूसरा कोई उपाय भी नहीं है।

अव्याकृति प्रणाली

अव्याकृति-प्रणालीवाले अलग व्याकरण-शिक्षाकी उपयोगिताको स्वीकार नहीं करते। उनकी दृष्टिमें व्याकरण पढाना ही बड़ा भारी दोष है। उनका कथन है कि यदि केवल उन्हीं लेखकोंकी रचनाएँ पढ़ी जायँ जिनका भाषापर अधिकार हो तो धीरे-धीरे भाषापर अधिकार प्राप्त हो सकता है। मातृ भाषाके सम्बन्धमें तो यही प्रणाली निःसन्देह सर्वश्रेष्ठ है।

अन्तर्योग प्रणाली

अन्तर्योग-प्रणालीवाले इतनी दूरतक तो नहीं जाते पर व्याकरणके प्रति उनका भी भाव अव्याकृतिवालोंके जैसा ही उदासीन है। वे स्वतन्त्र रीतिसे व्याकरण-शिक्षाके विरोधी होते हुए भी इतना स्वीकार करते हैं कि आवश्यकतानुसार लेख-रचना-शिक्षणके साथ-साथ प्रति-सम्बद्ध करके व्याकरणके नियम भी बताए जा सकते हैं।

हम चाहे जिस प्रणालीसे भी व्याकरण पढावें पर यह स्मरण रखना

चाहिए कि नागरीमें वाक्यविश्लेषण और पदच्छेद करानेकी कोई आवश्यकता नहीं है। इसलिये, न तो इन्हें पढ़ानेकी आवश्यकता है और न प्रश्न-पत्रमें पूछनेकी।

उक्तियोंका प्रयोग

वाक्यका कौनसा शब्द (पद) किस रूपमें किस स्थानपर रक्खा जाय इसकी व्यवस्था करना व्याकरणका काम है किन्तु भाषामें चमत्कार-द्वारा सौन्दर्य उत्पन्न करना व्याकरणकी सीमाके बाहरकी बात है। इस अभावकी पूर्त्ति रूढोक्ति करती है।

रूढोक्ति-शिक्षण

रूढोक्ति सिखानेकी सबसे सरल, स्वाभाविक और व्यावहारिक पद्धति तो यह है कि विद्यार्थीके हाथमें ऐसी पोथियाँ दे दी जायँ जिनमें इनका प्रचुर प्रयोग हुआ हो। इस सम्बन्धमें पण्डित रत्ननाथ दर सरशारके 'फ़िसानए आज़ाद' के अनुवाद 'आज़ाद-कथा', बाबू शिवपूजनसहायकी 'देहाती दुनिया', हरिऔधजीके 'चुभते' तथा 'चोखे चौपदे' तथा आचार्य सीताराम चतुर्वेदीकी 'गंगाराम' पुस्तकका नाम लिया जा सकता है। इसके साथ ही पाठ्य-पुस्तकमें जहाँ रूढोक्ति आवे वहाँ विद्यार्थीको उसका अर्थ बतलाते हुए तत्सम्बन्धी अन्य रूढोक्तियोंका भी उसे परिचय करा दिया जाय। यदि 'आँख' से सम्बन्ध रखनेवाला कोई मुहावरा आवे तो वहींपर आँखसे सम्बन्ध रखनेवाली दूसरी रूढोक्तियोंका भी परिचय करा देना आवश्यक है। घरेलू और आंगिक मुहावरोंसे प्रारम्भ करके क्रमशः जीवनके अन्य विविध क्षेत्रोंसे सम्बन्ध रखनेवाले मुहावरोंका धीरे-धीरे ज्ञान कराते चलना चाहिए।

लोकोक्ति (कहावत)

किसी विशेष घटनाके फल-स्वरूप कोई उक्ति एक मुँहसे दूसरे मुँहमें पड़ती हुई ऐसी सध जाती है कि विशेष प्रकारके अवसरोंपर उसका प्रयोग होने लगता है। किसी राधा नामकी नर्त्तकीने न जाने कब न नाचनेके लिये

यह बहाना बनाया कि जब नौ मन तेल होगा तभी मैं नाचूँगी। बस अब जब कभी कोई किसी काम को न करनेके लिये असंभव बहाना ढूँढता है तब यही कहा जाता है—'न नौ मन तेल होगा न राधा नाचेगी।' ऐसी उक्तियोंको कहावत या लोकोक्ति कहते हैं।

सूक्ति

कहावत या लोकोक्तिके ही समान जब कवियोंकी किसी अवसरोपयुक्त उक्तिका प्रयोग होने लगता है तब उसे सूक्ति कहते हैं जैसे—

तुलसी जस भवितव्यता, तैसी मिलै सहाय।
आपु न आवै ताहिपै, ताहि तहाँ लै जाय॥

रूढोक्तियों, लोकोक्तियो या सूक्तियोको शिक्षा देते समय उसके उचित तथा शुद्ध प्रयोगका सदा ध्यान रखना चाहिए और यथासंभव अधिकसे अधिक रूढोक्तियों, लोकोक्तियों या सूक्तियोंका प्रयोग सिखा देना चाहिए क्योंकि इनसे भाषामें चिकनाई और गति आती है।

———

११

पाठ्य-पुस्तक

पाठ्य-पुस्तकोंके निर्माणमें निम्नलिखित नियमोंका ध्यान रखना चाहिए —

१. पाठ्य-पुस्तकोंकी भाषा अवस्थाके क्रमसे तद्भवसे तत्समकी ओर प्रवृत्त हो।

२. घरेलू रूढोक्तियोंसे प्रारम्भ करके क्रमशः सामाजिक तथा साहित्यिक रूढोक्तियोंका प्रयोग हो।

३. सरल वाक्योंसे प्रारम्भ करके क्रमशः गुम्फित तथा लम्बे मिश्रित वाक्योंका प्रयोग हो।

४. घरेलू विषयोंसे प्रारम्भ करके पास-पड़ोसके, फिर देशके और फिर संसारके विषयोंका वर्णन हो।

५. साधारण प्राकृतिक अनुभवोंसे प्रारम्भ करके वैज्ञानिक आविष्कारों तथा अन्य उच्चतर वैज्ञानिक अनुभवोंकी व्याख्या हो।

६. साधारण तुकबन्दियों तथा पद्योंसे लगाकर उदात्त कविताओंका समावेश हो किन्तु उनमें सुरुचि, भाव-सरलता तथा उदात्त वृत्तियोंको उकसानेकी क्षमता हो।

७. विभिन्न भाषा-शैलियों तथा साहित्यिक स्वरूपोंका सन्निवेश हो।

८. बालकोंकी मानसिक अवस्थाका भी ध्यान रक्खा गया हो।

९. पाठ्य-पुस्तकोंकी सामग्री मनोरञ्जक, ज्ञान बढ़ानेवाली तथा विद्यार्थियोंकी रचनात्मिका बुद्धिको उत्तेजित करनेवाली हो।

१०. उसमें कोरे उपदेश न हों। जो हों, वे कथा अथवा काव्यके आवरणसे ढके हों।

११. पुस्तकों या पत्रिकाओंसे ज्योंके त्यों लेख लेकर पाठ्य-पुस्तकोंमें न

रक्खे गए हों वरन् बालकोंकी योग्यता तथा मानसिक अवस्थाके अनुसार उनकी भाषा, शैली, विषय आदिका उचित सम्पादन कर लिया गया हो।

१२. पाठोंके विषय कक्षाके अन्य विषयोंसे भी प्रति-सम्बद्ध हों।

१३. पाठोंका क्रम ऋतु और समयके अनुकूल हो।

गद्य-शिक्षाका विधान

पाठ्य-पुस्तकोंमें गद्य और पद्य दोनोंका समावेश होता है। किन्तु गद्य-पाठ साधारणतः दस प्रकारके रहते हैं—

१. कथा : ऐतिहासिक, पौराणिक, नैतिक, काल्पनिक तथा विनोदपूर्ण।

२. जीवनचरित।

३. वैज्ञानिक आविष्कार तथा खोज।

४. नाटक तथा संवाद।

५. वर्णन (व्यक्ति, स्थान, वस्तु), यात्रा, प्राकृतिक दृश्य।

६. विचारात्मक निबन्ध।

७. प्राकृतिक विषय : जीव-जन्तु, पेड़ पौधे, नदी-पर्वत आदि।

८. पत्र।

९. मनुष्य : विभिन्न देशवासियोंके रहन-सहन, आचार-व्यवहार, रीति-नीति आदि।

१०. समालोचना : ग्रन्थ, रचना, व्यक्ति, समाज आदिकी।

गद्य-शिक्षणके उद्देश्य

नाटक तथा संवादको छोड़कर उपर्युक्त प्रकारके गद्य-पाठोंको पढ़ानेके समष्टि रूपसे निम्नलिखित उद्देश्य हैं—

१. विद्यार्थियोंको विविध विषयोंका ज्ञान हो, वे बहुज्ञ बनें।

२. उनके सूक्ति-भाण्डार तथा शब्द-भाण्डारमें वृद्धि हो।

३. उन्हें भाषा तथा वर्णन-शैलियोंसे परिचय प्राप्त हो।

४. वे भली प्रकार पाठका भाव तथा अर्थ समझ जायें।

५. वे समझे हुए भावको अपने ढङ्गसे अपने शब्दोंमें व्यक्त कर सकें।
६. वे लेखकके भावके अनुसार पढ़ सकें।
७. वे भाषा तथा भावोंकी सुन्दरताका आनन्द ले सकें।
८. वे अनुकरणीय भाषा-शैलियोंका प्रयोग कर सकें।
९. उनकी कल्पना-शक्ति बढ़े।
१०. उनके चरित्र-निर्माणमें सहायता मिले अथवा उन्हें व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त हो।
११. उनकी क्रिया-शक्ति सचेष्ट हो।

उपर्यङ्कित साधारण उद्देश्य तो सभी प्रकारके गद्य-पाठोंके शिक्षणमें होते हैं किन्तु पाठ्य-विषयके अनुसार उनके शिक्षणके मुख्य उद्देश्य विभिन्न हो जाते हैं। नीचे दी हुई तालिकामें हम पाठ्य-विषय और उनके विशेष उद्देश्योंका ब्यौरा देते हैं।

पाठ्य-विषय	उद्देश्य
१ कथाएँ	१. शब्द तथा सूक्ति-भाण्डारकी वृद्धि। २. वर्णन तथा भाषा-शैलीसे परिचय। ३. भाव समझना। ४. चरित्र-निर्माण। ५. कल्पना-शक्तिको उकसाना।
२ जीवनचरित	१. ज्ञान बढ़ाना। २. चरित्र-निर्माणमें योग देना।
३. वैज्ञानिक आविष्कार तथा खोज	१. ज्ञान बढ़ाना। २. साहस बढ़ाना। ३. संसारकी गतिसे परिचय। ४. कल्पना-शक्ति बढ़ाना। ५. वैज्ञानिक आविष्कारोंसे लाभ और हानि बताना।

४. वर्णन

१. प्रकृति-प्रेम उत्पन्न करना ।
२. वर्णन तथा भाषा-शैलियोंका ज्ञान ।
३. ज्ञान-वृद्धि ।
४. कल्पना शक्तिको उद्दीप्त करना ।

५. विचारात्मक निबंध

१. तर्क-शक्ति तथा विवेचनात्मक बुद्धिका विकास करना ।
२. चरित्र-निर्माणमें योग देना ।
३. भाव व्यक्त करनेकी विविध शैलियोंका ज्ञान कराना ।

६. प्राकृतिक विषय

१. अपने चारों ओरके जीवोंसे प्रेम और सद्भाव उत्पन्न करना ।
२. विश्व-बन्धुत्वकी भावना बढ़ाना ।
३. परमेश्वरकी महत्ताका प्रत्यक्ष ज्ञान कराना ।
४. अन्य जीवोंसे मानव-जीवनका अविच्छेद्य सम्बन्ध दिखलाना ।

७. पत्र

१. सामाजिक जीवनमें कुशलता, आचार तथा शील सिखाना ।
२. व्यवहार कुशलता सिखाना ।

८. मनुष्य-जीवन

१. मानव-समाजका तुलनात्मक ज्ञान देना ।
२विश्व -बन्धुत्वकी भावना बढ़ाना ।
३. दूसरोंके गुण लेकर अपने दोष हटाना ।
४. ज्ञान-संचय करना ।
५. कल्पना-शक्तिको उद्दीप्त करना ।

६. समीक्षा
- १. निर्णायिका शक्तिको दृढ करना।
- २. समीक्षा-शक्ति बढाना।
- ३. गुण-दोषका निष्पक्ष विवेचन करके गुणका प्रचार करना।
- ४. तर्क और विवेकको साधना करना।

गद्य-शिक्षण पद्धति

हरबार्टीय पंचाङ्ग-पदीके अनुसार प्रत्येक नये पाठमें पाँच प्रक्रियाएँ होनी चाहिएँ—

१. प्रस्तावना, (इण्ट्रोडक्शन), २. विषय-प्रवेश (प्रेज़ेण्टेशन), ३. आत्मीकरण (एसिमिलेशन) अथवा तुलना (कम्पैरिज़न), ४. सिद्धान्त-निरूपण (जनरलाइज़ेशन), और ५. प्रयोग (एप्लिकेशन)।

१. पाठ आरम्भ करनेसे पूर्व प्रस्तावनाके लिये ऐसे एक या दो प्रश्न किए जायँ, चित्र या पदार्थ दिखाए जायँ, कथा कही जाय अथवा कोई ऐसा साधन उपस्थित किया जाय कि बालकोंका मन पिछले घण्टेमें पढ़े हुए पाठ्य-विषय तथा अन्य बाह्य विचारोंसे हटकर प्रस्तुत पाठ्य-विषयकी ओर एकाग्र हो। किन्तु ऐसे प्रश्न या ऐसी बात न की जाय जो पाठमें आगे चलकर पढ़ानी हो। यदि हमें 'ताजमहल' का पाठ पढ़ाना हो तो हम प्रस्तावनामें निम्नलिखित साधनोंका प्रयोग कर सकते हैं—

क. ताजमहलका चित्र या उसकी प्रतिमूर्त्ति दिखलाकर।

ख. प्रश्न-द्वारा।

भारतका सबसे सुन्दर भवन कौन सा है? (यहाँ हम यह नहीं पूछ सकते कि ताजमहल किसने, कब, क्यों या कहाँ बनवाया, क्योंकि यह बात तो बालकोंको पाठमें पढ़नी ही है।)

ग. श्यामपट्टपर मानचित्र खींचकर।

घ. इतिहाससे शाहजहाँका जीवनवृत्त पढ़कर, सुनाकर या बालकोंसे कहलवाकर।

ङ. ताजमहल-सम्बन्धी कविता सुनाकर।

२. विषय-प्रवेशके समय मुख्य पाठ्य-विषयको भावके अनुसार अन्वितियों (भागों) में बाँट लिया जाय और एक-एक अन्विति बालकोंके सामने निम्नलिखित क्रमसे प्रस्तुत की जाय—

क. सस्वर वाचन अथवा ऊँची कक्षाओंमें सरल पाठका मौन वाचन।

ख. एक-एक अन्वितिपर भाव-परीक्षक प्रश्न।

सस्वर वाचन

पहले अध्यापकको स्वयं आदर्श सस्वर वाचन करना चाहिए। तदनन्तर छात्रोंसे अलग-अलग पढ़वाना चाहिए। उचित आवश्यक सोद्देश्य और ललित अङ्ग-सञ्चालन तथा स्वरके उतार-चढ़ावके साथ वाचन ऐसा भावपूर्ण हो कि पाठ्य-विषयके भाव स्पष्ट हो जायँ। वाचनपर पाठकी आधी सफलता अवलम्बित होती है। प्रारम्भिक कक्षाओंसे लेकर माध्यमिक कक्षाओंतक सस्वर वाचन-द्वारा प्रारम्भिक कक्षाओंमें ही छात्रों को भावपूर्वक बाँचना सिखा देना चाहिए।

मौन वाचन

कक्षामें जिस समय एक विद्यार्थी सस्वर वाचन करता है, उस समय शेष विद्यार्थी अपनी पोथियोंमें दृष्टि गड़ाए रहते हैं। किन्तु वे ध्यानपूर्वक पढ़ते भी हैं या नहीं इसका निर्णय नहीं हो पाता। अतः, ऊँची कक्षाओंमें ही स्वतः पढ़नेको अर्थात् वाणीके बदले नेत्रोंसे पढ़नेको, मौन वाचन करनेको कहा जाय तो अधिक लाभ होगा। इस प्रणालीसे समयकी बचत होती है क्योंकि उच्चारण, स्वर, स्वराघात इत्यादि ठीक करानेमें जो समय लगता है वह इसमें नहीं लगेगा। ज्योंही छात्र एक अन्विति या एक अंश पढ़ लें त्योंही उनसे प्रश्न पूछना आरम्भ कर देना चाहिए। इस प्रणालीसे समय तो अवश्य बचता है किन्तु सस्वर वाचनसे भावोंका जो स्पष्टीकरण हो जाता है वह इससे नहीं हो पाता। अतः, मौन वाचनका प्रयोग माध्यमिक कक्षाओंसे ऊपर ही करना चाहिए क्योंकि उस समयतक विद्यार्थी शुद्ध उच्चारणमें अभ्यस्त हो चुकते हैं।

पाठ समाप्त होनेके उपरान्त एक या दो प्रश्न करके भाव-परीक्षा भी कर लेनी चाहिए कि पठित अंशके भाव छात्र समझ भी पाए हैं या नहीं।

३. आत्मीकरणमें विद्यार्थीके अनुभूत अथवा सञ्चित ज्ञानसे पाठ्य-ज्ञानकी तुलना कराकर उसे अपनानेमें सहायता देनेके लिये पाठ्य-विषयकी विस्तृत व्याख्या तथा उसका विचार-विश्लेषण किया जाता है। कुछ विद्वानोंका कथन है कि कठिन शब्दों तथा वाक्योंका अर्थ छात्रोंकी सहायतासे पहले ही श्यामपट्टपर लिख दिया जाय और उसके पश्चात् पाठ चले। किन्तु यह प्रणाली इसलिये निरर्थक और त्याज्य है कि मूल पाठको छोड़कर बे-सिर-पैरके शब्द और वाक्य क्यों श्यामपट्टपर लिखे जायँ। फिर, पहलेसे यह कल्पना कैसे की जा सकती है कि अमुक शब्द या वाक्य छात्र नहीं जानते होंगे। अतः, उचित यही है कि जैसे-जैसे बाधा या कठिनता उपस्थित हो वैसे-वैसे उसका निराकरण भी किया जाय। विस्तृत व्याख्यामें निम्नलिखित विधियोंके द्वारा कठिन शब्दों, उक्तियों, वाक्यों तथा भावोंका स्पष्टीकरण किया जाय जिससे विद्यार्थी अपने सञ्चित ज्ञानके आधारपर नवीन ज्ञान अपनाते चलें —

१. वस्तु प्रस्तुत करके : जैसे कलम, आम, अञ्जीर इत्यादि।

२. चित्र, मानचित्र, मूर्त्ति अथवा प्रतिमूर्ति प्रस्तुत करके जैसे शिवाजी, भारत, बुद्ध अथवा ताजमहल आदिकी।

३. श्यामपट्टपर रेखाचित्र बनाकर : जैसे त्रिकोण, वृत्त, वीणा, कंगारू इत्यादि।

४. प्रश्नों-द्वारा।

५. तुलना-द्वारा : जैसे, गौ सौम्य जानवर है, सिंह भयानक।

६. उदाहरण-द्वारा : जैसे 'परोपकार' शब्दका अर्थ समझानेके लिये रानाडे या मालवीयजीका उदाहरण देना।

७. आधार-द्वारा : जैसे 'बलि-बामनको ब्यौंत सुनि' पढ़ानेके लिये वामनावतारकी कथाका आधार बताना।

८. अर्थ द्वारा : जैसे उन्मत्त = पागल या मतवाला।

९. सन्धि-समास तोड़कर : जैसे रावणारि = रावण + अरि अर्थात् रावणके शत्रु राम।

१०. व्याख्या द्वारा : जैसे 'आज गांडीव सो गया है' इसमें आजकी दशा और अर्जुनके गांडीवके समयकी दशा दिखलाकर अर्थ समझाना कि हम शक्तिहीन हो गए हैं।

११. प्रयोग-द्वारा : जैसे केमरामें चित्र लेनेकी क्रिया दिखलाकर आँखका पाठ पढ़ाना।

१२. कल्पनाको उद्बोधित करके : जैसे वायुयान-द्वारा प्रयागके गङ्गा-यमुना-सङ्गमके दृश्यकी कल्पना कराना।

१३. अभिनय अथवा अङ्ग-सञ्चालन-द्वारा : जैसे नयन रिसौहैं, चकित होना इत्यादिका अभिनय करके।

१४. वाक्य-विच्छेद करके : गुम्फित वाक्यको कई वाक्योंमें बाँटकर स्पष्ट करना।

१५. कथा-द्वारा : जैसे 'भारतकी तपस्या तो पार्वती-तपस्या हो गई थी।' इस वाक्यको स्पष्ट करनेके लिये पार्वतीजीकी कठोर तपस्याका विवरण देना।

किन्तु स्मरण रखना चाहिए कि—

(क) कक्षामें जीवित जानवर—बन्दर, बिल्ली, साँप, चूहा आदि—प्राप्य होनेपर भी नहीं लाने चाहिएँ क्योंकि वे या तो विद्यार्थियोंको डरा देंगे या इतना विनोद उत्पन्न कर देंगे कि छात्रोंका मन उन्हीमें लग जायगा, वे पढ़ न सकेंगे।

(ख) अङ्ग-सञ्चालन तथा अभिनय ललित, उचित, सोद्देश्य तथा आवश्यक होना चाहिए। असुन्दर, अनुचित तथा अनावश्यक अङ्ग-सञ्चालन तथा अभिनय नही करना चाहिएँ जैसे खुजलाना, थिरकना, उँगली चमकाना, ठठाकर हँसना इत्यादि।

(ग) बन्दूक, विस्फोट-सामग्री, विष इत्यादि भयानक वस्तुओंका प्रयोग या प्रदर्शन कक्षामें नहीं करना चाहिए।

(घ) प्रश्न सरल हों, सुबोध हों, कल्पनाको जगानेवाले हों, विचार-विवर्द्धक हों, स्पष्ट हों और मधुरताके साथ पूछे जायँ ।

अन्य मौखिक विधियाँ

कुछ लोग प्रारम्भिक कक्षाओंमें विस्तृत व्याख्या करते समय मौखिक प्रणालीकी कुछ अन्य विधियोंका भी प्रयोग करते हैं जैसे—व्यवस्था-विधि, प्रश्नोत्तरविधि, संवाद-विधि, तर्क-विधि तथा व्याख्यान-विधि । १. व्यवस्था-विधिमें अध्यापक सब बातें स्वयं कहता चलता है और छात्र गूँगे बैठे रहते हैं। यह स्पष्टतः अवैज्ञानिक तथा त्याज्य विधि है । २. प्रश्नोत्तर-विधिसे कक्षामें चहल-पहल रहती है, छात्रोंमें एकाग्रता बनी रहती है और उनकी उत्सुकता भी बढ़ती है । ३. संवाद-विधिमें विद्यार्थी ही अपने अध्यापकसे प्रश्न पूछते हैं, शङ्का-समाधान करते हैं, जिज्ञासा करते हैं अथवा परस्पर संवाद-द्वारा विवादग्रस्त विषयका निर्णय करते हैं । ४. तर्क-विधिमें तर्क, प्रमाण तथा युक्तियोंका सहारा लिया जाता है । यह विधि प्रायः ऐसे विषयोंके लिये प्रयुक्त होती है जिनके सम्बन्धमें दोनों पक्षोंकी ओरसे बहुत कुछ कहा जा सकता हो । इस विधिका प्रयोग करते समय अध्यापकको केवल एक ही पक्षका समर्थन नहीं करना चाहिए वरन् दोनों पक्षोंका विवरण देना चाहिए । ५. व्याख्यान-विधि वही है जो हमारे यहाँ विश्वविद्यालयोंमें काममें लाई जाती है । इसमें अध्यापक एक तटस्थ व्यक्तिके समान आता है और प्रस्तुत विषयपर व्याख्यान देकर चला जाता है चाहे उसे किसीने सुना-समझा भी हो या न हो ।

विचार-विश्लेषण

विस्तृत व्याख्या कर चुकनेपर कुछ ऐसे सरल, स्पष्ट और क्रमिक प्रश्न पूछने चाहिएँ जिनके-द्वारा छात्रोंसे पठित अंशका पूरा ब्यौरा निकलवा लिया जा सके । इस क्रमको विचार-विश्लेषण कहते हैं ।

सिद्धान्त-निरूपण

सिद्धान्त-निरूपणकी दो अवस्थाएँ होती हैं । यदि नवीन ज्ञान देनेका

उद्देश्य कोई सिद्धान्त या नियम सिखाना हो तो विस्तृत व्याख्या तथा विचार-विश्लेषण करनेके उपरान्त छात्रोंसे ही नियम या सिद्धान्त निकलवा लेना चाहिए। यदि पाठका उद्देश्य सिद्धान्त या नियम सिखाना न हो तो पढ़ाए हुए पाठकी आवृत्ति कराकर उसे पक्का करा देना चाहिए। भाषाकी शिक्षा देते समय तो पुनरावृत्ति ही करानी चाहिए किन्तु व्याकरण, रस, अलङ्कार, पिङ्गल, आदिकी शिक्षामें सिद्धान्त-निरूपण ही करना चाहिए। इसी भेदके कारण इस पदको शुद्ध सिद्धान्त-निरूपण न कहकर पुनरावृत्ति ही कहते हैं।

प्रयोग

नवीन ज्ञान दृढ हो जानेपर अभ्यासार्थ ऐसी समस्याएँ, ऐसे प्रश्न अथवा कार्य देने चाहिएँ जिससे बालक सीखे हुए ज्ञानका प्रयोग कर सकें, क्योंकि यदि सीखी हुई विद्याको स्वतन्त्र प्रयोगका अवसर न मिले तो वह लुप्त हो जाती है। यह प्रयोग या तो कक्षामें ही करा दिया जाय अन्यथा घरसे पूरा करके लानेके लिये दे दिया जाय।

पाठ-सूत्र

गद्य-पाठका पाठ-सूत्र इस प्रकार बनाना चाहिए—

कक्षा : तिथि :

विषय अथवा पाठ : (पाठका शीर्षक)

पाठ्य-सामग्री (कितना अंश पढ़ाया जायगा)

मुख्य उद्देश्य :

पाठन-प्रणाली :

प्रस्तावना : (प्रश्न दिए जायँ अथवा जिन साधनोंका प्रयोग किया जाय उनका स्पष्ट उल्लेख हो)

विषय-प्रवेश —

(१) सस्वर पाठ { (क) अध्यापक-द्वारा। (ख) छात्रों द्वारा।

अथवा मौन पाठ (छात्रों द्वारा)

(२) बोध-परीक्षा (प्रश्नोंका उल्लेख हो)

आत्मीकरण : { (क) विस्तृत व्याख्या
(ख) विचार-विश्लेषण

पुनरावृत्ति :

प्रयोग :

पुस्तकके अन्तमें एक गद्य-पाठ देकर उसे पढ़ानेका क्रम, उसकी प्रणाली तथा विधियोंका पूरा परिचय दे दिया जाय जिससे अध्यापकोंको पूरा क्रम समझनेमें सुविधा हो।

पद्य-शिक्षा

पद्यात्मक रचना या कविता और गद्यकी शिक्षामें बड़ा अन्तर होता है। गद्य तो बुद्धिको समृद्ध करता है किन्तु कविता हृदयको बल देती है। छन्दोबद्ध तथा नियमित गतिमें बँधी होनेके कारण कविता तालपर चलती है। तालपर सधी होनेसे वह रागमय हो जाती है और रागमय होनेके कारण वह अत्यन्त वेगसे हृदयतक पहुँचती है। इसीलिये शताब्दियोंसे हमारा सम्पूर्ण सञ्चित ज्ञान पद्यमय तथा कवितामय बना रहा। उसके संक्षिप्त स्वरूपने भी मानव-हृदयको सदा अपनी ओर आकृष्ट किए रक्खा। इसीलिये शिक्षा-शास्त्रियोंने कविताकी शिक्षण-पद्धतिका विधान गद्य-शिक्षण-पद्धतिसे अलग किया है।

कविता-शिक्षणके उद्देश्य

पद्य तथा कविता शिक्षणके निम्नांकित उद्देश्य हैं—

१. लय, ताल और भावके अनुसार कविता-पाठ कराना।

२. कवितामें रुचि बढ़ाना।

३. उदात्त भावोंका संवर्धन करना।

४. कविताका भाव समझाने और अपने शब्दोंमें उसकी व्याख्या करने योग्य बनाना।

५. सौन्दर्यानुभूति बढ़ाना।

६. काव्य-रचना करनेके लिये उत्साहित करना।

७. काव्य-शैलियोंसे परिचित कराना ।

८. कल्पनाशक्ति बढ़ाना ।

९. रस और भावका आनन्द लेनेका सामर्थ्य उत्पन्न करना ।

१०. काव्य-भाषाका (शब्द और अर्थका) सौन्दर्य परखवाना ।

कविता-शिक्षण-प्रणालियाँ

इन उद्देश्योंको दृष्टिमें रखकर कविता पढ़ानेकी निम्नांकित प्रणालियाँ प्रचलित हैं—

१. गीत तथा अभिनय-प्रणाली ।

२. अर्थ-बोध-प्रणाली ।

३. व्याख्या-प्रणाली ।

४. खण्डान्वय-प्रणाली ।

५. व्यास-प्रणाली ।

६. तुलना-प्रणाली ।

७. समीक्षा-प्रणाली ।

गीत तथा अभिनय-प्रणाली उन बालगीतोंके लिये प्रयोगमें लानी चाहिए जो प्रारम्भिक कक्षाओंके बच्चोंको पढ़ाए जाते हैं । इन गीतोंमें अर्थका उतना महत्त्व नहीं होता जितना उसके सङ्गीत-तत्त्वका होता है । इसलिये इनका उद्देश्य केवल बालकोंको सस्वर बनाना, तालमें लाना और उन्हें सङ्गीतसे परिचित कराना ही होता है ।

गीत-प्रणाली

गीत-प्रणालीकी विधि यह है कि कक्षाके बच्चोंको खड़ा करके हाथसे ताल दिलाते हुए किसी सरल रागमें पद्य गवाना चाहिए । यदि ऐसी रचनाओंमें कहीं विशेष ध्वनियाँ आती हों तो वे ही ध्वनियाँ प्रयत्न करके कहलानी चाहिएँ ।

अभिनय-प्रणाली

गीतोंकी शिक्षा देते समय विद्यार्थियोंको पंक्तिमें खड़ा करके पहले तो

सबसे शब्द, वाक्य या भावके अनुसार अभिनय कराना चाहिए और फिर उस पद्यमें आए हुए चरित्रोंके अनुसार पात्र निश्चय करके उनसे गीतका भाग पृथक्-पृथक् गवाकर कहलाना चाहिए।

जब सामूहिक अभिनय-द्वारा एक साथ ठीक अभिनय आ जाय तो फिर अलग-अलग अभिनय कराना चाहिए। इस प्रकारके अभ्यास-द्वारा पद्यमें बालकोंकी अभिरुचि होने लगती है, उनमें फुर्ती आती है, पद्य कण्ठाग्र हो जाता है, स्मृति बढ़ती है, उचित अंग-सञ्चालनके द्वारा भाव व्यक्त करनेकी विधि आ जाती है, पाठ तनिक भी भारी नहीं लगता, सब ज्ञान खेलके द्वारा ही प्राप्त हो जाता है। ऐसे बाल-गीतोंका शब्दार्थ सिखानेकी आवश्यकता नहीं होती।

अर्थबोध-प्रणाली

अर्थबोध-प्रणालीमें अध्यापक किसी छात्रसे कोई पद्य पढ़वाते हैं और स्वयं उसका अर्थ कह देते हैं या कभी-कभी छात्रसे ही अर्थ कहलवा लेते हैं। यह प्रणाली दूषित है। इसका प्रयोग कभी नहीं करना चाहिए।

व्याख्या-प्रणाली

व्याख्या-प्रणालीमें पाठका एक पद लेकर, उसका अर्थ बताते हुए उसकी रचना-शैली, परिस्थिति, कविकी रुचि, उद्देश्य आदिकी व्याख्या करके पदका अर्थ स्पष्ट किया जाता है। यदि पदका सम्बन्ध किसी ऐतिहासिक घटनासे हो तो उस घटनाका भी ज्ञान करा दिया जाता है।

खण्डान्वय-प्रणाली

खण्डान्वय-प्रणाली वही है जिसे गद्य-शिक्षणमें हम ठेठ प्रश्नोत्तर-प्रणाली कह आए हैं। यह प्रणाली उन पद्योंके पढ़ानेमें काम आती है जहाँ विशेषणोंकी विशेषता हो, भावोंकी भीड़ हो, घटनाओंकी घटा हो और एक-एक बात अलगाए बिना अर्थ स्पष्ट करनेमें बाधा आती हो।

यह प्रणाली सब स्थानोंपर तथा सब प्रकारके पद्यों तथा कविताओंके शिक्षणके काममें नहीं लाई जा सकती। प्राय: वर्णनात्मक तथा इतिवृत्तात्मक पद्य ही इस प्रणालीसे पढ़ाए जा सकते हैं।

व्यास-प्रणाली

व्यास-प्रणाली मुख्यतः उच्च श्रेणीको भाव-प्रधान कविताएँ पढानेके लिये ही प्रयोगमें लाई जाती हैं। इस प्रणालीमें अध्यापक वही स्थान ग्रहण करता है जो कथाओंमें व्यास ग्रहण करते हैं। इस प्रणालीमें एक पद लेकर उसे दो दृष्टियोंसे परखा जाता है—१. भाषाकी दृष्टिसे, २. भावकी दृष्टिसे। भाषाकी दृष्टिसे विचार करते समय एक-एक शब्दका महत्त्व, उसकी उपादेयता उसके स्थानपर दूसरा शब्द प्रयोग करनेसे दोष, श्रुति-मधुरता, शब्दका बल, वाक्य-विन्यासके विशेष प्रभाव आदिकी व्याख्या की जाती है। भावकी दृष्टिसे विचार करते समय समान भाववाली अन्य कवियोंकी रचनाओंसे प्रस्तुत पदकी तुलना की जाती है। उसकी व्याख्या करते समय बाहरसे उदाहरण, दृष्टान्त, सूक्ति तथा कथा दे देकर उस पदका भाव ऐसे प्रभावोत्पादक ढङ्गसे स्पष्ट कर दिया जाता है कि श्रोता तन्मय हो जायँ। इस प्रणालीसे पढ़ानेवाले अध्यापकको हिन्दी, उर्दू, संस्कृत तथा इतिहास आदि विषयोंका विस्तृत ज्ञान होना चाहिए तभी वह इस प्रणालीसे पढ़ानेमें सफलता पा सकता है। उसे ऐसा कुशल अभिनेता होना चाहिए कि वह भावोंकी व्याख्या करते समय उन्हीं भावोंमें कभी तो अपनेको डुबाता-उतराता चले, कभी करुणाके प्रसङ्गमें अश्रुधारा बरसाता चले, कभी हास्यके समय श्रोताओंको हँसाता चले, कभी वीर रसके प्रसङ्गमें गम्भीर वाणी, फड़कते नासापुट, चढ़ी हुई भौंह तथा हाथोंके संचालनसे ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करता चले कि श्रोताओंमें उत्साह भर जाय और उनकी भुजाएँ फड़कने लगें।

इस प्रणालीमें सब काम अध्यापक करता है, विद्यार्थी चुपचाप सुनते हैं। उनके हृदयपर अध्यापककी वाणीका जो प्रभाव पड़ता है वह उनकी भाव भङ्गी, आँखोंके उल्लास आदिसे व्यक्त होता रहता है। भावात्मक कविताओंकी शिक्षामें इसी प्रणालीका प्रयोग करना चाहिए।

तुलना-प्रणाली

तुलना-प्रणाली और तुलना-विधिमें अन्तर है। तुलना विधि तो किसी एक शब्द या वाक्यका समानार्थी या विरोधार्थी शब्द या वाक्य देकर उसका

अर्थ स्पष्ट करनेमें प्रयोग की जाती है किन्तु तुलना-प्रणाली तो पद्य या कविता पढ़ानेकी एक भिन्न प्रणाली ही है। प्रायः देखनेमें आता है कि एक ही कवि अपने बनाए हुए विभिन्न काव्योंमें कई प्रसङ्ग, कई उद्देश्यों, प्रकारों या भावोंसे कहता है या कई कवि एक ही भावको कई प्रकारोंसे कहते हैं। ऐसे भावों या वर्णनोंको तुलनात्मक प्रणालीसे पढ़ाना चाहिए। इससे एक पन्थ दो काज होता है, विद्यार्थीकी विवेचना-बुद्धि बढ़ती है, उसके ज्ञानका विस्तार होता है और कविके उद्देश्यों, कविताके भिन्न स्वरूपों तथा एक भावको कई प्रकारसे व्यक्त करनेकी कई शैलियोंका परिज्ञान हो जाता है।

समीक्षा-प्रणाली

७. समीक्षा-प्रणालीमें काव्यकी समीक्षाके सिद्धान्त बतला दिए जाते हैं, सहायक पुस्तकोंके नाम दे दिए जाते हैं और उनके अनुसार विद्यार्थी समष्टि रूपसे एक कविकी रचनाओंकी अथवा उसकी किसी कविताकी समीक्षा करते हैं, उसकी भाषा-शैली और भाव-व्यञ्जना-शैलीकी विशेषताओंका अध्ययन करते हैं और उसका रस या आनन्द लेते हैं। इसमें प्रश्नोत्तर-विधि तथा तुलना विधिका आश्रय लेकर अध्यापक भी कक्षामें समीक्षा करा सकता है। यह प्रणाली ऊँची कक्षाओंमें ही प्रयोगमें लानी चाहिए जब विद्यार्थियोंको समीक्षाके सिद्धान्तोंका पर्याप्त परिचय मिल चुका हो।

कविताका पाठन-क्रम

कविताका पाठन-क्रम इस प्रकार होना चाहिए—

१. प्रस्तावना : यदि केवल पद्य हो तो उसके विषयका परिचय उसी प्रकार दिया जाय जिस प्रकार गद्यके किसी पाठका दिया जाता है। प्रबन्ध-काव्य अथवा मुक्तक कविता हो तो कविका सामान्य परिचय, उसकी शैली, उसके सिद्धान्त, उद्देश्य तथा उसकी विशेषताओंका संक्षिप्त परिचय देना चाहिए। यदि प्रबन्ध-काव्यका क्रम चल रहा हो तो पिछले प्रसङ्गकी आवृत्ति करके नये प्रसङ्गसे जोड़ देना चाहिए।

२. विषय-प्रवेश : परिचयके पश्चात् अध्यापकको एक दिनके पढ़ाने योग्य

पूरी कविताका लयसहित (रागसहित नहीं) तथा भावयुक्त सस्वर पाठ करना चाहिए। वाणीके उतार-चढ़ाव तथा भाव-प्रदर्शन-द्वारा कविता-पाठ ऐसा सजीव करना चाहिए कि उसका अर्थ पढ़ते समय ही प्रकट हो जाय। कविता-पाठके समय विद्यार्थी अपने अध्यापककी ओर देखें पुस्तककी ओर नहीं। जब अध्यापक पढ चुके तब एक या दो सुरीले स्वरवाले विद्यार्थियोंसे अलग-अलग पढवाना चाहिए। नीची कक्षाओंमें अध्यापकको चाहिए कि एक-एक पंक्ति स्वयं पढ़कर पूरी कक्षासे उसकी सस्वर पुनरावृत्ति करा ले।

३. आत्मीकरण : सस्वर पढ़ाना समाप्त होनेके पश्चात् शिक्षण-विधियोंके द्वारा विस्तृत व्याख्या करनी चाहिए किन्तु कविताके पाठमें चित्र आदिका प्रदर्शन और व्याकरण-सम्बन्धी विवेचन तनिक भी नहीं करना चाहिए।

४. पुनरावृत्ति : पठित अंशका भाव विद्यार्थियोसे अलग-अलग कहला लेना चाहिए, फिर सस्वर पाठ कराना चाहिए।

५. प्रयोग : प्रस्तुत कविता तथा पाठन-कालमें प्रयुक्त तथा उदाहरण-स्वरूप दी हुई सूक्तियों तथा कविताओंको कण्ठाग्र करनेके लिये आदेश देना चाहिए या उसी भावकी अन्य रचनाओंके साथ उसकी तुलना करा लेनी चाहिए।

कविता पढ़ाते समय—

१. बेसुरे बालकोंसे कविता नहीं पढवानी चाहिए और यदि अध्यापक स्वयं बेसुरा हो तो उसे भी स्वयं आदर्श पाठ न करके सुरीले बालकोंसे कराना चाहिए।

२. श्यामपट्टका प्रयोग यथासम्भव कम करना चाहिए।

३. प्रश्नोत्तर-विधिका कमसे कम प्रयोग करना चाहिए।

नाटक पानेढ़के उद्देश्य तथा उसकी शिक्षण-विधि

महामुनि नाट्याचार्य भरतके मतानुसार अवस्थाओंके अनुकरणको नाटक कहते हैं। अवस्थासे तात्पर्य है लोक-जीवनकी वे विभिन्न परिस्थितियाँ जिनमेंसे होकर मनुष्यको अपनी नौका खेनी पड़ती है। मनुष्य ही क्यों?

इस विश्वभरके विभिन्न लोकोंमें रहनेवाले देव, दनुज, यक्ष, गन्धर्व, किन्नर, भूत, प्रेत, पिशाच, राक्षस आदि जितनी भी योनियाँ हैं, जितने भी जीव हैं या थे, या आगे हो सकते हैं या कल्पित किए जा सकते हैं उन सबके वास्तविक या कल्पित जीवनका व्यवस्थित तथा नियमित अनुकरण ही नाटक कहलाता है। हम जो नहीं है वही बनकर जब हम अपनी वेश-भूषा, वाणी और आचरणसे दर्शकोंको अपनी आरोपित अवस्थाका विश्वास दिला देते हैं और जब वे अवास्तविकको वास्तविक समझने लगते हैं, तभी हमारा अभिनय या नाटक सफल माना जाता है। दर्शकको केवल धोखेमें डालने मात्रसे नाट्यकलाके उद्देश्यकी पूर्त्ति नहीं होती। नाट्यकलाकी चरम सफलता तब है जब दर्शकका धोखा विश्वास बन जाय।

नाटक पढ़ानेके उद्देश्य

विद्यालयोंमें नाटक पढ़ानेके तीन उद्देश्य हैं—

१. अवसरके अनुकूल आचरण करना सिखाना।

२. मानव-स्वभाव और मानव-चरित्रका अध्ययन कराना।

३. सम्यक् रीतिसे उच्चारण करने, बोलने, अभिनय करने तथा भावोंको व्यक्त करनेकी कलाका ज्ञान कराना।

तीनों उद्देश्योंकी पूर्तिसे विद्यार्थियोंको पाँच लाभ होते हैं—

१. उनका भाषा-ज्ञान बढ़ता है और इस बातका ज्ञान हो जाता है कि किस अवसरपर, किस पद तथा मर्यादावाले व्यक्तिसे किस परिस्थितिमें, किस प्रकारकी बातें करनेसे कैसा प्रभाव उत्पन्न किया जा सकता है। नाटकमें जीवनकी सभी परिस्थितियोंका अनुकरण होता है। अतः, विद्यार्थी नाटकसे यह ज्ञान प्राप्त कर लेता है कि किस प्रकारका सम्भाषण विपत्तिमें डाल सकता है और किस प्रकारका भाषण कार्य सिद्ध कर सकता है। माँ, बाप भाई तथा परिवारके लोगोंसे बात करते समय हम जैसे अनुकरण द्वारा शब्द सीखते हैं वैसे ही हम राजा, महाराजा, उच्च पदाधिकारी तथा अन्य लोगोंके लिये प्रयुक्त किए जानेवाले शब्द और ढङ्ग भी नाटकसे सीख लेते हैं। विकासोन्मुख भाषा होनेके कारण हिन्दीमें अभी इस प्रकारके सम्बोधन

निश्चित नहीं हुए हैं पर संस्कृत-जैसी पूर्ण भाषाओंमें निर्देशक, निर्दिष्ट और निर्देश-वचन सुनिश्चित हैं जैसे—मुनि, सखी, दासी, चेटीके लिये क्रमशः भगवन्, हला, हंजे, हंडे आदि।

२. नाटकके द्वारा छात्रोंको लौकिक और घरेलू आचार-व्यवहारकी भी सम्यक शिक्षा मिल जाती है। राजसभाके दृश्यसे वे यह सीखते हैं कि ऐसे स्थलोंपर किस प्रकार शील-व्यवहार बरतना चाहिए। नाटकोंमें हम इस प्रकारके विशेष दृश्योंकी अवतारणा करके सभा-समिति-विषयक अनुशासनकी शिक्षा भी भली-भाँति दे सकते हैं। हमारे देशमें प्रतिवर्ष रामलीला होती है जिसे करोड़ों स्त्री-पुरुष, बालक-वृद्ध और धनी-निर्धन देखते हैं और निःसन्देह उनमेंसे अनेक व्यक्ति घरेलू आचार-व्यवहारकी ऐसी आदर्श शिक्षा पाते हैं जिसके संस्कारसे अभीतक हिन्दू घरोंमें सीता, राम, लक्ष्मण और भरतकी कमी नहीं है।

३. नाटकों-द्वारा छात्र यह व्यवहार-कुशलता भी सीखते हैं कि किसी गम्भीर परिस्थितिका किस प्रकार सामना करनेके साधन जुटाने चाहिएँ।

४. नाटकमें विभिन्न प्रकारके मनुष्योंकी गतिविधि देखकर तथा उनका अध्ययन करके विद्यार्थी अपने समाजके मनुष्योंको पहचानने लगते हैं। उन्हें ज्ञान हो जाता है कि कुटिल व्यक्तियोंसे किस प्रकार अपनी तथा समाजकी रक्षा करनी चाहिए तथा शिष्ट पुरुषोंसे किस प्रकार सम्पर्क बढ़ाना चाहिए।

५. नाटककी शिक्षासे छात्र सार्वजनिक वक्ता तथा सार्वजनिक जीवनमें सफल बन सकते हैं। इससे उन्हें यह शक्ति मिल जाती है कि वे जब चाहें जनसमूहको हँसा दें, जब चाहें रुला दें।

नाटककी पाठन-प्रणाली

नाटक पढ़ानेकी चार रीतियाँ हैं—

१. प्रयोग-प्रणाली : नियमित रूपसे रङ्गमञ्चपर अभिनय-प्रयोग-द्वारा नाटकका दृश्य ज्ञान कराया जाय।

२. आदर्श नाट्य-प्रणाली : नाटकके सभी पात्रोंका वाचिक अभिनय अध्यापक स्वयं करे। वह इस प्रकार कक्षामें नाटक पढ़े कि प्रत्येक चरित्रकी वाणी तथा भावनाका आभास उसके वाचनसे मिलता जाय। अध्यापकको चाहिए कि शब्दोंका अर्थ न करके नाटक-गत संवादोंके उचित वाचिक तथा आंगिक अभिनयके द्वारा क्रोध, प्रेम, घृणा आदि भावोंका नाट्य करे।

३. कक्षाभिनय-प्रणाली : कक्षाके विद्यार्थियोंको नाटकमें आए हुए पात्रोंकी भूमिका दे दी जाय और जिस विद्यार्थीके लिये जिस पात्रकी भूमिका निर्धारित की गई हो वही उस पात्रके संवादको भावपूर्वक पढ़े तथा तदनुकूल वाचिक अभिनय करे।

४. व्याख्या-प्रणाली : कथावस्तुका निर्माण, चरित्र-चित्रण, विचारोंकी सुन्दरता, पात्रोंके चरित्रोंका विश्लेषण, भाषाके प्रयोग आदिपर प्रश्न करके नाटककी भाषा-गत, भावगत तथा शैलीगत विशेषताएँ बताई जायँ। दृश्यकी पुनरावृत्ति करते समय इन्हीं विषयोंपर प्रश्न भी किए जायँ।

नाटकका पाठन-क्रम

पाठ्य-ग्रन्थमें निर्धारित संवादों तथा नाटकोंको कक्षामें पढ़ानेके लिये एक घंटेमें एक अंक, एक दृश्य या एक ऐसा पूरा संवाद लिया जाय जो उतने समयमें पढ़ाया जा सके और उसे इस क्रमसे पढ़ाया जाय—

१. प्रस्तावना : यदि प्रयोग-प्रणालीसे नाटक पढ़ाना हो तब तो नाटक प्रस्तुत करना ही प्रस्तावना है अथवा जैसे नाटकके प्रारम्भमें नेपथ्यसे कथा-प्रसंगका परिचय दिया जाता है वैसे परिचय दे दिया जाय या जैसे प्राचीन नाटकोंमें सूत्रधार-नटीके संवादके रूपमें पूर्वरंग प्रस्तावना होती थी वैसे ही प्रस्तावनामें नाटककारका, नाटककी कथावस्तुके प्रसंगका तथा नाटकके अवसरका परिचय दे दिया जाय। किन्तु यदि आदर्श नाट्य-प्रणाली, कक्षाभिनय प्रणाली अथवा व्याख्या-प्रणालीसे नाटक पढ़ाना हो तब प्रस्तावना उसी प्रकार करनी चाहिए जिस प्रकार गद्य या कविता-पाठके प्रारम्भमें की जाती है।

२. विषय-प्रवेश : उस दिनके निर्दिष्ट पाठ्य अङ्क या दृश्यको इस प्रकार अध्यापक पढ़े मानो वह रङ्गमञ्चपर खड़ा हुआ सब पात्रोंके पाठ कह रहा हो। पढ़ते समय केवल वाचिक तथा सात्त्विक अभिनय तो हो अर्थात् वाणीके उतार-चढ़ावसे विभिन्न भाव तो प्रकट होते चलें किन्तु आंगिक अभिनय न हो, हाथ-पैर न चलें।

३. अनुकरण : कक्षाभिनय-प्रणालीसे कक्षाके विद्यार्थियोंमेंसे नाटकके पात्रोंकी संख्याके अनुसार छाँट लिया जाय और उन्हें भिन्न पात्रोंकी भूमिका देकर उनसे उन-उन पात्रोंके संवाद कहलाए जायँ या भाव-प्रकाशन-प्रणाली-द्वारा स्वयं अध्यापक ही पुस्तक लेकर या स्मृतिसे पूरे दृश्यका आंगिक, सात्त्विक तथा वाचिक अभिनय करे।

४. आवृत्ति : दृश्यका अभिनय हो चुकनेके पश्चात् अध्यापकको इस प्रकारके प्रश्न करने चाहिएँ जिनसे चरित्र-चित्रणकी मीमांसा हो, कथाके प्रसारका ज्ञान हो, कल्पनाशक्ति तथा विवेचना-शक्तिकी वृद्धि हो।

(अ) कौन-सा चरित्र अच्छा या बुरा है? क्यों? उसके गुण-अवगुण नाटककारने किस प्रकार प्रकट किए हैं?

(आ) किस पात्रकी बातें तुम्हें ठीक जँचती हैं? क्यों?

(इ) किस पात्रकी बातें रुचिकर प्रतीत होती हैं? क्यों?

(ई) इस दृश्यमें आई हुई घटनाओंका अमुक पात्र या पात्रों तथा कथापर क्या प्रभाव पड़ता है?

इसी अवस्थामें छात्रोंसे यह भी पूछा जा सकता है कि छोटों, बड़ों, राजाओं आदिसे किस प्रकार बातें करनी चाहिएँ अथवा अमुक परिस्थितिमें अमुक पात्रने, अमुक प्रकारका जो व्यवहार किया उसके बदले तुम होते तो क्या करते? उस दृश्यसे जो व्यावहारिक शिक्षा दी जा सके उसका स्पष्ट विधान करना चाहिए।

५. नाटक या संवादके विषयमें ज्ञातव्य ऐतिहासिक बातें, भाषाके दोष-गुण, नाटककारका परिचय अथवा अन्य विशेष बातें अन्तमें बतानी चाहिएँ, बीचमें लाकर नहीं डालनी चाहिएँ।

प्रसंगवश स्पष्ट होते चलते हैं और जो बच जाते हैं वे भी कथा-बोधमें रुकावट नहीं डाल पाते, क्योंकि वहाँ शब्द-भाण्डार बढ़ाना नहीं वरन् अर्थ ग्रहण करना ही उद्देश्य होता है। इस प्रकारकी पुस्तक या पाठ पढ़ाते समय मौन वाचनका विधान उचित, संगत तथा लाभकर हो सकता है क्योंकि इससे धीमी चालवालोंको सहारा मिल जाता है और तीव्रगतिसे पढ़नेवालेको सुन्दर सुयोग।

नागरी स्वयं इतनी शुद्ध तथा सरल भाषा है कि इसमें उच्चारण-सम्बन्धी भूलें अधिक हो नहीं सकतीं।

द्रुतवाचनकी शिक्षण-प्रक्रिया

द्रुतवाचनके शिक्षणमें निम्नलिखित क्रमका प्रयोग होना चाहिए—

प्रस्तावना : विषयका ऐसा परिचय दिया जाय कि छात्रोंको केवल विषयका नाम ही भर ज्ञात हो पावे, उसकी सामग्रीका बोध न हो।

२. आत्मीकरण—

क. वाचन : प्रारम्भिक कक्षाओंमें एक-एक अन्वितिका मौन या सस्वर वाचन और उच्च कक्षाओंमें पूरे पाठका मौन वाचन।

ख. बोध-परीक्षा : जब छात्र पढ़ चुकें तब छोटी कक्षाओंमें एक-एक अन्वितिके पाठपर प्रश्न करके उसका सारांश निकलवाना और ऊँची कक्षाओंमें प्रश्न करके पूरी कथा कहलवाना।

३. आवृत्ति : प्रश्नद्वारा छात्रोंसे पूरे पाठकी सामग्री कहलवाकर सूत्र-रूपमें श्यामपट्टपर लिख देना।

४. प्रयोग : दिए हुए सूत्रके अनुसार पढ़े हुए पाठको अपने शब्दोंमें किन्तु पाठकी ही शैलीमें लेखबद्ध करनेका आदेश दे देना।

द्रुतवाचनके विषय

द्रुतवाचनके लिये जो पुस्तकें हों उनमें निम्नलिखित प्रकारके पाठ होने चाहिएँ—

वर्णन, कहानियाँ, नाटक, पत्र, जीवनचरित, यात्रा, दिनचर्या, संवाद, आत्मकथा और रेखाचित्र।

विदेशी भाषाका शिक्षण

ऊपर मातृभाषाके शिक्षणके सम्बन्धमें जितना कुछ लिखा गया है वह सब अन्य भाषाओंके शिक्षणके सम्बन्धमें भी प्रयोग किया जा सकता है किन्तु विदेशी भाषाके शिक्षणकी प्रारम्भिक अवस्थाओंमें दो प्रणालियोंका प्रयोग किया जाता है—१. अनुवाद प्रणाली (ट्रांसलेशन मैथड), २. सहज-प्रणाली (डाइरैक्ट मैथड)। अनुवाद प्रणालीका तो सीधा अर्थ यही है कि विदेशी भाषाका कोई नया शब्द लिया जाय और उसका बालककी मातृभाषामें अनुवाद कर दिया जाय। किन्तु भाषाशास्त्री इस पद्धतिसे सहमत नहीं हैं। उनका मत है कि सहज पद्धति (डायरेक्ट मेथड) से ही नई भाषा पढानी चाहिए। सहज पद्धतिसे विदेशी भाषा पढ़ानेकी प्रणालीकी परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है—'सहज प्रणाली वह है जिसके द्वारा विदेशी भाषाका कोई नया शब्द या वाक्य सीधे प्रत्यक्ष रीतिसे छात्रके मस्तिष्कसे संबद्ध कर दिया जाय अर्थात् कोई वस्तु प्रत्यक्ष दिखाकर या उसका चित्र प्रस्तुत करके अथवा प्रत्यक्ष क्रियाके द्वारा किसी शब्दका भाव छात्रकी बुद्धिके प्रविष्ट करा दिया जाय और मातृभाषाका तनिक भी आश्रय न लिया यदि अँगरेज़ीका 'कैप' (टोपी) शब्द पढ़ाना हो तो टोपी दिखाकर और 'स्टैंड' (खड़ा होना) सिखाना हो तो खड़े होनेकी क्रिया दिखाकर उसका प्रत्यक्ष परिचय करा दिया जाय।

सहज-प्रणाली (डाइरेक्ट मेथड)

सहज प्रणालीसे केवल उन्हीं वस्तुओं और क्रियाओंका ज्ञान कराया जा सकता है जो प्रत्यक्ष प्रस्तुत की जा सकती हों। किसी वस्तु या क्रियाके बोधक विदेशी शब्दके बोले हुए रूपका और उस वस्तु या क्रियाका बार-बार प्रयोग और अभ्यास-द्वारा प्रत्यक्ष सम्पर्क स्थापित करा देना चाहिए। इतना हो चुकनेपर शब्दके उच्चरित रूप, शब्द द्वारा व्यक्त की हुई वस्तु या क्रिया तथा शब्दके लिखित रूपका पारस्परिक परिचय करा देना चाहिए। अर्थात् यदि अँगरेजीका 'कैप' (टोपी) शब्द पढ़ाना हो तो 'टोपी'

दिखलाकर बार बार 'कैप' शब्द दुहरवाकर यह संस्कार करा देना चाहिए कि टोपीको अँगरेजीमें 'कैप' कहते हैं और फिर श्यामपट्टपर 'CAP' लिखकर यह सम्पर्क करा देना चाहिए कि 'कैप' का लिखित रूप 'CAP' होता है। किन्तु सहज प्रणालीका यह अर्थ कदापि नहीं है कि मातृभाषाका प्रयोग तनिक भी न किया जाय। जहाँ आवश्यक हो वहाँ अवश्य किया जाय किन्तु कमसे कम किया जाय। जो विदेशी भाषा पढ़ानी हो, उसका अधिकसे अधिक प्रयोग अवश्य हो और 'बैठ जाओ' 'खड़े हो जाओ', 'इधर आओ' आदि आदेश सब उसी भाषामें अवश्य दिए जायँ किन्तु आवश्यकता पड़नेपर मातृभाषाका प्रयोग भी अवश्य किया जाय।

सहज-प्रणालीसे लाभ

सहज-प्रणालीसे सबसे बड़ा लाभ यह है कि छात्रोंको तत्काल विदेशी भाषा बोलना आ जानेसे स्वतः आनन्द आने लगता है और उन्हें स्वाभाविक सन्तोष तथा प्रोत्साहन मिलता है। इस प्रक्रियासे कक्षामें सजगता और सक्रियता बनी रहती है। भाषामें प्रवेश पानेका यह सबसे अधिक वेगशील मार्ग है क्योंकि इसके द्वारा कुछ ही समयमें बालकोंका विदेशी शब्द-भांडार बड़े वेगसे बढ़ चलता है। मुख्य बात यह है कि किसी भी भाषाका बोलना और समझना अभ्यासपर अवलंबित है और वह अभ्यास सहज-प्रणालीमें स्वभावतः होने ही लगता है क्योंकि पूरे पाठमें धुआँधार उसी भाषाका तो प्रयोग होता है।

किन्तु सहज-प्रणालीकी अपनी सीमा भी है। इस प्रणालीसे विदेशी भाषा बोलने और समझनेकी योग्यता तो आ जाती है किन्तु 'सत्य, सद्वृत्ति, प्रेम, घृणा, ईश्वर, धर्म' आदि भावात्मक शब्द इस प्रणालीसे नहीं सिखाए जा सकते और फिर लिखना और बाँचने तो इस प्रणालीकी सीमासे बाहर ही हैं। किन्तु यह अवश्य है कि बाँचने और लेखनके अभ्यासके लिये उचित शब्द-भांडार अवश्य प्राप्त हो जाता है।

३

संस्कृतकी शिक्षा

प्रत्येक भारतीयके लिये संस्कृत पढ़ना आवश्यक है क्योंकि भारतीय भाषाओंका संस्कृतसे बड़ा घना सम्बन्ध रहा है, हिन्दू भारतीयके समस्त संस्कार संस्कृतमें होते हैं, नियमित रूपसे संस्कृत भाषा और साहित्यका अध्ययन करनेसे उच्चारण शुद्ध होता है, वाणीका संस्कार होता है, उक्ति-चातुर्य प्राप्त होता है तथा संस्कृत साहित्यका अक्षय्य भांडार सरलतासे हस्तगत हो जाता है।

संस्कृतमें शुद्धताका इतना ध्यान रक्खा जाता है कि वहाँ एक उक्ति ही प्रसिद्ध हो गई है—

यद्यपि बहुनाधीतं तथापि पठ पुत्र व्याकरणम्।
स्वजनः श्वजनो माऽभूत् सकलं शकलं सकृच्छकृत् ॥

[बेटे ! यद्यपि तुमने बहुत पढ़ लिया है फिर व्याकरण अवश्य पढ़ लो। कहीं स्वजन (अपने लोग) का श्वजन (कुत्ते) न हो जायँ और सकृत् (बार-बार) शब्द शकृत् (विष्ठा) न बन जाय।]

संस्कृतमें शुद्धताका इतना महत्त्व माना जाता है कि स्थान और प्रयत्नके अतिरिक्त उदात्त-अनुदात्तका भी ध्यान रक्खा जाता था। इसीलिये पतंजलिने अपने भाष्यमें लिखा है—

उदात्ते कर्त्तव्ये योऽनुदात्तं करोति खंडिकोपाध्यायः तस्मै चपेटां ददाति।

[जो उदात्तके बदले अनुदात्त बोलता है उसे पाधाजी झट चपेटा लगा देते हैं।]

हमारे यहाँ शिक्षाओंमें स्पष्ट रूपसे गुणी और अधम पाठकका निर्देश करते हुए बताया गया था कि—

माधुर्यमक्षरव्यक्तिः पदच्छेदस्तु सुस्वरः।
धैर्यं लयसमर्थं च षडेते पाठका गुणाः ॥

[मधुरता, प्रत्येक अक्षरका स्पष्ट उच्चारण, एक पद [शब्द) का दूसरे शब्दसे स्पष्ट भेद, सुस्वरता (भावके अनुसार उतार-चढ़ाव), धैर्य (उचित ठहराव), लय बनाए रखना (एक धारामें जितना कहना उचित हो उतना ही कहना, न कम न अधिक), ये पाठकके गुण हैं।]

उसी पाणिनीय शिक्षामें अधम पाठकका लक्षण बताते हुए कहा है—

गीती शीघ्री शिरःकम्पी तथा लिखितपाठकः ।
अनर्थज्ञोऽल्पकंठश्च षडेते पाठकाऽधमाः ॥

[गा-गाकर, वेगसे, सिर हिलाहिलाकर, बिना समझे जो लिखा हो उसे पढ़नेवाला, बिना अर्थ जाने और गला दबाकर पढनेवाला पाठक अधम होता है ।] उसी प्रसंगमें लिखा है कि जैसे बाघिन अपने बघौटेको मुँहमें पकड़कर ऐसे ले चलती है कि न बघौटा गिरता है न दाँतोंमें आता है वैसे ही न तो मुँह फाड़कर बोलना चाहिए न चबाचबाकर और जैसे मतवाला हाथी एक-एक पैर जमा- जमाकर चलता है वैसे ही वाक्यका एक-एक पद (शब्द) जमा-जमाकर स्पष्ट बोलना चाहिए ।

इसका तात्पर्य यह है कि संस्कृतमें उच्चारण तथा वाणीकी शुद्धताको बड़ा महत्त्व दिया जाता था और इसीलिये पहले व्याकरणकी शिक्षा दी जाती थी जिससे अक्षरके शुद्ध उच्चारणपर तथा प्रत्येक पद (वाक्यमें आए हुए शब्द) के शुद्ध रूपका ज्ञान हो जाय । किन्तु रटन्त प्रणालीके कारण ही लोग संस्कृतको कठिन भाषा समझकर छोड़ते जा रहे हैं। अतः, यह आवश्यक है कि संस्कृतकी ऐसी पुस्तकें लिखी जायँ जिनमें सन्धि और समास न हों, सीधे सरल वाक्य ऐसे हों जिनमें आए हुए शब्द बालक अपनी मातृभाषामें तत्सम या तद्भव रूपमें सीख चुका हो। उदाहरण लीजिए—

बालकः पुस्तकं पठति ।
पिता पत्रं लिखति ।

दासी उलूखले मुसलेन धान्यं कुट्टति ।

इस प्रकारके वाक्योंका अर्थ समझनेमें बालकोंको कोई कठिनाई नहीं होती । ऐसे शब्दोंका समुचित भांडार प्राप्त हो जानेपर उन्हींके आधारपर क्रमशः व्याकरणके नियम सिखाने चाहिएँ और तब सूत्र रटवाने चाहिएँ ।

संस्कृतमें गद्य, पद्य, साहित्य, नाटक आदिकी शिक्षा उसी प्रकार देनी चाहिए जैसी मातृभाषाकी शिक्षाके लिये निर्दिष्ट की गई है । संस्कृतके व्याकरणकी शिक्षाकी परिणाम-प्रणाली (इंडक्टिव मेथड) से ही देनी चाहिए किन्तु इतना अवश्य करना चाहिए कि व्याकरणका नियम निकलवाकर सूत्र भी बताकर रटवा देना चाहिए ।

४

इतिहासका शिक्षण

प्रत्येक देशके प्रत्येक छात्रको अपने देशके इतिहाससे मुख्यतः तथा विश्वके अन्य पास-पड़ोस और दूर देशोंके इतिहाससे सामान्यतः होना ही चाहिए क्योंकि इतिहासके द्वारा ही हम अपने अतीतसे परिचित होकर अपने पूर्वजोंकी अच्छाइयों और गुणोंके अनुसार अपने वर्तमानको सुधार सकते हैं और जिन परिस्थितियोंमें हमारे पूर्वजोंने किसी विशेष आचरणके द्वारा सफलता पाई थी उसका अनुकरण करते हुए तथा जिस कार्यसे उन्होंने असफलता पाई थी उसका निराकरण करते हुए हम अपने व्यक्तिगत और सामाजिक जीवनको सुधार कर सकते हैं। इतिहासके द्वारा हम अपने अतीतका गौरव अनुभव कर सकते हैं और उसके अनुसार वर्तमानके साथ उसका सम्बन्ध स्थापित करनेमें उसकी सहायता प्राप्त कर सकते हैं। इतिहासके ज्ञानसे हमारी निर्णयात्मिका बुद्धि भी प्रखर होती है जिससे हम किसी प्रकारके कार्यमें भी न्याय और अन्यायका विवेक कर सकते हैं। यों भी मनुष्यमें स्वभावतः अपने पूर्वजोंका जीवनचरित और उनकी कथा जाननेकी उत्सुकता विद्यमान रहती है और उसकी तृप्ति भी इतिहास पढनेसे हो जाती है। सबसे बड़ी बात यह है कि इतिहास पढ़नेसे देशभक्तिकी भावना जागरित होती है। इन सब अनेक कारणोंसे इतिहासका अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है। अन्य देशोंका इतिहास भी जानना इसलिये आवश्यक है कि उसके द्वारा हम मानवीय भावनाका विकास करते हैं, अन्य देशोंके महापुरुषोंके जीवनचरितसे प्रेरणा प्राप्त करते हैं, अन्य देशोंकी ऐतिहासिक घटनाओंसे शिक्षा प्राप्त करके अपना और राष्ट्रका कल्याण कर सकते हैं, अन्य देशोंके जीवन, रहन-सहन और सामाजिक तथा राजनीतिक नियम सबका परिचय पाकर उसमेंसे श्रेष्ठ बातोंका अनुकरण भी कर सकते हैं और कमसे कम कुतूहलकी निवृत्ति तो कर ही सकते हैं। इस प्रकार हमारी अन्ताराष्ट्रिय

भावनाका भी विकास होता है और विश्वबन्धुत्वकी भावना भी पल्लवित होती है। इन्हीं सब कारणोंसे आजकल इतिहास, भूगोल और नागरिक शास्त्रको परस्पर सम्बद्ध मानकर उन्हें सामाजिक अध्ययनका विषय बना दिया गया है।

इतिहास-शिक्षणकी प्रणालियाँ

प्रारम्भिक कक्षाओंमें इतिहासका शिक्षण कहानी-प्रणालीसे प्रारम्भ होना चाहिए जिसमें तिथियों और अनावश्यक नामोंको छोड़कर विशिष्ट महापुरुषों या विशेष घटनाओंका इस प्रकार कहानीके रूपमें वर्णन किया जाय कि छात्र उनसे प्रभावित होकर शिक्षा प्राप्त करें और प्रोत्साहन पाकर अपने जीवनका संस्कार करें। इस अवस्थामें इतिहासका शिक्षण इस पद्धतिसे कराया जाना चाहिए कि अध्यापककी कथा-पद्धतिसे भी छात्र प्रभावित हों और कथानकके मुख्य चरितनायक तथा घटनाके परिणामसे भी। प्रारम्भिक कक्षाओंमें अपने देशके ही महापुरुषों और वहाँकी प्रसिद्ध घटनाओंका परिचय देना ही अत्यन्त आवश्यक है। इधर कुछ दिनोंसे कुछ लोगोंने प्रारम्भिक कक्षाओंमें भी अन्य देशोंका इतिहास पढ़ाना प्रारम्भ कर दिया है। यह अत्यन्त अस्वाभाविक और अमनोवैज्ञानिक है क्योंकि अन्य देशोंके लोगोंके प्रति न तो छात्रका हार्दिक सम्बन्ध होता न मानसिक, यहाँतक कि दूसरे देशके व्यक्तियों और नगरोंके नाम भी उसके लिये इतने अपरिचित और नवीन होते हैं कि उन्हें स्मरण रखना संस्कारतः बालकोंके लिये संभव नहीं है। इसलिये प्रारम्भमें केवल अपने ही देशका इतिहास पढ़ाना चाहिए।

परिचक्र व्यवस्था

शिक्षाचार्योंका मत है कि इतिहासके शिक्षणकी व्यवस्था परिचक्र प्रणाली (कन्सेण्ट्रिक मैथड या समकेन्द्रवृत्त प्रणाली) से करनी चाहिए अर्थात् विषय तो एक ही रहे किन्तु प्रत्येक अगली कक्षामें उसकी परिधि बढ़ती चले। यदि प्रारम्भिक कक्षामें केवल चन्द्रगुप्त मौर्यका सामान्य जीवन ही बताया गया तो अगली कक्षामें उसके पराक्रम और दिग्विजयका वर्णन,

उससे अगली कक्षामें उसकी राज्य-प्रणालीका वर्णन, उससे भी अगली कक्षामें तत्कालीन अन्य जातियों और देशोंके साथ भारतके व्यवसाय और राजनीतिक सम्बन्धका विवरण पढाना चाहिए । यद्यपि इस व्यवस्थाको परिचक्र प्रणाली कहते हैं पर यह है परिचक्र योजना (कन्सेण्ट्रिक प्लैन) ही।

उद्धरणी प्रणाली (रेसिटेशन मेथड)

कथा-प्रणालीके पश्चात् माध्यमिक कक्षाओंमें उद्धरणी प्रणाली तथा पाठ्यपुस्तक प्रणालीका प्रयोग किया जाता है । उद्धरणी प्रणालीमें छात्रोंको कह दिया जाता है कि तुम इतिहासका अमुक पाठ घरपर पढ़कर आओ और अध्यापक कक्षामें प्रश्नोंके द्वारा वह पाठ दुहरवा लेता है। इस उद्धरणी-प्रणाली (रेसिटेशन मैथड)से कक्षामें चेतनता रहती है और छात्रोंको घरसे तैयार होकर आनेका अवसर मिलता है।

पाठ्यपुस्तक प्रणाली

पाठ्यपुस्तक प्रणाली (टैक्स्टबुक मेथड) यही है कि कक्षामें भाषाकी पुस्तकके समान छात्र एक-एक अनुच्छेद पढ़ें और प्रश्नोंके द्वारा उसका उत्तर दें। इस प्रणालीमें समय भी अधिक नष्ट होता है और इतिहास पढानेसे छात्रोंपर जो प्रभाव पड़ना चाहिए वह प्रभाव नहीं पड़ता।

निर्देश-प्रणाली (एसाइनमेंट मेथड)

तीसरी प्रणाली है निर्देश प्रणाली (एसाइन्मेंट मेथड), जिसका प्रयोग डाल्टन पद्धतिके अनुसार किया जाता है। उसमें छात्रोंको यह निर्देश दे दिया जाता है कि अमुक घटना या महापुरुषके सम्बन्धमें अमुक-अमुक पुस्तकों, पत्रों तथा पत्रिकाओंके अमुक पृष्ठोंसे सहायता लेकर अध्ययन करो और फिर स्वयं विचार करके उसपर अपना निर्णय लिखकर लाओ। यह पद्धति माध्यमिक कक्षाके छात्रोंके लिये विशेष लाभकारी होती है। इससे उनमें स्वावलंबन, अध्ययन, शैली-निरूपण, निर्णय और चयनकी वृत्ति पुष्ट होती है अर्थात् वे यह जान पाते हैं कि हमें किस विषयपर, कितना और किस प्रकार लिखना

चाहिए। साथ ही इस अध्ययन और लेखनसे उनका ज्ञान भी पुष्ट होता चलता है।

प्रयोग-प्रणाली

प्रयोग-प्रणाली (प्रोजेक्ट मेथड) से भी इतिहास पढ़ानेकी व्यवस्था की जा सकती है। इस प्रणालीसे यदि अशोकका पाठ पढ़ाना हो तो अशोक-सम्बन्धी नाटककी योजना करके या बुद्ध-जयंतीके अवसरपर अशोक-कक्षकी सजावटका काम विद्यार्थियोंको सौंपकर उन्हें यह आदेश दे देना चाहिए कि तुम स्वयं अशोकके शिलालेख और स्तंभलेखकी प्रतिलिपि करें, जहाँ-जहाँ ये शिलालेख और स्तंभ-लेख हैं उन्हें भारतके मानचित्रपर अंकित करें, अशोकके राज्यशासनकी सीमा निर्धारित करें, अशोकके जीवनचरितकी समय-सरणि (टाइमचार्ट) बनावें, उसके स्तंभोंके चित्र बनावें, कलिंग-युद्धके समय अशोककी भावनाका चित्र खीचें तथा अशोकके सम्बन्धमें जो कुछ भी ज्ञातव्य हो उसका विवरण लिखें। किन्तु इतिहासके सब विषय और सब घटनाएँ प्रयोग-प्रणालीसे नहीं पढ़ाई जा सकतीं, किन्तु जितनी संभव हो सकें उतनी अवश्य इस प्रणालीसे पढ़ानी चाहिएँ।

कुछ लोगोंका यह भी मत है कि परिचक्र-क्रमके अनुसार न पढ़ाकर इतिहासको तिथिक्रमके अनुसार पढ़ाना चाहिए। उनका कहना है कि प्रारम्भमें आर्योंका वर्णन अर्थात् वैदिक कालका वर्णन, उसके पश्चात् सिन्धुघाटीकी सभ्यताका वर्णन और इस प्रकार अंतिम कक्षा-तक आते-आते वर्तमान कालके इतिहासके पहुँच जाना चाहिए। किन्तु यह तो आवश्यक नहीं कि प्रत्येक विद्यार्थी विद्यालयकी सभी कक्षाओंमें नियमित रूपसे अन्ततक अध्ययन करे और फिर इतिहासका सब अंश भी मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे प्रत्येक कक्षाके विद्यार्थियोंकी रुचि और बुद्धिके अनुकूल नहीं होता। अतः उनकी बुद्धिपर अनावश्यक भार डालकर उनकी रुचि और बुद्धिके विपरीत ज्ञान देना सभी दृष्टियोंसे हानिकर है। इस दृष्टिसे इस पद्धतिका प्रयोग सर्वथा अवाञ्छनीय है।

स्रोत प्रणाली (सोर्स मेथड)

इतिहास पढ़ानेकी एक और भी अत्यन्त प्रसिद्ध और विवेकपूर्ण प्रणाली है स्रोत-प्रणाली जिसमें छात्रोंको उस मूल सामग्रीसे अवगत करा दिया जाय जिसके आधारपर इतिहासकारोंने स्वयं अपने निर्णय किए हैं और छात्रोंको यह प्रेरणा दी जाय कि वे स्वयं मूल या आधार सामग्री प्रस्तुत करनेवाले इतिहासकारोंका विवरण पाकर यह निर्णय करें कि उनमेंसे कौनसा व्यक्ति अधिक प्रामाणिक हो सकता है। उस आधारपर वे ऐतिहासिक घटनाके परिणाम और चरित्रका निर्णय करें।

व्यास-प्रणाली

व्यास-प्रणाली, व्याख्यान-प्रणाली या विवेचना-प्रणालीका अर्थ है कि पहले अध्यापक स्वयं सक्रिय रूपसे ऐतिहासिक घटना या जीवनचरितका विवेचन करे, उसपर व्याख्यान दे और व्यास-पद्धतिसे अपने इष्ट महापुरुष या घटनाके चरितनायकके सम्बन्धमें भावपूर्ण शैलीसे उसके कृत्योंका गुणानुवाद करते हुए इस प्रकार समर्थन करे कि छात्र तन्मय होकर उससे भावित हो जायँ। यह व्याख्यान-प्रणाली या व्यास-प्रणाली किसी महापुरुषकी जयन्तीके अवसरपर तो अवश्य प्रयुक्त की जा सकती है किन्तु कक्षामें इसका प्रयोग नहीं करना चाहिए क्योंकि इस प्रकारसे छात्रोंकी निर्णयात्मिका शक्ति बँट जाती है और वे अध्यापक-द्वारा भावित हो जाते हैं।

स्वयं शिक्षण-प्रणाली

ऊँची कक्षाओंमें ऐसी भी स्थिति आ जाती है जहाँ छात्र स्वयं ऐतिहासिक सामग्रियों और ग्रंथोंका अध्ययन करके स्वतः परिणाम निकालने, विवेचन करते और ऐतिहासिक सामग्रीकी व्याख्या करते हैं। इस प्रकारके स्वयं-शिक्षणके लिये इंटर कक्षाओंमें ही छात्रोंको प्रोत्साहन देना चाहिए और जैसे डाल्टन पद्धतिमें छात्रोंको सूक्ष्म निर्देश दिया जाता है उसी प्रकार स्वयं-शिक्षण-प्रणालीमें भी छात्रोंको पुस्तक आदिके अध्ययनका निर्देश कर देना चाहिए

शोध-प्रणाली

शोध-प्रणाली (रिसर्च मैथड) का प्रयोग अत्यन्त उच्च कक्षाओंमें करना चाहिए जहाँ छात्रोंकी बुद्धि इतनी परिपक्व हो गई हो कि वे ऐतिहासिक सामग्रीका विश्लेषण करके सत्य और असत्यका निर्णय करें, सत्यकी तर्कपूर्ण स्थापना करें और प्रमाणोंके द्वारा असत्यका निराकरण करें। ऊपरकी कक्षाओंमें पाठ्यपुस्तक-प्रणालीका परित्याग करके इसी शोध-प्रणालीका ही प्रयोग करना चाहिए।

इतिहासके अध्ययनकी सहायक सामग्री

इतिहासका भूगोलके साथ स्वाभाविक सम्बन्ध है क्योंकि ऐतिहासिक महापुरुषके जीवन या ऐतिहासिक घटनाओंका सम्बन्ध स्वभावतः किसी देश या स्थानसे रहता ही है और उस देश, स्थान तथा वहाँकी परिस्थितियोंने उस व्यक्ति या उन घटनाओंको प्रभावित किया ही होगा इसलिये ऐतिहासिक स्थलोंके मानचित्र, ऐतिहासिक पुरुषोंके चित्र, विभिन्न युगोंके अनुसार समय-सरणि (टाइम-चार्ट), मुद्राओंके काग़ज़ी प्रतिरूप, ऐतिहासिक भवनों और स्थानोंके चित्र, युद्ध-क्षेत्रोंके मानचित्र तथा अन्य उन सब सामग्रियोंका इतिहास-शिक्षणमें प्रयोग करना चाहिए जिससे इतिहासका शिक्षण स्पष्ट हो। आजकल ऐतिहासिक कथाओं और पुरुषोंके सम्बन्धमें चलचित्र भी बने हैं। उनका प्रत्यक्ष परिचय करानेके लिये चलचित्र-यन्त्रके द्वारा प्रदर्शन भी करना चाहिए और समय-समयपर महापुरुषोंके जीवनसे सम्बन्ध रखनेवाले नाटक भी कराने चाहिएँ। इन प्रयोगोंसे इतिहासका शिक्षण प्रौढ होता है।

नाट्य-प्रणाली

कुछ शिक्षा-शास्त्रियोंने इतिहास-शिक्षणके लिये नाट्यप्रणालीका भी निर्देश किया है। उनका कथन है कि जब इतिहास-शिक्षणका उद्देश्य चरित्र-निर्माण, विवेकका विकास और सामाजिक सुधार है तब सबसे अच्छा उपाय यह है कि ऐतिहासिक घटनाओं और महापुरुषोंके सम्बन्धमें प्रभावशाली नाटक लिखवा-लिखवाकर, अभिनयकी सुन्दर शिक्षा देकर नाटकोंका प्रयोग कराना चाहिए।

इनके द्वारा दर्शक बालकोंके मनमें जो स्वतः संस्कार बैठेगा वह अधिक स्थायी और सात्त्विक होगा। किन्तु इस नाट्यप्रणालीका प्रयोग भी सदा नहीं, कभी-कभी किया जा सकता है, किन्तु यह अवश्य सत्य है कि इस प्रणालीका आश्रय लेकर जो पाठ पढ़ाए जायँगे वे निश्चय ही सफल और प्रभावशाली होंगे।

ऐतिहासिक पर्यटन

ऐतिहासिक शिक्षणका एक प्रमुख अंग है ऐतिहासिक पर्यटन, अर्थात् छात्रोंको उन स्थानोंपर ले जाकर प्रत्यक्ष ज्ञान देना जहाँ ऐतिहासिक घटनाएँ हुई हों या जहाँ ऐतिहासिक अवशेष, खँडहर या प्राचीन भवन अबतक विद्यमान हों। उन स्थानोंपर, उन स्थानोंसे सम्बद्ध जिन घटनाओं और व्यक्तियोंके सम्बन्धमें ज्ञान दिया जाता है वह निश्चित रूपसे स्वाभाविक और दृढ होता है। चित्तौड़के दुर्गमें पद्मिनी, महाराणा प्रताप और मीराबाईके सम्बन्धमें जितनी स्पष्टतासे बताया जा सकता है उतनी स्पष्टता और विशदतासे पुस्तक या चित्रके सहारे नहीं पढ़ाया जा सकता। अतः, अध्यापकका कार्य यह है कि वह छात्रोंकी रुचि, योग्यता, मनःस्थिति और परिस्थितिके अनुसार उचित प्रणालीका अवलम्ब लेकर इतिहासकी शिक्षा दे।

५

भूगोलका शिक्षण

यद्यपि भूगोलका अर्थ है पृथ्वीका गोला, किन्तु शिक्षणकी दृष्टिसे भूगोलके अध्ययनका अर्थ है पृथ्वीके तलपर उपस्थित उन सभी परिस्थितियोंका अध्ययन जो मानव-जीवनको प्रभावित करती हों। किसी भी प्रदेशका भूमि-तल या भूमिकी बनावट तथा वहाँके जलवायुका प्रभाव वहाँकी वनस्पति और वहाँपर उत्पन्न होनेवाले जीवोंपर पड़ता है अर्थात् जैसा भूमितल होगा और जैसा जलवायु होगा, उसीके अनुकूल वहाँकी वनस्पति और वहाँके जीव होंगे। इसी भूमितल, जलवायु, वनस्पति और जीव-जन्तुओंके अनुसार वहाँके मनुष्योंका रहन-सहन, खान-पान, आचार-व्यवहार तथा व्यापार-व्यवसाय होगा। यही भूगोलका अध्ययनीय विषय है।

प्राचीन और नवीन भूगोल-शिक्षण-पद्धतिमें अन्तर

पहले भूगोल-शिक्षणके अन्तर्गत पहाड़ों, नदियों, रेलमार्गों, प्रसिद्ध व्यावसायिक नगरों आदिकी लम्बी सूची कंठस्थ करा दी जाती थी और यही भूगोल-शिक्षणका प्रधान कार्य और उद्देश्य समझा जाता था। किन्तु अब भूगोलका मानवीकरण हो गया है अर्थात् पृथ्वी-तलपर उत्पन्न होनेवाली वनस्पति, जीवजन्तु और भूमितलकी बनावट तथा जलवायुके अनुसार मानव-जीवन किस प्रकारका हो जाता है यही भूगोलके अध्ययनका उद्देश्य हो गया है। इसीलिये अब राजनीतिक भूगोलके बदले प्रादेशिक भूगोल (रीजनल जयोग्रफ़ी) पढ़ाया जाने लगा है। अब राजनीतिक सीमाओंसे बँधे हुए देशोंका अलग-अलग भूगोल न पढ़ाकर प्राकृतिक दृष्टिसे विभक्त प्रदेशोंका अध्ययन कराया जाने लगा है। इसके निमित्त सम्पूर्ण विश्वको जलवायु तथा भूप्रकृतिके अनुसार ऐसे निश्चित वर्गोंमें विभाजित कर लिया जाता है जहाँका जलवायु, भूप्रकृति, उपज तथा जीवजन्तु एक समान होते हैं। इन विभिन्न

प्रदेशोंका अध्ययन करनेके पश्चात् वहाँके निवासी मनुष्योंका रहन-सहन, खानपान, वेशभूषा, रीति-नीतिका अध्ययन कराया जाता है। अतः, अब प्रादेशिक दृष्टिसे मानवीकृत भूगोल (ह्यूमन जिओग्रफ़ी) पढ़ाया जाने लगा है।

भूगोल-शिक्षणकी प्रणालियाँ

प्रारम्भिक कक्षाओंमें निरीक्षण या संप्रेक्षण-प्रणालीसे भूगोलका शिक्षण होना चाहिए अर्थात् बालकको बाहर खेतों, नदियों, टीलों, तथा जीव-जन्तुओंका प्रत्यक्ष ज्ञान कराकर, सूर्यके उदय और अस्त होने तथा अन्य इस प्रकारकी प्राकृतिक घटनाओंका संप्रेक्षण कराकर उसका प्राथमिक या आधार-ज्ञान पक्का कर देना चाहिए तथा उसमें भौगोलिक वृत्ति (जिओग्रफ़िकल सेन्स) बढ़ानी चाहिए। उसके मनमें ऐसी प्रेरणा देनी चाहिए कि वह भौगोलिक परिस्थितियोंके सम्बन्धमें जिज्ञासु बना रहे। बादल कहाँसे आते हैं, कैसे बरसते हैं, पेड़-पौधे कैसे बढ़ते हैं, किस ऋतुमें कौनसी उपज होती है, क्यों होती है, चन्द्रमा कब, क्यों नहीं उगता या पूरा दिखाई पड़ता है, इन सब बातोंके अध्ययनकी जिज्ञासा छात्रोंमें उत्पन्न करनी चाहिए

वर्णन-प्रणाली

प्रारंभिक कक्षासे कुछ आगे बढ़नेपर वर्णन-प्रणालीका आश्रय लेना चाहिए, विभिन्न देशोंके मानचित्र दिखाकर वहाँके निवासियोंके व्यवसाय, आचार-विचार और खानपानका सचित्र वर्णन देना चाहिए और जो बातें चित्रके द्वारा स्पष्ट न हों उनका मौखिक वर्णन देना चाहिए। इस प्रकारके वर्णनसे मानव-बन्धुत्वकी भावना बढ़ती है, कुतूहलकी निवृत्ति होती है और विभिन्न देशोंके जीवनका तुलनात्मक ज्ञान होता है।

विश्लेषण-संश्लेषण-प्रणाली

भूगोल-शिक्षणमें विश्लेषण-संश्लेषण प्रणालीके प्रयोगका तात्पर्य यह है कि पहले समस्त पृथ्वीका विभिन्न जलवायु-प्रदेशोंमें वर्गीकरण कर लिया जाय और फिर एक-एक प्रदेशका जलवायु, भूतल, उपज, जीवजन्तु और मानव-जीवनका

विश्लेषण करके अन्तमें सबका संश्लेषण करके पूरे विषयका अध्ययन करा दिया जाय। भूगोलके शिक्षणके लिये यही पद्धति सर्वमान्य है और इसी विश्लेषण-संश्लेषण पद्धति (एनेलिटिको-सिन्थैटिक मेथड) से ही अधिकांश भूगोल पढ़ाना चाहिए।

पर्यटन-प्रणाली

भूगोल पढ़ानेकी सर्वोत्तम प्रणाली पर्यटन-प्रणाली है जिसका तात्पर्य यह है कि छात्रोंको विभिन्न भौगोलिक प्रदेशोंमें लेजा-लेजाकर वहाँकी भू-प्रकृति, जीव-प्रकृति, वनस्पति-प्रकृति, जलवायु और मानव-प्रकृतिका प्रत्यक्ष अध्ययन करा दिया जाय। किन्तु सब देशोंमें सब छात्रोंको ले जाना न संभव है न व्यावहारिक। फिर भी छात्रोंको जितना भी बाहर ले जाकर प्रत्यक्ष अनुभवसे ज्ञान कराया जाय उतना ही अधिक लाभप्रद और हितकर सिद्ध होगा।

प्रदर्शन-प्रणाली

यद्यपि पर्यटनके द्वारा समस्त विश्वका भौगोलिक ज्ञान कराना किसी भी संस्था या विद्यालयके लिये संभव नहीं है तथापि स्थिर-चित्र-प्रदर्शक (एपिडायस्कोप) तथा चलचित्र-प्रदर्शक (प्रौजेक्टर) के माध्यमसे शिक्षा-विभागों तथा अन्य संस्थाओं-द्वारा निर्मित चित्रोंका बृहदाकार प्रदर्शन कराकर विभिन्न देशोंकी भूप्रकृति, जीवजन्तु, वनस्पति तथा मानव-जीवनका परिचय कराया जा सकता है। आजकल प्रायः सभी देशोंकी सरकारें इस प्रकारके भौगोलिक चित्र सभी विद्यालयोंको निःशुल्क वितरित करती हैं। अध्यापकका धर्म है कि वह अपने छात्रोंका ज्ञान विकसित करनेके लिये इन चित्रोंका उपयोग करे।

नाट्य-प्रणाली

कुछ शिक्षाचार्योंने भूगोलके लिये भी नाट्य-प्रणालीके प्रयोगका सुझाव दिया है किन्तु भू-प्रकृति, जीव-प्रकृति और वनस्पतिका ज्ञान नाट्य-प्रणालीसे नहीं हो सकता। हाँ, मानव-प्रकृति अर्थात् किसी विशेष प्रदेशके निवासियोंके

रहन-सहन, आचार-व्यवहार, रीति-नीति, सामाजिक जीवन आदिका परिचय नाट्य-प्रणालीसे अवश्य दिया जा सकता है किन्तु यह प्रणाली अत्यन्त व्यय-साध्य है और फिर सटीकता लाना तो और भी अधिक कठिन है। अतः, स्थिर चित्र या चलचित्रका प्रदर्शन अधिक उपादेय सिद्ध हो सकता है।

भूगोल-शिक्षणकी सहायक सामग्री

भूगोल-शिक्षणका सबसे प्रमुख आधार मानचित्र (मैप) तथा मानचित्रावली (ऐटलस) है। छात्रोंमें प्रारम्भसे ही यह वृत्ति उत्पन्न करनी चाहिए कि वे स्वतः ध्यानपूर्वक मानचित्रोंका सूक्ष्म निरीक्षण करें और भौगोलिक अध्ययनके आधारपर विभिन्न प्रदेशोंकी प्रकृतिका स्वतः पर्यवेक्षण करें। इसके अतिरिक्त भूगोल-शिक्षणमें विभिन्न प्रदेशोंके मनुष्योंके रूपरंग, आकार-प्रकारकी प्रतिमूर्त्तियाँ तथा चित्र, वहाँके पशुओं, वनस्पतियों और भू-प्रकृतियोंके चित्र, खानपान, रहन-सहन, आचार-विचार आदि प्रदर्शन करनेवाले चित्र, भूप्रकृतिके अनुसार बने हुए खचित मानचित्र (रिलीफ़ मैप), मृत जीवों और पौधोंका संग्रह, सौर मंडल और पृथ्वीका सम्बन्ध बतानेवाले यंत्र, चित्र, मानचित्र, प्रदर्शन-यंत्र आदि सामग्रियोंका यथासंभव अधिकसे अधिक प्रदर्शन करना चाहिए। साथ ही विभिन्न प्रदेशोंकी मिट्टी, विभिन्न प्रकारके पत्थर तथा अन्य इस प्रकारकी सब वस्तुओंका संग्रह करना चाहिए जिससे भूगोलका शिक्षण अधिक स्पष्ट और व्यावहारिक बनाया जा सके।

नागरिक शास्त्रका शिक्षण

यों तो प्रत्येक मनुष्यको नागरिक शास्त्र अर्थात् अपने देशके नियमोंका ज्ञान समाजमें आचरण करनेकी विधि शासन-पद्धतिमें सम्मिलित होकर अपने अधिकार और कर्तव्योंका पालन आदिका ज्ञान प्रत्येक मनुष्यको होना चाहिए किन्तु यों भी सामाजिक दृष्टिसे प्रत्येक मनुष्यको नागरिक शास्त्रका अध्ययन करना चाहिए। नागरिक शास्त्रके अन्तर्गत अपने संविधानके द्वारा दिए हुए अपने नागरिक अधिकारका संरक्षण, नागरिकके रूपमें अपने कर्तव्योंका पालन, अपने परिवार, पड़ोसी, नगरवासी, समाज तथा राष्ट्रके प्रति अपने कर्तव्यका निर्वाह, शासन-संस्थाओंमें अपना उचित प्रतिनिधि भेजनेकी योग्यता तथा स्वयं जनताका प्रतिनिधि बननेकी योग्यता आदि सभी बातें आ जाती हैं। इसका अर्थ यह है कि साधारण सामाजिक आचार-व्यवहारके अतिरिक्त नगरपालिका, जनपदमंडल, राज्यकी विधान-सभाएँ, लोकसभा तथा शासन-पद्धति आदि सभी बातें नागरिक शास्त्रके अन्तर्गत आ जाती हैं।

शिक्षण-प्रणाली

प्रारम्भिक कक्षाओंमें नागरिक शास्त्रकी शिक्षाके लिये छात्रोंमें परस्पर एक दूसरेके प्रति सौहार्द, सहनशीलता, सहयोग और सेवाका भाव भरना चाहिए और ऐसे अवसर ढूँढ़-ढूँढ़कर उपस्थित करने चाहिएँ जिनमें उपर्यंकित भावोंका समुचित विकास हो सके। इन भावनाओंके साथ-साथ अपने शरीरकी और वस्त्रोंको स्वच्छता, अपने कक्ष, घर, पास-पड़ोस और ग्रामकी स्वच्छता आदि भावनाओंका भी अभ्यास और विकास कराना चाहिए। छात्रोंको प्रारम्भसे ऐसा अभ्यास डलवाना चाहिए कि वे सोने, उठने, काम करनेमें, स्नान करने, दाँत-मुँह माँजने, अपने केश, नख और वस्त्रोंका उचित संस्कार करने और सुशोभन, सादे तथा समुचित वस्त्र पहननेमें नियमित रूपसे अभ्यस्त हों। इसीके साथ-साथ यह भी अभ्यास डलवाना

चाहिए कि वे इधर-उधर अनियमित स्थानोंपर थूकें नहीं, लघुशंका या शौच इत्यादि न करें, सभामें आरम्भमें जायँ, निश्चित स्थानपर बैठें, सभा अन्त होनेपर उठें, कोई मार्ग पूछे तो उसे मार्ग बता दें, जल मागें तो जल पिला दें और भरसक जितनी सेवाएँ सम्भव हो वह करें। घरपर अपने माता-पिता तथा बड़े लोगोंको आदरके साथ प्रणाम करें, छोटोंके प्रति स्नेहका व्यवहार करें, समान लोगोंसे सद्भावना रक्खें, विद्यालयमें जाकर अपने गुरुओंको भक्तिपूर्वक अभिवादन करें तथा अपने साथियोंके साथ अत्यन्त शिष्टता और सद्भावनाके साथ व्यवहार करें। यह प्रणाली अभ्यास-प्रणाली (हैबिट मैथड कहलाती है।

संप्रेक्षण या निरीक्षण-प्रणाली

प्रारम्भिक अवस्थाके पश्चात् छात्र स्वयं अपनी नगरपालिकामें रहकर सड़कके नियम, यातायातके नियम, पानी और बिजलीका प्रबन्ध, सड़ककी स्वच्छता आदिका जो प्रत्यक्ष ज्ञान करता है उसके सहारे उसे व्यापक रूपसे नगरपालिकाके संघटनका परिचय दिया जा सकता है। गाँवोंमें भी पञ्चायतवर, विद्यालय, लेखपालके कार्य आदिके सम्बन्धमें परिचय देकर प्रत्यक्ष रूपसे बालकोंको नागरिकताका ज्ञान कराया जा सकता है। इसी प्रसंगमें गाँवकी स्वच्छता, पारस्परिक खेलकूद, सामूहिक उत्सव तथा अन्य गाँवके सामूहिक कार्योंका परिचय करा देना चाहिए कि किस प्रकार कूड़ा दूर किया जा सकता है, कृषिकी शक्ति बढ़ाई जा सकती है, पारस्परिक सद्भाव और सहयोगका अभिवर्द्धन किया जा सकता है। इसके लिये बालचर-मंडलकी स्थापना, गाँवोंमें स्वयंसेवक-समाजकी स्थापना और गाँवके लोगोंमें फैले हुए सिगरेट, बीड़ी, भाँग, गाँजा तथा जुए आदिकी हानियाँ बताकर, नाटक खिलवाकर, चलचित्र दिखाकर, कथा कहलाकर इन बुराइयोंको दूर करनेमें सहयोग देना चाहिए।

उद्बोधन और व्याख्या प्रणाली

इससे ऊपरकी कक्षाओंमें उद्बोधन और व्याख्या-प्रणालीका आश्रय लेना चाहिए अर्थात् व्याख्यान, कथन और प्रवचनके द्वारा चित्रों और

मानचित्रोंके सहारे भूगोलके अन्तर्योगसे अपने राज्य और राज्यविधान-सम्बन्धी सम्पूर्ण शासन-प्रबन्धका परिचय देना चाहिए और बताना चाहिए कि अपने शासनका प्रबन्ध किस प्रकार होता है, कौन उच्च अधिकारी हैं, उनका क्या कर्तव्य है, उनके साथ किस प्रकार सहयोग देना चाहिए और अपने अधिकारोंकी किस प्रकार रक्षा करनी चाहिए। इसी अवस्थामें प्रौढ पाठशाला और रात्रि पाठशाला चलानेकी शिक्षा देनी चाहिए और सामाजिक उत्सवों और मेलोंपर प्रबन्ध करने, मेला लगवाने तथा रामलीला आदि उत्सव कराने, जयन्ती मनाने और राष्ट्रीय पर्वोत्सवोंकी योजना करनेकी शिक्षा देनी चाहिए।

व्याख्या और तुलना प्रणाली

ऊँची कक्षाओंमें अपने देशके नागरिकोंको दूसरे देशके नागरिकोंके जीवनसे तुलना करके वहाँके और अपने देशके शासन-विधानकी तुलना करके तथा अन्य देशकी अच्छी बातोंका छात्रोंको ज्ञान कराकर उनमें अन्य देशोंके नागरिकोंका गुण ग्रहण करनेकी भावना भरनी चाहिए और अन्य देशोंके निवासियोंके रहन-सहन, आचार-विचार, रीति-नीति और शासन.नियमोंका भी परिचय कराना चाहिए। साथ ही उन अनेक महापुरुषोंका परिचय भी देना चाहिए जिन्होंने विश्वमें श्रेष्ठ नागरिकताके उदाहरण उपस्थित किए हैं। इनके साथ-साथ उन साम्राज्यवाद, समाजवाद, व्यक्तिवाद, राष्ट्रीयतावाद आदि अनेक सामाजिक और राजनीतिक वादोंका तथा लोकतन्त्र और गणतन्त्रकी सम्पूर्ण पद्धतियोंका भी तुलनात्मक विवेचन कर देना चाहिए।

नागरिकशास्त्र पढ़ानेके लिये स्वच्छता, शासन, देशकी उन्नतिके विभिन्न पक्षोंके सम्बन्धके सभी विवरण, आँकड़े, मानचित्र और सरणियोंका संग्रह करना चाहिए जिससे छात्रोंको समझाने और समझनेमें सुविधा हो। प्रथम और द्वितीय पंचवर्षीय योजनाके सम्बन्धमें सरकारके द्वारा ही बहुतसे चित्र, मानचित्र तथा सरणियाँ बनी हैं जिनमें हमारे प्रदेशकी प्रगति और भावी योजनाका अत्यन्त स्पष्ट वर्णन मिलता है। नागरिकशास्त्र पढ़ानेके लिये इन सबका उचित प्रयोग होना चाहिए।

७

सर्वगणितका शिक्षण

गणितका प्रयोग हमारे सम्पूर्ण जीवनमें व्याप्त है। कुछ भी मोल लेनेके लिये, किसी अन्यके साथ आर्थिक व्यवहार करनेके लिये, मकान बनानेके लिये, खेल-खिलौने, मेज-कुर्सी आदि कुछ भी बनवानेके लिये गणितका ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। उसके बिना जीवनका कोई क्रम चल नहीं सकता। किन्तु इसकी शिक्षाकी गति प्रत्यक्षसे अप्रत्यक्षकी ओर या व्यावहारिकसे सिद्धान्तकी ओर अथवा स्थूलसे सूक्ष्मकी ओर होनी चाहिए। इसीलिये गणितकी शिक्षामें बहुत-सा ज्ञान तो प्रत्यक्ष व्यवहारसे आता है किन्तु उसके लिये कुछ बातें जैसे गिनती, पहाड़े, गुर आदि कण्ठस्थ भी होने चाहिएँ और फिर अनेक प्रकारकी गणित-सम्बन्धी क्रियाओंका व्यवहार करके अपनी बुद्धिको ऐसा व्यावहारिक बना लेना चाहिए कि जीवनमें गणित-सम्बन्धी कोई समस्या उठ खड़ी होनेपर उसका समाधान कर सकें। इसीलिये गणितमें अभ्यासका अधिक महत्त्व माना गया है।

इस दृष्टिसे गणितका उद्देश्य है—१. व्यावहारिक जीवनके लिये बालकको संख्या-सम्बन्धी ज्ञान देना। २. ऐसा अभ्यास डलवाना कि बालक सुविधाके साथ गणितकी कठिन समस्याओंका समाधान कर सके। ३. विवेकके साथ अपने जीवनमें आए हुए आर्थिक तथा गणित-सम्बन्धी कार्योंको सुलझाने और कुशलतापूर्वक आचरण करनेके योग्य बनाना। इसका अर्थ यह है कि जीवनमें आई हुई किसी भी गणित-सम्बन्धी समस्याको विवेकपूर्वक तथा नियमके अनुसार सुलझा सकनेके योग्य बना देना ही गणितकी शिक्षाका मुख्य उद्देश्य है कि जिससे वह जीवनमें सहायक सिद्ध हो सकें।

गणित-शिक्षणकी पद्धतियाँ

गणितकी शिक्षाके लिये प्रारम्भिक कक्षाओंमें गिनती, पहाड़े और गुर कंठस्थ करा देने चाहिएँ। इस विषयमें महाजनी पद्धतिसे अंकगणित सिखाना

सबसे अधिक लाभकर पद्धति है। यद्यपि आजकलके शिक्षाचार्य उस पद्धतिसे शिक्षा देना ठीक नहीं समझते और उन्होंने बौलफ्रेम आदि अनेक नई-नई यंत्र-विधियाँ निकाल ली हैं जिनका प्रयोग दूसरे रूपोंमें मौन्तेस्सोरी तथा किंडरगार्टेन पद्धतियोंमें होता है। किन्तु प्रारम्भिक अवस्थामें बालककी स्मृति उद्दीप्त होती है। उस समय जो कुछ भी भली प्रकार कंठस्थ करा दिया जाय वह कंठ किया हुआ आजीवन काम आता है।

अभ्यास-प्रणाली या सिद्धान्त-प्रणाली

गुर, पहाड़े या नियम कंठस्थ करानेके पश्चात् छात्रोंको इस प्रकारके प्रश्न देने चाहिएँ कि वे उनके सहारे उन गुरोंका अभ्यास करें और फिर प्रयोग-प्रणालीके अनुसार ऐसी प्रत्यक्ष, सत्य और वास्तविक समस्याएँ दी जायँ जिनमें वे उन नियमों और गुरोंका अभ्यास कर सकें।

आवृत्ति-प्रणाली

अभ्यास-प्रणाली ही कुछ आगे बढ़कर आवृत्ति-प्रणाली हो जाती है अर्थात् अभ्यास करानेके पश्चात् बार-बार उसी प्रकारकी समस्याओंका समाधान कराना, उसी प्रकारके अभ्यास कराना ही आवृत्ति है। यह पहले कहा जा चुका है कि आवृत्ति और अभ्यास ही ज्ञानकी पुष्टिके प्रधान मार्ग हैं और गणितमें तो उन्हींका प्रयोग करना चाहिए।

विश्लेषण-संश्लेषण प्रणाली

कभी-कभी गणितमें कुछ ऐसी समस्याएँ भी आ खड़ी होती हैं जहाँ हमें दी हुई वस्तुका विश्लेषण करना होता है जैसे वर्ग या आयतका। ऐसी समस्याओंके लिये पहले विश्लेषण करके फिर उनका संश्लेषण कर लिया जा सकता है और इस प्रकार वह ज्ञान पूर्ण किया जा सकता है।

परिणाम-प्रणाली

ज्यामिति या रेखागणित पढ़ाते समय हम उदाहरणसे या विशेषसे चलकर सामान्यकी ओर बढ़ते हैं। यही परिणाम प्रणाली है। किन्तु उसके पश्चात् फिर उस सामान्य नियमका आरोप करते हैं और समस्याओंका

समाधान करते हैं यह सिद्धान्त प्रणाली है। रेखागणितमें उसी प्रणालीका प्रयोग होता है जिसे हम परिणाम-सिद्धान्त प्रणाली इंडक्टिव-डिडक्टिव मेथड) कह सकते हैं।

गणित-शिक्षणकी सामग्री

गणित-शिक्षणके लिये बड़े-बड़े यंत्र, परकार, चन्दा, कुनियाँ, त्रिभुजाकार पट्ट, गोल पट्ट आयत खंड, कोणखंड, ढोलखंड आदि उन अनेक आकार-प्रकारके परिमाणों और रूपोंके मानचित्र, प्रतिमूर्त्ति और सरणियोंका प्रयोग करना चाहिए जिनकी सहायतासे गणित सिखानेमें सुविधा हो क्योंकि गणितमें सटीकता अत्यन्त अपेक्षित है और वह तबतक संभव नहीं है जबतक उसके अनुरूप साधनों और यंत्रोंका प्रयोग न किया जाय। गणित पढ़ानेके लिये उन अनेक गणित—सम्बन्धी समस्याओं और प्रश्नोंका भी अक्षय भांडार अध्यापकके पास होना चाहिए जिससे वह अपने अध्यापनको रुचिकर, सरस और आकर्षक बना सके।

८

विज्ञान और गृहविज्ञानकी शिक्षा-प्रणाली

यद्यपि गृहविज्ञान भी विज्ञानका ही एक अंग है किन्तु उसके नाम भिन्न भिन्न दे दिए गए हैं। आजकलके युगको वैज्ञानिक युग कहा जाता हैं किन्तु जबसे सृष्टि प्रारम्भ हुई तभीसे विज्ञानका भी प्रारम्भ हुआ और पग-पगपर हमें विज्ञानके प्रयोगोंकी आवश्यकता पड़ जाती है। आजकल तो भौतिक विज्ञान, रसायन-विज्ञान, जीव-विज्ञान, शरीर-विज्ञान और वनस्पति-विज्ञान इतने महत्त्वपूर्ण हो गए हैं कि उनका ज्ञान हुए बिना हमें स्वाभाविक कठिनाइयाँ होती हैं। यों भी मनुष्य होनेके नाते अपने चारों ओर बिजली, रेलगाडी, रेडियो, तार, टेलीफोन आदि अनेक वैज्ञानिक उपादनोंका संग्रह हो जानेसे उनका ज्ञान प्राप्त करना स्वाभाविक और आवश्यक हो गया है।

विज्ञान-शिक्षणकी प्रणालियाँ

प्रारंभिक कक्षाओंमें प्रत्यक्ष सम्प्रेक्षण या निरीक्षणसे ही विज्ञानका शिक्षण आरंभ करना चाहिए किन्तु भौतिक और रसायन विज्ञानमें स्वयं-प्रयोग-प्रणाली (ह्यूरिस्टिक मैथड) का प्रयोग करना चाहिए। संप्रेक्षण या निरीक्षण प्रणालीका प्रयोग केवल वहीं तक कराना चाहिए जहाँतक वह सुविधापूर्वक संभव हो जैसे वृक्षोंका उगना, फूलोंके विभिन्न अंग, फूलोंसे फलकी उत्पत्ति आदि। विभिन्न प्रकारके धोवोंकी प्रकृतिका ज्ञान संप्रेक्षण-द्वारा ही कराया जा सकता है।

विश्लेषण-प्रणाली

प्रारंभिक कक्षाओंसे आगे चलकर जीव-विज्ञान या वनस्पति-विज्ञानका शिक्षण विश्लेषण-प्रणालीसे करना चाहिए अर्थात् जो वस्तु पढ़ानी हो उसके अंग-अंग अलग करके उसके विभिन्न भागों और तत्त्वोंका परिज्ञान कराना चाहिए जैसे यदि किसी प्रकारके फूलका परिचय देना हो तो उसकी पंखड़ी,

पराग, जीरक, मकरन्द-पात्र, ढपनी और डंठलका अलग-अलग विश्लेषण करके प्रत्यक्ष ज्ञान कराना चाहिए। इसी प्रकार जीव-विज्ञानमें भी मेढकके शरीरका परिचय देनेके लिये उसके विभिन्न अंगोंका पृथक्-पृथक् छेदन करके प्रत्यक्ष प्रदर्शन करना चाहिए।

स्वयं-प्रणाली प्रयोग (ह्यूरिस्टिक मेथड)

विज्ञानके जिन विभिन्न क्षेत्रोंमें सिद्धान्त या शोधके परिणामका महत्त्व होता है वहाँ परिणाम प्रणालीका [illegible] करना चाहिए और छात्रको उसी परिस्थितिमें रख देना चाहिए जिस [illegible]स्थितिमें मूल वैज्ञानिकने किसी सिद्धान्तका या नियमका प्रतिपादन किया था, अर्थात् छात्रसे उसी क्रम और पद्धतिके अनुसार तथा उन्हीं कार्योंके आश्रयसे प्रयोग कराकर छात्रोंके द्वारा ही वह परिणाम निकलवाना चाहिए जो मूल वैज्ञानिकने उन्हीं यंत्रों या प्रयोगोंके सहारे परिणाम निकाले थे।

स्वयं-प्रयोग प्रणाली और स्वयं-प्रयोग ज्ञानमें अन्तर

स्वयंप्रयोग प्रणाली (ह्यूरिस्टिक मेथड) और स्वयंप्रयोग ज्ञान (ह्यूरिज़्म) में बहुत अन्तर है। स्वयंप्रयोग ज्ञानमें तो स्वयं वैज्ञानिक ही अपने प्रयोग करके परिणाम निकालता है अर्थात् वह मूल अन्वेषक होता है किन्तु स्वयं-प्रयोग प्रणालीमें छात्रोंसे उसी प्रयोगके द्वारा वही परिणाम निकलवाया जाता है जिस प्रयोगके द्वारा मूल वैज्ञानिकने अनुसन्धान किया था।

मूलतः यह स्वयंप्रयोग प्रणाली वास्तवमें परिणाम-प्रणाली ही है किन्तु साधारण परिणाम-प्रणालीमें तो छात्र अपने व्यावहारिक उदाहरण लेकर परिणाम निकालता है किन्तु विज्ञानकी परिणाम-प्रणालीमें छात्र केवल उन्हीं प्रमाणों और आधारोंके अनुसार प्रयोग करता है जिनके आधारपर मूल वैज्ञानिकने कोई अनुसन्धान किया था। भौतिक विज्ञान और रसायन विज्ञानके समान ही अन्य विज्ञानकी शिक्षा भी दी जा सकती है किन्तु गृहविज्ञानकी शिक्षामें निरीक्षण, संप्रेक्षण, उदाहरण, चित्रप्रदर्शन तथा विश्लेषण पद्धतिका ही प्रयोग करना चाहिए।

विज्ञानके शिक्षणमें मौखिक शिक्षणका प्रयोग कभी नहीं करना चाहिए। सदा उपयुक्त यन्त्रों, रासायनिक अथवा भौतिक पदार्थोंके माध्यमसे ही प्रयोगशालामें वास्तविक प्रयोग (एक्सपेरिमेंट) और प्रदर्शन (डिमौन्स्टेशन) के द्वारा ही विज्ञानकी शिक्षा व्यवस्थित करनी चाहिए।

गृहविज्ञानमें छात्राओंके द्वारा प्रत्यक्ष रूपसे स्वच्छता, घरकी सजावट, भोज्य-पदार्थोंका निर्माण, वस्त्रोंकी काटन, सियन, बुनना, काढ़ना, बच्चोंकी देखभाल, रोगी परिचर्या, आयव्ययका विवरण, धार्मिक पर्वोत्सवोंका आयोजन आदि कराकर प्रत्यक्ष-व्यवहार-विधिसे सिखाना चाहिए अर्थात् गृहविज्ञानमें व्यवहार और प्रयोग-प्रणालीका अधिक उपयोग करना चाहिए।

६

ललित कलाओंका शिक्षण

जीवनको मधुर, रुचिकर और सुखकर बनानेके लिये ललित कलाओंका शिक्षण अत्यन्त आवश्यक है। ललित कलाओंमें संगीत और चित्रकलाका ही विद्यालयोंमें विशेष प्रयोग होता है किन्तु संगीत और चित्रकला दोनोंकी शिक्षण-पद्धति भिन्न है।

संगीत-शिक्षण : विश्लेषण-संश्लेषण-प्रणाली

संगीत-शिक्षणकी प्रणाली यह है कि प्रारम्भमें प्रस्तावनाके रूपमें किसी भी प्रसिद्ध कविका भजन सुनाया जाय और वह दो-तीन रागोंमें सुनाकर पूछा जाय कि उन्हें कौन सा अधिक प्रिय है। जो अधिक प्रिय हो उसी रागका गीत या भजन पहले उनके कंठमें अभ्यस्त करा दिया जाय। इसके पश्चात् उसके स्वर, आरोह-अवरोह और एक-एक कड़ीका अलग-अलग स्थायी और अन्तरेका अभ्यास कराया जाय और अभ्यास करा चुकनेपर तथा सरगम दे चुकनेपर और सरगमके साथ पुनः अभ्यास करा चुकनेपर प्रयोगके रूपमें उसी राग, ताल और मात्राओंमें बँधा हुआ दूसरा भजन दे दिया जाय और कहा जाय कि इसे भी उसी प्रकार गाओ और इसी प्रकारके अन्य भजन ढूँढ़कर लाओ। प्रयोगके रूपमें अन्य भजन भी उसी प्रकार छात्रोंसे गवाने चाहिएँ। इस प्रकार पहले गीत लेकर उसका विश्लेषण किया जाय और फिर संश्लेषण कर दिया जाय।

चित्रकलाका शिक्षण : संश्लेषण प्रणाली

चित्रकलाका शिक्षण संगीत-प्रणालीसे ठीक उलटा चलता है। उसमें विश्लेषणके बदले पहले संश्लेषण ही होता है। अर्थात् यदि किसी पशु या वस्तुका चित्र बनाना सिखाना हो तो विभिन्न प्रकारकी सीधी और वर्तुल रेखाओंका पहले अभ्यास करा देना चाहिए और फिर उन विभिन्न प्रकारकी रेखाओंके मेलसे जिस प्रकारका रूप या आकृति बनाई जा सके उसका विवरण

देकर बनवा लेना चाहिए। चित्रकलाकी शिक्षण-पद्धतिमें इस प्रकार खण्डसे पूर्णकी ओर चलते हुए संश्लेषण प्रणालीका प्रयोग करना चाहिए।

हस्तकौशलकी शिक्षा :

निर्देश और अभ्यास-प्रणाली (इन्स्ट्रेक्शन ऐंड ड्रिल मैथड)

हस्तकौशल, बढ़ईगीरी, जिल्दबन्दी, चमड़ेका काम, बागवानी, धुनना, कातना, ओटना, बुनना आदि हस्तकौशलके सभी कार्य निर्देश (इन्स्ट्रेक्शन) प्रदर्शन (डिमौस्ट्रेशन) तथा अभ्यास-प्रणाली (ड्रिल मेथड)से सिखाए जाते हैं। इन सब कार्योंसे पहले यह निर्देश देना चाहिए कि किस प्रकार विभिन्न यन्त्रोंका प्रयोग किया जाय और उन यन्त्रोंके माध्यमसे विभिन्न उपादानोंका प्रयोग किस प्रकार किया जाय। इस निर्देशके पश्चात् अध्यापकको स्वयं प्रदर्शनके द्वारा निर्दिष्ट की हुई बातोंका प्रत्यक्ष परिचय देना चाहिए और तत्पश्चात् छात्रोंसे अभ्यास कराना चाहिए। इस प्रणालीके साथ संप्रेक्षण अर्थात् कारीगरोंके यहाँ ले जाकर छात्रोंको विभिन्न हस्तकौशलोंकी कार्य पद्धतिका प्रत्यक्ष ज्ञान भी करा देना चाहिए। सभी प्रकारके हस्तकौशल अभ्यासपर अवलम्बित होते हैं। इसलिये जितना ही अधिक अभ्यास होगा और जितनी ही अधिक छात्रोंके अवयवोंकी सिद्धि ह.ग। अर्थात् उंगलियाँ, आँख, हाथ आदि सध जायँये उतनी ही कुशलताके साथ छात्र उस कलामें पारंगत हो जायँगे।

— – —

१०

शारीरिक संस्कारकी शिक्षा

शारीरिक संस्कार तथा सैन्य शिक्षणके लिये निर्देश तो बहुत कम होता है क्योंकि वहाँ कारण और कार्यका सम्बन्ध बहुत नहीं बताया जाता, केवल इतना भर निर्देश किया जाता है कि अमुक आदेशपर छात्र या शिक्षार्थीको किस प्रकार अंग-संचालन या गति-संचार करना चाहिए।

निर्देश, प्रदर्शन और अभ्यास-प्रणाली

शारीरिक शिक्षाके लिये निर्देश, प्रदर्शन और अभ्यास अपेक्षित होता है। इसकी विधि यह है कि अत्यन्त सूक्ष्म रूपसे एक या दो बार ही सैन्य संचार अथवा व्यायाम क्रियाका प्रदर्शन करके दिखला देना चाहिए और तत्पश्चात् उसका अभ्यास कराना चाहिए। शारीरिक सस्कारके लिये यह अभ्यास अत्यन्त नियमित, निरन्तर और सदा कराते रहना चाहिए क्योंकि शरीरकी प्रकृति ऐसी होती है कि जहाँ उसमें तनिक सी भी शिथिलता हुई, व्यवधान पड़ा, बाधा हुई अथवा अनियमितता हुई कि उसका संस्कार तत्काल विकृत हो जाता है। इसीलिये सेनामें नियमित रूपसे प्रतिदिन अभ्यास कराया ही जाता है। साधारणतः प्रत्येक व्यक्तिमें स्वाभाविक रूपसे आलस्य विद्यमान रहता है और वह आलस्य मनुष्यको अवसर प्राप्त होते ही दबा बैठता है। इसीलिये बहुतसे लोग विशेषता छात्रावस्थामें लोगोंका भाषण सुनकर व्यायाम प्रारम्भ तो कर देते हैं किन्तु उसका निर्वाह नहीं करते इसलिये विद्यालयकी अवस्थामें ही व्यायामका उचित अभ्यास डलवा देना चाहिए और जिस प्रकारका सैन्य-चार (ड्रिल)विद्यालयोंमें होता है वह बन्द करके प्रातःकाल या सायंकाल नियमित रूपसे स्वस्थ वातावरणमें ऐसा व्यायाम कराना चाहिए जिससे शरीरमें फुर्ती आवे, शरीरके सब अंगों और जोड़ोंमें

लचीलापन उत्पन्न हो, सक्रियता और गतिशीलता बढ़े और इस व्यायामके पश्चात् दूध या भीगे हुए चने खिलानेकी व्यवस्था की जाय।

अर्थशास्त्र-शिक्षणकी पद्धति

आजकल विद्यालयोंमें अन्य विषयोंके साथ ग्राम-अर्थशास्त्र या अर्थशास्त्रका भी शिक्षण होता है। उसके पढ़ानेकी विधि वही है जो नागरिक-शास्त्रमें काममें लाई जाती है अर्थात् प्रारंभिक अवस्थाओंमें संप्रेक्षण, प्रश्नोत्तर और व्यवहारके द्वारा अर्थशास्त्रका व्यावहारिक ज्ञान करा दिया जाय और उसके पश्चात् ऊँची कक्षाओंमें पाठ्य-पुस्तकके आधारपर परिणाम-प्रणाली (इन्डैक्टिव मेथड)से सिद्धान्तोंका परिचय करा दिया जाय जिससे छात्र स्वयं अर्थशास्त्र-सम्बन्धी परिणाम निकालकर उनका प्रयोग कर सकें।

आजकल कुछ अन्य विषय भी विद्यालयके पाठ्यक्रममें सम्मिलित कर लिए गए हैं जैसे मनोविज्ञान आदि। ये सब विषय भी अर्थशास्त्र पढ़ानेकी पद्धतिसे पढ़ाने चाहिएँ। साधारणतः सिद्धान्त यही है कि जिन शास्त्रोंके अध्यापनमें सिद्धान्तोंका समावेश हो वहाँ परिणाम-प्रणालीका प्रयोग किया जाय और जहाँ प्रत्यक्ष वस्तुओंका ज्ञान कराना अपेक्षित हो वहाँ विश्लेषण-संश्लेषण-प्रणालीका प्रयोग करना चाहिए।